



छान्दोग्योपनिषद् ॥

पूर्व्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध

जिसमें

ॐकार की उपासना से सर्वमनुष्यों को अभयत्व व अमृतत्वकी प्राप्ति वर्णित है.

जिसको

साहित्याचार्य विहारीलालजी ने व पण्डित
यमुनाशंकरजी पंचोली ने
भाषानुवादित किया.

तीसरी बार

लखनऊ

सुपरिंटेंडेंट बाबू मनोहरलाल भार्गव बी. ए., के प्रबन्ध से
मुंशी नवलकिशोर सी. आई. ई., के छापखाने में छपी
सन् १९१३ ई० ॥

४२ जुज़ १ वर्क़

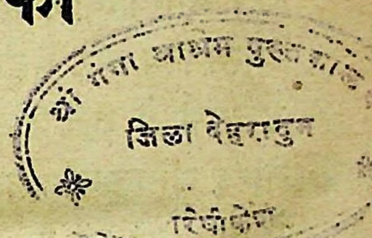


ॐ

अथ सामवेदीय

छान्दोग्योपनिषद् की

भूमिका ॥



हे सौम्य ! इस उपनिषद् के प्रपाठक (अध्याय) चतुष्टयात्मक पूर्वार्द्धकरके प्रणव प्राणादिकों की उपासना से सगुण ब्रह्मोपासना अरु उसका फल पुनरावृत्ति से रहित ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप उत्तरगति कही ॥ अब इस उत्तरार्द्ध के प्रथम और उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक (अध्याय) करके प्रथम इन इन्द्रियादिकों के संघात बिषे स्थित जो प्राण उसकी सर्व से ज्येष्ठता व श्रेष्ठता को एक आख्यायिका द्वारा प्रतिपादन करेंगे ॥ पश्चात् जे ऊर्द्ध्वरेता हैं और पञ्चाग्निविद्या के ज्ञाता 'अर्थात् जे पञ्चाग्निविद्या के ज्ञानसे उपासनापूर्वक अग्निहोत्रादि करनेवाले हैं' परम श्रद्धालु पुरुषोंकी सर्वोत्तम उत्तरगति । अरु तिनसे अन्य जे दक्षिणदिक् सम्बन्धिनी धूमादि लक्षणवाली पुनरावृत्तिरूपा तृतीया गति । और उसके अनन्तर अतिकष्टतरा संसारगति कि जिसके जानने से मुमुक्षु पुरुष को इस दुःखमय संसार से वैराग्य होवे, कहेंगे ॥ उसके पश्चात् एक आख्यायिका द्वारा वैश्वानरविद्या 'कि जिसके ज्ञान विना अग्निहोत्र भस्म में आहुति देनेके समान व्यर्थ होनाहै' प्रकाशित करेंगे । 'अर्थात् प्रथम प्राण की ज्येष्ठता, श्रेष्ठता अरु उसकी प्राप्ति की कामनावाले के लिये मन्थाख्यकर्म अरु द्वितीय पञ्चाग्नि की उपासना से उत्तरायण अर्चिरादि क्रमसे अग्निके उपासक की सर्वोत्तम उत्तरगति' अरु केवल कर्मियों की दक्षिणायन धूमादि क्रमसे पुनरावृत्तिरूपा तृतीयागति और

दोनों मार्गोंसे रहित पुरुषोंकी अतिकष्टतरा वारंवार जन्ममरणरूप संसार-गति। अरु तृतीय वैश्वानरविद्या की श्रेष्ठता और उसके ज्ञाता के भोजन सें जगत् की तृप्ति । इन तीन प्रसंगात्मक इस उत्तरार्द्ध के प्रथम और उप-निषद् के पञ्चम प्रपाठक को कहेंगे ॥ पश्चात् इस उत्तरार्द्ध के द्विती[य] अरु उपनिषद्के षष्ठप्रपाठक (अध्याय) करके एक पिता पुत्रके संवा[द] रूप आख्यायिका द्वारा श्रुति करके प्रकाशित किया जो एक अद्वैत आत्मतत्त्व अरु महावाक्य से उसका उपदेश, सो कहेंगे ॥ तदनन्तर इस उत्तरार्द्ध के तृतीय और उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक (अध्याय) करके नारद सनत्कुमार के संवादरूप आख्यायिका द्वारा भूमाविद्या की रीति से आत्मोपासन कहेंगे ॥ और इस उत्तरार्द्ध के चतुर्थ अरु उपनिषद्के अष्टम प्रपाठक (अध्याय) करके दहर विद्यापूर्वक 'इन्द्र, विरोचन अरु ब्रह्मा के उपदेशरूप आख्यायिका द्वारा श्रुति ने कहा जो आत्मोपदेश सो सर्व इस मध्यदेशीयभाषा में निरूपण करेंगे ।

छान्दोग्योपनिषदःपूर्तिसूचनिका ।

पुरा किल लक्ष्मणपुर 'लखनऊ' भूषणभूतैर्भार्ग्गव वंशावतंसैः सी. आई. ई., पदधारिभिः श्रीमुंशी नवल किशोरमहोदयैरीशावास्यादिकतिपयोपनिषदां हिन्दीभाषानुवादं पण्डितश्रीयमुनाशङ्करनागरब्राह्मणद्वारा कारयित्वा प्राकाशि । तत्र क्रमप्राप्तश्छान्दोग्योपनिषदोऽपि सप्तमप्रपाठकावधिभाषानुवादो जातो मुद्रितोऽपि । स्वर्गप्रणयिषु कर्तृकारयितृमहोदयेषु तत्कारयितृ तनूजन्मानो भारतभूषणभूताः श्रीयुतबाबूप्रयागनारायणमहाशयाः प्रकृतोपनिषदः पूर्तये जयपुरराजकीयसंस्कृतपाठशालाध्यापकान् पण्डितश्रीदुर्गाप्रसादशर्म्मणो द्विवेदानप्रार्थयन्त । एतदाज्ञापरिपालकेन जयपुरराजकीय संस्कृतपाठशालायामाचार्यपदवीं लब्धवता दाधिमथवंशजेन विहारीलालशर्म्मणाऽष्टमप्रपाठकस्य हिन्दीभाषाऽनुवादो व्यरचि । अत्रानुवादे क्वचित् क्वचित् प्रचरित हिन्दीभाषा विरुद्धाऽपिभाषा लिखिता सा पूर्व्वानुवादकपण्डितस्य परिपाटीपरिपालनाय । सेयं पूर्तिमुपगता छान्दोग्योपनिषद् वेदान्तशास्त्रजिज्ञासूनां महतां महोपकाराय भवित्रीति दृढं सम्भावयति—

पूर्तिकर्ता

विहारीलाल आचार्यः

छान्दोग्योपनिषद् की पूर्तिसूचना।

विदित हो कि पहिले लखनऊनिवासी भार्गववंशभूषण श्रीमुंशी-नवलकिशोर सी. आई. ई., ने पण्डित श्रीयमुनाशङ्कर नागर ब्राह्मण से ईशावास्यादि कतिपय उपनिषदों को हिन्दी भाषा में अनुवाद करा-कर प्रकाशित किया। उसमें क्रम प्राप्त छान्दोग्य उपनिषद् का भी सप्तम प्रपाठक पर्यन्त हिन्दी भाषा में अनुवाद हुआ और वह मुद्रित भी होगया। जब कर्ता और कारयिता दोनोंही निरतिशय सुखानुभव के लिये स्वर्गातिथि होगये तब "सी. आई. ई." मुंशी नवलकिशोर जी के प्रियपुत्र भारतभूषण बाबू श्रीप्रयागनारायणजी ने जयपुर राजकीय संस्कृतपाठशाला के अध्यापक पण्डित श्रीदुर्गाप्रसादजी से प्रार्थना किया कि आप अवशिष्ट छान्दोग्योपनिषद् का भाषानुवाद करके भेजिये। तब उक्त पण्डितजी की आज्ञा का परिपालक जयपुर राजकीय संस्कृत पाठशाला में आचार्य पदवी को प्राप्त भया दाहिमह विहारीलाल ने छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम प्रपाठक का हिन्दीभाषा में अनुवाद किया। इस अनुवाद में कहीं कहीं प्रचलित हिन्दीभाषा से विरुद्धभाषा का भी आदर पूर्वानुवादक पण्डितजी की परिपाटी का पालन करने के लिये किया है। पूर्णभई यह छान्दोग्योपनिषद् वेदान्त शास्त्र जानने की इच्छावालों को अत्यन्त उपकारक होगी यह दृढ़ विश्वास है—

पूर्तिकर्ता

साहित्याचार्य विहारीलालशर्म्मा

ओ३म्

अथ सामवेदीय

छान्दोग्योपनिषदः

पूर्वार्द्धे सभाषाभाष्यं प्रारभ्यते ।

ओ३म् मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।
ओ३म् मितिह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

अक्षरार्थ ।

+ ओ३म् यह परमात्मा का अक्षर स्वरूप नाम है । इस उद्गीथ की उपासना करे । इस ओ३म् का गान करने से उद्गीथ में अन्तर्भाव है । इस ओ३म्कार की उपासना के लिये स्तुति द्वारा प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

ओ३म् यह परमात्मा का अत्यन्त प्रिय नाम है । क्योंकि ओ३म्कार के कहने से वह परमात्मा प्रसन्न होता है । जैसे संसारी मनुष्य अपने प्रिय नामके ग्रहण करने से प्रसन्न होते हैं । इस से यह सिद्ध हुआ कि ओ३म् यह

+ ओ३म्कार का श्रेष्ठबोधक स्मृति—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यत इति स्मृतिः ॥
ओ३म्मिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाहेत्यादि श्रुतिः ।

परमात्मा का नाम है जैसे लोक में देवदत्तादि नाम हैं। और श्रुति में ॐ इस पद के आगे इति पद है इस से निश्चय होता है कि ॐ यह शब्द परमात्मा का स्वरूप है और नाम नहीं है। इस से सिद्ध हुआ कि ॐ यह वर्ण अर्चादिकों के योग्य मूर्त्तियों की तरह यह भी परमात्मा का अवयव है। इस प्रकार नाम और अवयवरूप से परमात्मा की उपासना का साधन उत्तम है। यह सब वेदान्तियों के अभिमत है। यह ॐकार परमात्माका नाम और अवयव है इसीलिये गायत्र्यादि जपों में यज्ञादि कर्मों में और वेदाध्ययन के आदि अन्त में ॐकार का प्रयोग देखते हैं (यहही स्मृति भी उपपादन करती है कि ब्रह्मवादियों के जप, यज्ञ, दान, तप यह सब कर्म ॐ इस प्रणव के उच्चारण के बाद प्रवर्त्त होते हैं। सब काल में ब्राह्मण ॐकारका उच्चारण करके जपादि करे। यदि ॐकार का जपों के पूर्व उच्चारण न करे तो उस जप का फल शनैः २ नष्ट होता है। यदि मन्त्र के अन्त में ॐका प्रयोग नहीं करे तो उसका फल ही नहीं होता। यह मनु का वाक्य है) "और श्रुति भी कहती है कि ब्राह्मण ॐकार का उच्चारण करके अध्ययन करे"। इन स्मृति श्रुतियों के प्रमाणों से ॐकार श्रेष्ठ है यह सिद्ध हुआ। इसलिये इस वर्णात्मक उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। कर्माङ्ग का अवयवभूत परमात्मा का स्वरूप ऐसे ॐकार में एकाग्रचित्त से दृढ़ ऐसी बुद्धि को करे। इस ॐकार का प्रथम उच्चारण करके गान का आरम्भ होता है। इसलिये ॐकार उद्गीथ शब्द से कहाजाता है यद्यपि उद्गीथ नाम बहुत सी श्रुतियों का है। केवल ॐकार का ही नहीं तथापि ॐकार उद्गीथ भक्ति का अवयव है इसलिये ॐकार को उद्गीथ कहते हैं। जैसे वस्त्र के एकभाग का दाह होने से वस्त्र जल गया ऐसे लोक में कहते हैं। तैसेही यहां भी एकदेश को लेकर ॐकार का उद्गीथ शब्द से प्रयोग होता है अब उस ॐकार की उपासना इस प्रकार से करनी चाहिये और उस ॐकार की यह स्तुति है और उसका यह फल है यह कहने का आरम्भ श्रुत्यन्तर से करते हैं ॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

इन चराचर प्राणियों का पृथ्वी रस है (अर्थात् पृथ्वी ही में उत्पत्ति पालन और लय होता है) और पृथ्वी का जल रस है और जलका ओषधि रस है, ओषधियों का पुरुष रस है पुरुष का वाणी रस है वाणी का ऋचा रस है और ऋचा का साम और साम का उद्गीथ रस है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

अब उस ॐकार को वस्तुमात्र के प्रति कारण कहते हैं। इन चराचर प्राणियों की उत्पत्ति पालन और लय इनमें पृथ्वी ही कारण है। और पृथ्वी का कारण जल है। क्योंकि पृथ्वी जल से ही उत्पन्न होती है। और जलसेही पृथ्वी की रक्षा होती है। और फिर जल में ही लीन होती है। इसलिये पृथ्वी का जल कारण है। जलसे ओषधि उत्पन्न होती है। "अर्थात् जलका परिणाम ही ओषधि है। जैसे दुग्ध का परिणाम दधि है"। और उन ओषधियों से पुरुष उत्पन्न होता है। यद्यपि ओषधियों से पुरुष उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु पुरुष अन्न का परिणाम है। क्योंकि अन्नादिकों का भोजन किये विना पुरुष का जीवन नहीं होसकता इसलिये ओषधियों से पुरुष उत्पन्न होता है। यह कहा और पुरुष के वाणीही रस है। अर्थात् श्रेष्ठ है। क्योंकि वाणीरहित पुरुष की सब निन्दा करते हैं। इसलिये पुरुष की वाणी ही सार है। और वाणी का सार ऋचा है। क्योंकि ऋचाका वाणी से ही उच्चारण कियाजाता है। और ऋचाओं में भी साम श्रेष्ठ है। क्योंकि सामके गाने से सुननेवालेको और सुनानेवाले को दोनों कोही आनन्द उत्पन्न होता है। और उस साम में भी उद्गीथभक्ति का अवयव ॐकारही सार

है। अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ है। क्योंकि आदि और अन्तमें ओंकारके उच्चारण विना कहा हुआ सामभी निष्फल होताहै। इसलिये उद्गीथ में भी ओंकार श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

स एष रसाना छं रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ।

वह यह ओंकारस्वरूप रस सम्पूर्ण पृथिव्यादि रसों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसके सिवाय और कुछभी श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि यह परमात्मस्वरूप है ॥ ३ ॥

भावार्थ।

पूर्व श्रुति से ओंकारको सब रसों से श्रेष्ठ कहा। इस प्रकार स्तुति करके अब उसी ओंकार की उपासना करने को स्तुति करते हैं। इस प्रकार वह उद्गीथनामक ओंकार इन चराचर भूतों के रसका भी रस है। क्योंकि परमात्मा का अवयवरूप है। और यह ओंकार परमात्मा का स्थानभूत है। जैसे परमात्मा स्वरूप से ध्यान कियाजाता है। तैसे इस ओंकारका भी परमात्मरूपसे ध्यान करना चाहिये। अर्थात् जैसे पाषाणनिर्मित प्रतिमा को विष्णु बुद्धिसे आलम्बन करते हैं। तैसेही यह ओंकार भी परमात्म बुद्धिसे आलम्बन करने योग्य है। वह ओंकार रस वस्तुवों में अष्टम है। यद्यपि ओंकार पृथिव्यादि रस वस्तुवों की गणना से नवम होता है। तथापि उद्गीथ शब्दसेही ओंकारको गिनना चाहिये। क्योंकि ओंकार उद्गीथस्वरूपही है ॥ ३ ॥

कतमाकतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ।

वे ऋक् साम और उद्गीथ कौन कौन हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ।

अब "कतमा" इस श्रुतिसे श्रुतियों में परस्पर आचार्य शिष्य भाव

है । तहां शिष्यभूत कतमा यह श्रुति पूछती है कि वे ऋचा साम और उद्गीथ कौन २ हैं । यह विचार करते हैं । अब यहां शङ्का करते हैं कि बहुतसी जातियों के प्रश्न में 'डतमच्' प्रत्यय होता है । यहां ऋगादि जाति एकहीहै फिर 'डतमच्' प्रत्यय कैसे हुआ ? यहां ऋगादि जाति एक होने परभी 'डतमच्' प्रत्यय ऋगादि अनेक व्यक्तियोंका वाचक है। इसलिये 'डतमच्' प्रत्यय हुआ ॥ ४ ॥

वागेवर्क्प्राणःसामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ।
तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क्च साम च ॥५॥

अक्षरार्थ ।

ॐ यह वर्णात्मक उद्गीथही वाक्, ऋक्, प्राण और सामरूप है वा यह ॐकार वाक्, प्राण, ऋक् सामरूप मिथुन है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

अब आचार्यरूप श्रुति ने कहाहै कि हे सौम्य ! वाक्ही ऋचा है । और प्राणही साम है । अब यहां यह शङ्का होती है कि जो वाक् और ऋक् एकहै तो "एषां भूतानां पृथिवी रसः" इस श्रुति में उद्गीथको अष्टम कहा सो नहीं होगा तो परस्पर श्रुति विरोध हुआ । यद्यपि 'वागेवर्क्' इस श्रुतिसे उद्गीथ अष्टम नहीं हुआ तो मत हो। रसतम प्रतिपादक श्रुति से तो अष्टम होताही है । क्योंकि 'एषां भूतानां' यह श्रुति रसतम प्रतिपादक है और 'वागेवर्क्' यह श्रुति प्राप्तिरूप गुणका विधान करती है। इसलिये भिन्न २ गुणका विधान करने से दोनों श्रुतियें एक न होने से इनका परस्पर विरोध नहीं होसकता है । क्योंकि एक अर्थकी प्रतिपादक दो श्रुतियें होवें फिर उनका विरोध होवे तो श्रुतियोंका विरोध होसकता है । यहां दोनोंही श्रुतियें भिन्न २ अर्थका प्रतिपादन करती हैं। इसलिये विरोध नहीं होता । अब यहां यह शङ्का उठती है कि शिष्य श्रुतिने ऋगादि जातिका प्रश्न किया है । और उत्तर वाक्ही ऋक् है । यह कैसे होसक्ताहै ? क्योंकि ऋक् व्यक्तिकाही कथन उत्तर

---

१ जैसे ब्राह्मणमात्रकी बोधक ब्राह्मणत्व जाति एक है और उसी जातिमें ब्राह्मण व्यक्ति बहुत है । तैसे यहां ऋक् में जानो ॥

होसक्ता है। यह आपकी शङ्का उत्तम है। परन्तु वाक्ही ऋचा है। अर्थात् ऋचा वाणीसेही कहीजाती है। और प्राणही साम है। क्योंकि बल सेही गान उत्पन्न होता है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि ऋचा का वाणी कारण है। और सामका प्राण कारण है। तो कार्य कारण एक होते हैं इस से ऋङ्मात्र और साममात्र काही कहना हुआ इस लिये प्रश्न के योग्यही उत्तर हुआ। अब इस ग्रन्थसे यह सिद्ध हुआ कि वाक् और प्राण ऋक् और साम के कारण हैं तो वाक् और ऋक् एक है और प्राण साम एक है इनका एक होनेसे यह फल हुआ कि सब ऋचा और सब सामका वाक् और प्राणका ऋक् और साम शब्द से ग्रहण होगा फिर ऋक् और सामसे होनेवाले कर्म का भी ऋक् और साम शब्दसे बोध होगा फिर ऋक् और सामके कर्म जब ऋक् साममें अन्तर्भूत होगये तो उनका कार्यभी ऋक् सामसे अवरुद्ध होजायगा तब ॐ यह उद्गीथ है इसमें जो आशङ्का थी कि उद्गीथका अवयव ॐ है केवल ॐ में उद्गीथ का प्रयोग क्यों यह शङ्का न रहेगी क्योंकि सब ऋक् और सामरूप है तो ॐ और उद्गीथको सामरूप होनेके कारण ॐ भी उद्गीथ है ही। इसतरह परंपरा सम्बन्धसे वाक् और प्राण को सर्व कामका सम्बन्ध होने से उद्गीथको भी सर्वकामसम्बन्धवाला वाक् और प्राण के सम्बन्ध होनेसे सर्व काम सम्बन्ध हैही। अब ॐकारका सर्व काम के साथ सम्बध कहते हैं। ऋक् और साम का मिथुनरूप वह ॐकारहै इसलिये ॐकार सेभी सब कार्योंकी प्राप्ति होती है। यहां मिथुन शब्द से ऋक् और सामके मिथुनकाही ग्रहण किया जाता है न कि वाक् और प्राणका भी क्योंकि वाक् प्राणको ऋक् सामके कारण होने से ऋक् साम शब्दसे ग्रहण होता है। इस प्रकार परंपरा सम्बन्ध से ॐकारके उच्चारण से सर्वकाम प्राप्त होते हैं यह कहा॥ ५॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स ँ सृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्॥ ६॥

अक्षरार्थ ।

वो यह मिथुन ॐकार में मिलाहुआ है । जब मिथुनका समागम होता है । तब वह परस्पर आनन्दरूप कार्य को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

सर्वकाम प्राप्तिरूप गुणवाला वह ऋक् सामका मिथुन ॐकार में मिला हुआ है इसलिये ॐकारभी सर्वकामप्राप्तिरूप गुणवाला है । क्योंकि ॐकार वाणीरूप है और प्राणसेही उच्चारण कियाजाता है इसीसे मिथुनसे संसृष्ट है । और जहां मिथुन है वहां काम अवश्य होता है देखो लोकमें मिथुन के अवयव स्त्री पुरुष जब मिलते हैं तौ वे परस्पर कामको प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ॐकार में ऋक् साम का मिथुन है इसी से ॐकार में सर्व कामकी प्राप्ति का गुण है ॥ ६ ॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वान क्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

वह विद्वान् कामों को प्राप्त होता है । जो इस वर्णात्मक ॐकार की उपासना करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

इस प्रकार ॐकारको प्राप्तिगुणवाला कहकर उस ॐकार की उपासना का फल कहते हैं । वह मनुष्य यजमानके कार्यकी सिद्धि देने वाला होता है । जो प्राप्तिगुणवाले इस ॐकार की उपासना करता है । उस ॐकार की जैसे २ उपासना करता है वहही कार्य उसका सिद्ध होता है । इस से यह सिद्ध हुआ कि ॐकार का उपासक भी ॐकार के सदृश धर्म्मवाला होजाता है ॥ ७ ॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किञ्चानुजानात्योमित्येव तदा हैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञासमर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ ।

वो यह ॐकार अनुमतिरूप है क्योंकि पुरुष जब किसी कार्य में अनुमति करता है तब ॐ यह कहता है यह ही उस ॐकार की समृद्धि है । क्योंकि अनुमति को समृद्धिवाला पुरुषही करसकता है इसलिये यह ॐकार समृद्धिरूप है समृद्धिगुणवान् ॐकार की जो उपासना करता है वह यजमानों के कार्य को सफल करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

यह ॐकार समृद्धिगुणवाला है । क्योंकि यह ॐ स्वीकारबोधक है । क्योंकि जो लोक में ज्ञान और धनके लिये कोई मनुष्य स्वीकार करता है तब ॐ यह कहता है ॐ इस शब्द से स्वीकार और दान होता है । इसीलिये ॐ यह समृद्धिगुणवाला है । समृद्ध पुरुषही ॐ यह अनुमति करसकता है । जो पुरुष समृद्धिगुणवाले ॐकार की उपासना करता है वह समृद्धिगुणवाला होकर यजमान के कार्यों की समृद्धि करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

तेनेयं त्रयीविद्यावर्ततॐमित्याश्रावयत्योमितिशꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यैमहिम्नारसेन ॥९॥

अक्षरार्थ ।

उस ॐकारसेही त्रयीविद्या ऋक्, यजुः, साम वेद से कहा हुआ कर्म होता है । क्योंकि ॐ यह उच्चारण करके सुनता है ॐ यह कह कर सुनता है ॐ के उच्चारण किये बादही गान करता है । इससे सोमयाग की प्रतीति होती है । इस अक्षर की पूजा के लिये इस अक्षररूप ॐकार की महिमा से इस अक्षर के यवादि हविष से यागादि होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ ।

परमात्मतुल्यता, सर्वकामप्राप्ति, समृद्धि इत्यादि तीन गुणवाला ॐकारको कहकर उसका फल भी कहा । अब उसी ॐकार की उपा-

सना में प्रवृत्ति होने को स्तुति करते हैं ॥ उस ॐकार से ऋग्वेदादिकों से कहे हुए कर्म की प्रवृत्ति होती है। अब यहां शङ्का करते हैं कि मन्त्र में त्रयीविद्या का ग्रहण है। फिर इससे त्रयीविद्या से कहे हुए कर्म का ग्रहण कैसे करते हो ? यहां मुख्य त्रयीविद्यारूप अर्थ का त्याग करिके गौण कर्मरूप अर्थ के ग्रहण करने का कारण यह है कि त्रयीविद्या आश्रवणादिकों से युक्त अर्थात् अध्वर्यु आदि पुरुषों से युक्त नहीं होती है किन्तु विद्याविहित कर्म में अध्वर्यु आदि की अपेक्षा रहती है इसलिये त्रयीविद्या शब्द से त्रयीविद्या से कहे हुए कर्म का ग्रहण करते हैं। क्योंकि अध्वर्यु ॐकार के उच्चारण किये बादही सुनाता है। और होता ॐकार उच्चारण करकेही कहता है। और उद्गाता भी ॐ कहे बादही गान करता है। अध्वर्यु आदि तीनों सोमयाग में होते हैं। इसलिये ॐकार से प्रवृत्त हुआ सोमयागरूप कर्म की प्राप्ति होती है। क्योंकि ॐकाररहित कर्मका फल नहीं होता है। इसलिये वैदिककर्म की ॐकारसेही स्थिति है। वह सोमयाग भी इस ॐकारकी पूजाके लियेही होताहै। क्योंकि ॐकार परमात्मा का अवयव है इसलिये ॐकार की पूजाही परमात्माकी पूजा है। अब यहां शङ्का करते हैं कि जो कर्म से परमात्मा का आराधन होताहै तो ॐकार का भी कर्म से आराधन होजायगा। परन्तु इसमें प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये प्रमाण देते हैं "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव इति स्मृतेः" वर्णाश्रमविहित कर्म से ईश्वर को प्रसन्न करके ईश्वरकी कृपा से उस कर्म के फलको कर्मकरनेवाला प्राप्त होताहै इस स्मृति से सिद्ध हुआ कि ईश्वरकी पूजाके लिये कर्म है। तो ॐकार भी ब्रह्मस्वरूप है इसलिये कर्म से ॐकी पूजा होना स्पष्टही है। और इस अक्षरकेही विकाररूप ऋत्विक् यजमानादि प्राणों सेही वैदिक कर्म होता है। इसी प्रकार इस अक्षरके विकाररूप हविष्य से याग होता है याग होमादि ऋत्विगादि प्राण और हविष ॐकारके विकार कैसे हैं ? सोही कहते हैं अक्षररूप ॐकार से होते हैं। अग्निमें दी आहुति सूर्यको प्राप्त होती है सूर्य से वृष्टि होतीहै वृष्टिसे अन्न होता है और अन्न से प्राण

होताहै प्राण से प्रजा होती है। प्राण और अन्नसे यज्ञ होताहै और यज्ञ ॐकार से होताहै इसप्रकार परम्परा सम्बन्ध से ॐकार के विकार प्राण और हविष होते हैं। इस मन्त्र से ॐकार को कर्म तथा कर्म करनेवाला और कर्म करानेवाला और कर्मकी प्रधान वस्तुरूप कहा। इस से ॐ को व्यापकरूप और परमात्माके सदृश कहा है॥ ९॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति॥ १०॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमःखण्डः॥ १॥

अक्षरार्थ।

जो पुरुष ॐकारको उक्त गुणविशिष्ट जानते हैं वे और जो पूर्वोक्त गुणविशिष्ट नहीं जानते हैं वे दोनों ॐकारसेही कर्म करें। विद्या और अविद्या भिन्न २ है। जो ज्ञानपूर्वक श्रद्धासे युक्त होकर कर्म करता है वहही वीर्यवाला होताहै। अनेक प्रकार से उपासना करने योग्य होने से इसही ॐकारका पूर्वोक्त सब प्रस्ताव है॥ १०॥

भावार्थ।

पूर्वोक्त प्रस्ताव से यह सिद्ध हुआ कि ॐकारके ज्ञान हुए बाद ॐकार को जाननेवालाही ॐ से होनेवाले कार्यको करे। यहां यह सन्देह नहीं करना चाहिये कि ॐकारको जाननेवालाही कर्मके फलको प्राप्त होताहै दूसरा कर्मफल को प्राप्त नहीं होता इसलिये कर्म नहीं करे ऐसा नहीं। जो ॐकारको पूर्वोक्त गुणवाला जानता है और नहीं जानता है वे दोनोंही ॐकारसे कर्म करें क्योंकि उन दोनोंको कर्म सामर्थ्य सेही फल होगा इसमें ॐकार के यथार्थस्वरूप जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं जैसे लोकमें हरीतकी के गुणको जाननेवाला और नहीं जाननेवाला दोनोंही हरीतकी का भक्षण करें तो उनको उसका फल

विरेचनरूप होताही है । तैसे यहां भी होगा । यदि ज्ञानपूर्वक और अज्ञानपूर्वक किये कर्मका फल समानही है तो विद्याकी उपासना करना निष्फलही है । ऐसा नहीं कहसकते हो देखो जैसे लोक में महाजन और धीवर मणि को जब विक्रय करते हैं तो महाजन ज्ञानवान् होने से अधिक फलको प्राप्त होता है । और धीवर अज्ञानी होने से अल्प फलको प्राप्त होताहै । इसीप्रकार जो ॐकारको पूर्वोक्त गुणवाला जान कर कर्म करता है । वह अधिक फलको प्राप्त होताहै । और जो पूर्वोक्त गुणवाला नहीं जानकर कर्मका अङ्गमात्र जानकर कर्मको करताहै वह उसकी अपेक्षा स्वल्प फलको प्राप्त होताहै । इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान श्रद्धा युक्त होकर जो कर्म करता है वह अधिक फल देनेवाला होताहै । अज्ञानी को कर्म में अधिकार नहीं है यह सन्देह कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि औपस्त्यकाण्ड में अज्ञानी को भी ऋत्विक् होने का अधिकार है इसलिये रसतमप्राप्ति समृद्धि गुणवाला ॐकार की उपासना एकही है यह पूर्वोक्त सन्दर्भ प्रकृत ॐकारविषयक ही कहा है इसी ॐकारको अक्षर भी कहते हैं ॥ १० ॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते ।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजहुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

अब प्रथमाध्यायके द्वितीय खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

प्रकाशरूप इन्द्रियव्यापार और तमोरूप इन्द्रियव्यापार जिस कारण परस्पर युद्ध करते भये ये दोनों प्रजापति के सन्तान हैं । उनमें देवता ज्योतिष्टोमादि यागद्वारा उन असुरोंका तिरस्कार करतेभये ॥ १ ॥

भावार्थ ।

पूर्वखण्ड में रसतम प्राप्ति समृद्धि इन गुणों से संयुक्त और परमात्मा का अवयव तथा परमात्मबुद्धि से उपासना के योग्य ॐकारनामक

अक्षरकी उपासना कहदिया । अब उसी अक्षर का अध्यात्म तथा अधिदैवभेदसे सूर्य प्राणरूप से उपासनाका उपदेश करने को द्वितीय खण्डका आरम्भ करते हैं। प्रकाशरूप और सत्त्वरूप जो इन्द्रियोंकी वृत्ति उसे देवशब्दसे कहते हैं। और अपने जीवनव्यापारमेंही रमण करनेवाली तमस्स्वरूप इन्द्रियोंकी वृत्तिको असुर कहते हैं। इस श्रुतिमें देव और असुरशब्द से उपासक के शरीर में रहनेवाली इन्द्रियों का ग्रहण किया है। शास्त्रसम्बन्धिप्रकाशरूप वृत्ति का तिरस्कार करने को तमोरूप इन्द्रियवृत्ति असुर और स्वाभाविक तमोरूप असुरों का तिरस्कार करनेको शास्त्रार्थसम्बन्धि विवेकरूप देवता परस्पर संग्राम करते भये। अर्थात् देव और असुरों के अपना उदय और दूसरे का तिरस्कार के लिये प्रति शरीर में अनादि कालसे होता है। जैसे प्रसिद्ध इन्द्रादि देवता और विरोचनादि असुरों के होता है। इन इन्द्रियों का यहां संग्राम कहनेका प्रयोजन यह है कि उपासक इन्द्रियों को विषयों से विमुख करे कि जिससे धर्ममें प्रवृति होवे इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति रहने से पाप उत्पन्न होता है इसी विज्ञान के कहने को यहां यह इतिहास कहागया है। इसलिये कल्याण को चाहनेवाला पुरुष इन्द्रियों को विषयों से विमुख रक्खे। यहां यजमानके प्राणों को देव असुर कहा। इससे यह देव और असुर प्रजापति के सन्तान हैं। क्योंकि कर्म और ज्ञानका अधिकारी जो है वहही प्रजापति है, उसीसे शास्त्रीय और स्वाभाविक इन्द्रियव्यापार उत्पन्न होते हैं। उस युद्ध में देवता अपने जयके लिये और असुरों के पराजय के लिये ज्योतिष्टोमादि यागका आहरण करतेभये क्योंकि इस कर्म से हम इन असुरोंका पराजय करें। अर्थात् जब प्रकाशरूप इन्द्रियवृत्ति तमोरूप इन्द्रियवृत्ति के तिरस्कार में प्रवृत्त होती है तभी उद्गीथ का अवयवरूप ॐकार से होनेवाला ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने में यजमानकी प्रवृत्ति होती है। यहां इन्द्रियों का पराजय विषयों से विमुख होनाही है ॥ १ ॥

तेहनासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तछंहासुरा

पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

वे सत्त्वरूप इन्द्रियवृत्तिदेवता नासिका में होनेवाले प्राणरूप उद्गीथ की उपासना करतेभये। उन देवों से युक्त उद्गाता को असुर अधर्मरूप से संसर्ग करते भये। इसी कारण इस पाप से संसर्गयुक्त हुआ घ्राण-इन्द्रिय सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों पदार्थों का भोग करता है ॥ २ ॥

भावार्थ।

जैसे उद्गीथका आहरण किया सो प्रकार कहते हैं। वे देवता नासा में होनेवाला चेतन उद्गाता घ्राणरूप प्राणकी उपासना करते भये। अर्थात् नासिकामें होनेवाला प्राणद्वारा उद्गीथका अवयव ॐकारकी उपासना करतेभये। अब यहां शङ्का करते हैं कि पूर्व मन्त्रमें यह कहा था कि उद्गीथ से युक्त जो उद्गाता उससे युक्त ज्योतिष्टोमादि कर्म की उपासना करतेभये अब इस मन्त्रसे कहते हैं कि नासिका में होनेवाले प्राणसे अक्षरकी उपासना करनी चाहिये तो यह परस्पर विरोध होताहै। हां आपका कहना सत्य है परन्तु यहां जो प्राणकी उपासना के लिये जो कहागया है वह भी ज्योतिष्टोमादि कर्ममेंही होसक्ता है। इसीलिये उद्गाता को प्राण द्वारा ॐकारकी उपासना कहना ज्योतिष्टोमादि यज्ञकी उपासना काही कहना है। इससे सिद्ध हुआ कि ॐकारकी उपासना के लियेही ज्योतिष्टोमादिकों की उपासना है। और ॐकारकी उपासना ध्यानके लिये नहीं है। इसप्रकार देवताओं से युक्त उद्गाताओंको स्वाभाविक तमोरूप वे असुर ज्योतीरूप नासिका के प्राणमय देवको अधर्म से युक्त करतेभये। तब वह नासिका का प्राण उत्तम गन्ध के ग्रहणके अभिमान के नष्ट होने से विवेकके तिरस्कारसे युक्त होता भया। इसी से वह अधर्मयुक्त होताभया। यह असुरसम्बन्धि पाप से युक्त होता है। इसीलिये घ्राण, प्राण, सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनोंका ग्रहण करता है। इसीलिये लोक भी सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों को ग्रहण करताहै ॥२॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे ताᳬहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

वे देवता वाणीरूप उद्गीथकी उपासना करतेभये। उस वाणी को भी असुर पाप से युक्त करतेभये। इसी से लोक वाणी से सत्य और असत्य दोनों का उच्चारण करते हैं। क्योंकि वाक् भी असुरसम्बन्धि पाप से युक्त है ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

वे देवता नेत्रसम्बन्धि प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करतेभये उस को भी असुर अधर्म से युक्त करतेभये। इसी कारण से लोक नेत्रसे दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को देखते हैं। क्योंकि चक्षुइन्द्रिय भी असुरसम्बन्धि पापसे आक्रान्त है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयᳬशृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

अब वे देवता कर्णका प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करतेभये। उसे भी वे असुर पापसे युक्त करतेभये। इसी कारणसे यह लोक सुनने के योग्य और नहीं सुननेके योग्य दोनोंको सुनते हैं। क्योंकि यह भी असुरसम्बन्धि पापसे युक्त है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना

विविधुस्तस्मात्तेनोभयछंसंकल्पयते संकल्पनीयं चासं कल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

जब देवताओं के सब उपास्यों को असुर अधर्मयुक्त करके भ्रष्ट करते भये। तब देवता मन प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करतेभये उसको भी असुर अधर्म से युक्त करतेभये। असुर पापसे युक्त यह मन भी संकल्पनीय और असंकल्पनीय दोनोंका संकल्प करता है ॥ ६ ॥

अथ ह एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तछंहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वछंसेत ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

वे देवता मुख्य प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करतेभये। तब वे असुर उस मुख्य प्राणको प्राप्त होकर नष्ट होतेभये। जैसे उलूखलको प्राप्त होकर अश्म नष्ट होताहै ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

पूर्वोक्त मन्त्रों से मुख्य प्राणकी उपासना के लिये और मुख्य प्राण की विशुद्धताका ज्ञानके लिये चक्षुरादि देवताओं को क्रम से असुरसम्बन्धि पापसे युक्त होना कहा। अब मुख्य प्राणकी उपासनाका प्रकार कहते हैं ॥ घ्राणादि देवताओं का असुर पाप से युक्त होने के कारण त्याग करके वे देवता प्रसिद्ध मुखसम्बन्धि प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करतेभये उसको भी असुर पाहिले देवताओं की तरह प्राप्त होकर अभिप्रायमात्र से विनाशको प्राप्त होतेभये। जैसे लोक में अश्म से बनाई हुई ऊखल के नाश करने को प्रेरणा कियाहुआ कुदाल ऊखल को प्राप्त होकर ऊखलका अणुमात्र भी दोष किये विना कुदाल स्वयं नष्ट होता है। तैसे ये असुर भी मुख्यको प्राप्तहोकर नष्ट भये ॥ ७ ॥

एवं यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वछंसत एवछंहैवस

विध्वछंसते य एवं विद्धि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ ।

इसी प्रकार जैसे अश्म से बनाये हुए उलूखल को प्राप्त होकर विनष्ट होता है । इसी प्रकार वह नष्ट होता है । जो प्राणाख्य ॐ को जाननेवाले के विषयमें पापाचरण करता है । जो इस प्राणवेत्ता को मारता है वह उलूखलके समान है ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

यह प्राण असुरों से नहीं आक्रमण कियागया है । इसलिये प्राण की उपासना करनी चाहिये । जैसे अश्म से बनायेहुए उलूखलको पाय कर कुदालादि शस्त्र नष्ट होते हैं । इसी प्रकार वह पुरुष नष्ट होता है । जो उक्त प्राणको जाननेवाले पुरुषके बिषे प्राण ज्ञान की अयोग्यता सम्पादन करने को चाहता है । और जो इस प्राणवेत्ताके सम्मुख चिल्लाना और ताडनादिकों का प्रयोग करता है । वह कुदालादि शस्त्रकी भाँति नाशको पाता है । क्योंकि वह यह प्राणवेत्ता प्राणरूप होने से ऊखल की भाँति दूसरे से नष्ट नहीं होता । यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि जैसा मुख्य प्राण वायुरूप है । इसीप्रकार नासिका सम्बन्धि प्राणभी वायुरूप है तो पापयुक्त नासिकासम्बन्धि प्राणभी मुख्य क्यो नहीं । ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि नासिकासम्बन्धि प्राण, स्थान और इन्द्रियों के वैगुण्य होने से पापसंयुक्त होगया और वायुरूप भी मुख्य प्राण, स्थान और देवता के बलवान् होने से पापयुक्त नहीं हुआ इसलिये इसमें मुख्य व्यवहार होना उचितही है । जैसे खड्ग शिक्षावान् पुरुष के हस्त से कार्य विशेष को उत्पन्न करते हैं । और अशिक्षित पुरुष के हस्त से कार्यविशेष को नहीं करते । इसी प्रकार घ्राणदेवता भी असुरसम्बन्धि पापसंयुक्त घ्राण के संयोग से पापी होने के कारण से मुख्य नहीं होसकते हैं ॥ ८ ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्ये

ष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

इससे सुगन्धि और दुर्गन्धि को नहीं जानता है । यह पापरहित है उससे जो भक्षण करता है जो पान करता है उससे प्राणों की रक्षा करता है इस मुख्यप्राण को मरणकाल में नहीं प्राप्त होकर निकलता है । इसलिये मरणकाल में मुखका विदारण करताही है ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

जिस कारण से असुर पापसे युक्त मुख्य नहीं है इसीलिये इस मुख्य प्रमाण से सुगन्धि दुर्गन्धि को लोक नहीं जानता है और घ्राण से ही सुगन्धि दुर्गन्धि को जानता है । इस कारण पापरहित यह प्राण शुद्ध है । और यह मुख्य केवल घ्राणादि इन्द्रियों की भाँति केवल अपने उदर का पोषकही नहीं है बरन सर्व इन्द्रियों का पोषक है । सो ही कहते हैं इस मुख्य प्राण से जो लोक भोजन करता है । जो पान करता है । उससे घ्राणादिकों की पालना करता है । अर्थात् उस भोजन और पानसे घ्राणादि इन्द्रियों की स्थिति होती है । प्राण सबका रक्षक है इसलिये भी शुद्ध है ॥ मुख्य प्राण के भोजन और पानसे घ्राणादिकों की स्थिति कैसे होती है । सो कहते हैं कि इस मुख्य प्राण का व्यापार है भोजन करना । और पान करना । जब घ्राणादि प्राणसमूह मरण-समय में अन्न और पानको नहीं प्राप्त होते हैं । तब वे अपने शरीरका त्याग करते हैं इन्द्रियां स्वयं भोजन और पान नहीं करसक्ती हैं । क्योंकि प्राणरहित पुरुष भोजन और पान में नहीं प्रवृत्त होता । अब यहां शङ्का करते हैं कि प्राण निकलने के समय भोजन की इच्छा नहीं रहती । इसलिये इन्द्रियसमूह निकलता है । और भोज्य पदार्थ नहीं रहने से निःसरण नहीं होता । यह भी उचित नहीं क्योंकि जो भोजन की इच्छाही नहीं रहती तो प्राण निर्गमन समय में मुखविदारण नहीं होता इससे निश्चय होना है कि भोजन की इच्छा रहतीही है ॥ ६ ॥

त छं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमुएवाऽऽङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

अक्षरार्थ ।

उसी मुख्य प्राण को अङ्गिरारूप उद्गीथ की उपासना करते भये जो अङ्गों का प्राण होने से रस है । इसी से इसको आङ्गिरस मानते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ ।

पूर्वोक्त मन्त्रों से विशुद्धिगुणवाला मुख्य प्राणरूप उद्गाता की दृष्टि से उद्गीथ का अवयवरूप ॐकारनामक अक्षर की उपासना के लिये कहा । अब उसी ॐकार का आङ्गिरस बृहस्पति आयास्यादि ऋषि स्वरूप कहने को "तछंहाङ्गिरा" इत्यादि मन्त्र का आरम्भ करते हैं इस मुख्य प्राणरूप उद्गीथ की बक और दाल्भ्य ये दोनों अङ्गिरारू से उपासना करते भये तैसे ही बृहस्पति और आयास्यरूपसे उपासना करते भये "एतमु एवाङ्गिरसं बृहस्पतिमायास्यं प्राणं मन्यन्ते" इसी प्राण को बृहस्पति आयास्य और आङ्गिरस मानतेहैं । यहां शङ्का करते हैं कि आङ्गिरस, बृहस्पति, आयास्य इन तीन गुणों से युक्त ॐकार की उपासना करते भये । यह अर्थ समीप से होता है आङ्गिरस ऋषिरू प्राण की उपासना करते भये यह अर्थ दूर पड़ता है इस लिये आङ्गि सादि गुणयुक्त ॐकार की उपासना करते भये यहही अर्थ कहना चा हिये और अङ्गिरसा स्वरूप कहा है । इसीप्रकार प्राणकी उपासना करने वाले इन ऋषियों को भी अभेद ज्ञान के लिये प्राणरूप कहा है । इसी कारण से अङ्गिरानामक ऋषि प्राणरूप होकर आत्मस्वरूप आङ्गिर गुणवाले प्राणरूप उद्गीथ की उपासना करता भया । क्योंकि वा अङ्गिरा ऋषि अङ्गों का प्राणरूप होकर रस है । अर्थात् उत्तम है । इसी से इसका नाम आङ्गिरस है ॥ १० ॥

तेनतछंह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवबृ स्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहतीतस्यएषपतिः ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ।

उस उद्गीथरूप प्राणकी बृहस्पति उपासना करता भया। इसलिये इस प्राणकोही बृहस्पति मानते हैं। बृहती शब्दका अर्थ वाक् है। उसका यह पति है॥ ११॥

भावार्थ।

उद्गीथरूप प्राणकी बृहस्पति उपासना करता भया। इससे बृहस्पति प्राणरूप है। क्योंकि वाक् का स्वामी है इसलिये बृहस्पति प्राणरूप है॥ ११॥

तेनत ७ँ हायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवाऽऽयास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते॥ १२॥

भावार्थ।

आङ्गिरस शब्दकी भाँति बृहस्पति और आयास्य शब्दभी गुण और ऋषिरूप अर्थ को कहनेवाले हैं। बृहस्पति ऋषि प्राणकी उपासना करता भया। इसलिये बृहस्पति प्राणरूप है। और वाक् का पति होने से प्राण बृहस्पति गुणवाला है। इसी प्रकार आयास्य ऋषिभी प्राणका उपासक होनेसे प्राणरूप है। और मुख से निकलता है। इसलिये आयास्य गुणवाला भी प्राण है। इन मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि जो इस उद्गीथरूप प्राणकी उपासना करे। वह अपने को आङ्गिरसादि गुणयुक्त प्राणरूप जानकर करे॥ १२॥

तेन त ७ँ ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार। सहनैमिषीयानामुद्गाता बभूव सह स्मैभ्यः कामानागायति॥ १३॥

भावार्थ।

केवल अङ्गिरादि ऋषिही इस प्राण की उपासना नहीं करते भये। किन्तु इस अङ्गिरादि ऋषिरूप प्राणकी उपासना करतेभये यह अर्थ नहीं कहना चाहिये। यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि बृहस्पत्यादि शब्दों

से पहिले ऋषिरूप अर्थका बोध होता है। फिर योग से गुणरूप अर्थ का बोध होता है। इसलिये ॐकार को पहिले ऋषिरूप कहकर फिर आङ्गिरादि गुणरूप कहना उचितहै। प्राण की उपासना करनेवाले ऋषियों को प्राणरूप ऐतरेयक श्रुति में भी कहा है। (तस्माच्छतर्चिन मित्याचक्षते एतमेव सन्तमृषिमपि) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के देखनेवाले ऋषियोंका नाम शतर्ची है। यह प्राण जिस कारण से इन्द्रियसमूहरूप पुरुषको प्राप्त होताभया। इसीसे ऋषियोंके शरीर में रहनेवाले इस प्राणको शतर्ची शब्दसे कहते हैं। तैसेही आदि और अन्तके मण्डल को छोड़कर बीच के मण्डलों को देखनेवाले ऋषियोंका नाम माध्यमा है। वे माध्यम ऋषि भी प्राणरूप हैं। द्वितीय मण्डलको देखनेवाले ऋषि का नाम गृत्समद है। वह भी प्राणरूप है। क्योंकि शयनकाल में वागादिकों का निगलने से प्राण रेत १ स्खलन का कारण गृत्सरूप है। और मदका कारण होने से अपान मदरूप है। इसप्रकार प्राणापानरूप गृत्समद शब्द का अर्थ होने से गृत्समद भी प्राणरूपहै। तृतीय मण्डल द्रष्टा विश्वामित्र है। वह भी भोज्य वस्तुवों के प्रिय होनेसे प्राणरूप है। चतुर्थमण्डल द्रष्टा वामदेव ऋषि है। वह भी प्राणरूप है। क्योंकि वह वागादि देवताओं का सेवक है। पञ्चम मण्डल द्रष्टा अत्रि ऋषि है। वह भी प्राणरूप है। क्योंकि वह सब पापों का भक्षण करनेवाला है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जैसे शतर्ची आदि ऋषियों को श्रुति ने प्राण जाना। और प्राणको पूर्वोक्त स्वरूप से बक और दाल्भ्य भी जानते भये। और वे बक और दाल्भ्य नैमिष क्षेत्र में याग करनेवाले शौनकादि ऋषियों के उद्गाता हुये। और फिर वह बक और दाल्भ्य प्राण ज्ञान के सामर्थ्य सेही इन नैमिषक्षेत्रवासी ऋषियों के लिये कामों को देता भया ॥ १३ ॥

आगाता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर मुद्गीथमुपास्त इत्याध्यात्मम् ॥ १४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

भावार्थ ।

वह कामों को देनेवाला होता है । जो विद्वान् पूर्वोक्त गुणयुक्त प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करता है । ओंकारकी उपासना का काम पूर्ण करना इस लोक का फल कहा । और प्राण तथा आत्माका ऐक्य-रूप अदृष्ट फल है । इस अदृष्टफल में श्रुति को प्रमाण देते हैं (देवो भूत्वा देवानप्येतीति) प्राण की उपासना करनेवाला मनुष्य देवरूप होकर देवों को भी प्राप्त होता है । यह उद्गीथकी उपासना आत्म-रूप से कही गई है । इसलिये इसका नाम अध्यात्मोपासना कहा गया है ॥ १४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः खण्ड आरभ्यते ।

अथाधिदैवतमेवासौ तपतितमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एषप्रजाभ्य उद्गायति । उद्यछंस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता हवैभयस्यतमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

अब प्रथमाध्यायके तृतीय खण्डका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

अब देवताविषयक उद्गीथ की उपासना को कहते हैं । जो यह सूर्य तपता है । उस उद्गीथ की उपासना करे । उदय होता हुआ यह सूर्य प्रजा के लिये अन्न उत्पन्न करने को यत्न करता है । उदय होता हुआ यह सूर्य अन्धकाररूपी भय को दूर करता है । जो सूर्यरूप प्राण को जानताहै वह संसार के भय का तथा अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करनेवाला होता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

आध्यात्मिकदृष्टि से उद्गीथोपासना को कहे बाद देवतारूप उ-द्गीथ की उपासना को कहते हैं । क्योंकि उद्गीथ की उपासना कई प्रकार से होती है । जो यह प्रत्यक्ष सूर्य तपता है । उस सूर्यरूप

उद्गीथ की उपासना करे । यद्यपि उद्गीथ शब्द का अर्थ अक्षररूप है। और आदित्य शब्द का अर्थ ज्योतीरूप है। इसलिये यह एक नहीं होसक्के तथापि यहां लक्षण से आदित्य और उद्गीथ एक होसक्के हैं। देखो जैसे यज्ञ में अन्न उत्पत्ति के लिये उद्गीथ जाननेवाला उद्गाता होता है इसी प्रकार प्रजा के लिये अन्न उत्पादन के लिये यह सूर्य उद्गीथरूप है। क्योंकि सूर्य के उदय हुये विना धान्यका पाक नहीं होता। जैसे अन्न के लिये उद्गाता उद्गीतारूप है इसी प्रकार सूर्य भी उद्गीथरूप है। और सूर्य उदय होतेही रात्री के अन्धकारको तथा अन्धकार के भय को नष्ट करता है॥ और ऐसे सूर्य को जो जानता है वह जन्ममरणरूप भय का तथा अपने अज्ञान का नाश करनेवाला होता है॥ १॥

समानउएवाऽयं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वाए तमिमममुं चोद्गीथमुपासीत॥ २॥

अक्षरार्थ।

यह प्राण और यह सूर्य सदृशही हैं। क्योंकि दोनोंही उष्ण हैं। और इसी प्राण को स्वर कहते हैं। और इस सूर्य को स्वर तथा प्रत्यास्वर कहते हैं। इससे प्राण को आदित्यरूप उद्गीथ समझ कर उपासना करे॥ २॥

भावार्थ।

यद्यपि प्राणका स्थान आत्मा है। और सूर्य का स्थान अधिदैवत है। इस प्रकार अलग २ स्थान होने से भिन्न २ ही उनकी उपासना करनी चाहिये तथापि प्राण और आदित्य का वास्तविक भेद न होने इनकी एकही रूपसे उपासना कहा। यद्यपि प्राण और आदित्यका स्थान भेद से भेद है। परन्तु गुण और नाम के एक होने से वास्तव में एक ही है। देखो सूर्य का उष्ण गुण है। तैसेही प्राणका भी उष्ण गुण है जैसा प्राणको स्वर कहते हैं। तैसेही सूर्यको भी स्वर कहते हैं। क्योंकि प्राण स्थूल देह का त्याग किये बाद फिर उसी स्थूल देह में नहीं प्र

वेश करता है। इसलिये इसे स्वर कहते हैं। और सूर्य प्रतिदिन अस्त होकर प्रतिदिन उसी स्थान में उदय होता है इसलिये सूर्य को प्रत्यास्वर कहते हैं। इस प्रकार गुण और नाम से प्राण और सूर्य समान होने से इनका वास्तव में अभेद है। इसी से कहते हैं कि प्राणाभिन्न आदित्यरूप उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये॥ २॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथयः प्राणाऽपानयोः सन्धि सव्यानो योव्यानः सावाक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति॥ ३॥

अक्षरार्थ।

अब व्यानरूप उद्गीथ की उपासना करे। पुरुष जिससे पुरुष वायु को निकालता है वह प्राण है। और जिससे वायुको भीतर लेजाता है वह अपान है। और प्राणापान की सन्धिको व्यान कहते हैं जो व्यानहै वहही वाक् है। इसीसे प्राणापान के व्यापार को छोड़कर मनुष्य वाणी को कहता है॥ ३॥

भावार्थ।

अब प्रकारान्तर से उद्गीथ की उपासना को कहते हैं। प्राण का ही वृत्ति विशेषरूप व्यानरूप उद्गीथ की उपासना करे। अब व्यानवृत्तिका स्वरूप कहतेहैं। इस प्राणकी प्राण, अपान और व्यान ये तीन वृत्तियां हैं उनमें जो पुरुष मुख और नासा से वायु को बाहिर निकालता है वह वायुका वृत्तिविशेष प्राण है। और जो पुरुष मुख और नासिका द्वारा वायुको भीतर खैंचता है वह वायुकी वृत्ति अपान है। और जो प्राण और अपान दोनों वृत्तियों के अभाव में जो मध्यमें वायु का वृत्तिविशेष है उसे व्यान कहते हैं। इस व्यानकी उपासना करे। यहां शङ्का करते हैं कि प्राण और अपान दोनोंको छोड़कर व्यानकी ही उपासनाका उपदेश क्यों करते हो। इसमें कहते हैं कि व्यानाख्य

प्राण वृत्ति वीर्यवत् कर्म का कारण है। संसार जब वाणी केका उच्चारण करता है तब प्राण और अपान के व्यापार का त्याग करिके व्यान सेही उच्चारण करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसार का कार्य वाक् सेही होताहै और वाक् का उच्चारण व्यान से होता है। इसलिये प्राणापान की अपेक्षा व्यानको वीर्यवान् और उपास्य कहा है ॥ ३ ॥

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरतिय र्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

भावार्थ।

जो वाक् है वहही ऋक् है। इसीकारण से प्राणापान के व्यापार का त्याग किये बाद ऋक् का उच्चारण होता है। और जो ऋक् है। वहही साम है क्योंकि प्राणापान के व्यापार की निवृत्ति के पीछे ही साम गाया जाता है। और जो साम है वहही उद्गीथ है। क्योंकि प्राणाऽपानके व्यापारके अनन्तरही उद्गीथ अर्थात् गान होताहै ॥ ४ ॥

अतोयान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मथन माजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्ता निकरोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

भावार्थ।

केवल व्यानसे वागादिकों का उच्चारणही नहीं किन्तु इस व्यान से और भी अतिकष्ट साध्य कई कार्य होते हैं जैसे अग्नि का मथन मर्यादा से दौड़ना और दृढ़ धनुष का खैंचना इत्यादि कार्य भी प्राणापान व्यापारों को त्याग करिके व्यान सेही होते हैं। इसलिये प्राणादि वृत्तियों से व्यान अधिक है। इसकारण विशिष्ट की उपासना उत्तम होती है राजा की उपासना की तरह। इसीकारण से व्यानरूप उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये और प्राणादि वृत्तियों की उपासना नहीं करनी चाहिये क्योंकि व्यानवृत्ति की उपासना का फल वीर्यवान् कर्म है॥ ५ ॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवो त्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचोह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदछंसर्वछंस्थितम् ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

अब उद्गीथ की उपासना को कहकर उद्गीथशब्द के 'उद्' 'गी' 'थ' इन अक्षरों की उपासना का प्रकार कहते हैं । उद्गीथशब्द के अक्षरोंकी उपासना करे यहां यह शङ्का होती है कि उद्गीथ की उपासना की अपेक्षा उद्गीथशब्द के अक्षरों की उपासना का कुछ फल नहीं होगा सो ठीक नहीं । क्योंकि जैसे लोक में कृष्याभिश्र इस नाम की उपासनासे पुरुष की उपासना प्रतीत होती है तैसे यहां भी उद्गीथ शब्द के अक्षरों की उपासना से उद्गीथ कीही उपासना होती है । 'उद्गीथ' शब्दके 'उद्' इस अक्षर में प्राणदृष्टि करनी चाहिये क्योंकि उद् शब्द का अर्थ है उठना तौ प्राणवाला पुरुषही उठ सकता है और प्राणरहित पुरुष नष्ट होता है । इससे 'उद्' और 'प्राण' एक है । इस ऐक्य में हेतु कार्य कारण का अभेदही है । जैसे घटका कारण मृत्तिका है तौ वह घट मृत्तिका से भिन्न नहीं है तैसेही उठने का कारण प्राण है तौ उद् यह प्राणसे भिन्न नहीं होसक्ता है और 'गी' इस अक्षर को वाक् समझना चाहिये क्योंकि शिष्ट मनुष्य वाक् को 'गीः' कहते हैं 'थं' इस अक्षर को अन्न जानना चाहिये क्योंकि अन्न में सब व्याप्त है इसी प्रकार 'थं' इस अक्षर में 'उद्गी' इनका अर्थ व्याप्त है ॥ ६ ॥

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्यः एवोद्वायुर्गी रग्निस्थछं सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एता न्येवं विद्वानुद्गीथाऽक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

'द्यौ' आकाशही 'उद्' है+उन्नत है इसलिये । आकाश और पृथ्वी के मध्यभागका नाम अन्तरिक्षहै । वह अन्तरिक्षही 'गी'है । क्योंकि लोक उसके मध्यमें रहते हैं । पृथ्वी ही 'थं' है । क्योंकि पृथ्वीमें लोक रहता है उन्नत होने के कारण सूर्यही 'उद्' है । अग्न्यादिकों की उत्तेजना करने के कारण वायुही गी है । सामवेदही उद् है क्योंकि सामवेद की स्वर्गलोकरूप से स्तुति की है । और यजुर्वेदही गी है, क्योंकि यजुर्वेदके 'स्वाहा' 'स्वधा' इत्यादि मन्त्रोंसें दिया हुआही हवि देवताओं को प्राप्त होता है । तथा ऋग्वेदही 'थं' है क्योंकि साम ऋग्वेद से ही है । इस तरह अध्यात्म, अधिदेव, अधिलोक और अधिवेदरूप से अक्षरों की उपासना कहकर अब अक्षरों की उपासना का फल कहते हैं । इस साधक के लिये वाक्रूप दोहनेवाला वाक्रूप दोह को दोहता है अर्थात् वाक् ऋग्वेदादि मन्त्रों से होनेवाले फलको देती है। जो प्राण वाक् अन्नादिरूपसे कहेहुए और उठना, निगलना, पालनादि धर्मवाले उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करताहै वह बहुतसे अन्नवाला तथा दीप्ताग्निवाला होताहै ॥ ७ ॥

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

वागादि समृद्धि फलवाली उपासना को कहकर अब प्रसङ्ग प्राप्त फलसमृद्धि जिस प्रकार से होती है वह प्रकार कहते हैं । अब वागादि समृद्धिवाले फल की उपासना के बाद आशिषफलवाली समृद्धि जिस प्रकार से होय सो प्रकार कहते हैं । अब आशीः समृद्धि का ध्यान करते हैं इस प्रकार उपासना करे । अब उपासना का प्रकार कहते हैं जिस सामविशेष से उद्गाता स्तुति करे उस सामके उत्पत्ति छन्द देवता का चिन्तनकरे ॥ ८ ॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टो ष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

भावार्थ ।

जिस ऋचा में वह साम है । उस ऋचा के देवता छन्द उत्पत्ति का ध्यान करे । और जो ऋषिप्रोक्त साम है । उस साम के ऋषि का ध्यान करे । और जिस देवता की स्तुति करता होवे उस देवता का चिन्तन करे ॥ ९ ॥

येनच्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तछंस्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

भावार्थ ।

जिस गायत्री आदि छन्दसे स्तुति करता होवे उस छन्द का अनुसरण करे अर्थात् ध्यान करे और जिस स्तोम से स्तुति करता होवे उस स्तोमका उपधावन करे अर्थात् चिन्तन करे ॥ १० ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तांदिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

भावार्थ ।

जिस दिशाको व्याप्त होकर देवताकी स्तुति करे जिस दिशा के स्वामी देवता की स्तुति करे उसी दिशाके देवता का ध्यानकरे ॥ ११ ॥

आत्मानमन्तमुपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामस्तुवीतेति यत्कामस्तुवीतेति ॥ १२ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

अन्त में अपने स्वरूप का चिन्तन करके स्तुति करे अप्रमत्त होकर ध्यान करताहुआ । इस ध्यान करनेवाले के लिये जो २ काम चाहता

है वह २ काम फलवाला होता है। जिसके लिये स्तुति करता है ॥१२

भावार्थ।

पूर्वोक्त सामादिकों का क्रम से ध्यान करके उसके बाद अपने आत्माका भी गोत्र वर्ण आश्रमरूप से ध्यान करके अपने वाञ्छि फल का अनुसन्धान करता हुआ ऊष्म व्यञ्जनादिस्वरों से प्रमाद नहीं करता हुआ उद्गाता अपनी आत्मा की स्तुति करे। इस प्रकार अपने आत्मा की स्तुति करता हुआ उद्गाता जिस कर्म में पूर्वोक्त रीति से स्तुति करनेवाला होता है उस कर्म में इस साधक के लिये वे २ काम प्राप्त होते हैं जिन २ कामों की इच्छा करता हुआ वह स्तुति करता है। अब यहां तक प्रसङ्ग प्राप्त उद्गीथ की अधिदैवता अधिवेद अध्यात्म और अधिलोकरूप से उपासना और उस उपासना का फल कहकर इस विषय को समाप्त करते हैं। इस का द्योतक 'इति' पद है ॥ १२ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः खण्ड आरभ्यते।

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायतितस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

भावार्थ।

इस मन्त्र का अक्षरार्थ और भावार्थ इसी अध्याय के प्रथम खण्ड के प्रथम श्रुति में कहदिया। यहां इस मन्त्र का दुबारा कहने का अवसर यह है कि उद्गीथाक्षर की उपासना इसके पूर्व कहा है उसका प्रसङ्ग न होवे। इस ॐ का ही अभय और अमृत गुण कहने को और अमृताभयगुणवाले ॐकार की उपासना कहने को इस ॐकारका फि आरम्भ करते हैं ॥ १ ॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

भावार्थ ।

सत्त्वगुणवाली इन्द्रियवृत्तिरूप देवता तमोगुणवाली इन्द्रियवृत्ति रूप असुर पाप से भययुक्त होतेहुए ऋग्, यजुः, साम इन वेदत्रयी से कहेहुए कर्म को प्रवेश करते भये अर्थात् वैदिक कर्म का आरम्भ करते भये । उस असुर पापरूप मृत्यु से रक्षा को मान करके कर्म का आरम्भ किया । और वे देवता जिन मन्त्रोंसे जो कर्म होता है उस कर्म को त्यागकर उन मन्त्रों से दूसरे कर्म में जप होमादि करते हुए अपनी आत्मा की रक्षा करते भये इसी से वे देवता मृत्यु के वश नहीं होते हैं । और इन मन्त्रों से देवता अपनी आत्मा का आच्छादन करते भये इसीसे छन्दोंका छन्दपना है क्योंकि छन्द मन्त्रोंके आच्छादक हैं ॥ २ ॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु वित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

मृत्यु उन देवताओं को ऋग्, यजुः, साम में इस प्रकार देखती भई कि जैसे व्याध जल में मछलियों को देखता है । वे जानकर ऋक्, साम, यजुः विहित कर्म का त्याग करिके अक्षररूप स्वर में प्रवेश करते भये ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

मृत्युकर्म करते हुए उन देवताओं को ऋक्,यजुः, साम विहितकर्म में इस प्रकार देखता भया । जैसे लोक में धीवर अल्प जल में मछली को अपने शस्त्र से मारने योग्य समझकर देखता है । अर्थात् मृत्यु-कर्म के क्षयरूप उपाय से देवताओं का तिरस्कार समझता भया । वैदिक कर्म के करने से शुद्धान्तःकरणवाले वे देवता मृत्युरूप असुरों के अभिलषित को जानकर ऋग्, यजुः, सामसम्बन्धि कर्मका त्याग करतेभये । अर्थात् उस कर्मसे मृत्युसम्बन्धि भयके दूर होने में निराश

होकर अमृत अभय गुणवाला अक्षररूप स्वर में प्रवेश करते भये अर्थात् ॐकार की उपासना में तत्पर होते भये ॥ ३ ॥

यदावा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवछं सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

भावार्थ।

ॐकार को उदात्तादिरूप नहीं होनेके कारण स्वर नहीं कहसकते सो ठीक नहीं क्योंकि जब ऋचाको अध्ययन से अपने अधीन करता है। तब ॐकार का अत्यन्त आदर करता है। इसी प्रकार से साम और यजुको जब अध्ययनद्वारा अपने अधीन करता है। उस समय भी ॐकार का अत्यन्त आदर से उच्चारण करता है। इसीलिये उदात्तादि स्वरों की भाँति ॐकार भी स्वर है। यह अक्षर अमृत और अभय है क्योंकि ब्रह्म का अवयव है। ब्रह्मबुद्धि से उस ॐकार का ध्यान करि देवता अमृत और अभयरूप होते भये ॥ ४ ॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरछंस्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्राविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ।

ॐकार की उपासना से देवताओं को अमृतत्व और अभयत्व की प्राप्ति होसक्ती है। इससे पुरुषों को क्या फल होगा। जो पुरुष देवताओंकी भाँति अमृत और अभय गुणवाले अक्षरकी उपासना करता है। वह देवताओं की भाँति अमृत और अभय को प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्मबुद्धि से उस ॐकारका ध्यान करके देवता जिस अमृतपना से अमृतरूप हुए उसी अमृतपना से और भी मनुष्य अमृतरूप होते हैं

और राजकुल में प्रविष्ट हुए मनुष्यकी भाँति ब्रह्म के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद नहीं होता अर्थात् देवता और मनुष्यों के अमृतपना में अधिकता और न्यूनता कुछ भी नहीं होती है ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्ड आरभ्यते ।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौवा आदित्यउद्गीथएष प्रणवओमितिह्येषस्वरन्नेति ॥ १ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्ड आरभ्यते ।

अक्षरार्थ ।

जो उद्गीथ है वह प्रणव है । जो प्रणव है वह उद्गीथ है । और यह उद्गीथ आदित्य है । और यह आदित्य प्रणव है । क्योंकि ॐ इसका उच्चारण करता हुआ यह आदित्य चलता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

इस खण्ड में पहिले प्रणव और उद्गीथ का ऐक्य कहेंगे । फिर प्राणदृष्टि से अध्यात्मरूप और आदित्यदृष्टि से अधिदेवतारूप जो उद्गीथकी उपासना कहा उसकी निन्दा करिकै प्राण और रश्मियोंका भेदरूप गुणवाला उद्गीथका अवयवरूप ॐकार की उपासना अनेक पुत्रलाभ के लिये कहेंगे । इसलिये पञ्चम खण्ड का आरम्भ करते हैं । जो 'उद्गीथ' है, वह 'प्रणव' है । और 'बह्वृचों' का जो 'प्रणव' है वह 'छान्दोग्य' 'उद्गीथ' शब्द से कहाजाता है । और यह आदित्य प्रणवरूप उद्गीथ है । क्योंकि सूर्य प्राणियों की प्रवृत्ति के अर्थ ॐ इस भाँति अनुमति करता हुआ ही मानो गमन करता है । इसकारण सूर्य को ॐकारपना है ॥ १ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्ममत्वमेकोऽसीतिह

कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मी छं स्त्वंपर्यावर्तयाद्बहवो वै भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

भावार्थ ।

'आदित्यदृष्टि' से कहीहुई 'उद्गीथ' की उपासनाकी निन्दा करते हैं इसही 'आदित्य' का मैंने 'आदित्य' और रश्मियों का अभेद समझकर ध्यान किया था। इससे मेरे तुम एक पुत्र हुए। यह 'कौषीतकि' अपने पुत्रको कहता भया। अब तुम यदि बहुत से पुत्रों की चाह करते हो तौ 'रश्मि' और 'आदित्य' इनकी 'भेददृष्टि' से उपासना करो। अर्थात् रश्मि और आदित्य इनका भेदरूप गुणवाला उद्गीथ की उपासना करो, जिससे तुम को बहुत से पुत्र 'प्राप्त' होवेंगे। इस मन्त्र से आदित्योपासना की यह निन्दा हुई कि आदित्योपासनासे एकही पुत्र होता है और रश्मि तथा आदित्य की भेद से उपासना करने से बहुत पुत्र होते हैं यह देवताविषयक दर्शन है ॥ २ ॥

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

अब 'अध्यात्म' उपासना को कहते हैं। जो यह मुख्य प्राण है उस मुख्य प्राणरूप उद्गीथकी उपासना करै। क्योंकि ॐ यह अनुमति करताहुआ जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

अधिदैवतोपासना को कहे बाद अध्यात्म उपासना को कहते हैं इस मुख्यप्राणरूप उद्गीथकी उपासना करे। क्योंकि जैसे सूर्य प्राणियों की प्रवृत्ति के लिये अनुमति देताहुआ गमन करता है, इसी प्रकार यह प्राण भी वाक् की प्रवृत्ति के लिये ॐ इस प्रकार अनुमति करता हुआही मानो गमन करता है। अर्थात् मरनेवाले के समीप में रहने वाले बान्धवजन मरणसमय में प्राण की वागादिप्रवृत्ति के लिये

'हां कहो' इत्यादि रूप अनुमति को नहीं जानते हैं। इससे निश्चय हुआ कि जीवनावस्था में 'हां कहो' इस अनुमति के अनन्तरही वागादिकों की प्रवृत्ति होती है। 'अर्थात् कहनेवाला कहनेका आरम्भ करता है' इसलिये प्राणका अनुमति देनाही ओंकार है। अध्यात्म और अधिदेव, प्राण और आदित्य को उद्गीथरूप होनेसे 'आदित्य' में भी 'अनुमति' रूप ओंकार समझना चाहिये ॥ ३ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणा छं स्त्वं भूमानमभिगाय ताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

इस प्रकार प्राणदृष्टि द्वारा कही हुई उद्गीथोपासना की निन्दा करिके अपने अभिलषित उपासना को कहते हैं। हे पुत्र ! मैं इस उद्गीथरूप प्राण का वाक् और प्राण को एक समझकर ध्यान करताथा, इसी कारण तुम मेरे एक पुत्र हुए हो, यह वृत्त कौषीतकि अपने पुत्र को कहता हुआ। हे पुत्र ! अब जो तुम बहुत पुत्रों की इच्छा करते हो तौ वाक् और मुख्य प्राणको भेदगुणवाला उद्गीथ समझकर चित्तसे ध्यान करो। जिससे तुमको बहुत से पुत्र होवेंगे। प्राण और आदित्यका एकरूप से ध्यान करने में एक पुत्रकाही लाभ होता है। इसलिये रश्मि और प्राणरूप से भेद जानकर ध्यान करने वाले को बहुतसे पुत्र होते हैं। यह इस काण्डसे कहा है ॥ ४ ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

जब 'भेददृष्टि' काही अधिक फल हुआ तो प्रणव और उद्गीथ का

ऐक्य कहनेका क्या प्रयोजन है ? प्रणव और उद्गीथका ऐक्य कहने का प्रयोजन यह है कि जब उद्गाता प्रणव और उद्गीथ के ऐक्य अपने कर्म में प्रमाद से दुष्टगान करै तो उससमय होता कर्म में प्रयो किये हुए प्रणव से उस दुष्टगान के 'क्षतको' दूर करता है। यदि प्रणव और उद्गीथको एक नहीं मानें तो उद्गाता का गान प्रयुक्त क्षतिको होत प्रणवसे दूर नहीं करसकता ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य षष्ठः खण्ड आरभ्यते।

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥

अब प्रथमाध्याय के षष्ठ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि ही साम है यह अग्निरूप साम पृथ्वीरूप ऋचा में स्थित है। इसकारण ऋक् में ही स्थित सामका गान करते हैं। यह पृथ्वी 'सा' है और अग्नि ही 'अम' है। यह दोनों ही साम हैं ॥ १ ॥

भावार्थ।

अब समग्र फल सम्पत्ति कहने को उद्गीथकी प्रकारान्तर से उपासना को कहते हैं। ऋक् में पृथ्वी दृष्टि करनी चाहिये। तैसेही सामसें अग्नि दृष्टि करनी चाहिये। पृथ्वी को 'ऋक्त्व' और अग्नि में 'सामत्व' अप्रसिद्ध है। सो उचित नहीं क्योंकि यह 'अग्न्याख्य' साम इस पृथि व्याख्य साम में उपरि भाव से स्थित है। अर्थात् पृथ्वी का अधिष्ठात देवता अग्नि है। इसलिये पृथ्वी और अग्नि एक है। और ऋक् के अनुरोध से ही साम का गान होता है। इसलिये ऋक् और साम एक है। इस प्रकार ऋक् और साम जैसे एक हैं। तैसेही पृथ्वी और अग्नि

एकही है। साम शब्द में दो पद हैं। 'सा' और 'अम' इसमें 'सा' का अर्थ पृथ्वी है। और 'अम' का अर्थ अग्नि है। तो यह पृथ्वी और अग्नि एक साम शब्द से वाच्य होते हैं। इसहेतु से पृथ्वी और अग्नि ये दोनों ऋक् साम की भाँति नित्य मिले हुए हैं। इसलिये पृथ्वी और अग्नि को ऋक् और साम मानते हैं। साम इन अक्षरों में पृथ्वी और अग्नि दृष्टिविधान के लिये पृथ्वी को "सा" और अग्नि को "अम" कहा है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेन्तरिक्षमेव सावायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

भावार्थ।

यह आकाश ही ऋक् है। अर्थात् ऋक् में अन्तरिक्ष दृष्टि करनी चाहिये। और वायुही साम है। क्योंकि सामगान वायु द्वारा ही होता है। यह अन्तरिक्ष और वायु इस ऋचा में स्थित साम ही हैं। इस कारण ऋचा में स्थित साम का ही गान होता है। इस 'साम' शब्द में 'सा' यह पद अन्तरिक्ष है और 'अम' यह पद वायु है ॥ २ ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

भावार्थ।

द्यौ ही ऋक् है। आदित्य साम है। यह 'द्यौ' और 'आदित्य' इस ऋक् में स्थित हुआ साम है। इसी से ऋक् में स्थित साम का गान होता है। यहां भी 'सा' द्यौ है। और आदित्य 'अम' है आकाश सहित सूर्य साम है ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढꣳ

साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते नक्षत्राण्येव स चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

नक्षत्रही ऋक् है॥चन्द्र साम है।ये दोनों इस ऋक् में स्थित साम रूप हैं। इसी से ऋक् में स्थित साम का गान होता है। यहां नक्षत्रही 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है। क्योंकि नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा है इसलिये वह चन्द्र साम है। नक्षत्र सहित चन्द्रमा साम है ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लंभाः सैवर्गथयन्नीलं पर कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

जो यह सूर्य की श्वेत कान्ति है वह ऋक् है। और जो सूर्य नीला अत्यन्त काला दीख रहा है वह साम है। ये दोनों इस ऋचा स्थित सामरूप हैं। इसलिये ऋक् में स्थित साम का गान होता है। यद्यपि सूर्य में कालिमा नहीं प्रतीत होती है। परन्तु अत्यन्त सावधान चित्तवाले को दीखती है ॥ ५ ॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथयन्नीलं परः कृष्णंतदमस्तत्सामाथयएषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषोदृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

जो यह मण्डलात्मक सूर्य की शुक्लकान्ति है वह 'सा' है और जो अत्यन्त नील कालिमा है। वह 'अम' है। ये दोनों साम हैं। और जो यह सूर्य के भीतर हिरण्मय पुरुष दीखता है उस के सुवर्णमय ही श्मश्रु और केश हैं और वह नखोंतक सुवर्णरूप है ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

पूर्वोक्त प्रकार से अङ्गों की उपासना का प्रकार कहकर आधिदैविक प्रधानकी उपासना कहने के लिये 'उपास्य' देवता के स्वरूप को कहते हैं। ये दोनों शुक्ल कृष्ण'सा' 'अम' है इसलिये साम हैं। जो यह मण्डलाकार सूर्य के भीतर ज्योतीरूप पुरुष दीखता है। उसके ज्योतीरूपही श्मश्रु हैं। और केश भी सुवर्णके सदृश हैं। यह पुरुष नखोंतक सुवर्ण के सदृश है। यहां यह शङ्का होती है कि मन्त्र में 'हिरण्मय' पद है उस का अर्थ सुवर्ण का विकार है। फिर ज्योतीरूप अर्थ क्यों करते हो। यद्यपि 'हिरण्मय' शब्द का अर्थ सुवर्णविकार है। परन्तु आदित्य को सुवर्णविकार नहीं कहसकते। क्योंकि ऋक् साम उष्ण और पाप इन से रहित है। जो सूर्य सुवर्णरूप ही होता तो पापरहित उष्ण ऋक् इत्यादि चेतन धर्मों का श्रुति वर्णन नहीं करती। इस को जगत् के पूर्ण करने के कारण पुरुष कहते हैं। और यह पुरुष ब्रह्मचर्यादि साधन वाले चक्षुरहित एकाग्रचित्तवाले पुरुष को ही दीखता है ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवंवेद ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

उसके जैसे कपि का पृष्ठभाग पुण्डरीक है। तैसे उस पुरुष के नेत्र पुण्डरीक हैं। उसका 'उद' यह नाम गौण है। वो यह सब पापों से दूरहोकर उदय को प्राप्तहोता है। और जो इसप्रकार जानता है वह भी सब पापों से रहित होकर उदय को प्राप्तहोता है ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

वह सब भाग में सुवर्ण के सदृश है। परन्तु नेत्रों में वह 'कप्यास' वानर जिस भाग से बैठता है उसकी तरह अत्यन्त तेजवाला है (अर्थात् कमल के सदृश नेत्रवाला है) पूर्वोक्त गुणवाले उसका 'उत' यह नाम गौणहै। क्योंकि वह देव सब पाप वा उनके कार्यों से रहित

'असंस्पृष्ट' है । इसीकारण से इस का नाम 'उत्' है । जो पूर्वो गुणवाले परमात्मा को 'उत्' नाम से जानता है, वह भी सब पापों रहित होता है ॥ ७ ॥

तस्यर्क्च साम च गोष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गीतैतस्यहि गाता स एष येचामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देव कामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

उस देवका ऋक् साम और पूर्वोक्त पृथिव्यादि स्वरूप है । उसी उद्गीथ है इस कारण से ही उद्गीता इसके गान करनेवाला होता है वो यह देव इसलोक और परलोक का स्वामी है । और इन लोकों धारण भी करता है । देवताओं के कामों का स्वामी है । इसलिये देवत विषयक उद्गीथ का स्वरूप है ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

उस देव की उपासना आदित्यादिकोंकी भाँति उद्गीथरूपता सम्पाद करके करनी चाहिये । क्योंकि वह परमात्मा ऋक् साम और पूर्वो पृथिव्यादिरूप है । अर्थात् सर्वस्वरूप परमात्मा है । यह परमात्मा इस लोक, परलोक और समग्र काम इनका स्वामी है । और सब जगत्की उत्पत्ति भी इसीसे होती है । इस कारण यह ही देव सर्वस्वरूप है । यह परमात्मा उद्गीथरूप है । क्योंकि यह 'उद्गीथ' शब्द का अवयव उत्रू है । और उद्गीथ का स्वरूप ऋक् सामादिरूप यह भी है । और उद्गीथ का गान करनेवाले को उद्गाता भी 'उदं' परमात्माको 'गायति' गान करनेसेही कहते हैं । वो यह देव 'उत्' नामवाला है और इसलोक परलोक तथा सब कामों का स्वामी और धारण करनेवाला है । और यह देव कामों को सम्पादन करता है इसलिये देव उद्गीथ का देवता विषयक स्वरूप कहा है ॥ ८ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य सप्तमः खण्ड आरभ्यते ।

अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढछं साम तस्मादृच्यध्यूढछं साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

अब प्रथमाध्यायके सातवें खण्डका आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

आधिदैविक उपासना के अनन्तर अध्यात्म उपासना को कहते हैं । वाक् में ऋक्दृष्टि करना चाहिये और प्राण में सामदृष्टि करनी चाहिये । क्योंकि वाणी ऋक् प्राणरूप साम का एकस्थान से ही उच्चारण कियाजाता है । यह वाणी और प्राण इस ऋचा में स्थितही साम का गान होता है इसी से ऋक् में स्थित साम का गान होता है । वायुसहित प्राण को प्राण कहते हैं इस 'साम' शब्द में 'सा' वाक् है और प्राण 'अम' है इसकारण वाक् और प्राणरूप साम है अर्थात् वायु सहित वाणी से ही साम का गान होता है इससे वाक् प्राण और साम एक हैं ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढछं साम तस्मादृच्यध्यूढछं साम गीयते । चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

चक्षु ही ऋक् है । और आत्मा साम है । यहां आत्मा शब्द से छायात्मा का ग्रहण किया है जैसे ऋचा में साम स्थित है । वैसेही नेत्र में छायात्मा स्थित है । चक्षु में रहनेवाला छायात्मा इस ऋचा में स्थित साम है इसकारण ऋचा में स्थित साम का गान कियाजाता है । चक्षु ही 'सा' है और आत्मा 'अम' है ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढछं साम

तस्मादृच्यध्यूढᳫं साम गीयते । श्रोत्रमेवसामनोऽमस्त
त्साम ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

श्रोत्रही ऋक् है । और मन साम है । क्योंकि जब सामगान होत
है । उससमय श्रोत्रद्वारा ही मन को सामगान का बोध होता है।
श्रोत्रद्वारा साम को सुननेवाला यह मन इस ऋचा में स्थित है । इस
कारण ऋचा में स्थितही साम का गान होता है । यहां 'सा' श्रोत्र है
'अम' मन है । इसलिये श्रोत्र और मन सामरूप हैं ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं
तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढᳫंसामतस्मादृच्यध्यूढᳫं
साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवसाऽथ
यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

यह जो नेत्रों की शुक्लकान्ति है उस में ऋक्दृष्टि करनी चाहिये
और जो नीली कालिमा दीखती है । उस में सामदृष्टि करनी चाहिये।
ये दोनों ऋचा में स्थित हैं । और ऋचा में स्थित साम का गान किया
जाता है । जो यह नेत्रों की शुक्ल कान्ति है । वह 'सा' है और जो
सूर्यमण्डल की भाँति पूर्वोक्त कालिमा है वह 'अम' है ॥ ४ ॥

अथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम
तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपं
यावमुष्यगोष्णौ तौ गोष्णौयन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

जो यह नेत्रों के भीतर पुरुष दीखता है । वहही ऋक् है । और
वहही साम है । और वह ही उक्थ यजु और ब्रह्म है । उस इसका
वहही रूप है जो परमात्मा का है । इस पूर्वोक्त चाक्षुष पुरुष का वह ही

प है। जो आदित्य पुरुष का है जो इस आदित्य पुरुष के पर्व हैं वह ी इस चाक्षुष पुरुष के पर्व हैं। जो इस आदित्य पुरुष का नाम है वह ी इस चाक्षुष पुरुष का भी नाम है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रधान के अङ्गों की उपासना को कहकर प्रधान ी उपासना को कहते हैं। जो यह नेत्रों के भीतर छायारूप पुरुष ीखता है वह ही अध्यात्म ऋक् है। और वागादि पृथिव्यादि अधि-त्र हैं। पादबद्ध ऋचा जो अक्षररूप है वह ही छायारूप पुरुष है उसका दर्शन भी आधिदैविक सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष की तरह यम नेयमवाले विशिष्ट अधिकारियों को ही होता है। इसीतरह जो साम है वह भी पुरुषही है। तथा यजुः,स्वाहा,स्वधा, वषट् ये वाणी यजुः ये सब पुरुष ही हैं। क्योंकि उस पुरुष से ही सब उत्पन्न हुए हैं। और सब में वह पुरुष प्रविष्ट है। और श्रुति ने भी कहा है 'तद्ब्रह्मेति त्रयो वेदाः' तीनों वेद ब्रह्म ही हैं। जो आदित्य पुरुष का स्वरूप है वह ही इस चाक्षुष पुरुष का स्वरूप है। और जो इस आदित्य पुरुष के अवयव वा नाम हैं वह ही सब के भी अवयव और नाम हैं ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

वो यह चाक्षुष पुरुष है। इसके जो लोक हैं उनका और मनुष्य-सम्बन्धि कामों का यह स्वामी है। जो गान करनेवाले वीणा में गान करते हैं वे इसकाही गान करते हैं। इसलिये वे धनवाले हैं ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाऽऽप्नोति देव कामाꣳश्च ॥ ७ ॥

भावार्थ।

तैसेही जो पूर्वोक्त देवको 'उद्गीथ' जानता हुआ सामका करता है, वह चाक्षुष पुरुष आदित्य पुरुष दोनोंका गान करता वह इस आदित्य पुरुष के समान इस लोक और परलोकको पात और देवलोक को पाता है ॥ ७ ॥

अथाऽनेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ता छं ऽऽप्नोति मनुष्य कामा छं श्च तस्मादुहैवं विद्वा ब्रूयात् ॥ ८ ॥

भावार्थ।

और यह इस चाक्षुष पुरुषसेही नीचे के लोकों को प्राप्त होता और चाक्षुषरूप होकर मनुष्य कामोंको पाता है। इस कारण चा पुरुषको जानता हुआ उद्गाता कहता है ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य विद्वान्साम गायति साम गायति ॥ ९ ॥

इति प्रथमाऽध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

भावार्थ।

उद्गाता यजमानको कहै कि तुम क्या चाहतेहो उसीके लिये गान करूं यह उद्गाता कामागान से यजमानके कार्यों को सम्पादन करने को समर्थ है। जो इसप्रकार उद्गीथको जानकर गान करता वह गानद्वारा यजमानके कार्यका सम्पादन करता है ॥ ९ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्याष्टमः खण्ड आरभ्यते।

त्रयो होद्गीथे कुशलाबभूवुः शिलकः शालावत्य

तायनो दाल्भ्यः प्रवाहणोजैवालिरिति ते होचुरुद्गीथे कुशलाः स्मोहन्तोद्गीथेकथां वदामः ॥ १ ॥

अब पहले अध्यायके आठवें खण्डका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

इस उद्गीथ के ज्ञान में तीन अत्यन्त निपुण थे शालावत का पुत्र शिलक । और चिकितायनका पुत्र दाल्भ्य । और जीवलका पुत्र प्रवाहण । ये तीनों परस्पर में कहने का आरम्भकिया कि हम उद्गीथ में कुशल हैं । इसकारण उद्गीथ के विचार में वाद करें ॥ १ ॥

भावार्थ ।

इस अध्याय के सात खण्डपर्यन्त पापनिवृत्ति के लिये अध्यात्म और अधिदेव स्थान से भेदवाला परमात्मदृष्टि से उद्गीथ की उपासना का प्रकार कहा ॥ अब परोऽवरीय गुणवाले परमात्माकी दृष्टि से उद्गीथ की उपासना कहते हैं । उसका फल भी वेद भगवान्ने परोऽवरीय प्राप्तिही कहा है ॥ अब इस परोऽवरीय गुणवाले परमात्मा की उपासना का प्रकार इतिहास द्वारा शीघ्र विज्ञान के लिये कहते हैं । एक स्थान में किसी समय किसी कारणसे इकट्ठे हुए ये तीन उद्गीथ ज्ञानमें अत्यन्त निपुण हुए जिनके नाम यह हैं शलावत का पुत्र शिलक । चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य, और जीवल का पुत्र प्रवाहण । इन तीनों ने विचार किया कि अयन उद्गीथ में अत्यन्त निपुण है ऐसी प्रसिद्धि है । इसकारण जो तुम्हारी अनुमति होवै तो उद्गीथ के विषय में पक्ष और प्रतिपक्ष द्वारा वाद करें । इस इतिहास से यह सिद्ध होता है कि उद्गीथ ज्ञानके विचार से विपरीत ज्ञान का नाश और सन्देह निवृत्ति और अपूर्व विज्ञान की उत्पत्ति होगी ॥ १ ॥

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच

१ उच्चनीच विभाग । २ दाल्भ्य दल्भगोत्रवाला, दल्भका पुत्र और चिकितायन का पुत्र, इसलिये दाल्भ्य ऋषि को 'द्व्यामुष्यायण' दो पिताओंकी सन्तान कहते हैं ।

भगवन्तावग्रे वदन्तां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचछं श्रो
मीति ॥ २ ॥

भावार्थ ।

परस्पर वे अनुमति करके एक स्थान में बैठगये । क्षत्रिय वर्ण
जीवल का पुत्र प्रवाहण दाल्भ्य ने शिलक से कहा आप दोनों ब्रा
होने से पूजनीय हैं इस कारण आपही विचार करिये । मैं आपके व
को सुनूँगा ॥ २ ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवा
हन्तत्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

वह शलावत का पुत्र शिलक चिकितायनका पुत्र दाल्भ्य से क
मैं तुम से पूछूं तब दाल्भ्य ने कहा पूछिये ॥ ३ ॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य
गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरि
मिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४

अक्षरार्थ ।

साम की क्या गति है । स्वर है । स्वर की क्या गति है । प्राण
प्राण की क्या गति है । अन्न गति है । अन्न की गति क्या है । जल
गति है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

शिलक दाल्भ्यसे पूछते हैं कि साम की गति क्या है ? तब
स्वर है । क्योंकि साम स्वररूप है । शिलकने पहिले साम का प्र
किया उसमें कारण यह है कि उद्गीथही उपास्य होने से प्रकृत
सामको स्वररूप होने से सामकी स्वरही गति है क्योंकि जो जि
होता है वह उसका आश्रय होता है जैसे मृद्रूप घट है इसलिये

की गति मृत्तिका है। स्वर की गति प्राण है क्योंकि प्राण से ही स्वर का उच्चारण होता है। प्राणकी गति अन्न है क्योंकि अन्न सेही प्राणका जीवन होता है अन्न के विना प्राण शुष्क होजाता है। अन्न की गति जलहै। क्योंकि अन्न जलसे ही उत्पन्न होता है॥ ४॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्यलोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकꣳ सामाभिसंस्थापयामःस्वर्गसꣳ स्तावꣳ हि सामेति॥ ५॥

अक्षरार्थ।

जलका आश्रय कौन है। यह लोक जलका आश्रय है। इसलोक का आश्रय कौन है। स्वर्गरूप इसलोक के विना साम का दूसरा कोई भी आश्रय न समझें। हम स्वर्गलोक को ही साम स्थित करते हैं। क्योंकि स्वर्गरूप से ही साम की स्तुति की जाती है॥ ५॥

भावार्थ।

जलका आश्रय कौन है। यह स्वर्गलोक है क्योंकि इसलोक से ही वृष्टि होती है। इसलोक का आश्रय कौन है। इसलोक का आश्रय यह लोक ही है। क्योंकि साम का आश्रय यह लोक ही है। इस कारण हम भी स्वर्गलोक को सामरूप स्थापन करते हैं। और सामको स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित जानते हैं। क्योंकि स्वर्गरूप से ही सामवेदकी स्तुति करते हैं। इसमें श्रुति भी प्रमाण है॥ ५॥

तꣳ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किलते दाल्भ्यसाम यस्त्वेतर्हिब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीतिमूर्द्धा ते विपतेदिति॥ ६॥

अक्षरार्थ।

उस चिकितायन के पुत्र दाल्भ को शलावत का पुत्र दाल्भ्य कहने

लगा कि हे दाल्भ्य ! तुम्हारा साम परोवरीयरूपसे अप्रतिष्ठित है ऐसा यदि कोई कहे तो उसका शिर नीचे गिरपड़े ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

दाल्भ्य को शिलक ने कहा कि हे दाल्भ्य ! जो तुम से साम की स्वर्गद्वारा स्तुति होती है इसलिये सामको परोवरीय गुणवाला कहा तो स्वर्ग भी 'परोवरीय' गुणवाला हुआ । और परोवरीय गुणवाला वह होता है जो नष्ट न हो और किसी से बनायाहुआ नहीं होवे । अब साम जो है वह उपदेश परंपरा से आया हुआ है । इसलिये नित्य है। और स्वर्ग बनाया हुआ है । इसलिये अनित्य है । तो सामका आश्रय स्वर्ग नहीं होसकता । इस हेतु से शिलक दाल्भ्यसे कहताहै कि हे दाल्भ्य ! जो तुम सामका स्वर्गको आश्रय कहते हो । यदि इस विपरीत ज्ञानको कोई यथार्थज्ञानवाला श्रवण करके यथार्थज्ञानसे तुमको शाप देवे तो तुम्हारा मस्तक नीचेको गिरपड़े । तब दाल्भ्य कहता है कि मैंने 'मूर्द्धपात' के अनुकूल कौनसा दोष किया है ? जो मेरा मस्तक उसके कथनमात्र सेही गिरजाय जो मेरा अपराधहो तो उसके कथन विनाही मेरा शिर गिर सकता है और जो मेरा अपराध नहीं है तो शाप देनेसे भी नहीं गिरसकता है । जो विना अपराधही कथनमात्र से मस्तकका पात होजावे तो निरपराधीको कथनमात्र से अपकार होनाचाहिये औ अपराधीका कथनमात्रसे अपकार नहीं होना चाहिये । यह जो तुम कहते हो सो ठीक है । परन्तु कियेहुए शुभ और अशुभ कर्मका फल देशकालको पाकर ही होता है । तो मूर्द्धपातका निमित्त जो अज्ञान है वह दूसरेका दिया हुआ शापरूप कारणकी अपेक्षा करता है । अर्थात् शुभाशुभ कर्म का फल भी निमित्त को पाकरही होता है । विना निमित्त कर्मफल भी नहीं होता ॥ ६ ॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचाऽस्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच

प्रतिष्ठां वयं लोक छं सामाभिस छं स्थापयामः प्रतिष्ठा स छं स्ताव छं हि सामेति ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

दाल्भ्य शिलक से कहते हैं कि सामकी जो प्रतिष्ठा है । उसे मैं जानता हूं । तब शिलक कहे है कि इस लोककी क्या प्रतिष्ठा (आश्रय) है । तब दाल्भ्य ने कहा यह लोकही है । इसलोक का क्या आश्रय है । इसलोक के विना सामका कोई आश्रय नहीं है । इस कारण हम लोकको सामका आश्रय निर्धारण करते हैं । क्योंकि सामकी स्तुति प्रतिष्ठा सेही कीजाती है ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

दाल्भ्य शिलक से कहे है कि सामका आश्रय मैं जानता हूं । तब शिलक प्रश्न करे है कि हे दाल्भ्य ! इसलोक की क्या गति है । तब दाल्भ्यने कहा कि इस लोकका आश्रय यह लोकही है । क्योंकि यह लोक यज्ञ दान और होम इत्यादिकों से इसलोक को पुष्ट करता है । इसमें श्रुति भी प्रमाण है 'इसलोक से दिये हुए चरुपुरोडाशादिकों को देवता भोजन करके जीवन करते हैं । लोक का आश्रय यह लोक हो परन्तु सामका आश्रय कैसे हो सकता है । यह भूमि प्राणिमात्र का आश्रय है । इसी से साम का भी यह लोक आश्रयही है । इसलोक का आश्रय कौन है । इस लोकको छोड़कर सामका कोई आश्रय नहीं है । इसलिये हमने इस लोककी प्रतिष्ठा सेही सामकी स्तुति की है । इस लिये इस सामका आश्रय इसलोक को जानते हैं । प्रतिष्ठारूप होने से साम एक है तो पृथ्वी से सामकी स्तुति कैसे होसकती है । इस भूमि का रथन्तर शब्द से कहाजाय ऐसे साम का पृथ्वी रूप से स्तुति किया है । इसलिये, उद्गीथ भी सामरूप होने से पृथ्वीरूपता होसकती है ॥ ७ ॥

त छं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किलते शा

---

१ अतःप्रदानं देवा उपजीवन्तीति श्रुतिः ॥

लावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

इति प्रथमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ ।

दाल्भ्यको प्रवाहणने कहा कि हे शालावत के पुत्र ! साम पृथ्वी का आश्रय होनेसे नाशवान् है । यदि इस विपरीत ज्ञानका कोई श्रवण करके शाप देवे तो तेरा शिर नीचे गिरजाय । तब दाल्भ्यने कहा कि मैं ऐसा जानताहूं तब प्रवाहणने कहा जैसा जानतेहो वह कहो ॥ ८ ॥

इति प्रथमाध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अथ प्रथमाऽध्यायस्य नवमःखण्ड आरभ्यते ।

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशोह्येवैभ्योज्यायानाकाशः परायणम् ॥ १ ॥

अब प्रथम अध्याय के नवम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

इस लोक की क्या गति है । तब प्रवाहण उत्तर देते हैं कि इस लोक की आकाश गति है । क्योंकि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं । और आकाशमें ही लीन होते हैं । और आकाश ही इनका आश्रय है । और आकाश ही इनसे बड़ा है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

अब आकाश को परमात्मरूप कहते हैं । इसलोक का आश्रय आकाश है । क्योंकि आत्मा का कर्म सब प्राणियों को उत्पन्न करता है यह वेद से सिद्ध होता है । और आकाश का कर्म भी सब प्राणियों को

उत्पन्न करना सुना है । इसलिये आकाश शब्द से परमात्मा का ही बोध होता है । इसमें श्रुति भी प्रमाण है । और इस उपनिषद् में भी 'उस आकाश का सब प्राणियों को उत्पन्न करना यह कर्म कहा है' और इस आकाश में ही लीन होते हैं । और इस आकाश से तेज[2] उत्पन्न हुआ और तेज का परमात्मा ही आश्रय है, ऐसा कहेंगे । यह सब चराचर जगत् इस आकाश से ही उत्पन्न होता है । इस आकाश से वायु उत्पन्न[3] हुआ वायु से तेज, तेज से जल, जल से अन्नादि ये इस क्रम से उत्पन्न हुए । और ये भूत विपरीत होकर आकाश में ही लीन होते हैं । अन्न जल में, जल तेज में, तेज वायु में और वायु आकाश में लीन होता है । यह आकाश सब भूतों से महान् है । इस कारण यह आकाश सब भूत पदार्थों का आश्रय है ॥ १ ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान् परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ ।

यह उद्गीथ परोवरीय है । सबसे उत्कृष्ट है । इस कारण उद्गीथ परमात्मा रूप है और परोवरीय गुणवाला परमात्मा अन्तरहित है । जो मनुष्य अन्तरहित परोवरीय गुणवाले आत्मा को भलीभाँति जानता है । उसका जीवन इस संसार में उत्कृष्ट होता है । और परोवरीय गुणवाले परमात्मा को जाननेवाला पुरुष ब्रह्माकाशपर्यन्त लोकको जीतता है । जो इस प्रकार उद्गीथ की उपासना करता है ॥ २ ॥

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

---

१ पर आत्माऽऽकाशो वै नामेति श्रुतिः ॥ २ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी समजायत इति श्रुतिः ॥ ३ तत्तेजोऽसृजतेति श्रुतिः ॥

भावार्थ ।

शुनकका पुत्र अतिधन्वा उदरशाण्डिल्यनामक अपने शिष्य इस उद्गीथ को कहकर कहा कि जबतक तेरे पुत्र पौत्रादि इस उद्गी को जानेंगे तबतक वे इन लौकिक जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट रीति जीवन करेंगे ॥ ३ ॥

तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतदेवं विद्वा पास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भव तथा मुष्मिँल्लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

भावार्थ ।

इसीप्रकार परलोक में भी उत्कृष्ट गुणवाला होता है । यह फ सतयुगवाले महाभाग्यों को ही होता है यहही नहीं किन्तु कलियु जनों को भी सुखादिरूप फल होता है । जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार उद्गीथकी उपासना करता है । वह इस लोक और परलोक में स त्कृष्ट होकर रहता है ॥ ४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य दशमः खण्ड आरभ्यते ।

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह क्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

अब प्रथम अध्याय के दशम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जब पाषाणादिकों से धान्य नष्ट होगया तब दुर्भिक्ष में स्त्रि का चिह्न पयोधरादि रहित अपनी स्त्री के साथ चाक्रायण का पुत्र उ स्तिर्ह ईश्वरके ग्राम में वृद्धावस्था में किसी के गृह में रहता था ॥ १

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षेतष्ठंहोवाच नेत

ऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

वह चाक्रायण अन्न के लिये घूमता हुआ बिगड़े हुए 'माष'[1] उड़दों को खाते हुए ईश्वर[2] से याचना किया कि मेरे को भक्षण करने के लिये 'माष' उड़द देवो । तब उस धनवान् ने कहा कि इन उच्छिष्ट उड़दों के सिवाय और मेरे पास नहीं हैं । जो इस पात्र में रक्खे हुए हैं । अब मैं क्या करूं ? ये उच्छिष्ट 'माष' तुमको कैसे देऊँ ॥ २ ॥

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपान मित्युच्छिष्टं वै मे पीतछंस्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

तब चाक्रायणने कहा इन उच्छिष्ट माषोंको ही मेरेको देवो तब वह धनवान् उन माषों को उस चाक्रायण को दिया । जब वह चाक्रायण माषों का भक्षण करगया तब धनवान् ने कहा अब यह जो हमारे पास जल है उसको भी पीवो । तब चाक्रायण ने कहा जो यह जल मेरे पीने योग्य है तौ पीऊँगा । यह सुनकर वह धनवान् उस चाक्रायण से पूछे है ॥ ३ ॥

नं स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमान खादन्निति होवाच कामो म उदकपानमिति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

क्या यह माष उच्छिष्ट नहीं है तब चाक्रायण ने कहा जो मैं इन माषों को नहीं भक्षण करता तो प्राण धारण नहीं करसकता और जल पान तो मेरी इच्छा के अधीन है ॥ ४ ॥

---

१ माष धान्य विशेष है ॥ २ यहां ईश्वर शब्द से संपन्न गृहस्थी को लिया है अर्थात् धनवान् पुरुष ॥

भावार्थ ।

जब चाक्रायण ने कहा कि जो यह जल उच्छिष्ट नहीं है, तो पान करने योग्य है । तब उस धनवान् ने पूछा कि वे माष भी तो च्छिष्ट ही थे । तब चाक्रायण ने उत्तर दिया कि यद्यपि वे माष उच्छिष्ट ही थे परन्तु उन माषों का भक्षण किये विना मैं प्राण धारण नहीं कर सकता था और जलपान तो मेरे इच्छाके अधीन है । इससे चाक्रायण ने यह कहा है कि जो ज्ञानवान् मनुष्य अपने जीवनमें सन्देहयुक्त होजावे तो उस समय उच्छिष्टादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण में उसको दोष नहीं होता है । परन्तु जब जीवन धारण करने में उच्छिष्टादि के विना दूसरा कोई उपाय नहीं दीखे तो । और जो ज्ञानपूर्वक उन्मत्तता से अभक्ष्य भक्षण करे तो नरकगामी होताही है ॥ इससे यह सिद्ध किया कि चाक्रायण का उससमय अन्नके विना जीवन नहीं होसकता था इस कारण उच्छिष्ट भक्षण करनेमें कोई दोष नहीं है । और उस समय जलपान नहीं करने से उसका जीवन भी होसकता है । फिर भी जो वह उच्छिष्ट जलपान करता तो उसको पातक ही होता । इस कारण जलपानका निषेध किया है ॥ ४ ॥

स ह खादित्वाऽतिशेषाञ्जायाया आजहारसाऽग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

वह चाक्रायण उन माषों का भक्षण करके 'अवशिष्ट' माषों को अपनी स्त्री के लिये लेगया । और वह स्त्री उन माषोंके आने के पूर्वही अन्नको प्राप्तभई । तो भी वह स्त्रियों के स्वभावसे पति से उनको लेकर गृहमें रखदिये ॥ ५ ॥

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्रा छं राजाऽसौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यै र्वृणीतेति ॥ ६ ॥

भावार्थ।

वह चाक्रायण उस स्त्रीके पास उन माषों को रक्खे हुए जानकर प्रातःकाल शयन का त्याग करिके अपनी भार्या से कहा कि जो मैं इस समय अल्पभी अन्नको पाऊं तो उस अन्नका भक्षण करिके समर्थ हुआ कुछ द्रव्यको सम्पादन करों तो उससे हमारा जीवन होगा। समर्थ होनेसे धन कैसे मिलेगा। यहां समीप में यह राजा यज्ञ करता है। जब उसके समीप जाऊंगा तो वह राजा मेरे को सब ऋत्विजों की अपेक्षा उत्तम समझ कर ऋत्विजों के कर्म में नियुक्त करेगा॥ ६॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति ता खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय॥ ७॥

भावार्थ।

ऐसे पति के वचनों को सुनकर स्त्री ने कहा हे कान्त! जो आप कल मेरे को उड़द दिये थे वह मेरे पास हैं। उनको आप ग्रहण करो। और इनको भक्षण करिके राजा के विस्तृत यज्ञ को आप गमन करिये॥ ७॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच॥ ८॥

भावार्थ।

तब वह चाक्रायण उस यज्ञभूमि में जाकर उद्गाता के समीप बैठ गया। और बैठकर स्तुति करनेवालों से कहने लगा॥ ८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति॥ ९॥

अक्षरार्थ।

हे स्तुति करनेवाले पुरुष! जिस देवता की तुम स्तुति करते हो। उस स्तुति को जो तुम विना जाने करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा॥ ९॥

भावार्थ ।

हे प्रस्तोतः ! जिस देवताकी तुम स्तुति करतेहो उस देवताको न जाने जो तुम स्तुति करोगे तो तुम्हारा मस्तक पृथ्वी पर गिर पड़ेगा उसमें भी स्तुति करनेके मन्त्रोंको जानता हुआ मेरे सम्मुख जो बिना जाने स्तुति करोगे तो अवश्यही गिरेगा। अब यहां शङ्का करते हैं नहीं जाननेवाले की निन्दा के प्रकरण में विद्वान्के समीप में गान करना यह कहना अयोग्य है। यदि विद्वान् के सम्मुख नहीं कहे परोक्ष में भी स्तुति करे तो भी स्तुति के मन्त्र न जानने से मस्तक गिरपड़े केवल कर्ममात्र को जाने और प्रस्तावादि भक्ति तथा देवस्वरूपको नहीं जाननेवाले पुरुषोंका मस्तक गिर पड़ता है, और उस का कर्म में अधिकार नहीं होता। मत होवो कर्ममात्र जाननेवालो का कर्म में अधिकार है परन्तु वह अनिष्ट अविद्वान् पुरुषों के भी होसक्ता है क्योंकि वे केवल कर्मही में तत्पर रहते हैं। और अविद्वानों को दक्षिणमार्ग से कर्म करनेकी आज्ञा भी है तो फिर अविद्वानों को में अधिकार कैसे नहीं है। यदि अविद्वानों का कर्म में अधिकार नहीं है तो एक उत्तर मार्गही का अविद्वानों को करने की आज्ञा होनी चाहिये और दक्षिणमार्ग की नहीं होनी चाहिये। मेरा कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि अविद्वान् को कर्म में अधिकार नहीं है विद्वान् के समक्ष में अविद्वान् को कर्म का निषेध है और सब स्थानों में अग्निहोत्र स्मार्तकर्म अध्ययन इनमें नहीं है। क्योंकि अविद्वान् पुरुष यदि कर्म करता होवे और वहां विद्वान् होय तो उस समय विद्वान् की आज्ञा से कर्म करना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि कर्ममात्र जाननेवालेको भी कर्म में अधिकार है॥ ९॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति॥ १०॥

भावार्थ ।

इसी प्रकार उद्गाता से कहा कि हे उद्गातः ! जो उद्गीथ का

है । उसको न जानकर जो तुम गान करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्तातां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति तेह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥ ११ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

भावार्थ ।

इसीप्रकार चाक्रायणने प्रतिहर्ता से कहा हे प्रतिहर्तः ! जो तुम प्रतिहर्ता के देवताको नहीं जानकर प्रतिहरण करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिरपड़ेगा । ऐसे सुनकर वे प्रस्तोतादिक मनुष्य कर्मका त्याग करिके देवताविषयक विज्ञानको जानने की इच्छा से कर्मान्तरको नहीं करते हुए चाक्रायणके सम्मुख हुए ॥ ११ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथ प्रथमाध्यायस्यैकादशः खण्ड आरभ्यते ।

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

अब प्रथम अध्यायके एकादश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

जब प्रस्तोतादिक चुप होगये उसके अनन्तर इस उषस्त्य के पुत्र को यजमान राजाने कहा । हे भगवन् ! मैं आपको जाननेकी इच्छा करताहूं कि आप कौन हैं । तब उषस्तिने कहा कि जो आपने कभी सुनाहो तो मेरा नाम चाक्रायण है ॥ १ ॥

सहोवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥

भावार्थ ।

तो यजमान ने कहा । हां मैंने तुमको बहुत गुणवान् सुना है । ऋत्विक् कर्मवाले ऋत्विजोंसे अन्वेषण किया है । अन्वेषणसे जब आपको नहीं पाया तब इनका मैंने वरण किया है ॥ २ ॥

भगवांꣳ स्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरितितथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टास्स्तुवतां यावत्वेभ्योधनं दद्यास्तावन्मे दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

और अब आपही इस मेरे यज्ञके कर्मके लिये ऋत्विज होवो । राजाके वाक्य सुनकर चाक्रायण यज्ञकर्म करानेका स्वीकार किया फिर चाक्रायणने कहा कि, हे राजन् ! जिनका आपने पहिले वरण किया है वे ऋत्विजही मेरी आज्ञासे स्तुति करें । और आप जो धन इन ऋत्विजों को देवें उतनाही द्रव्य मेरे को भी देवें । इस वाक्य को राजा ने स्वीकार किया ॥ ३ ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत् कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

प्रस्तोता भी ऐसे चाक्रायणके वाक्य सुनकर नम्रतासे चाक्रायणके समीप आया । हे महाराज ! आपने जो पहिले मेरेको कहा था कि प्रस्तावभक्ति का देवता कौन है जो तुम नहीं जानने से मस्तक गिरने की शङ्का करते हो । अब आप मेरेको कहिये कि वह प्रस्तावभक्तिका देवता कौन है ॥ ४ ॥

प्राण इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस

न्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्द्धा ते व्यप
तिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

प्रस्तावका देवता प्राण है। ये सब भूत प्राणमें ही जाकर मिलते हैं। और प्राणसेही निकलते हैं यह देवता प्रस्तावका है। जो अविद्वान् होकर तुम स्तुति करते तौ मेरे कहने से तुम्हारा शिर गिर पड़ेगा ॥५॥

भावार्थ ।

हे प्रस्तोतः! प्रस्तावभक्तिका देवता प्राण है। क्योंकि सब स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणी प्रलयकाल में प्राणमें ही लीन होते हैं। और उत्पत्तिकाल में प्राणरूप होकरही निकलतेहैं। इसकारण यह प्राणरूपही प्रस्ताव भक्ति का देवता है। उस प्राणनामक देवताको नहीं जानकर जो तुम प्रस्ताव भक्तिको कियाहै तौ तेरा शिर गिरपड़ेगा। जब मैंने कहा कि तुम देवताको न जानकर स्तुति करते हौ तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ऐसा कहने से तुमने अपना कर्मका त्याग किया सो बहुत उत्तम किया प्रस्ताव और प्राणका आदि अक्षर प्र है इससे प्रस्तावका देवता प्राण है ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्यादेवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति माभगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

अब उद्गाता शिष्य होकर चाक्रायण के समीप आया। तब उद्गाताने चाक्रायणसे पूछा हे भगवन्! आपने पहिले कहा था कि उद्गीथ के देवताको नहीं जानकर जो तुम गान करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा ऐसा आपने मेरेको कहा था सो उस उद्गीथका देवता कौन है सो आप मेरेको कहिये ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भू
न्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वाय
तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्त
मयेति ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

उद्गीथ का देवता सूर्य है । क्योंकि यह सब प्राणी सद्रूप सूर्य
स्तुति करते हैं । यह उद्गीथ का देवता सूर्य है । उस देवता को न
जानकर जो तुम गान करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिरेगा । मेरे कहने
अवश्य ही गिरेगा । जैसे प्राण और प्रस्ताव शब्द में 'प्र' के सादृश्य
प्रस्तावका देवता प्राण है । इसी प्रकार उत् शब्द के सादृश्य से उ
का देवता सूर्य है ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्र
हारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते
पतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥

भावार्थ ।

फिर प्रतिहर्ता चाक्रायण के पास आकर पूछा कि हे भगव
आपने कहा था कि प्रतिहार के देवता को नहीं जानकर जो तुम
तिहार करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिरजायगा सो हे भगवन्!
प्रतिहार का देवता कौन है सो आप मुझसे कहिये ॥ ८ ॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्य
मेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारम
यत्ता तां चेदविद्वान् प्रत्यहरिष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्य
थोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

इति प्रथमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

भावार्थ ।

हे प्रतिहर्तः ! प्रतिहार का देवता अन्न है । क्योंकि ये सब प्राणी अन्न के आश्रय सेही जीवन करते हैं । वो यह देवता प्रतिहार का है । उस देवता को जो नहीं जानकर प्रत्याहार करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिरजायगा । तथापि मेरे कहने से अवश्य ही गिरेगा । प्रस्ताव उद्गीथ और प्रतिहार भक्ति का प्राण आदित्य और अन्नदृष्टि से उपासना करें । इस उपासना का प्राण रूपता वा कर्म समृद्धिहीं फल है ॥ ९ ॥

इति प्रथमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वादशः खण्ड आरभ्यते ।

अथातः शौव उद्गीथस्तद्धबको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ १ ॥

अब प्रथमाध्याय के द्वादश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

अब अन्नलाभ के लिये जबतक कुक्कुर देखे तबतक उद्गीथका गान-रूप बक दल्भ्य का पुत्र मित्राका पुत्र ग्लाव स्वाध्याय करने के लिये ग्राम से बाहर गये ॥ १ ॥

भावार्थ ।

एकादश खण्ड में अन्न के नहीं मिलने के कारण उच्छिष्ट, और बासी अन्न का भक्षण करना ऐसी खराब अवस्था कही । अब उच्छिष्टादि भक्षणरूप दुर्दशा की निवृत्ति का उपाय कहते हैं । अन्नकी प्राप्ति के लिये श्व नाम के ऋषियों से देखे हुए उद्गीथ भागका गान करना चाहिये । क्योंकि श्वाहीं अन्न के देनेवाले हैं । अब श्व नाम के ऋषियों से देखे हुए उद्गीथ के गान से अन्नप्राप्ति होती है इसको इतिहास द्वारा कहते हैं । उस श्व नाम के ऋषियों से देखे हुए उद्गीथ का गान करने को बक दाल्भ्य और मित्रा का पुत्र ग्लाव ये ऋषि अरण्य में सजल स्थान को देखकर गये । और जबतक वे श्व नाम के ऋषि नहीं आवें तबतक उन्होंने समय की प्रतीक्षा की ॥ १ ॥

तस्मै चाश्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमे-
त्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

उसके लिये श्वान श्वेतरूप को धारण करके आये उसको दूसरे
श्वान आकर कहा हे भगवन् ! आप हमारे लिये अन्न देवो हम भक्षण
करेंगे ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उद्गीथ के गान से प्रसन्न हुए देवता अथवा ऋषि श्वेत श्वान
स्वरूप को धारण करके ऋषियों के अनुग्रह करने को उत्पन्न हुए
श्वान से और ऋषिलोगों ने कहा हे भगवन् ! हमारे लिये उद्गीथ
गान से अन्न उत्पन्न करिये । अन्न का भक्षण करनेवाले और स्वाध्याय
से प्रसन्न हुए आपलोग श्वान रूप को ग्रहण करिके इस मुख्य प्राण
का अथवा वागादिरूप प्राण का अनुग्रह करिये । क्योंकि हम
बुभुक्षित हैं ॥ २ ॥

तान् होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध ब-
दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

उनसे कहा यहां ही प्रातःकाल मेरी उपासना करो । इसको
दाल्भ्य और मित्राका पुत्र ग्लाव स्वीकार करताभया ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

वह श्वेतरूप श्वा के स्वरूप धारण किये हुए ऋषिलोग उन श्वानों
से कहा । तुम इस स्थानमें प्रातःकाल हमारी उपासना करो ।
गान से अन्नप्राप्ति प्रातःकालमें ही होसक्ती है, क्योंकि अन्नका दाता
सूर्य है वह प्रातःकालमें ही सम्मुख रहताहै । ऐसे ऋषियों के वाक्य
सुनकर बक, दाल्भ्य और ग्लाव ये वहांही अन्न देनेवाले की प्रतीक्षा
करते हुए बैठे रहे ॥ ३ ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳ र
ब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्यहिंचक्रुः ॥४॥

भावार्थ ।

वे श्वानस्वरूपको धारण किये हुए ऋषिलोग वहांही आकर जैसे यज्ञकर्म में अध्वर्युको आदि लेकर यजमान तकके पुरुष स्तुति करनेको आपस में मिलकर जाते हैं। इसी प्रकार वे श्वानामक ऋषि भी अपने मुख में दूसरे की पूंछ पकड़कर घूमतेहुए वहां आये। और वे ऐसे बैठकर हिंकार शब्द करते भये ॥ ४ ॥

ओ३ मदा ३ मों ३ पिबा ३ मों ३ देवो वरुणःप्रजापतिः सविता २ ऽन्नमिहा २ ऽऽहरदन्नयते ३ ऽन्नमिहा २ ऽहरा २ ऽऽहरो ३ मिति ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

भावार्थ ।

हम भक्षण करते हैं और हम पान करते हैं। जगत्के प्रकाशक होने से देवरूप और जगत्के वर्षा करने से वरुणरूप सब वस्तुओंका उत्पादक होनेसे सवितारूप हे अन्नपते ! हमारे लिये अन्न देवो इस प्रकार उन्होंने हिंकार शब्दको कहा। इस प्रकार हिंकार शब्द करके फिर कहा आप सब अन्नके उत्पन्न करनेवाले हैं इसकारण आप अन्नपति हैं क्योंकि आपके किरणों से अन्न पकता है तबहीं वह अन्न उत्पन्न होता है विना पके अन्न उत्पन्न नहीं होता इसकारण आप अन्नपति हैं। अन्नपते ! आप हमारे लिये अन्न दीजिये ॥ ५ ॥

इति प्रथमाऽध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्ड आरम्यते ।

अयं वाव लोको हा उकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

अब प्रथमाऽध्यायके त्रयोदश खण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

यह लोक हा के उत्तर उच्चरित उकाररूप है और हाके उत्तर उच्चरित इकार वायुरूप है और हाके उत्तर उच्चारण किया अथकार चन्द्र है और इहकार आत्मारूप है ईकार अग्निरूप है ॥ १ ॥

भावार्थ।

पूर्व्वखण्ड में विभाग से उद्गीथादि विषयों की उपासना कही वह उपासना सामके अवयवों की है। अब साम के अवयवों में अन्तर्गत स्तोभाक्षरोंकी उपासनाका प्रकार कहते हैं इन स्तोभाक्षरों की उपासना सबकी एक साथ होती है भिन्न २ की नहीं होती। (साम के प्रवर्तक जो वर्ण विशेष हैं उनको स्तोभाक्षर कहते हैं। इन स्तोभाक्षरोंका यद्यपि कोई अर्थ नहीं होता तथापि स्तोभाक्षरों के गानका अपूर्व निवृत्ति होने से गान कियाजाता है। इस हाके अनन्तर उच्चरित उकाररूप स्तोभका पृथ्वीदृष्टिसे उपासनाकरे। क्योंकि 'इयं वै रथन्तरम्' इस श्रुतिसे पृथ्वी को रथन्तर कहाहै और उकाररूप स्तोभ रथन्तरकाही है इस कारण उकारका पृथ्वीदृष्टि से उपासनाकरे॥ जब अयको मैथुनेच्छा भई तब वायुका स्पर्शहुआ तब वामदेवी हुआ और हाके अनन्तर ईकारका उच्चारण वामदेवी साममें प्रसिद्ध इसकारण ईकारकी वायुदृष्टि से उपासना करे। और चन्द्रदृष्टि अथकारकी उपासना करे। क्योंकि अन्नका आत्मा चन्द्र है और थ का उच्चारण भी अन्नमें ही होताहै इसकारण चन्द्रदृष्टि से अथकार उपासना करे। इसका गान करने में थकारका स्पष्ट रीतिसों उच्चा होताहै और अकारका उच्चारण अव्यक्त होताहै। 'इह' इस स्तोभ की आत्मदृष्टि से उपासना करनी चाहिये क्योंकि आत्मा के प्रत्यक्ष इह इस शब्द से व्यवहार करते हैं॥ ईकाररूप स्तोभाक्षर में अ दृष्टि करनी चाहिये। क्योंकि जिस साममें ईकारद्वारा गान होता उसे आग्नेय साम कहते हैं॥ १ ॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोयि कारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणःस्वरोऽन्नं यावाग्विराट्॥ २ ॥

भावार्थ ।

आदित्य देवताका साम ऊकार स्तोभाक्षरहै इसकारण ऊकार की आदित्यदृष्टि से उपासना करनी चाहिये किसीका जिससमय आवाहन करते हैं उससमय एहि ऐसा कहते हैं इस साम्य से एकारमें निहव दृष्टि करनी चाहिये । विश्वेदेव दृष्टिसे औहोयिकारकी उपासना करनी चाहिये क्योंकि विश्वेदेवी साममें औहोयिकार स्तोभाक्षरका प्रयोग देखते हैं । हिंकारकी प्रजापति दृष्टिसे उपासना करनी चाहिये क्योंकि जैसे प्रजापतिका नीलपीतादिरूपसे वर्णन नहीं करसकते हैं इसी प्रकार हिंकारका भी नील पीतादिरूप नहीं कहसकते । स्वरका उच्चारण प्राण सेही होता है इसकारण स्वरकी प्राणदृष्टिसे उपासना करनी चाहिये । अन्नसे ही मनुष्य (याति) गमन करताहै इसकारण (या) इस अक्षरके साम्य से या में अन्नदृष्टि करनी । विराजसाम में वाक् इस स्तोभाक्षर को देखते हैं इसकारण 'वाग्' इस स्तोभाक्षर में विराट् दृष्टिसे उपासना करे ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हुंकाररूप तेरहवां स्तोभाक्षर का स्वरूप नहीं कहसकते इसकारण इसके स्वरूप की कल्पना करिके उपासना करनी चाहिये ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳसाम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥ ४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषद्ब्राह्मणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जो पुरुष सामका अवयव भूत स्तोभाक्षरविषयक दर्शन को नता है उस साधकके लिये यह वाक् वाणीको देतीहै और वह बहुत से अन्नवाला होताहै और समृद्ध होताहै ॥ ४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

इति श्रीछान्दोग्योपनिषदि प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते ।

ॐसमस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥ १ ॥

अब द्वितीयाऽध्यायका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

सब साम की उपासना उत्तम होती है । और जो उत्तम है वह साम है । और जो उत्तम नहीं है वह साम भी नहीं है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

पहिले अध्याय में साम के अवयवों की उपासना को कहा । उनके कई प्रकार के फल भी कहे । और फिर स्तोभाक्षरों की उपासना को कहा । यह सब सामके एकदेशकी उपासना कही । अब सब में संपूर्ण सामविषयक उपासना को कहते हैं । एकदेशविषयक उपासना कहे बाद सर्व सामविषयक उपासना का कहना योग्यही है । पांच सात भक्ति से युक्त साम की उपासना करना योग्य है । अर्थात् संपूर्ण साम में साधुदृष्टि करनी चाहिये । अब यहां यह शङ्का करते हैं संपूर्ण सामकी उपासना करना उत्तम है तो इस कथन से सामके एक देशकी निन्दा सिद्ध भई सो नहीं किन्तु समस्त सामकी साम दृष्टि से उपासना करनी चाहिये यह कहा है यह शङ्का आपको उत्तम है क्योंकि साधुत्व विशेषण पहिले भी सब सामावयवों में लगा हुआ है परन्तु वहां 'साधु' शब्द का विशेषणरूपसे उपादान नहीं किया है

यहां यह अर्थ है उत्तम साम की उपासना करे । साधु शब्द का अर्थ उत्तम है यह कैसे जानागया । इसमें लौकिक प्रमाण देते हैं । जिसको लोक में उत्तम और निर्दोष देखते हैं । उसे शिष्टलोग यह साधु है यह साम है ऐसा कहते हैं । और जिसको अनुत्तम, दोषी समझते हैं । उसे असाधु और असाम कहते हैं इस लोकोक्ति से साधु शब्दका अर्थ उत्तम जानागया है ॥ १ ॥

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

उसमें ऐसा कहते हैं सामसे वा साधुपने से इसके पास गया । और असाम व असाधुपने से इसके पास गया ॥ २ ॥

भावार्थ ।

जिस समय कोई अपराधी मनुष्य राजा के समीप जाकर फिर आता है उससमय लोक उसको बन्धनादि से युक्त नहीं देखते हैं । तब 'साधुनैनमुपागात्' वा 'साम्नैनमुपागात्' यह अच्छा मनुष्य राजा के पास गया ऐसा कहने को 'साधु' और 'साम' शब्दकाही उच्चारण करते हैं । और जब दोषी राजा के पास गया और बन्धनादिकों से युक्त होकर आता है तो उसको लोक 'असाधु' और 'असाम' कहते हैं इस लोकोक्ति से साधु और सामका एक अर्थ होने से साधुदृष्टि से सामकी उपासना करें यह सिद्ध हुआ ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम्नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम्नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

केवल लोकोक्ति से ही साधु और सामको एकार्थक नहीं कहते हैं ।

किन्तु हमारे अनुभव से भी यहही अर्थ सिद्ध होताहै। देखो जिसस
हम किसी उत्तम पुरुषको देखते हैं उससमय हम 'साधुवत्' साम
यहही उच्चारण करते हैं। और जिस समय हम किसी को दोषी दे
हैं उससमय 'असाधुवत्' 'असामवत्' ऐसा कहते हैं। इसलि
हमारी दृष्टि से भी 'साधु' और 'साम' शब्द एकार्थक होनेसे एक
हैं अतएव साम का साधु दृष्टि से उपासना करना योग्यही है ॥ ३॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो देनꣳसाधवोधर्मा आच गच्छेयुरुपच नमेयुः ॥ ४ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् साधुगुणवत् सामकी उपासना करताहै। उसको शीघ्र श्रुति स्मृति प्रोक्तधर्म भोगरूपसे उपस्थित होते हैं ॥ ४ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्ड आरभ्यते ।

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत पृथिवी हिंकार अग्निः प्रस्तावोन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के द्वितीय खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

संसारी मनुष्य पञ्च प्रकारसे सामकी उपासना करे। पृथ्वीदृष्टि हिंकार की उपासना करे। अग्निदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे अन्तरिक्षदृष्टि से उद्गीथकी उपासना करे। आदित्यदृष्टि से प्रतिहार उपासना करे। द्यौदृष्टि से निधनकी उपासना करे ॥ १ ॥

भावार्थ।

पूर्वखण्ड में साधुदृष्टिविशिष्ट सामकी उपासनाका उपदेश किया। अब वे साधुदृष्टिवाले साम कौनसे हैं सो पूछते हैं। लोक पांचप्रकार से सामकी उपासना करे। पृथ्वी में हिंकार की उपासना करे। क्योंकि लोकमें पृथ्वी और साम में हिंकार प्रथम गणनीय है। अब यहां शङ्का करते हैं कि एक वस्तु में दो प्रकारका ज्ञान नहीं होसकता जैसे एक घटमें घट और पट दो प्रकारका ज्ञान नहीं होसकता इसी प्रकार हिंकारमें पृथ्वी और साधुदृष्टि दोनों नहीं हो सकतीं, हां यह आपका कथन उचित है, परन्तु एकवस्तु में कार्य कारणरूप दो वस्तुका ज्ञान होसकता है, जैसे घट का कारण मृत्तिका है तो घट में मृत्तिका और घट के ज्ञान होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती इसी प्रकार लोकादि कार्य में 'साधु' शब्द का अर्थ है धर्म, ब्रह्म है और धर्म ब्रह्मलोकका कारण है इसलिये कार्य कारणरूप लोक साधुदृष्टि हिंकारादिकों में हो ही सकती है। क्योंकि कार्यमें कारण रहता ही है तो एक पदार्थ में कार्य कारणरूप एकदृष्टि होना उचित ही है। यद्यपि लोकादि कार्यों में कारण के रहने से लोकदृष्टि सेही साधुदृष्टिकी प्राप्ति होसक्ती थी। तथापि शास्त्रसे कहेहुए धर्मोंकी ही उपासना करनी चाहिये। और प्रचलित अशास्त्रीय धर्मोंकी उपासना नहीं करनी चाहिये। इसकारण 'साधु साम उपासीत' यह कहा। पृथिव्यादि पदार्थों में पांच प्रकारसे साम की उपासना करे। अग्निदृष्टिके प्रस्तावकी उपासना करे। क्योंकि अग्निमें कर्मों का प्रस्ताव होता है। यहां प्रस्ताव एक सामके हिस्से का नाम है। अन्तरिक्षदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करना। अन्तरिक्ष का नाम गगन है इसकारण गकारमात्र के सादृश्य से अन्तरिक्षदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे। आदित्यदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करना। क्योंकि प्रति प्राणियों के अभिमुख होने से प्रतिशब्द के साम्य होने से भूलोक के पदार्थ दिव में रहते हैं इसकारण द्युदृष्टि से निधन की उपासना करे। इसप्रकार ऊर्ध्वदृष्टि से लोक में पांच प्रकार से सामकी उपासना को कहा॥ १॥

अथाऽऽवृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यःप्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

अब नीचे प्रकार से सामकी उपासना को कहते हैं । द्युलोकदृष्टि से हिंकार की उपासना करे । आदित्यदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे । अन्तरिक्षदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे । अग्निदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे । पृथ्वीदृष्टि से निधन की उपासना करे ॥ २ ॥

भावार्थ ।

पहिले ऊर्ध्वपदवालों को लोकदृष्टि से सामकी उपासना कही अब नीचे पदवालों को द्यौदृष्टि से सामकी पांचप्रकार से उपासना और फल कहते हैं । इस संसार में लोक दो प्रकार के हैं, एक तो नीचे के लोक से ऊपर के लोक में जाते हैं । और दूसरे ऊंचे के लोक से नीचे के लोक में जाते हैं । उनमें जो नीचे के लोक से ऊपर के लोक में जाते हैं । उनको पृथिव्यादि दृष्टि से साम की उपासना का प्रकार प्रथम मन्त्र से कहा अब ऊंचे के लोक से जो नीचे के लोक में आते हैं उन को द्युआदि दृष्टि से साम की उपासना का प्रकार कहते हैं । जो उच्च स्वर्गादिकों से नीचे आता है वह पाहिले द्युलोक में आता है । और साम में भी पहिले हिंकार का उच्चारण है इस कारण द्युलोकदृष्टि से हिंकार की उपासना करे । सूर्य के उदय होने बाद कर्मों का प्रस्ताव होता है । इस कारण आदित्यदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे । अन्तरिक्षदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे । इस का हेतु पहिले मन्त्र में कहा है अग्नि को प्राणीही इधर उधर लेजाते हैं इस कारण अग्निदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे ऊर्ध्वलोक से आये हुए इसमें आकर रहते हैं इस कारण पृथ्वीदृष्टि से निधन की उपासना करे ॥ २ ॥

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चाऽऽवृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् लोक में पांच प्रकार से साम की उपासना करता है । उसके लिये गमन और आगमनवाले ऊंचे के स्वर्गादि तथा नीचे के भूम्यादि लोक भोग के लिये कल्पना किये जाते हैं । अर्थात् इस प्रकार साम की उपासनाकरनेवाला दोनों लोकों के भोगों को भोगता है ॥३॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः खण्ड आरभ्यते ।

वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्त नयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥ उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति हास्मै ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्च विधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अब द्वितीयाध्याय के तृतीय खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

वृष्टि में पांच प्रकारसे साम की उपासना करे । पूर्व की वायु दृष्टि से हिंकार की उपासना करे । मेघदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे । और वर्षा की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे । और बिजली तथा गर्जने की दृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे । वर्षा बन्द होने की दृष्टि से निधन की उपासना करे । जो विद्वान् पांच प्रकार से वृष्टि में साम की उपासना करता है उस के लिये वर्षा नहीं भी होती होवे तो अवश्यही वर्षा होती है ॥ १ । २ ॥

भावार्थ ।

इस संसार की स्थिति में वृष्टिही कारण है इसलिये वृष्टि में पांच प्रकारसे साम की उपासना करे । वृष्टि जिससमय होती है उसके पहिले

वायु चलता है और साम में भी पहिले हिंकार है इसकारण वायु
से हिंकार की उपासना करनी चाहिये। बादल की दृष्टि से प्रस्ताव
उपासना करे। क्योंकि वर्षाकाल में बादलहुए बादही वृष्टिका प्र
होता है। वर्षा होती है वह उद्गीथ है श्रेष्ठ होने से। बिजली
गर्जना 'प्रतिहृत' एक स्थान में नहीं, होती है इसलिये प्रति शब्द
सादृश्य से बिजली और गर्जनदृष्टि से प्रतिहार की उपासना क
चाहिये। वर्षा की उपसंहारदृष्टि से निधन की उपासना करनी चाहि
क्योंकि निधनान्तही साम है और उपसंहारपर्यन्त ही वृष्टि है।
विद्वान् इसप्रकार से साम की उपासना करता है उसको वर्षा नहीं
तो भी वर्षा होती है। अर्थात् वृष्टिदृष्टि से साम की उपासना क
वर्षा होना है ॥ १ । २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्ड आरभ्यते।

**सर्वास्वप्सु पञ्चविधछं सामोपासीत मेघो यत्संप्ल
स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्द
उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रोनिधनम्॥
न हाप्सु प्रेत्याप्सुमान् भवति य एतदेवं विद्वा
र्वास्वप्सु पञ्चविधछंसामोपास्ते ॥ २ ॥**

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अब द्वितीयाध्याय के चतुर्थ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

सर्वप्रकार के अप् में पांच प्रकार से सामकी उपासना करे जल
वृष्टि के बाद होता है इसकारण वृष्टिदृष्टि के अनन्तर साम में अ
को कहते हैं। मेघघटाकी दृष्टि से हिंकार की उपासना करे।
मेघघटा के अनन्तरही अप का आरम्भ होता है। और जो व
वह प्रस्ताव है अर्थात् वर्षणदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे।

ल जो सर्वस्थानों में व्याप्त होता है उसमें पूर्वादिक दिशा में जो ङ्गादि नदी उनकी दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे । और जो पश्चिमदिशा की नर्मदादि नदी हैं उनकी दृष्टि से प्रतिहार की उपासना रनी चाहिये । समुद्रदृष्टि से निधन की उपासना करे । क्योंकि जलमात्र समुद्र में जाकर लीन होता है । जो मनुष्य गङ्गादिस्थल में नहीं हकर मरुस्थली में जल की इच्छा करे तो उसको मरुस्थली में भी ल होता है जो इस भाँति साम की उपासना करता है ॥ १ । २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्ड आरभ्यते ।

ऋतुषु पञ्चविधꣳसामोपासीत वसन्तो हिंकारो ीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निनम् ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान् भवति य एतदेवं द्वानृतुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अब द्वितीयाध्यायके पञ्चम खण्डका आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

वर्षादिकों में कारण ऋतुव्यवस्था है इसलिये साम में ऋतुदृष्टि से ासना का प्रकार कहते हैं ऋतुवों में पांचप्रकार से सामकी उपासना । ऋतुवों में वसन्त अग्रगण्य है इस कारण वसन्तदृष्टि से हिंकार उपासना करे । ग्रीष्मऋतु में धान्यसंग्रह करने का प्रस्ताव करते हैं लिये ग्रीष्मदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे । वर्षादृष्टि से उद्गीथ की सना करे । शरद्ऋतु में रोगी और मृतक मनुष्यों का प्रतिहरण ा है इसलिये शरद्दृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे । वायु के विना ायों का निधन होता है इसलिये हेमन्तदृष्टि से निधन की उपासना

करे। जो विद्वान् ऋतुओं में साम की उपासना करता है उसको ऋतुओं में होनेवाली भोग्य वस्तुओं का भोग होता है ॥ १।२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः खण्ड आरभ्यते ।

पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥ १ ॥ भवन्ति हाऽस्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अब द्वितीयाध्याय के षष्ठ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ ।

जब ऋतुओं के समय ऋतुओं में होनेवाली धान्यादि संपत्ति होती हैं तो वह समय पशुओं को हितकारक होता है इसकारण में ऋतुदृष्टि के अनन्तर पशुदृष्टि से सामकी उपासना का प्रकार हैं। अजा (बकरी) यज्ञादिकों में बहुत काम आती है और अज को पशुओं में 'अजः पशूनां प्रथमः इति श्रुति' प्रथम गणना है इसकारण अजादृष्टि से हिंकार की उपासना करो अजा और भेड़ का साहचर्य है इसकारण अवी (भेड़) दृष्टि से प्रस्ताव की उपासना पशुओं में गौ श्रेष्ठ है इसकारण गोदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना अश्व पुरुषों को 'प्रतिहरण' करता है इस कारण अश्वदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे। पशु पुरुष के आश्रय से रहता है इसकारण पुरुष से निधन की उपासना करे जो मनुष्य पशुदृष्टि से साम की उपासना करता है। उसके पशुओं की समृद्धि होती है और पशुओं का तथा दानरूप फलसे युक्त होता है ॥ १ । २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्ड आरभ्यते ।

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथःश्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वा एतानि ॥ १ ॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसोह लोकाञ्जय ति एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामो पास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अब द्वितीयाध्याय के सप्तम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

प्राणों की स्थिति पशु से उत्पन्न हुए दूध घी आदि से होती है इस लिये पशुदृष्टि से अनन्तर प्राण दृष्टि से सामकी उपासना का प्रकार कहते हैं । प्राणों में पांच प्रकार से परोवरीय गुणवाला प्राणदृष्टियुक्त साम की उपासना करे । मुख्य प्राण सब से श्रेष्ठ है इसके विना फिर इससे कोई भी उत्तम नहीं है इसकारण यहां प्राण शब्द से घ्राणे न्द्रियगत प्राण को लिया है । जब निकृष्टपक्षसे उत्तम की गणना होती है तो पहिले घ्राण गत प्राणकी गणना होती है इसकारण घ्राणगत प्राणदृष्टि से हिंकार की उपासना करे वाक्दृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे क्योंकि वाक् से सबका प्रस्ताव होताहै । घ्राणगत प्राणकी अपेक्षा से वाक् उत्तम है क्योंकि वाणी से अप्राप्त का भी उच्चारण होसक्ताहै और घ्राणगत प्राण तो केवल प्राप्त गन्धादिकों का ही प्रकाश करसक्ता है । और वाणी की अपेक्षा चक्षु बहुत से विषयों का प्रकाश करती है इस लिये वाणी से चक्षु उत्तम है इसी से चक्षुदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे । चक्षु प्रत्यक्ष सम्मुख वस्तुका ही प्रत्यक्ष करसकती है और श्रोत्र अप्रत्यक्ष तथा दूरके शब्द का भी प्रत्यक्ष करता है इससे चक्षुकी अपेक्षा

श्रोत्र उत्तम है श्रोत्रदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करनी चाहिये। म
दृष्टि से निधन की उपासना करनी चाहिये। क्योंकि इन्द्रियों के भो
विषय मनमें स्थित होते हैं। मन सब इन्द्रियों के विषयों में व्यापक
और जिस विषय का इन्द्रियों से भी प्रत्यक्ष नहीं होता उसका प्रत्य
मनसे होता है इसकारण श्रोत्र की अपेक्षा मन उत्तम है। ये प्राणा
उत्तरोत्तर उत्तम हैं। जो मनुष्य पूर्वोक्त दृष्टि से परोवरीय गुणवा
साम की उपासना करता है उसका जीवन सब से उत्तम होता है
इसप्रकार पांच प्रकार के साम की उपासना को कहा ॥ १।२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्याष्टमः खण्ड आरभ्यते।

अथ सप्तविधस्य। वाचि सप्तविधꣳ सामोपासी
यत्किञ्च वाचो हुं ३ इति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्ता
यदेति स आदि ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुप
स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भव
य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३

इति द्वितीयाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अब द्वितीयाध्याय के अष्टम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

पांचप्रकार के साम की उपासना को कहकर अब सातप्रका
साम की उपासना को कहते हैं। वाग्दृष्टि से सातप्रकार के साम
उपासना करे। तहां वाणी में हुंकारदृष्टि से हिंकार की उपासना
क्योंकि हकारका सादृश्य है। और प्रवर्ण के सादृश्य से प्रदृष्टि
स्तात्र की उपासना करे। आकार के सादृश्य से 'आ' दृष्टि से

की उपासना करे 'अर्थात् ॐकार की उपासना करे'। और उत् शब्द के सादृश्य से 'उत्' दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे। प्रतिको सादृश्य से 'प्रति' दृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे। उप शब्द के सादृश्य से 'उप' दृष्टि से उपद्रव की उपासना करे। 'नी' वर्ण के सादृश्य से नीति दृष्टि से निधन की उपासना करे जो मनुष्य इसप्रकार से साम की उपासना करता है वह बहुत से अन्नवाला होता है और उसके लिये वाणीही वाणीको दोहती है॥ १।२।३॥

इति द्वितीयाध्यायस्याष्टमः खण्डः॥ ८॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य नवमः खण्ड आरभ्यते।

अथ खल्वमुमादित्य ꣳ सप्तविध ꣳ सामोपासीतस र्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण सम स्तेन साम॥ १॥

अब द्वितीयाध्याय के नवम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

सातप्रकार के सामकी आदित्यदृष्टिसे उपासना करना सब काल में आदित्य सम है। इसलिये आदित्य साम है मेरे सामने मेरे सामने है। इसप्रकार सब के सम है। इसलिये साम है॥ १॥

भावार्थ।

पञ्चविध उपासना में सामके अवयवों में आदित्य दृष्टि का अध्यास करके उपासनाका प्रकार कहा। अब इस आदित्य के अवयवों का सब सातप्रकार के साम के अवयवों में अध्यास करके आदित्यदृष्टि से सब सामकी उपासना का प्रकार कहते हैं। आदित्य का वृद्धि और क्षय नहीं होता इसलिये आदित्य सामरूप है क्योंकि सामकाभी वृद्धि और क्षय नहीं होता है। और यह सूर्य मेरे सम्मुख है मेरे सम्मुख है इस प्रकार सब के समान बुद्धिका उत्पादन करता है और सामभी सब के एकसार है इस कारण से भी आदित्य साम है॥ १॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीतिविद्यात् ॥२

भावार्थ ।

उस आदित्य में ये सब प्राणी सूर्य के उपजीव्य होकर रहते हैं अर्थात् सूर्यद्वारा प्राणधारण करते हैं यह जानो ॥ २ ॥

तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्ता स्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनोह्येतस्यसाम्नः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो सूर्यके दृष्टिगत होने के पूर्व प्रकाश होता है वह समय धर्म कार्य करने का होता है इसलिये वह धर्मरूप है और वह समय प्राणि मात्र को सुखकारक है इसलिये उससमय की दृष्टि से हिंकार की उपासना करे। जो इसका हिंकार भक्तिरूप है उस आदित्यरूप साम के गवादि उपजीवन करते हैं क्योंकि गवादि सूर्योदय के पूर्वकाल से उपजीवन करती हैं इसीलिये गवादि सूर्योदय के पूर्व हिंकार शब्द करती हैं। इससे यह निश्चय होता है कि हिंकार भक्तिरूप आदित्य की गवादिक भक्ति करते हैं इसलिये ही गवादिक सूर्योदय के पूर्व हिंकार शब्द करती हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसकामाः प्रस्ताव भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

सूर्य के उदय होतेही जो सूर्यका रूप है। वह इस आदित्यरूप साम का प्रस्ताव है। अर्थात् सूर्य के उदय समय की दृष्टिसे प्रस्ताव भक्तिकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रस्ताव भक्तिवाले आदित्य के मनुष्य जीवन करते हैं यह सूर्य उदयकालसे प्रस्ताववाला है। इसलिये प्रशंसा को चाहनेवाले पुरुष उससमय इस सूर्यकी प्रशंसा करते हैं॥४॥

अथ यत्संगव वेलायाॅंस आदित्यस्तदस्य वयाॅंसि यन्वायत्तानितस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मा परिपतन्त्यादि भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

जिससमय सूर्यकिरणों का संगम होता है और गौवों का वत्सों के थ संगम होता है उससमय जो सूर्यका रूप है वह आदि भक्तिरूप कार है। उससमय के सूर्य के रूप से पक्षी जीवन करते हैं। जिस गरण उससमय के सूर्यरूपसे पक्षी जीवन करते हैं इसीलिये पक्षी भी प्राकाश में विना आलम्बनही केवल अपनी आत्मा के आलम्बनसेही ाकाश में उड़ते हैं इसलिये वे पक्षी आकारके साम्य से इस सामकी ादि भक्ति का सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजि ो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

मध्याह्न में सूर्य का जो रूप है उसकी दृष्टि से उद्गीथ की उपासना रनी चाहिये क्योंकि वह श्रेष्ठ है। उससमय से देवता उपजीवन रतेहैं। क्योंकि उससमय सूर्यका रूप अत्यन्त दीप्तिवाला होता है। सीलिये वे देवता प्रजापतिकी सन्तान में श्रेष्ठ कहेगये हैं इसलिये वे वता इस साम के उद्गीथ की उपासना करते हैं॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतीहारस्त स्यगर्भामन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्र हारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७॥

भावार्थ ।

मध्याह्न के अनन्तर और अपराह्न के पूर्व जो सूर्य का रूप वह

प्रतिहार है अर्थात् उससमय की दृष्टिसे प्रतिहार की उपासना करे। उससे गर्भका जीवन होता है। इसीलिये वे गर्भ सूर्य की प्रतिहाररूप भक्तिद्वारा ऊंचे खिंचेहुए रहते हैं। अन्यथा द्वार में होकर अधःपात होसकता है। इसलिये गर्भ प्रतिहाररूप इस साम की उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्सउपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ८ ॥

भावार्थ।

जो अपराह्ण के अनन्तर सूर्यके अस्त होने के पूर्व का समय है वह उपद्रव है। इससमय से अरण्य में रहनेवाले पशु उपजीवन करते हैं। इसीलिये वे पशु पुरुष के देखने से भययुक्त होकर भयरहित अरण्य में चले जाते हैं। इसलिये वे पशु साम की उपद्रव भक्तिका सेवन करते हैं ॥ ८ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ९ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

भावार्थ।

जिससमय सूर्य अस्त होकर नहीं दीखता है उससमय की दृष्टि से निधन की उपासना करे। उससे पितर उपजीवन करते हैं। अतः पितरों को पितृ, पितामह, प्रपितामहादि रूप से दर्भों में स्थापन करते हैं। अथवा पितृ, पितामह, प्रपितामहादिकों के लिये पिण्डों को स्थापन करते हैं। इसलिये पितर सामके निधन भाग की उपासना करते हैं। इसप्रकार सात अवयवों में विभक्त सूर्य में सातप्रकार के समग्र साम

जो उपासना करता है वह उन २ वस्तुवों को सुगम रीति से प्राप्त होता है जिन २ का वह अभिलाष करता है ॥ ९ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ द्वितीयाऽध्यायस्य दशमः खण्ड आरभ्यते।

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाऽध्याय के दशमखण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

अब आत्मा के सदृश अति मृत्युरूप सातप्रकार के सामकी आदित्यदृष्टि से उपासना करे। हिंकार ये तीन अक्षर और प्रस्ताव ये तीन २ अक्षरवाले शब्द हैं। इनके सदृश वह आदित्य है इसलिये आदित्य दृष्टि से मृत्युरूप सामकी उपासना करनी चाहिये ॥ १ ॥

भावार्थ।

आदित्य मृत्युरूप है। क्योंकि अहोरात्रादि रूप से जगत् का परिमाण करता है। इसलिये उस आदित्यरूप मृत्यु के तिरने के लिये इस साम की उपासना का उपदेश करते हैं। साम के अवयव हिंकारादिक हैं। और उनके नाम के अक्षर तीन २ हैं। और आदित्य के भी तीन अक्षर हैं। इसलिये साम के अवयव हिंकारादिक के समान आदित्य है। इसलिये आदित्यरूप हिंकारादिकों को जानना चाहिये। जैसे परमात्मा का ज्ञान मनुष्य के मोक्ष का कारण है, इसी प्रकार इन तीन २ अक्षरोंवाले हिंकारादिकों की उपासना मोक्ष का कारण है। जैसे प्रथमाध्याय में उद्गीथ भक्ति के नामाक्षरों को उपास्यरूप से कहा इसी प्रकार इस अध्याय में साम की सातों भक्ति के नामों के अक्षरों को एकत्रित करके तीन २ अक्षरों के बराबर होने से साम की कल्पना करके उपासना का उपदेश करते हैं। उन अक्षरों का आदित्यदृष्टि से

उपासना करना आवश्यक है। क्योंकि मृत्यु के अक्षरों के समान
से। भक्तियों में आदिभक्ति दो अक्षरोंकी ही है और आदित्य में
अक्षर हैं इसलिये दो अक्षरवाली भक्ति में चार अक्षरवाली भक्ति
एक अक्षर मिलाकर तीन अक्षरसंख्या की पूर्ति करना चाहिये।
भक्तियों के अक्षरों का संक्रमण उस आदित्यमृत्यु का उल्लङ्घन
को ही कल्पना करते हैं। दो अक्षरवाली भक्तिमें चार अक्षरवाली
के अक्षरको मिलाते हैं इसलिये अतिमृत्युरूप साम है यह साम
को जीतनेवाला है। इसलिये अति मृत्युरूप सातप्रकार के साम
उपासना करे। उस अतिमृत्युरूप आदित्य की पहिली भक्ति के
के अक्षर हिंकार यह तीन हैं और तीन अक्षरवालाही दूसरी भक्ति
नाम प्रस्ताव है। यह अतिमृत्युरूप आदित्य के सदृश हैं। इसलिये
हिंकार और प्रस्ताव इन दोनों की अतिमृत्युरूप आदित्यदृष्टि से उपा-
सना करनी चाहिये ॥ १ ॥

**आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहै-
तत्समम् ॥ २ ॥**

भावार्थ।

तृतीय भक्ति आदि ये दो अक्षरवाली है और चौथी भक्ति प्रति-
ये चार अक्षरवाली है इसलिये चौथी भक्ति का एक अक्षर तीसरी
में मिलाकर दोनों के तीन २ अक्षर होने से आदित्य के समान हो
फिर आदित्यदृष्टि से इनकी उपासना करे ॥ २ ॥

**उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभि-
भिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥**

भावार्थ।

उद्गीथ यह तीन अक्षर हैं। उपद्रव यह चार अक्षरवाला साम
इसमें से एक अक्षर निकाल लेवें अवशिष्ट तीन अक्षर रहे। इ
आदित्यदृष्टि से उपासना करे ॥ ३ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि हवा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षाणि ॥ ४ ॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशोवाइतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेनपरमादित्याज्जयतितन्नाकंतद्विशोकम् ५ ॥

भावार्थ ।

और सातवीं भक्ति का निधन यह तीन अक्षर हैं यह भी आदित्य के अक्षरों के समान हैं इसलिये आदित्यदृष्टि सेही निधन की उपासना करे । इन सातों भक्तियों के पूर्वोक्तप्रकार से २२ अक्षर हैं ॥ ४ ॥ उन में २१ अक्षरों की संख्या तीन २ अक्षरों का साम होकर आदित्यरूप मृत्युको प्राप्त होती है । क्योंकि यह सूर्य इस लोक से संख्या में २१ वां है । क्योंकि इस में श्रुति का प्रमाण है १२ बारह मास पांच ऋतु ये और तीन लोक तथा २१ वां सूर्य है । इस प्रकार २१ अक्षर २१ संख्या युक्त सूर्य से प्राप्त भये और बाईसवां अक्षरसे मृत्युरूप आदित्य से परे मानसिक दुःखरहित सुखको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परोहास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

भावार्थ ।

२१ इक्कीस संख्या से मृत्युरूप आदित्य के जय को प्राप्त होता है । और बाईसवें अक्षर से मृत्युरूप आदित्य के जय होने के पश्चात् आदित्य से पर मृत्यु और दुःखरहित स्वर्गसुख को प्राप्त होता है । जो मनुष्य आत्मरूप सातप्रकार के अतिमृत्यु सामकी उपासना करता है इसको दुःखरहित सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्यैकादशः खण्ड आरभ्यते।

मनोहिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहा
प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अक्षरार्थ।

मनोदृष्टि से हिंकार की उपासना करे वाक्दृष्टि से प्रस्ताव की
पासना करे चक्षुदृष्टि से उद्गीथ की, श्रोत्रदृष्टि से प्रतिहार की उपास
करे और प्राणदृष्टि से निधन की उपासना करे। यह गायत्र साम प्रा
में रहता है ॥ १ ॥

भावार्थ।

पहिले पांचप्रकार और सातप्रकार के सामकी सामान्य रीति
उपासना कही। अब गायत्रादि विशेष नाम ग्रहणपूर्व अधिक फ
वाले सामान्तर की उपासना का प्रकार कहते हैं। जिस क्रम से गा
त्रादि शब्दों का कर्म में प्रयोग होता है उसी क्रम से उन गायत्र
शब्दों का उपासन प्रकार कहते हैं। जिस क्रम से गायत्रादिकों का
में प्रयोग है उसी प्रकार मनदृष्टि से हिंकार की उपासना करे। क्यों
मनकी सब इन्द्रियों में पहिले प्रवृत्ति होती है मनकी प्रवृत्ति के
न्तर वाक्का प्रस्ताव होता है इसलिये वाग्दृष्टि से प्रस्ताव की उपा
करे। श्रेष्ठ होने से चक्षुदृष्टि से उद्गीथकी उपासना करे। श्रोत्रदृष्टि
प्रतिहार की उपासना करे। इन सबका शयनकाल में प्राण में नि
होता है इसलिये प्राणदृष्टि से निधन की उपासना करे। इन सब
गायत्र साम कहते हैं। यह गायत्र साम प्राणों में प्रतिष्ठित हैं ॥१

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भव
सर्व्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भव
महान्कीर्त्या महामनाःस्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

भावार्थ।

गायत्री से प्राणकी स्तुति होती है इससे जो मनुष्य इस गायत्रको प्राणों में स्थित जानता है वह मनुष्य उत्तम इन्द्रियोंवाला होता है और सौ वर्षपर्यन्त स्थिर रहता है और जबतक वह रहता है तबतक प्रसन्न रहता है किसीप्रकार का दुःख नहीं भोगता है। और जो इस गायत्र सामका उपासक होता है वह बहुतसे पशु और बहुतसे सन्तान और बहुतसी कीर्तिवाला होता है तथा उदार चित्तवाला होता है॥ २॥

इति द्वितीयाध्यायस्यैकादशः खण्डः॥ ११॥

अथ द्वितीयाऽध्यायस्य द्वादशः खण्ड आरभ्यते।

अभिमन्यति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनछंसछंशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्॥ १॥

अक्षरार्थ।

जो मथन करता है वह हिंकार है धूम होती है वह प्रस्ताव है फिर जो ज्वाला होतीहै वह उद्गीथ है फिर जो अङ्गार होते हैं वह प्रतिहार है कुछ शान्त और निःशेष शान्त ये निधन हैं यह रथन्तर साम अग्नि में स्थित है॥ १॥

भावार्थ।

जिससमय अग्नि को दो लकड़ियों में से निकालते हैं उस समय लकड़ियों का मथन करते हैं वह मथन हिंकार है। अग्नि के उत्पादन में पहिले मथन करते हैं। इसलिये मथनदृष्टि से हिंकार की उपासना करे। अग्नि के उत्पन्न हुए पश्चात् धूम होता है इसलिये धूमदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे। और जलते हुए अग्नि में हवि को डालते हैं इसलिये हविसम्बन्धि ज्वाला दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे।

अङ्गारदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे। अग्नि का जो स्वल्प
होना और अग्नि में सर्वथा तेज न रहना इसको संशम और उप
कहते हैं संशम और उपशम दृष्टि से निधन की उपासना करे। म
द्वारा अग्नि उत्पत्ति के समय रथन्तर साम का गान करते हैं। इसलि
यह रथन्तर साम अग्नि में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्न
दो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया प
भिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेतन्नानि
वेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

भावार्थ।

जो मनुष्य पूर्वोक्तप्रकार से रथन्तर सामको अग्निमें स्थित जान
है वह मनुष्य ब्रह्मकान्तियुक्त होता है और दीप्ताग्निवाला होता
तथा पूर्णायु, उज्ज्वल जीवन, प्रजा, पशु, कीर्ति इनसे युक्त होता
और मनुष्य अग्निके सम्मुख आचमन न करे तथा उसमें उच्छि
वस्तु को नहीं डाले यह रथन्तरसामकी अग्नि रूपसे उपासना क
में व्रत है ॥ २ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ द्वितीयाऽध्यायस्य त्रयोदशः खण्ड आरभ्यते।

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिय
सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः का
गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्य
मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के तेरहवें खण्डका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

संकेत जो करते हैं वह हिंकार है प्रसन्नता जो होती है वह प्रस्ताव है स्त्री के साथ जो शयन करते हैं वह उद्गीथ है स्त्री के साथ जो सम्मुख होते हैं वह प्रतिहार है मिथुन से जो समाप्ति को पाता है वह निधन है यह वामदेवी साम मिथुनमें स्थितहै ॥ १ ॥

भावार्थ ।

उत्तर और अधर अरणिके स्थानापन्न और अवाच्य कर्म में प्रवृत्त हुए स्त्री पुरुषों का मन्थन के समान धर्म होने से मन्थन दृष्टि से साम की उपासना को कहकर मैथुनदृष्टि से सामकी उपासना का प्रकार कहते हैं । जिससमय किसी स्त्री के साथ पुरुष व्यवहार करना चाहता है तो पहिले संकेत करता है इस लिये संकेत दृष्टि से हिंकार की उपासना करे । फिर पुरुष अवाच्य कर्म के लिये स्त्री को वस्त्रादि देकर प्रसन्न करता है । उस प्रसन्नता दृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे क्यों कि प्रारम्भरूप एक धर्म होने से । स्त्री के साथ एक खट्वापर जो गमन करते हैं उस गमन दृष्टि से उद्गीथकी उपासना करे । स्त्रीकी प्रसन्नता पूर्वक जो पुरुषके सम्मुख होना उस दृष्टि से प्रतिहार की उपासना करना । मिथुन समाप्ति दृष्टि से निधनकी उपासना करना यह वामदेव्य नामक साम मिथुन में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस वामदेवी साम को मिथुन में स्थित जानता है

क्योंकि वायु और जलका मिथुन की तरह वामदेवी साम को मिथुन हैं ऐसे जो जानता है वह किसीके अधीन नहीं होता और उसका वीर्य सफल होताहै। पूर्णायु, उज्ज्वल जीवन, सन्तान, पशु, इनसे युक्त होता है और किसी स्त्री का त्याग व अनादर न करे। उस पुरुष का व्रत है। अर्थात् समागम के वास्ते अपनी शय्या पर हुई का त्याग न करे। क्योंकि यह वामदेवी सामोपासना का अब यहां यह शङ्का होती है स्मृतिकार लिखते हैं कि परस्त्रीगमन करना चाहिये और इस श्रुति में परस्त्रीगमन की विधिहै यह स्मृति श्रुतिका पाता है। उत्तर यहहै कि स्मृतिकी अपेक्षा श्रुति होती है इसलिये श्रुतिवाक्य मानना चाहिये दूसरे धर्म की शास्त्र से ही होती है तो परस्त्रीगमन भी "न काञ्चन परिहरेत्" शास्त्र से सिद्धहुआ इसलिये निन्दितभी यह कर्म धर्म होसकता है। का तात्पर्य यह है कि वामदेवीसाम 'वाममार्ग' की उपासना करने को ब्रह्मचर्य नहीं रखना यह व्रत है इसलिये स्मृतिका विरोध नहीं क्योंकि स्मृति सामान्य शास्त्र है और यह श्रुति विशेष शास्त्र है॥

इति द्वितीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्ड आरभ्यते।

उद्यन्हिंकार उदितःप्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम्॥

अब द्वितीयाध्याय के चौहदवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

सन्तानोत्पत्तिमें सूर्य कारण है इसलिये मिथुनदृष्टि के अन आदित्य दृष्टिको कहते हैं। पहिले सूर्य का उदय होता है इस उदय होते हुए सूर्य की दृष्टि से हिंकारकी उपासनाकरे। सूर्योदय पश्चात् कर्मों का प्रस्ताव होता है इसलिये उदित सूर्यदृष्टि से प्रस्ता उपासना करे। मध्याह्नदृष्टि से उद्गीथ की उपासनाकरे। सायंकाल पश्चात् गृह में आते हैं इसलिये अपराह्णदृष्टि से प्रतिहार की उपा

करे । और सूर्यास्त दृष्टि से निधनकी उपासना करे क्योंकि रात्रिमें प्राणीमात्र गृहमें स्थित होते हैं । बृहत्साम का सूर्य देवताहै इसलिये वह बृहत्साम आदित्यमें स्थितहै ॥ १ ॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादोभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस बृहत्साम को आदित्य में स्थित जानता है वह तेजस्वी, दीप्ताग्नि, पूर्णायु, उज्ज्वल जीवन, प्रजा, पशु, कीर्ति इनसे सम्पन्न होता है और इसके उपासक का यह व्रत है कि वह तपतेहुए सूर्य की निन्दा नहीं करे ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्ड आरभ्यते ।

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघोजायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के पन्द्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

“आदित्याज्जायते वृष्टिः” सूर्य से वृष्टि होती है इस स्मृति से सूर्य का कार्य वृष्टि है इसलिये बृहत्साम में सूर्यदृष्टि कहकर अब वृष्टिदृष्टि का प्रकार कहते हैं । जिससमय बादल जल का ग्रहण करते हैं उससमय के बादलों का नाम है अभ्र और जिससमय जलका सेचन करते हैं उससमय के बादलका नाम है मेघ । अभ्रदृष्टि से हिंकार की उपासना करे और मेघदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे तथा वर्षणदृष्टि से

उद्गीथ की उपासना करे। बिजली तथा गर्जनदृष्टि से प्रतिहार की
पासना करे। और उद्ग्रहण दृष्टि से निधन की उपासना करे।
वैरूपसाम मेघ में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य पूर्वोक्तप्रकार से विरूप में स्थित साम को जानता है वह विद्युत्पातादि से मेघ के सदृश व मेघ के असदृश अजानमादि पशुवों को प्राप्त होता है और पूर्णायु, उज्ज्वल जीवन, प्रजा, पशु, कीर्ति इनसे युक्त होता है। और वर्षते हुए मेघ की निन्दा न करे यह का व्रत है ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य षोडशः खण्ड आरभ्यते।

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के सोलहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ ।

ऋतुवों की व्यवस्था मेघके अधीन होती है इसलिये मेघ दृष्टि के अनन्तर ऋतुदृष्टि का प्रकार कहते हैं। वसन्तदृष्टि से हिंकार की ग्रीष्मदृष्टि से प्रस्ताव की वर्षादृष्टि से उद्गीथ की शरद्दृष्टि से प्रतीहार की और हेमन्तदृष्टि से निधन की उपासना करे। यह विराज साम ऋतुओं में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तूंन्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

भावार्थ ।

जो पुरुष ऋतुवों में स्थित इस विराजसामको जानता है वह जैसे ऋतुवें अपने २ धर्म से शोभित होती हैं इसप्रकार प्रजादिकों से सुशोभित होता है । ऋतुवों में अन्नोत्पत्ति होती है और विराडात्मा अन्नरूप है इसलिये विराज का ऋतुवों में स्थित होने से विराडात्मद्वारा वैराजसाम भी ऋतुवों में स्थित है । पशु तथा ब्रह्मवर्चस सहित पूर्णायु को प्राप्त होता है । उज्ज्वलजीवन, प्रजा, पशु, कीर्ति इनसे युक्त होता है और ऋतुवों की निन्दा न करना यह व्रत है ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य सप्तदशः खण्ड आरभ्यते ।

पृथिवीहिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के सत्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

जब ऋतु अपने २ धर्म में पूर्ण होती है तो उससे प्रजा की स्थिति होती है इसलिये ऋतुदृष्टि के पश्चात् लोकदृष्टि का प्रकार कहते हैं । पृथ्वी दृष्टि से हिंकारकी अन्तरिक्ष दृष्टि से प्रस्तावकी द्योदृष्टि से उद्गीथ की दिशाओं की दृष्टि से प्रतिहार की और समुद्रदृष्टि से निधन की उपासनाकरे । यह शक्वर्य साम लोक में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यालोकान्ननिन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस शाक्वरसामको लोक में स्थित जानता है वह प्रकार के लोकफल, पूर्णायु, उज्ज्वल जीवन, प्रजा, पशु और की इनसे युक्त होता है । और लोक की निन्दा नहीं करना यह व्रत है "शक्वर्यः" यह बहुवचन है इसलिये बहुत ऋचाओं का नाम शक्व होना चाहिये एकही ऋक् का नाम शक्वर्यः क्यों । यह शक्वर्य रेव शब्दकी तरह नित्य बहुवचन है इसलिये एक ऋक् के लिये भी बहु वचन का प्रयोग कियागया है । महानाम्नी ऋचाओं में शक्वर्य ऋ का गान कियाजाता है और उन ऋचाओं 'आपो वै महानाम्नी स्मृतः' इस से जल के साथ सम्बन्ध कहागया है और 'अप्सु लोक प्रतिष्ठिताः' जल में लोक स्थित हैं इसप्रकार परंपरा सम्बन्ध से लो में शक्वर्य ऋक् स्थित है ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्याष्टादशः खण्ड आरभ्यते ।

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्र तिहारः पुरुषो निधनमेताः रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के अट्ठारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ ।

पशुवों का पालन करना लोककार्य है इसकारण लोकदृष्टि के अनन्तर पशुदृष्टि से साम की उपासना का प्रकार कहते हैं । अजा से हिंकार की, अवीदृष्टि से प्रस्ताव की, गोदृष्टि से उद्गीथ की, अश्व दृष्टि से प्रतिहार की और पुरुषदृष्टि से निधनकी उपासना करे । रेवत्य ऋक् पशुवों में स्थित है क्योंकि "पशवो वै रेवतीः" पशु ही ऋक् हैं यह श्रुति कहती है ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भ

सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस रैवत्य साम को पशुवों में स्थित जानता है वह पशु, आयु, उज्ज्वल जीवन, प्रजा, कीर्ति इनसे युक्त होता है ॥ और पशुकी निन्दा नहीं करना यह उसका व्रत है ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्यैकोनविंशः खण्ड आरभ्यते ।

लोमहिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मांसं समुद्गीथोऽस्थिप्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के उन्नीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

पशुवों के दुग्ध दधि इत्यादि पदार्थों से अङ्गों की पुष्टि देखते हैं इसलिये पशुदृष्टि के पश्चात् अङ्गदृष्टि को कहते हैं । शरीर के अवयवों में पहिले लोम उत्पन्न होते हैं इसलिये लोमदृष्टि से हिंकार की उपासना करे । लोम के अनन्तर त्वक् होती है इसलिये त्वग्दृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे । मांसदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे । अस्थिदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे और मज्जा दृष्टि से निधन की उपासना करे । यह यज्ञायज्ञीयनामक साम देह के अवयवों में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया

पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति तं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस यज्ञायज्ञीयनामक साम को अङ्गों में स्थित जान है वह पूर्णाङ्गवाला होता है हस्त पाद इनसे हीन नहीं होता है। पूर्णा उज्ज्वलजीवन, प्रजा, पशु, कीर्ति इनसे संपन्न होता है । वर्षपर्य मांसभक्षण न करे यह उसका व्रत है ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य विंशतितमः खण्ड आरभ्यते ।

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो न आणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु तम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के बीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

अङ्गों में अग्न्यादि स्थित हैं इसलिये अङ्गदृष्टि के अनन्तर अग्न्या दिदृष्टि का प्रकार कहते हैं । अग्निदृष्टि से हिंकार की, वायुदृष्टि प्रस्ताव की, आदित्यदृष्टि से उद्गीथ की, नक्षत्रदृष्टि से प्रतिहार की पासना करे तथा मृत्युसमय में प्राणियों का मन चन्द्रबिम्ब का आ करता है इसलिये चन्द्रदृष्टिसे निधन की उपासना करे । देवता दीप्ति हैं इसलिये यह राजन नामक साम देवताओं में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव हानाथ्ठं सलोकताथ्ठं सार्ष्टिताथ्ठं सायुज्यं गच्छति सर्व

रेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्की
र्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य विंशतितमः खण्डः ॥ २० ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस राजनसामको देवताओं में स्थित जानता है वह
न अग्न्यादि देवताओं के समान लोकसमान ऋद्धिसमान आकार
नको प्राप्त होता है तथा पूर्णायु, उज्ज्वलजीवन, प्रजा, पशु, कीर्ति
नसे युक्त होता है देव ब्राह्मणों की निन्दा न करे यह उस का व्रत है।
एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः" इस श्रुति से प्रत्यक्ष देवता ब्राह्मण
ी हैं इसलिये ब्राह्मणों की निन्दा नहीं करे ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य विंशः खण्डः ॥ २० ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्यैकविंशः खण्ड आरभ्यते ।

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्नि
र्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांछंसि मरीचयः
स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्व
स्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के इक्कीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

'ऋग्वेदोऽग्नेर्यजुर्वेदो वायोरादित्यात्सामवेद, अग्निसे ऋक्, वायु
से यजु, आदित्य से साम वेद उत्पन्न हुआ है इसलिये अग्न्यादि दृष्टि
से उपासना के अनन्तर त्रयीविद्या दृष्टि से उपासना का प्रकार कहते
हैं । त्रयीविद्या दृष्टि से हिंकार की उपासना करे । और भूर्लोक,
भुवर्लोक, स्वर्लोक इस लोकदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे। अग्नि,
वायु, आदित्य दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे नक्षत्र पक्षी और

किरणदृष्टि से प्रतिहार की उपासना करे। सर्प, गन्धर्व, पितर
निधन की उपासना करे। यह साम सर्व में स्थित है॥ १॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं
भवति॥ २॥

भावार्थ।

जो मनुष्य सामको सर्वस्थानों में स्थित जानता है वह स
होता है॥ २॥

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि तेभ्यो न ज्या
परमन्यदस्ति॥ ३॥

भावार्थ।

जो तीन २ त्रयीविद्या हिंकारादि पञ्चप्रकारसे कही हैं उनसे
और कोई भी वस्तु नहीं है उनमें ही सर्व व्याप्त हैं॥ ३॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वादिशो बलिमस्मै हर
सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम्॥ ४॥

इति द्वितीयाध्यायस्यैकविंशः खण्डः॥ २१॥

भावार्थ।

जो मनुष्य सर्वस्वरूपी पूर्वोक्त सामको जानता है वह सर्वज्ञ
है और सब दिशा इसके लिये भोग्य वस्तुवों को देती हैं मैं सर्वस्व
होऊं यह इच्छाही उसका व्रत है॥ ४॥

इति द्वितीयाध्यायस्यैकविंशः खण्डः॥ २१॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्ड आरभ्यते।

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरु
प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं

लवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वा
वोपसेवेत वारुणं त्वेवैकं वर्जयेत् ॥ १ ॥

अब द्वितीयाध्याय के बाईसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

सामोपासना को कहकर अब उद्गाता को गानविशेष की संपत्ति
ा उपदेश करते हैं। पशुवों के हितकारक अग्निदेवतावाला सामगान-
म्बन्धि विशिष्ट गानकी मैं प्रार्थना करता हूं और जो असाधारण
जापति देवताक गानविशेष की उपासना करे। स्पष्ट सोमदेवताक
विशिष्ट गान का तथा हस्व उत्तम वायुदेवताक अतारस्वरवाले गान
न्द्रदेवताक क्रौञ्चपक्षि के शब्द के समान गानकी तथा बृहस्पतिदेव-
ाक फूटीहुई कांसी का पात्र के शब्द के समान शब्दवाला गान की
पासना करे। अन्तिम गान वरुणसम्बन्धि है इस अन्तिम वरुण-
म्बन्धि गान की उपासना नहीं करे ॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत् स्वधां पितृ
भ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गलोकं य
जमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानिमनसा ध्यायन्न
प्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

भावार्थ।

गान करने में जो गान स्वरविशेष के ज्ञानपूर्वक होता है उसमें
फलविशेष होता है उस गानके समय ध्यान कैसा करना चाहिये सो
कहते हैं। देवताओं के लिये अमृत का साधन करता हूं पितरों के
लिये स्वधाको मनुष्यों के लिये प्रार्थनाको पशुवों के लिये तृण और
जलको यजमान के लिये स्वर्गलोक को आत्मा के लिये अन्न को सं-
पादनकरूं इसप्रकार मन से ध्यान करता हुआ अप्रमत्त उद्गाता स्वर
ऊष्म व्यञ्जन स्थान प्रयत्न इनकी ज्ञानपूर्वक स्तुतिकरे ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजाप
त्मानः सर्वेस्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपाल
न्द्रछंशरणं प्रपन्नोऽभूवंसत्वाप्रतिवक्ष्यतीत्येनंब्रूयात्॥

अक्षरार्थ।

सब स्वर इन्द्रकी आत्माहैं सब ऊष्मसंज्ञक वर्ण प्रजापतिकी आ
हैं सब स्पर्श मृत्यु की आत्मा हैं उसको जो स्वरों में उपालम्भ दे
यह कहे कि मैं इन्द्रके शरणहुआहूं वह इन्द्र तेरे को कहेगा ॥ ३

भावार्थ।

समग्र अकारादि स्वर शरीर के अवयवों की भाँति इन्द्र के ब
कार्यवाले प्राण के अवयव हैं। और सब ऊष्मसंज्ञक शषसहादि
कश्यप के आत्मा हैं अर्थात् अकारादि स्वरों का इन्द्र देवताहै
ऊष्मसंज्ञक वर्णों का कश्यप देवताहै और सबककारादि स्पर्शसं
वर्ण मृत्यु के आत्मा हैं अर्थात् स्पर्शसंज्ञक वर्णों का मृत्यु देवता
इसप्रकार वर्ण स्वरों के स्थान प्रयत्न देवता ज्ञानपूर्वक गान करते
उद्गाता को कोई मनुष्य ऐसा कहे कि तुम अपस्वर गान करते हो
उसको उत्तर देवे कि मैं स्वरों के विषय में इन्द्राश्रित हूं तुम इ
कहो वह तुमको इसका उत्तर देवेगा ऐसा उसको कहै ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिछंशरणं
न्नोऽभूवंसत्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनछंस्प
षूपालभेतमृत्युछंशरणं प्रपन्नोऽभूवं सत्वा प्रतिधक्ष्य
त्येनंब्रूयात् ॥ ४ ॥

भावार्थ।

जो इस उद्गाता को ऊष्मसंज्ञक वर्णों के उच्चारण विषय में उ
लम्भ देवे तो उसे कहे कि मैं प्रजापति के शरण हुआ हूं वह तुम
चूर्ण करेगा। और जो इस उद्गाता को स्पर्शसंज्ञक वर्णों के वि

मैं उपालम्भ देवे तो उसे कहे कि मैं मृत्युके शरणहुआ हूं वह तेरा भस्म करेगा ॥ ४ ॥

सर्वे स्वराः घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्वे ऊष्माणोऽपस्ता निरस्ता विवृतावक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनाभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

भावार्थ।

अब उद्गाताको शिक्षा करते हैं कि देवता ज्ञानमात्रसे उद्गाता प्रमत्त नहीं होवे क्योंकि अपस्वर के उच्चारण से देवता भेद होताहै इसलिये स्वरादिकोंका उच्चारण सावधानी से करना चाहिये। स्वरादिकों का देवता इन्द्र है इसलिये सब स्वरोंको घोष प्रयत्नवाले कहना चाहिये और बलवान् कहना चाहिये और उन स्वरोंका प्रयोग करते समय ऐसा विचार करे कि मैं इन्द्रसे बल को ग्रहण करताहूं। और इसी प्रकार जब ऊष्मसंज्ञक वर्णों का प्रयोग करते हैं तो उनका स्पष्ट विवृतप्रयत्न से प्रयोग करना चाहिये और उससमय ऐसा ध्यान करे कि मैं प्रजापति को आत्मा को देताहूं। और समग्र स्पर्शसंज्ञक वर्णों का अत्यन्त स्पष्ट रीति से उच्चारण करे। और ऐसा ध्यान करे कि जैसे लोक जलादि से बालकों को दूर करता है इस प्रकार मैं मृत्युसे आत्मा को दूर करताहूं ऐसा ध्यान करताहुआ स्पर्शसंज्ञक वर्णों का प्रयोग करे ॥ ५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्ड आरभ्यते।

त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनदानमिति ॥ १ ॥ प्रथमस्तप एव द्वितीयोब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी

तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादन्सर्व एतेपुण्य लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ २ ॥

अब द्वितीयाध्यायके तेईसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

तीन धर्म के भाग हैं यज्ञ १ अध्ययन २ दान ३ उनमें पहिला तप और दूसरा आचार्य कुल में रहनेवाला ब्रह्मचारी तीसरा आचार्य कुल में रहकर अपनी आत्माको जाननेवाला ये सम्पूर्ण पुण्यलोक जाते हैं और ब्रह्मवेत्ता होकर अमृतभाव (मोक्ष) को पाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ।

अब ॐकारकी उपासना के लिये तीन धर्म के भाग हैं। यह कहते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि सामावयवभूत ॐकार की उपासना सेही फल होताहै और केवल ॐकारसे नहीं होता किन्तु सामोपासना तथा कर्मोंसे भी जिस फलकी प्राप्ति नहीं होती उस (मोक्ष) की प्राप्ति केवल ॐकार की उपासना से होती है। इसलिये पहिले सामप्रकरण में ॐकारकी उपासना को कहा। धर्म के तीन भाग हैं। अग्निहोत्रादि यज्ञ १ नियमपूर्वक ऋगादिकों का अभ्यास करना यह अभ्यास पांचप्रकारका है श्रवण मनन जप शिष्यों को दान पुनः २ आवृत्ति। वेदी में जो दिया जाता है वह यज्ञका अङ्ग होता इसलिये वेदी के बाहर जो अयाचित दान दिया जाताहै वह दान यह तीनप्रकार के धर्म के भाग हैं। यहही प्रथम धर्मस्कन्ध है। दूसरा धर्मस्कन्ध तप है। क्योंकि पहिला धर्मस्कन्ध गृहस्थों के योग्य है और वर्णाश्रमों में पहिले गृहस्थही वर्णी है इसलिये यह तीनों धर्म गृहस्थही के हैं और दूसरा तप वानप्रस्थादि और आश्रमों में स्थित कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्यावाला संन्यासी कहा और आचार्यकुल में रहनेवाला और यावज्जीव नियमों से अपने शरीर को क्षय करता हुआ ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना यह तीसरा धर्मस्कन्ध

है अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर रहना। ये सब तीनों भी आश्रमी अपने अपने धर्मनिष्ठ होने से पवित्र और उत्तम होते हैं। अर्थात् जो आश्रमी स्वधर्मनिष्ठ होता है वह स्वर्गादि पुण्यलोक को प्राप्त होता है और जो ब्रह्मज्ञानी है वह स्वर्गादि पुण्यलोक से विलक्षण मृत्युशून्य स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त होजाता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि आश्रमधर्मों का आचरण करनेवाले पुरुषों को केवल स्वर्गादि पुण्यलोकही मिलता है और वह स्वर्गादि लोक नाशवाला है अर्थात् जिससमय पुण्यका फल स्वर्गादिकों को भोगलिया फिर पुण्यक्षीणहुए पश्चात् वह मनुष्य मृत्युलोक कोही आताहै और केवल ॐकार की उपासना से ब्रह्मज्ञान को पाया हुआ मनुष्य ऐसे उत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होताहै कि जहां से फिर लौटकर कभी नहीं आता और सदा आनन्द में मग्न रहता है। इसलिये आश्रमधर्मों की उपासना से प्रणवोपासना का फल अधिक है। अर्थात् प्रणवोपासना से अमृतभाव को प्राप्त होता है जैसे देवता अमृतपान करके सुख दुःखादि रहित अजर अमरपने को प्राप्त होते हैं। यहां शङ्का करते हैं कि पुण्यलोकही अमृत क्यों नहीं। अमृत से पुण्यलोक भिन्न है क्योंकि श्रुति में अमृत और पुण्यलोक का भिन्न २ रीति से उपादान किया है। यदि उत्तम पुण्यलोक काही नाम अमृत होता तो पुण्यलोक और अमृत इसप्रकार भिन्न २ नहीं कहते इस से अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि जन्म, मरण, सुख, दुःखादि रहित स्थानका नाम अमृत है। यहां आश्रम धर्मों का फल कथन प्रणवोपासना की स्तुति के लिये है। अब यहां शङ्का करते हैं कि ब्रह्मतत्त्व सेवा से अमृत (मोक्ष) की प्राप्ति होसकती है और प्रणवोपासना से तो मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तो फिर मोक्षप्राप्ति के लिये क्यों प्रणवकी स्तुतिकरते हो? प्रणव ब्रह्मका अवयव है इसलिये प्रणव सत्य परब्रह्मरूप है यह श्रुति ने भी कहा है 'एतद्ध्येवाक्षरं परम्' ॐ यह अक्षरही परब्रह्म है और काठक श्रुति में भी कहा है उस ॐरूप परब्रह्मकी सेवा से अमृतपने को प्राप्त होताहै इसलिये अमृतत्व प्राप्ति में सुगमोपाय प्रणवोपासना को समझकर

यहां प्रणवकी स्तुति की है यहां संन्यासीही को मोक्षका अधिकार नि
(शङ्का) यहां ज्ञान रहित चारों आश्रमियों को पुण्यलोक की प्राप्ति
के लिये अपने अपने धर्मका अनुष्ठान करने को कहा। उनमें संन्यासी
भी आगया फिर ब्रह्मज्ञानी कौन होगा तो फिर कहना चाहिये। स
चारों आश्रमियों में जो प्रणवोपासक ब्रह्मज्ञानी होगा वहही मोक्षको
प्राप्त होवेगा क्योंकि चारों आश्रमियों का अधिकार समान है और एक
ज्ञान में किसी आश्रमी का निषेध नहीं किया है। कदाचित् कहो कि
संन्यासी के विना और आश्रमी अपने अपने कर्मों में व्याप्त रहते हैं इस
लिये उनको ब्रह्मज्ञान नहीं होसकता और संन्यासी को निर्व्यापार होने
से ब्रह्मज्ञान होना सुकरहै। इसलिये कहना चाहिये कि ब्रह्मज्ञानवान्
संन्यासीही अमृतभाव को प्राप्त होसकता है। यद्यपि संन्यासी व्यतिरिक्त
आश्रमियोंको अपने २ कर्मोंसे निवृत्त होने के पश्चात् सामर्थ्य उत्पन्न
होसकताहै। कदाचित् कहो कि ब्रह्ममें स्थितिरूप कारणको लेकर
वाराहादि शब्दों की तरह ब्रह्मसंस्थ शब्दभी संन्यासी में रूढ़है तो
कहना भी उचित नहीं क्योंकि रूढ़ि शब्दों में कोई कारणकी आवश्यकता
कता नहीं क्योंकि मनुष्यमात्रकी ब्रह्ममें स्थिति होसकती है। और जो
ब्रह्मसंस्थितिरूप कारणहै उस २ का वाचक ब्रह्मसंस्थ शब्द से संन्यासी
काही ग्रहणकियाजावे ऐसा सामान्य शब्दका विशेष अर्थान्तरोंका
करके संन्यासीहीके बोधन में नियम न करना यह अयोग्यहै। संन्या
साश्रम के धर्मानुष्ठानमात्र सेही मोक्ष को प्राप्त होसकेगा ऐसा कहो
तो ज्ञानका आनर्थक्य आजावेगा। कदाचित् कहो कि संन्यासाश्रम
धर्मसे युक्तही ज्ञान अमृतको देताहै तो यह कहना भी उचित नहीं
क्योंकि जैसा संन्यासाश्रम का धर्म है वैसाही गृहस्थाश्रम का भी
है तो गृहस्थाश्रम धर्मयुक्त ज्ञानको भी अमृत प्राप्ति में कारण होस
केगा। और यह भी कहो कि ज्ञानपूर्वक किया हुआ धर्मही अमृत
प्राप्तिमें कारण है तो यह सब आश्रमियों के समान है। और ब्रह्मसंस्थ
संन्यासी ही को मोक्ष होसकती है और को नहीं ऐसा कोई वचन
नहीं मिलता है प्रत्युत ज्ञानसे मोक्ष होती है यह सामान्याकार से

निषदों का सिद्धान्त है । इसलिये कहना चाहिये कि अपने २ आश्रमों के धर्म को करनेवाले पुरुषों में जो ब्रह्मज्ञानी है उसी को मोक्ष हो सकती है । परन्तु यह उचित नहीं क्योंकि कर्मों का और साक्षात्कार का विरोध होने से ज्ञानपूर्वक कियाहुआ कर्म मोक्षहेतु नहीं होसकता । कर्मों में वस्त्वन्तर का ज्ञान रहता है और ब्रह्मसाक्षात्कारमें वस्त्वन्तर का ज्ञान नहीं होता इसी से कर्म और ब्रह्मसाक्षात्कार का विरोधहै । और कर्म स्वाभाविक होताहै और स्वभावसिद्ध सब प्राणियों में दीखरहा है और ब्रह्मसाक्षात्कार 'सदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म; आत्मैवेदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वं' ब्रह्म सत् और एकहै यह सब जगत् ब्रह्मही है इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मका साक्षात्कार ज्ञानरूप से होता है साक्षात्कार विद्यारूप है और कर्म अविद्यारूप है । एवं विद्या और अविद्यारूप से परस्पर विरोधी कर्म और ब्रह्मसाक्षात्कारों में से जब तक अविद्यारूप कर्म की निवृत्ति नहीं होगी तबतक विद्यारूप ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होसकेगा । जैसे तिमिरदृष्टिवाले को दो चन्द्र दीखते तो उसका जबतक तिमिर नहीं दूर होगा तबतक अविद्यारूप दो चन्द्रों का भेद भी दूर नहीं होगा और तिमिर के दूर हुए बादही चन्द्र एक है ऐसी प्रतीति होती है इसीप्रकार अविद्यारूप कर्मों का नाश होने के अनन्तरही ब्रह्मसाक्षात्काररूप विद्या की प्रतीति होसकेगी । इसलिये ज्ञानपूर्वक कियाहुआ कर्म ब्रह्मसाक्षात्कार में निमित्त नहीं होसकता । इसीलिये मानना चाहिये कि जिसकी भेद प्रतीति से कर्मों में प्रवृत्ति हुई है उसकी वह भेदप्रतीति जिससमय 'सदेकमेवाद्वितीयं सत्यं विकारभेदोऽनृतम्' सत्यरूप ब्रह्म एकहै और ब्रह्मका विकाररूप संसार मिथ्या है इत्यादि वाक्यों के प्रमाणों से जिसकी सब कर्मों से निवृत्ति होकर एकप्रतीति होती है वह ब्रह्मसंस्थ कहाजाता है और वह परिव्राड् संन्यासी ही होसकता है और आश्रम धर्मवाले नहीं होसकते क्योंकि आश्रमियों को कर्म व्यापार के बिना निर्वाह नहीं होसकता और जब कर्मों में व्यापृत रहा तो भेदप्रतीति रही और उस प्रतीति के प्रभाव से यह उसके चित्त में रहती है कि मैं इस कर्म

को करों इसके करनेसे मेरे इस कार्य की सिद्धि होगी इसप्रका
के करनेवाले को ब्रह्मसंस्थता नहीं होसकती क्योंकि मिथ्या
रीरादिकों में ब्राह्मणाहूं इत्यादि अभिमान होता है। यदि क
ब्रह्मवेत्ता को भी पुरातन द्वैत सत्य प्रतीति के अभिनिवेश से
प्रवृत्ति होसकती है इसलिये संन्यासी को भी ब्रह्मसंस्थता न
सकती। ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को जब
सार असत्य है ऐसा ज्ञान होताहै उस समय संसार की सत्
शिथिल होजाती है फिर संसार में सत्यत्व प्रतीति जो होरही है
कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होसक्ती क्योंकि फिर जो संसार में सत्य
होती है वह आभासरूप है अर्थात् निश्चयरूपसे संसार सत्
नहीं होता किन्तु अनिश्चयरूप से होता है। एवंच आभास
प्रतीत हुई संसार में सत्यता प्रवृत्तिजनक नहीं होती जैसे
रजत की आभासरूप से प्रतीति होती है तो वह प्रतीति आभ
निर्माण में प्रवृत्त नहीं कराती है। किंच अद्वैत ज्ञानवालेको कर्मों
वृत्ति अवश्य ही होती है क्योंकि कर्म का कारण अविद्या के
होनेसे। कदाचित् कहो कि अविद्या से जिस समय ग्रस्तहै
उसको निश्चय होगया कि संसार द्वैत है फिर उस निश्चयका
रक अद्वैत बोधक वाक्यवाला शास्त्र नहीं होसकता क्योंकि
श्चित द्वैतका विरोध करनेवाला अद्वैतबोधक वाक्य है। यह
भी उचित नहीं क्योंकि द्वैतप्रतीति अज्ञान से हुई है और अ
हुआ कार्य अप्रमाण होता है इसलिये द्वैत के विरोध में भी
बोधक वाक्य को प्रामाण्यहोना उचित ही है। क्योंकि अद्वै
वाक्य विद्यापूर्वक अद्वैत का बोधक है। एवंच उपनिषद् अद्वै
रही और कर्ममात्र अविद्या से होनेवाले रहे तो कर्मों को अ
होगा। यह आपका कहना उचित है परन्तु इस में ऐसा स
चाहिये कि जैसे स्वप्न में देखे हुए पदार्थ स्वप्नावस्था में सत्
प्रमाणिक प्रवृत्तिजनक होते हैं और स्वप्नावस्था के अनन्तर वे
असत्य अप्रमाणिक और अप्रवृत्तिजनक होजाते हैं। इसी प्रका

मनुष्य को शास्त्रीय वाक्यों से अविद्यानाशपूर्वक ज्ञानकी उत्पत्ति होती उसके पहिले अविद्याविलसित कर्म और संसारकी सत्यता माण रहताही है । और इसी हेतु से कृत्याकृत्यों में मनुष्य की त्ति निवृत्ति होती है । (शङ्का) 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः' स २ का उत्तम मनुष्य आचरण करते हैं उस २ काही और भी ष्य आचरण करते हैं इस न्याय से ज्ञानियों को कर्म से विमुक्त कर दूसरे मनुष्य भी विमुक्त होजावेंगे तो इसप्रकार फिर भी कर्मों प्रवृत्ति नहीं होगी ऐसा न कहो संसार माया के अधीन है माया सप्रकार मनुष्य को प्रवृत्त करती है उसीप्रकार मनुष्य प्रवृत्त होता ज्ञानी माया के वश में नहीं रहता । इसलिये साधारण मनुष्यों की र्म में प्रवृत्ति होसक्ती है । और ज्ञानी को ' कामात्मता न प्रशस्ता' भी होना उत्तम नहीं इसलिये ज्ञानी काम्यकर्मों को नहीं करता है लिये काम्यकर्मों का उच्छेद नहीं होता किन्तु कामी मनुष्य काम्य र्मों में प्रवृत्त होतेही हैं इसीप्रकार कर्मविधिका भी उच्छेद नहीं होता योंकि ब्रह्मवेत्ताओं से व्यतिरिक्त पुरुष कर्मों का अनुष्ठान करते हैं । दाचित् कहो कि जैसे गृहस्थाश्रम में भिक्षाचरण करतेहैं इसीप्रकार ज्ञानी को भी संन्यासाश्रम में भिक्षाचरण करना प्रसिद्ध है एवं ग्निहोत्रादि कर्मों की भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये किन्तु भिक्षा-रणकी भांति अग्निहोत्रादिकों में भी प्रवृत्ति होनी चाहिये । यह कहना अनुकूल नहीं क्योंकि विधिको जो प्रामाण्य है वह शब्दद्वाराही और आप जो पुरुष प्रवृत्ति से संन्यासी को अग्निहोत्रादिकों में धिकार कहते हो वह नहीं मानसकते क्योंकि इसमें कोई प्रामाण्य क्य नहीं मिलता किञ्च कर्मों में प्रवृत्तिका कारण अज्ञानका नाश ए पश्चात् अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवर्तक कोई कारण नहीं मिलता से संन्यासी को भिक्षा करने में भोजनेच्छा कारण है । कदाचित् हो कि अग्निहोत्रादि न करने में प्रायश्चित्तका भयही कारण है तो ह भी उत्तर नहीं क्योंकि जिसको संसार में भेद प्रतीति है उसीका ग्निहोत्रादि कर्मों में अधिकार है और उसीको प्रायश्चित्त है । ज्ञानी

संन्यासी को नहीं। तो इससे यह भी सिद्धहुआ कि अभेद
अपने २ आश्रमों में रहतेहुए सबही संन्यासी होजायँगे। यह
क्योंकि जबतक आश्रमधर्म वा आश्रम में मनुष्य है तबत
मेरा है इत्यादि भेदबुद्धि नहीं निवृत्त होसक्ती। और संन्यास
व्यतिरिक्त आश्रम कर्म के लिये है। इसलिये एक भिक्षुही
होसकता है और गृहस्थादि नहीं होसकते क्योंकि गृहस्थादि
स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कभी दूर नहीं होसकता जब संन्यासी
भेदबुद्धि होगई तो स्वेच्छाचरण होना चाहिये तो संन्यासी
नियमादिकों की आवश्यकताही नहीं। यद्यपि ज्ञानी को
यम नियमादि नहीं हैं तो भी यमादिकों में प्रवृत्ति संस्कार
है। अर्थात् केवल क्षुन्निवृत्ति के लिये अभेद प्रतीति से यथेच्छ
है और जो प्रत्यक्ष दृष्टदोष से तत्त्वज्ञान से किसीप्रकार नष्ट
हो उसकी निवृत्ति के लिये ज्ञानी को भी यमादिकों से रहना
है। यद्यपि ज्ञानी के विधिसिद्ध प्रवृत्ति नहीं है तथापि यथेच्छ
का शासन नहीं है। एवं च निषिद्धकार्य की प्राप्ति हुई। यह
कह सकते हो क्योंकि जब अज्ञानावस्था में जिन कार्यों को
समझकर नहीं करसकता तो फिर ज्ञानी होकर उन निषिद्ध
करने में कैसे प्रवृत्त होसकेगा जैसे रात्रि में कण्टकयुक्त कूप में
कार से गिरपड़े तो सूर्योदय हुए पश्चात् उस कण्टकयुक्त
नहीं गिरसकता। इससे सिद्धहुआ कि कर्मरहित भिक्षुक संन्या
ब्रह्मज्ञानी होसकता है और नहीं होसकता। और जो यह
ज्ञानरहित सर्व मनुष्योंको पुण्यलोक प्राप्ति होतीहै यह सत्यहै।
तप शब्द से संन्यासीको भी कहा है यह उचित नहीं क्योंकि सं
ही ब्रह्मज्ञानी होसकता है और यह ही अवशिष्टहै। और संन्या
अभेद ज्ञानहुए पश्चात् तपकी निवृत्ति अग्निहोत्रादिकोंकी तरह
है। और भेदबुद्धिवालाही तप करसकता है। इसलिये तप श
संन्यासी का ग्रहण नहीं करसके हैं। और ब्रह्मसंस्थ शब्द से सं
काही ग्रहण है। जैसे पङ्कज शब्द कमल में रूढ है इसीप्रकार

स्थ शब्द भी सब कर्मों से निवृत्त आश्रमहीन परमहंस में रूढ है योंकि परमहंस को ही मोक्षफल कहा है। इसलिये पूर्वोक्तही संन्यास धर्म हैं और यज्ञोपवीत दण्ड कमण्डलु धारणकरना और स्त्रीसंसर्ग हीं होना यह संन्यासी के धर्म नहीं हैं यह तो केवल आडम्बरमात्र । और कर्म के त्याग में श्रुति स्मृति भी प्रमाण है " तस्मात्कर्म न र्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" कर्म करना संसारबन्ध का कारण है इस ये तत्त्वज्ञानी कर्म नहीं करते हैं। 'तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञ अव्यक्तलिङ्ग' ति दण्डकमण्डलु आदि धारणकरना धर्म का चिह्न नहीं है इसलिये ण्डादिकों को नहीं धारण करताहुआ और यथायोग्य धर्म का अनु-न करताहुआ श्रुति स्मृति प्रोक्त प्रकारसे आश्रमीहुआ संन्यासी होता । एवं च कर्म त्याग को स्वीकार करने से वेदान्ती जी भी सांख्य-तकाही आश्रय किया क्योंकि सांख्यवाले भी शरीरादि व्यापार की वृत्तिद्वारा केवल ध्यान में मग्न रहना इसीको मानतेहैं। परन्तु सांख्य-से आत्मा भिन्न है एक प्रतीति नहीं होती इसलिये उनको कर्म ग नहीं करना चाहिये। क्योंकि व्यापार अज्ञान और कर्ता इनको य मानतेहैं तौ सत्यवस्तु ज्ञानसे दूर नहीं होसकती और मन बुद्धि व्यापार ही मुख्य धर्म है इसलिये सर्वव्यापारों का विराम नहीं हो कता क्योंकि "नहिकश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" कोई भी ष्य क्षणमात्र भी कर्म विना किये नहीं रहता जब मनोबुद्ध्यादिकों व्यापारही नहीं दूर होता तो कर्म निवृत्ति कैसे होसकती है। इस ये स्वीकार करना चाहिये कि वेदान्तवाक्यों से अभेदबुद्धिवाले को कर्मत्याग और ब्रह्मसंस्थता होसकती है। इससे यह भी सिद्ध हुआ गृहस्थाश्रम में अभेदप्रत्यय जिसको होजाय वह संन्यासीही है।

यहां शङ्का करते हैं कि 'अग्न्युत्सादनदोषभाक् स्यात् परिव्रजन्' गृहस्थी संन्यासी होजावे तो वह अग्नि उठाने का दोषभागी होता 'वीरहात्राएषदेवानां योऽग्निमुद्वासयते' जो अग्नि का त्याग करता ह देवताओं के वीर का नाश करनेवाला होता है, अर्थात् जब को यह ज्ञान होता है कि अद्वैतही सत्य है और द्वैत मिथ्या है

तब अग्न्यादिक कोई वस्तु नहीं रहती इसलिये अग्न्यादि त्याग कोई दोष नहीं रहता। 'अपागादग्नेरग्नित्वम्' जिससमय अभेद होता है उससमय अग्नि में अग्नित्व नहीं रहता इसलिये यदि संन्यासी होजाय तो उस गृहस्थ को अभेद ज्ञान हुए बाद अग्नि प्रयुक्त दोष नहीं होता ॥ १ । २ ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति ॥ ३ ॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथाशङ्कुना सर्वाणिपर्णानि सन्तृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणा ॐकार एवेद छं सर्वमोंकार एवेद सर्वम् ॥ ४ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य त्रयोविंशःखण्डः ॥ २३ ॥

अक्षरार्थ।

प्रजापति ने लोक के उद्देश से तप किया उस तप से त्रयी उत्पन्न हुई फिर त्रयी विद्या के उद्देश से तप किया उससे 'भूर्भुवः स्वः' यह तीन अक्षर उत्पन्नहुए फिर इन अक्षरों का तप किया उससे ॐकार उत्पन्न हुआ उस ॐकार से सब वाणी व्याप्त है जैसे वृक्ष में पत्ते व्याप्त हैं यह सर्व ॐकारही है ॥ ३ । ४ ॥

भावार्थ।

अब ब्रह्म क्या है ? सो कहते हैं। कश्यप ने संसार का ... नने को तप किया उस तप से कश्यप के चित्त में वेदत्रयी ... और साम यह वेदत्रयी प्रतिभासित हुई। फिर भी वेदत्रयी ... जानने को तप किया तब वेदत्रयी का साररूप 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृतियां प्रजापति के मन में प्रतिफलित हुई फिर व्याहृतियों

जानने को तप किया तब उससे ॐकार सारभूत प्रतीत हुआ यह ॐकारही ब्रह्म है। यह ॐकार कैसा है कि जैसे शंकु से पत्र के सब अवयव बद्ध हैं इसप्रकार इस ॐकार से वाक् व्याप्तहै। यह ॐकार ब्रह्म का अवयव है। यह सब जगत् ॐकारही है 'ॐकारो वै सर्वा वाक्' इस ॐकारकी स्तुति के लिये ही इससे लोकादि सिद्धि कही है ॥३।४॥

इति द्वितीयाध्यायस्य त्रयोविंशःखण्डः॥ २३ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्ड आरभ्यते।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

क्वतर्हि यजमानस्य लोक इति सयस्तं नविद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान् कुर्यात् ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

ब्रह्मवादी कहते हैं कि वसुका प्रातःसवन भूलोक और रुद्रों का माध्यन्दिन सवन भुवर्लोक और आदित्य विश्वेदेवों का तृतीय सवन स्वर्लोक है ॥ १ ॥ तो यजमानका लोक कहां वह जो है उसको नहीं जानते हैं कैसे करे विद्वान् कल्पनाकरे ॥ २ ॥

भावार्थ।

यज्ञ का अङ्गभूत साम पांच प्रकार का और सात प्रकार का कहा है और उस सामकी उपासना को भी कहा है इससे ॐकार और ॐकार के गुणों को कर्मगुण कहेंगे। इसलिये अब ॐकार कर्मगुण नहीं है किन्तु ॐकार मोक्षहेतु है। इसीको उत्तम रीति से विस्तारपूर्वक कहते हैं ब्रह्मवादी कहते हैं कि वसुवों ने प्रातःसवन सम्बन्धि यह भूलोक अपने अधीन कररक्खा है। और माध्यन्दिन के स्वामी रुद्रों ने अन्तरिक्ष लोक को अपने अधीन कररक्खा है। तृतीय याग के स्वामी

आदित्य विश्वेदेवों ने द्युलोकको वश कररक्खा है इसप्रकार वसु
देवों ने भू आदि लोकों को अपने २ अधीन कररक्खा है फिर यज
के लिये कौनसा लोक अवशिष्ट रहा जिसके लिये यजमान याग
है। कोई भी लोक नहीं है "लोकाय वै यजते यो यजते" और जो
करता है वह याग लोकहीं के लिये करता है। इसलिये जब लो
नहीं रहा तो जो यजमान इन २ सामके मन्त्रों से लोक स्वाधीन
है इस बातको नहीं जानता है वह याग करने को कैसे प्रवृत्त हो
कदाचित् कहो कि यह वचन सामकी स्तुति के लिये है। और
जाननेवाले के निषेध पर है। तो वाक्यभेद होगा। इसलिये वि
लोग स्वीकार के लिये वक्ष्यमाण सामाद्युपाय को करें॥ १।२॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्य दङ्मुख उपविश्य स वासवछंसामाभिगायति ॥ ३॥

भावार्थ।

अब लोक स्वीकार के लिये जानने योग्य सामादि उपायको
हैं। पहिले (नहीं गान किया जाय ऐसी ऋक् का नाम अनुवाक
जो प्रातःकाल में प्रशंसनीय है इसका नामही शस्त्र है) अनुवा
का प्रारम्भ करे फिर गार्हपत्य अग्नि में हवन किये के पश्चात
यजमान उत्तराभिमुख स्थित होकर वसु देवता के लिये साम
गान करे ॥ ३ ॥

लोकद्वारमपावार्णू २३३ पश्येम त्वा वयछं ३३३३ऽ३ हुं ३ आ २३३ जा ३ यो ३ आ १२ इति ॥ ४ ॥

भावार्थ।

हे अग्ने ! इस भूलोककी प्राप्तिके लिये तुम द्वारको देवो
हम तेरेको भूलोक को राज्य प्राप्ति के लिये देखें ॥ ४ ॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लो
क्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैषवै यजमानस्य लोक
तास्मि ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

इसके अनन्तर हवन करे 'नमोऽग्नये' इस मन्त्र से । हे अग्ने ! म पृथ्वीलोक में निवास के लिये नमस्कार करते हैं । मेरे लिये तुम कको देवो । यह भूलोक मेरे गमन के योग्य है ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तदायुषः स्वाहाऽपजहि परिघ
त्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातः सवन छं सम्प्रय
च्छन्ति ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

इस लोक में यजमान मैं आयु नाश होनेके पश्चात् अर्थात् मरण अनन्तर (स्वाहा हवन करता हूं) इसलिये लोकद्वार की अर्गला दूरकर इस मन्त्र का उच्चारण करके उठे । इस प्रकार इन मन्त्रों से तःसवन सम्बन्धी भूलोक खरीद किया जाता है फिर वे वसुदेव प्रातः वन सम्बन्धी भूलोक को यजमान के लिये देते हैं ॥ ६ ॥

पुरामाध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नी
यस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रछंसामाभिगायति ॥७॥

भावार्थ ।

इसीप्रकार पहिले माध्यन्दिन सवन का आरम्भ करे फिर दक्षि-ग्नि में हवन किये पश्चात् उत्तराभिमुख होकर बैठे फिर वह यज-नविशिष्ट राज्य प्राप्ति के लिये रुद्रदेवताक सामका गान करे ॥ ७ ॥

लोकद्वारमपावार्णू २३ पश्येमत्वावयंविरा ३३३२ हुं
ा २३ जायो आ ३३३४५ इति ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

हे अग्ने ! इस अन्तरिक्ष लोककी प्राप्ति के लिये तुम हमको देवो जिससे हम अन्तरिक्षलोककी राज्यप्राप्ति के लिये तेरेको दे

अथ जुहोतिनमोवायवेऽन्तरिक्षाक्षिते लोकक्षिते मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोकएतास्मि

भावार्थ ।

फिर 'नमो वायवे' इस मन्त्र से हवन करे । हे वायो ! अ लोक में निवास करने के लिये हम तेरेको नमस्कार करते हैं लिये तुम अन्तरिक्षलोक को देवो । यह अन्तरिक्षलोक मेरे करने के योग्य है ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि मित्युक्त्वोत्तिष्ठतितस्मै रुद्रामाध्यन्दिनछंसवनछं च्छन्ति ॥ १० ॥

भावार्थ ।

यजमान अन्तरिक्षलोककी अर्गला को दूर होनेके लिये में हवन किये पश्चात् 'लोकद्वारमपावार्णू' इस मन्त्र का करके उठे । इसप्रकार इन मन्त्रों से माध्यन्दिन सम्बन्धी लोकको रुद्र देवता यजमान को देते हैं ॥ १० ॥

पुरातृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघने नाहवनीय ङ्मुख उपविश्य स आदित्यछंसवैश्वदेवछंसामाभि ति ॥ ११ ॥

भावार्थ ।

पहिले तृतीय सवन का प्रारम्भ करे । फिर आहवनीयाग्नि किये पश्चात् यजमान उत्तराभिमुख बैठकर स्वर्ग के राज्य

लिये आदित्य देवताक सामका गान करे और साम्राज्य की प्राप्ति लिये विश्वेदेवताक साम का गान करे ॥ ११ ॥

लोकद्वारमपावार्णू२३३पश्येमत्वावयछंस्वरा३३३३ आ २३३ जा ३ यो ३ आ ३४५ इति ॥ १२ ॥

भावार्थ ।

हे अग्ने ! स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये तुम हमको मार्ग देवो जिससे हम स्वर्गलोक की राज्य प्राप्ति के लिये तेरेको देखें ॥ १२ ॥

आदित्यमथवैश्वदेवंलोकद्वारमपावार्णू २३३ पश्ये त्वावयछंसाम्रा ३३३३ हुं ३ आ २३३ जायो ३ आ १११ इति ॥ १३ ॥

भावार्थ ।

हे अग्ने ! तुम आदित्य देवताक स्वर्गलोककी और विश्वेदेवताक साम्राज्यकी अर्गला दूर करके द्वार देवो । जिससे हम तेरेको देखें॥१३॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्योदिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकंमेयजमानायविन्दत ॥ १४ ॥

भावार्थ ।

फिर 'नम आदित्येभ्यश्च' इस मन्त्र से हवन करे । द्युलोकनिवासी आदित्य को और लोकनिवासी विश्वेदेवताओं को हम साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं । जिससे यजमान द्युलोक और साम्राज्य को प्राप्त होवे ॥ १४ ॥

एषवैयजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

भावार्थ ।

यह यजमान का लोक है। मैं यहां गमन करनेवाला हूं।। मान मरण के अनन्तर इस लोक में हवन करने से मुक्तद्वार होंगे कहकर उठे ॥ १५ ॥

तस्मादादित्याश्चविश्वेच देवास्तृतीयसवनछं यच्छन्त्येषहवै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य वेद ॥ १६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

भावार्थ ।

उस यजमान के लिये आदित्य और विश्वेदेवता तृतीय स्वर्लोक वा साम्राज्य को देते हैं। जो इसप्रकार इन मन्त्रों से यज्ञ याथार्थ्य को जानता है ॥ १६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः प्रपाठक आरभ्यते ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः खण्ड आरभ्यते ।

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेवतिरश्चीनवछं शोऽन्तरिक्षमयूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

अब तीसरा प्रपाठक आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

यह आदित्य देव मधु है उस आदित्य मधु के द्यौ ही तिरश्चीन वंश (असरादि) है और अन्तरिक्ष अयूप है और मरीचि ये पुत्र हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

कर्मों का अङ्गभूत विज्ञान को कहकर कर्मों का फलरूप आदित्य की प्रधानरूपसे उपासना को कहते हैं । उसके पहिले अध्याय का सम्बन्ध भी कहते हैं । 'यज्ञस्य मात्रां वेद' इससे यज्ञविषयक साम स्तोम के मन्त्रों को पृथिव्यादि लोकत्रयरूप फल की प्राप्ति के लिये कहा । क्योंकि सब यज्ञों का कार्यरूप सूर्य अतीव कान्ति से दैदीप्यमान होरहा है । यह सब प्राणियों के कर्मों का फलरूप सूर्य सब प्राणियों का जीवन है । इसलिये यज्ञोपासना के अनन्तर यज्ञों का फलरूप सूर्य की उपासना को मोक्षरूप फलकी प्राप्ति के लिये कहते हैं । यह आदित्य मधु है । अर्थात् मधुदृष्टि से आदित्य की उपासना करे । क्योंकि जैसे शहद मनुष्य और भ्रमरादिकों को हर्ष देता है इसी प्रकार यह आदित्यरूप मधु सर्वयज्ञों का फलरूप होने से और वस्वादि देवताओं को हर्ष देने से मधुरूप है इसलिये मधुदृष्टि से आदित्य की उपासना करे । और जैसे मधुका भ्रमरादि तिर्यग्जाति वंश है इस प्रकार उस आदित्य मधुका द्यौही तिरश्चीनवंश है अर्थात् तिरश्चीनवंश दृष्टि से द्यौ की उपासना करे । क्योंकि द्यौ भी तिरछा दीखता है । आकाश और भूमि के मध्यभाग को अन्तरिक्ष कहते हैं यह अन्तरिक्ष सूर्य के आश्रय से द्युवंश में लटकता हुआ मालूम होता है इसलिये मध्वयूपदृष्टि से अन्तरिक्ष की उपासना करे । भूमि में स्थित जल को सूर्य अपनी किरणों से खींचता है इसलिये वह जल किरणों में स्थित है यह जल स्वतः प्रकाशरूप सूर्य की किरणें हैं । वे जल अन्तरिक्ष मध्वयूपस्थित किरणों के अन्तर्गत होनेसे भ्रमर बीजभूत पुत्र है क्योंकि पुत्र की भाँति मध्वयूप हितकारक है । अर्थात् लोकमें भ्रमरबीजभूत पुत्र मध्वयूप छिद्रों में दीखते हैं । यह जल अन्तरिक्षरूप मध्वयूपों में स्थित किरणों में दीखता है । इसलिये इस जल में भ्रमरबीजदृष्टि करनी चाहिये ॥ १ ॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुना

ड्यः । ऋच एव मधुकृतः ऋग्वेद एव पुष्पं ता आ
आपस्ताच्चा एता ऋचः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

उस सूर्य की पूर्वदिशा में जो किरणें हैं वे इसकी नाड़ी हैं
ही भ्रमर हैं ऋग्वेदही पुष्प है और वे अमृतही जल हैं। और
ऋचा हैं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उस मधु का आश्रयभूत सूर्य की जो किरणें पूर्वदिशा को फैल
हैं वेही इस सूर्य मधुकी नाड़ियां हैं। अर्थात् मधु के आधारभूत
हैं। और जैसे भौंरा पुष्पादिकोंमें से रस लाकर मधु को संपादन
है इसीप्रकार इस आदित्यरूप मधु के ऋचारूपही भौंरा ऋग्वे
पुष्पों में से सविता में रहनेवाला लोहितरूप मधु को संपादन
हैं ऋगादि वेद शब्दरूप है उनसे भोग्य मधुरूप रस नहीं नि
सकता इसलिये ऋग् शब्द से यहां ऋग्वेद विहित कर्म को लिया
उससे कर्म फलरूप मधु का उत्पादन होही सकता है। अर्थात
की भाँति पुष्परूप ऋग्वेद विहित कर्मों से जल को ग्रहण कर
ऋचाओं से मधु होता है। यहां ऋक्पक्ष में आप अग्नि में पके
और अग्नि से पके हुए सोम घृत दुग्ध को कहते हैं। क्योंकि अ
में पके हुए सोमादिक अमृत को उत्पन्न करते हैं इसलिये वे अ
रसवाले जल हैं॥ २ ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्
इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य ꣳ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

इस ऋग्वेद का तप किया तपाये हुए इस ऋग्वेद के यश
इन्द्रिय वीर्य अन्नादि रस उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जैसे भौंरा पुष्पों से रसों को लेकर तपाता है तैसे यह मन्त्र भी इन २ कर्मों में स्थित अपरूप रसों को लेकर मधु संपादन करते हुए अभिमत कर्म की समालोचना करते हैं । मन्त्ररूप भौंरों से पुष्परूप ऋग्वेदविहित कर्म के तापसे फल कैसे होता है । कर्मों के रसों को लेकर ये ऋचायें पुष्पों से रस को लेते हुए भौंरों की भाँति यह पुष्परूप ऋग्वेदविहित कर्म का तप किया । शास्त्रोक्त विधिपूर्वक ऋग्वेद के मन्त्रों से किया हुआ कर्म मधु को उत्पन्न करनेवाला होता है जैसे भ्रमरों को चूसने से पुष्प मधु को उत्पन्न करते हैं । ऋग्रूप भौंरा के ताप से निकलाहुआ रस कौनसा है । यश शरीर का चांचल्य इन्द्रिय सदा अविकलरहे और बल और अन्नादि जिसके उपयोग से देवताओं की प्रतिदिन स्थिति होतीहै इस यागरूप कर्म से रस उत्पन्न होताहै॥३॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम् ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

भावार्थ ।

यश को आदिलेके अन्नादिपर्यन्त विशेषकरके प्राप्त भये और वे जाकर सूर्यके चारोंतरफ आश्रय किया । और इस आदित्यमें सञ्चित हुआ कर्मों का फलरूप मधु का हम भक्षण करेंगे इसलिये मनुष्यकर्षक क्षेत्रकी तरह यशप्राप्ति के लिये कर्म करते हैं । जो यह उदय होते हुए सूर्यका रोहितरूप दीखता है वहही यश आदि अन्नाद्यन्त पदार्थहैं ॥४॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्ड आरभ्यते ।

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अब तृतीय अध्याय के द्वितीय खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

और जो इस आदित्यमधु के दक्षिणकी तरफ फैलीहुई कि वेही इसकी दक्षिण मधुनाड़ियां हैं और यजुही भौंरे हैं यजुर्वे है। और वे अमृतही जल हैं ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतंयजुर्वेदमभ्यतप स्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरस यत ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

वे ये यजु यजुर्वेद का तप किया उसके तप से यश, तेज, इ वीर्य, अन्नादिरस उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेत त्यस्य शुक्लꣳरूपम् ॥ ३ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

वे यश आदि अन्नादिपर्यन्त सूर्य के समीप गये और सूर्य के जाकर सूर्य का चारोंतरफ आश्रय किया वो यह आदित्य का रूप है ॥ ३ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः खण्ड आरभ्यते ।

अथ येऽस्यप्रत्यञ्चोरश्मयस्ता एवास्य प्रती धुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं त मृता आपः ॥ १ ॥

अब तृतीय अध्याय के तृतीय खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जो इस सूर्य के पश्चिमदिशाकी किरणें हैं। वेही इसकी पश्चिम दिशाकी मधुनाड़ी हैं। और सामही भौंरे हैं। सामवेद पुष्प है। और अमृतही जल हैं॥ १॥

तानि वा एतानि सामान्येतछं सामवेदमभ्यतपछं तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यछंरसो जायत॥ २॥

अक्षरार्थ।

उन सामों ने इस सामवेद को तप्त किया तपेहुए सामवेद से यश, तेज, इन्द्रियों का प्राबल्य, बल, अन्नादि रस उत्पन्न होते हैं॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णछंरूपम्॥ ३॥

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः॥ ३॥

अक्षरार्थ।

वे यश आदि अन्नादिपर्यन्त रस सूर्य के समीप जाकर सूर्य के चारों तरफ व्याप्तहुए। वो यह सूर्य का कृष्णरूप है इनका भावार्थ इसी अध्याय के प्रथमखण्ड के मन्त्रों के समान जानना॥ ३॥

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः॥ ३॥

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्ड आरम्यते।

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

अब तृतीय अध्याय के चतुर्थखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जो इस आदित्यमधुके उत्तरकी तरफकी किरणें हैं। वे आदित्यमधु के उत्तरकी नाड़ियां हैं अथर्वाङ्गिरससम्बन्धि कर्मों में प्रयोग कियेहुए मन्त्रही भौंरे हैं। और इतिहास पुराणही पुष्प और वे अमृतही जल हैं॥ १॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतप स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियंवीर्यमन्नाद्य ऽजायत॥ २॥

अक्षरार्थ।

वे अथर्वाङ्गिरससम्बन्धि कर्मों में प्रयोग कियेहुए मन्त्र पुराणों का तप्त किया तप्तहुए इतिहास पुराणों का यश तेज इन्द्रिय अवैकल्य वीर्य अन्नादिरस हैं॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदे त्यस्यपरः कृष्णछंरूपम्॥ ३॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः॥ ४॥

अक्षरार्थ।

वे यश आदि जाकर सूर्य का आश्रय किया यह आदित्य त्यन्त कृष्णवर्ण है॥ ३॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः॥ ४॥

अथ तृतीयाऽध्यायस्य पञ्चमः खण्ड आरभ्यते।

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा ऽद्योगुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता आपः॥ १॥

अब तृतीय अध्याय के पञ्चम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जो इस आदित्यमधुके ऊपर की किरणें हैं वे इसके ऊपर की नाड़ियां हैं। और गुप्तरहस्य के आदेश ही भौंरे हैं। और प्रणवरूपी ब्रह्म पुष्प हैं। और वे अमृतरूप ही जल हैं॥ १॥

ते वा एते गुह्य आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यश इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

अक्षरार्थ।

वे ये गुप्त आदेश इस प्रणवरूपी ब्रह्म की तपस्या करते भये तपे प्रणव से यश इन्द्रिय बल अन्नादि रस उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्यमध्ये क्षोभत इव॥ ३॥

अक्षरार्थ।

वे यश आदि जाकर सूर्य के चारों तरफ व्याप्त हुए वे और यह मधु देत्य के मध्य में एकाग्रदृष्टिवालों को चलता हुआ दीखता है॥ ३॥

ते वा एते रसानाꣳ रसावेदाहि रसास्तेषामेते रसानि वा एतान्यमृतानाममृतानिवेदा ह्यमृतास्तेषामेन्यमृतानि॥ ४॥

इति तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः॥ ५॥

भावार्थ।

पहिले कहेहुए रक्तादि रूप रस रसों में भी उत्तम रस है। वेदही हैं क्योंकि वेद लोक के कार्यों को करता है इसलिये वेदही सार कर्मस्वरूप को प्राप्तभये उन वेदादि रसों का रक्तकृष्ण इत्यादि रसों

सारभूत हैं। तथा येही रक्तादिवर्ण अमृतों का भी अमृत हैं यह होने से वेदही अमृत है और ये रक्तादिरूप अमृत हैं॥ ४॥

इति तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः॥ ५॥

अथ तृतीयाध्यायस्य षष्ठः खण्ड आरभ्यते।

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निनामुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति

अब तृतीय अध्याय के षष्ठ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

उनमें जो पहिला उससे वसुदेवताओं का जीवन होता है रूप मुख से देवता न भोजन करते हैं न पान करते हैं। इस को देखकर पान करते हैं॥ १॥

भावार्थ।

उनमें जो पहिला रक्तवर्णरूप अमृत है। उस अमृत से मनु के स्वामी वसुदेवता उपजीवन करते हैं। अर्थात् अग्निरूप हवि जीवन करते हैं। पहिले अन्नादि रस को अमृत कहा इस होता है कि देवता भी मनुष्यों की भाँति ग्रासों से भोजन यह नहीं किन्तु देवता न तो भोजन करते हैं न पान करते हैं पूर्वोक्त इस रक्तवर्णरूप अमृत को सब इन्द्रियों से अनुभव होते हैं। दर्शन केवल चक्षुरिन्द्रियसे ही होता है तो रूपका न्तरों से कैसे प्रत्यक्ष होता है। वह रक्तादिवर्ण यश आदिरूप लिये यश का प्रत्यक्ष श्रोत्र से होता है चक्षुरिन्द्रिय तेजोरूप सामर्थ्य पदार्थ दर्शनरूप कार्य से प्रतीत होता है। और बल धर्म है। उत्साह प्राण का होना। और अन्नादि शरीर स्थिति रण है। रस जो है वह पूर्वोक्त स्वरूपवाला है जिसको देव की तृप्ति होती है॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति

अक्षरार्थ ।

वे इसी अमृत को पीकर तटस्थ होते हैं । और उसी अमृत से उत्साहयुक्त होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

शरीर की इन्द्रियों का दोष से रहित आदित्य के आश्रय हुए देवता न यश आदि पदार्थों का अपनी २ इन्द्रियों से अनुभव करके तृप्त होते । क्या वे विना उद्योगही अमृत से जीवन करते हैं नहीं तो कैसे उपजीवन करते हैं । इस रूप को अपने सम्मुख करके जीवन करते हैं । और जब भोग का समय नहीं होता है तो यह हमारा भोग का समय नहीं है इस बुद्धि से तटस्थ होते हैं । और जब उस अमृत के भोग का समय आता है तो इस अमृत को भोगके लिये उत्साहयुक्त होते हैं । क्योंकि उत्साहरहित पुरुषों को भोगप्राप्ति लोक में भी नहीं दीखती है ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

जो इस अमृत को जानता है वह वसुओं में एक होकर अग्निरूप मुखसे इस अमृत को देखकर तृप्त होता है और जो इसी रूपसे उदासीन होता है और इसी अमृत से उत्साहयुक्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से कहा हुआ ऋचारूप भ्रमर के ताप से निकला हुआ रस संक्षरणरूप ऋग्वेदविहित कर्मरूप पुष्प से उत्पन्न हुए अमृत का आदित्याश्रयपने को और रक्तवर्ण तथा पूर्वदिशा की किरणरूप नाडियों में स्थित और वसुदेवताओं के भोग्य ऐसा अमृत को जानता है । वह वसुदेवताओं के साथ ऐक्य को प्राप्तहोकर अग्निरूप मुख से उपजीवन करता है । और जो दर्शनमात्र से तृप्ति और अपने भोग

समय में उत्साह को और भोगसमय को दूर हुए बाद तटस्थ हो जानता है वह भी वसुओं के साथ एकता को प्राप्त होता है ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

वह विद्वान् कबतक उस अमृत से उपजीवन करते हैं। जबतक सूर्य पूर्वदिशा में उदय को प्राप्तहोता है। और फिर पश्चिमदिशा में अस्तको प्राप्त होता है तबतक ही वसुवों का भोग समय है। तबतकही वसुवों का सर्वव्यापी आधिपत्य है। स्वर्ग राज्य में ॥ ४ ॥

इति तृतीयाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य सप्तमः खण्ड आरभ्यते।

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्याय के सप्तम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ ।

और जो शुक्लवर्णरूप दूसरा अमृत है उससे रुद्र इन्द्ररूप मुख अर्थात् इन्द्ररूप होकर उपजीवन करते हैं। रुद्र मनुष्यों की भाँति भोजन करते हैं और न पान करते हैं किन्तु इस अमृत के दर्शन मात्र से तृप्त होते हैं। इसका विशेष पूर्व खण्ड के मन्त्रों में देखो॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥

भावार्थ ।

वे इसी अमृत को लक्ष्य करके इस समय हमारा भोगसमय

है । इस बुद्धि से तटस्थ होते हैं । जिससमय इस अमृत का भोगसमय है उससमय इस अमृत के लिये उत्साह करते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैवमुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य यजुर्मन्त्ररूप भौंरों के ताप से निकला हुआ यजुर्वेदविहित कर्मरूप पुष्पों का आदित्याश्रय शुक्लरूप दक्षिणदिशा की किरणरूप नाड़ियों में स्थित रुद्रदेवताओं के भोग्य ऐसे अमृत को जानता है । वह रुद्रों के साथ ऐक्य को प्राप्तहोकर इन्द्ररूप से उपजीवन करता है । और ६ खण्ड के ३ मन्त्र के समान जानो ॥ ३ ॥

स यावदादित्यःपुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

जब सूर्यका उदय पूर्वको होताहै और पश्चिमको अस्त होता है और जब सूर्य दक्षिण में उदय होता है और उत्तर को अस्त होता है तबतक रुद्रोंका स्वर्ग राज्य में आधिपत्य रहता है ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्याष्टमः खण्ड आरभ्यते ।

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्याउपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्याय के अष्टमखण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

और जो कृष्णवर्ण अमृत है उस तृतीय अमृत से आदित्य रूप होकर उपजीवन करते हैं। देवता मनुष्यों की भाँति न भ करते हैं न पान करते हैं किन्तु इसी अमृतको सुनकर देखकर होते हैं भावार्थ खण्ड ६ मन्त्र १ के समान॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥

भावार्थ।

वे देवता इसी अमृत का यह हमारा भोगसमय नहीं है ऐसा कर तटस्थ होते हैं। और जब भोगसमय आता है उससमय उ युक्त होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैकोभूत्वा व नैवमुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपम विशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

भावार्थ।

जो मनुष्य साममन्त्ररूप भौंरों के ताप से और सामवेद विहित रूप पुष्प से निकलाहुआ अमृतका आदित्याश्रयपने को और शुक्ल रूप अमृतको जानता है वह आदित्यरूप होकर वरुणरूप से उस मृतको देखकर तृप्त होताहै। और इस अमृतका जिससमय भोग नहीं है उससमय तटस्थ होता है और जब भोगका समय है उस में उत्साहयुक्त होता है॥ ३॥

स यावदादित्यो दक्षिणतउदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्वि वत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव ताव धिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्य्येता॥ ४॥

इति तृतीयाध्यायस्याष्टमः खण्डः॥ ८॥

भावार्थ ।

वह आदित्य जबतक दक्षिण से उदय होताहै और उत्तर से अस्त ताहै । दूसरे पश्चिम से उदय होता है और पूर्व को अस्त होताहै । तक स्वर्ग में आदित्यों का आधिपत्य है ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य नवमः खण्ड आरभ्यते ।

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेनमुखेन वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतंदृष्ट्वा तृप्यन्ति॥१॥

अब तृतीयाध्याय के नवमखण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

जो कृष्णवर्णवाला चौथा अमृत है उससे सोमरूप होकर मरुत् ति के देवता उपजीवन करते हैं । देवता न भोजन करते हैं न पान ते हैं किन्तु उस अमृत को देखकर सुनकर तृप्तहोते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥२॥

भावार्थ ।

वे जब भोगसमय नहीं है उससमय तटस्थ रहते हैं । और भोग मय में उत्साहयुक्त होजाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव खेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंवि न्त्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य अथर्वाङ्गिरस मन्त्ररूप भौंरों के तापसे इतिहास पुराण- प पुष्पों से निकलेहुए कृष्णवर्णरूप अमृत को उत्तरदिशाकी रश्मि- प नाडियों में जानता है । वह मरुत्रूप होकर सोमप्रधान हुआ इस

अमृत को देखकर तृप्तहोता है। और जब भोगकाल नहीं है त
होता है और भोगकाल में उत्साहयुक्त होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेते
स्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव
दाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

भावार्थ।

जबतक वह आदित्य पश्चिम को उदय होता है और पूर्व
होता है तथा उत्तर को उदय होता है और दक्षिण में अस्त
तबतक स्वर्ग में मरुतों का ही आधिपत्य है ॥ ४ ॥

इति तृतीयाऽध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य दशमः खण्ड आरभ्यते।

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति
मुखेन नवै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृत
तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्याय के दशम खण्ड का आरम्भ करते हैं

भावार्थ।

और जो इस का पञ्चम अमृत रक्तवर्णादिकों को अमृत
उस से साध्यजाति के देवता उपजीवन करते हैं ब्रह्मरूप होक
न भोजन करते हैं न पान करते हैं। इस अमृत को देख
होते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति

भावार्थ।

वे देवता इस अमृत का भोगसमय नहीं है ऐसा जानकर
होते हैं और भोगसमय को जानकर उत्साहयुक्त होते हैं ॥ २

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वाब्रह्मणै
खेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंवि
येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

भावार्थ।

जो मनुष्य गुह्य आदेशरूप भौंरों के तापसे तप्त ब्रह्मरूप पुष्प से
फले हुए अमृत को सूर्य की ऊर्ध्वरश्मिरूप नाड़ियों में जानता है वह
ध्यजाति की देवयोनी को प्राप्तहोकर ब्रह्ममुख से इस अमृत को
कर तृप्त होता है। और वह यह हमारा भोग समय नहीं है ऐसा
नकर तटस्थ होता है। और भोगसमय में उत्साहयुक्त होताहै॥३॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता
स्तावदूर्ध्व उदेताऽर्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदा
पत्यछं स्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

इति तृतीयाध्यायस्य दशमः खण्डः॥ १०॥

भावार्थ।

जबतक वह आदित्य उत्तर में उदय होकर दक्षिण में अस्त होता
और इस से द्विगुणसमय में ऊपर से उदय होता है और नीचे से
स्त होता है तबतक साध्यजाति के देवताओं का स्वर्ग में आधिपत्य
॥ ४॥ अब ६ खण्ड से १० खण्डतक जो पांचप्रकार के अमृत की
ना करनेवालों को जितने २ समयतक स्वर्गराज्य का आधिपत्य के
ये कहा है। उससमय में पुराणविरोध को दूर करके उत्तम रीति
निर्द्धार करते हैं। जैसे सूर्य का उदय पूर्व में होता है और पश्चिम
अस्त होता है। इस से द्विगुणकाल में दक्षिण में उदय होता है
र उत्तर में उदय होता है यह प्रथम अमृत का ध्यान करनेवालों
समय है। और दूसरे अमृत का ध्यान करनेवालों का पूर्वसे द्विगुण
ल में पश्चिम से उदय होता है और पूर्व में अस्त होता है यह

समय है। और तृतीयामृतध्यायी का भी उतना ही भोगस
चतुर्थामृतध्यायियों का भी पूर्व से द्विगुणकाल में जबतक सूर्य
से अस्त होता है और उत्तर में उदय होता है उतना ही
समय है। और साध्यों का भी उतना ही भोगकाल है
पूर्वोक्त से द्विगुणकाल में ऊपर से उदय होता है और नीचे
होता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि पूर्व २ के उदय तथा
अपेक्षा से द्विगुणकाल में उदय और अस्त होते हैं यह
यह पुराणों से विरुद्ध है क्योंकि सूर्य की चारों दिशाओं
यम, वरुण, सोम ये चार पुरी हैं। इन में उदय और अस्त
को पौराणिकों ने समान कहा है उस में कारण यह है कि
त्तर क्षेत्रवाले मेरु के मस्तकपर प्रदक्षिणा वृत्तिको तुल्य होने
पुराणमत से सूर्य की विभागपूर्वक स्थिति को कहते हैं जिस
अमरावती पुरी के ऊपर रहता है तब मध्याह्न होता है और
कोणवालों को तीसरा प्रहर होता है और अग्निकोणवालों
प्रहर होता है उससमय संयमिनी पुरी में सूर्य का उदय
और जिससमय सूर्य यमपुरी में रहता है उससमय मध्याह्न हो
उससमय इन्द्रपुरी में अस्त होता है और अग्निकोण में तीस
होता है नैर्ऋत्यकोण में पहिला प्रहर होता है और वरुणपुरी
होता है। और जिससमय वरुणपुरी में सूर्य की स्थिति से मध्या
है उससमय यमपुरी में अस्त होता है और नैर्ऋत्यकोण में
होता है और वायव्यकोण में प्रथम प्रहर होता है। सोमपुरी
होता है। और सोमपुरी में जब मध्याह्न होता है तब वरुणपुरी
होता है। और वायव्यकोण में तीसरा प्रहर होता है। और ईशान
में प्रथम प्रहर होता है। उससमय इन्द्रपुरी में उदय होता है।
जिससमय सूर्य अग्निकोण में रहता है। तो उस कोण में रहनेव
को मध्याह्न होता है। और यमपुरी में पहिला प्रहर और इन्द्रपु
तीय प्रहर होता है। और नैर्ऋत्यकोण में उदय होता है तथा
कोण में अस्त है। एवं सब दिशाओं में सूर्य का उदय और अस्त

पुराणों में लिखा है । इस से द्विगुणकाल सूर्य में नहीं होता तु सर्वत्र समान काल है । और श्रुति ने द्विगुणकाल कहा है । इस ये श्रुति और पुराणोंका विरोध है । उसका समाधान कई आचार्य प्रकार करते हैं कि सूर्य का उदय वह है जो मनुष्य दृष्टि से दृष्टहोवे अस्त वह है जो मनुष्योंके दृष्टिपथ नहीं होवे तो जिससमय सूर्य मार्ग से चलरहा है उससमय मनुष्यों की दृष्टि में विलम्ब से वे और शीघ्र आवे तो काल द्विगुण होसकता है । क्योंकि वे पुरी यों से आक्रान्त होती हैं जिससमय दैत्यों से आक्रान्त होती हैं उस य देरसे दृष्टिपथ होता है तो भोगकाल अल्प होता है । और जिस य दैत्यों से पुरी का आक्रमण नहीं होता है उससमय भोगकाल गुण होही सक्ता है इसलिये श्रुति स्मृतियों का विरोध नहीं । अब ी को स्पष्टरीति से कहते हैं जैसे अमरावतीपुरीनिवासी प्राणियों की क्षा से संयमिनीनिवासी प्राणियों को द्विगुणकाल में सूर्य का अस्त र उदय होता है । क्योंकि जिससमय दर्शन होता है उससे द्विगु-त समय में उदय होता है कहीं २ समानकाल में उदयास्त होते हैं र कहीं कुछ शीघ्र और कुछ देरसे उदयास्त होते हैं । कदाचित् कहो संयमिनी में रहनेवालों को वह सूर्योदयदिशा और अस्तदिशा र दक्षिण होगी यह नहीं किन्तु उनके लिये वह पूर्व पश्चिमही है र हमारी दृष्टि से वह उत्तर दक्षिण है । अमरावतीकी अपेक्षा संय-नी में निवासकाल अधिक है और संयमिनी की अपेक्षा वारुणी में र वारुणी की अपेक्षा विभाग में उद्वासकाल का आधिक्यहै । सूर्यो-य के सम्मुख पुरुष के वामभाग में रहता है इसलिये मेरु सब के तर में है । इसलिये यह दिशाका विभाग हमारी बुद्धिके अनुसारही है । जब मध्याह्न समय में सूर्य अमरावती में रहता है तब संयमिनी में सका उदय मालूम होता है । और जब मध्याह्न में संयमिनी में रहता तो वारुणी में उदयहुआ दीखता है । और जब वारुणी में मध्याह्न ता है तब विभाग में उदय दीखता है । इसीप्रकार उत्तरदिशा में सूर्य प्रदक्षिण परिक्रमा को समान होनेसे इलावृतनिवासी मनुष्यों को

सूर्य पर्वत से आच्छिन्न रहता है इसलिये दीखता नहीं जब
क्षिणा करताहुआ पर्वत के ऊर्ध्वछिद्र में प्रवेश करता है तब
वासियों को सूर्य का उदय होता है। इसलिये इलावृतवासियों
ऊपरही उदित होता है और तिरछा अस्त होता है इसीप्रकार
मृतोपजीवी देवताओं का और अमृत का भोगकालके द्विगुण
उत्तरोत्तर द्विगुण वीर्यवत्ता का अनुमान करते हैं। और
को जानकर भोग के लिये उत्साह रखनेवाले देवताओं की
हमारा भोगसमय नहीं है इस बुद्धि से विरक्ति उत्पन्न होती
अग्न्यादिमुख होते हैं और दर्शनमात्र से तृप्तहोना इत्यादि
की तरह विद्वानों के भी होते हैं ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथ तृतीयाध्यायस्यैकादशः खण्ड आरभ्यते।

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैक मध्यस्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्याय के एकादश खण्ड का आरम्भ करते हैं

अक्षरार्थ।

अब उसके अनन्तर ऊर्ध्वहुआ सूर्य उदित होकर उदित
होता और अस्त भी नहीं होता अद्वितीय होकर मध्य में स्थि
है इसलियेही यह श्लोक है ॥ १ ॥

भावार्थ।

अब क्रमसे मोक्षफल भी सूर्यही है इस वृत्तको कहते हैं।
प्रकार से सूर्य उदय और अस्तको करके और इसी उदयास्त
णियोंका अपने २ कर्मफलोंका उपभोग के लिये अनुग्रह कर
उन २ कर्मफलोंका उपभोगको नाश होने के अनन्तर प्राणि
आत्मामें संहार करके प्राणियों का अनुग्रह कालके पश्चात्
होकर अपनी आत्मामेंही प्रकाशकरके स्थित होता है। अर्थात्

त्मामें प्रकाश होगयाहै उनके लिये वह सूर्य न उदयको प्राप्त होता और न अस्तको प्राप्त होता है अद्वितीय और अवयवरहित वह आत्मामेंही स्थित रहताहै । वहां ज्ञानी पहिले वस्वादि देवताओं समाचरण से रोहितादि अमृत का सेवनकरके पूर्वोक्त क्रमसे सूर्यको त्मारूप जानकर इस मन्त्र के दर्शन से सावधान होकर पूछनेवाले रेको कहताभया । तुम ब्रह्मलोकसे आयेहो क्या वहां भी अहोरा-रूप से स्थित सूर्य प्राणियों की आयु का नाश करताहै । जैसे इस भू-लोक में प्राणियों की आयु का नाश करता है यह वृत्तान्त ब्रह्मवेत्ता किसी पुरुषने ब्रह्म से वियुक्तावस्था में पूछा है ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोचनोदियाय कदाचन देवास्तेना हꣳसत्येन मा विराधिषिब्रह्मणेति ॥ २ ॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवा स्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

उस ब्रह्मलोक में सूर्य किसी समय में भी न अस्त होता है और न उदयको प्राप्त होता है हे देवताओ ! इसकारण मेरेको सत्य ब्रह्मसे विरोध हो जो मैं मिथ्या कहताहोऊं तो ॥ २ ॥ और जो मनुष्य इस ब्रह्मोपनिषद्को जानताहै उसको सूर्यका न उदय होताहै न अस्त होता है इसके लिये सदा एक दिनही रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

उस योगीके पूर्वोक्त वाक्य सुनकर ब्रह्मवेत्ता उत्तर देताहै कि मैं ब्रह्म-लोक से आयाहूं उस ब्रह्मलोकमें किसी समय भी न उदय होताहै और न सूर्यका अस्त होताहै । इससे यह कहा कि ब्रह्मलोक उदयास्तरहित है । हे देवताओ ! मैं तुमको यह सत्य कहता हूं जो मैं मिथ्या कहता होऊं तो मेरेको ब्रह्मप्राप्ति मत हो यह मेरेको शपथ है । यह वृत्त सत्यहै

पूर्वोक्त ब्रह्मोपनिषद् जाननेवालेको उदयास्त नहीं होता किन्तु दिन रहता है। क्योंकि स्वयं प्रकाशवान् है॥ २। ३॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठायपुत्रायपिता ब्रह्म प्रोवाच॥ ४॥

अक्षरार्थ।

इस मधुविद्या को ब्रह्माने प्रजापति के लिये कहा और प्रजापतिने मनुके लिये मनुने प्रजाके लिये कहा और इसी मधुविद्याको अरुणि के पुत्रने अरुणि के लिये कहा और पिताने ज्येष्ठ पुत्र के लिये विज्ञान को कहा है॥ ४॥

भावार्थ।

पूर्वोक्तप्रकार से तिरश्चीनवंश मध्वयूपवंश और मधुनाडी वंशों के प्रतिरोहित शुक्ल कृष्ण इन अमृतों का वसु रुद्र और इनके साथ सम्बन्धको कहा। और उद्यमन संवेशन को भी कहा को जो जानताहै वह विद्वान् उदयास्तमयकाल से नहीं प्रमाण जावे नित्य अज ऐसे ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है। और इस मधु ज्ञान को हिरण्यगर्भ ने प्रजापति के लिये कहा। और उसने मनु से कहा। और मनुने भी इक्ष्वाकादि प्रजा के लिये कहा। और ते मधुज्ञान को अरुणीका पुत्र उद्दालकको कहा। और पिताने ब्रह्म को ज्येष्ठ पुत्रके लिये कहा॥ ४॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्मप्रब्रूयात् प्रणाय्यायवान्तेवासिने॥ ५॥

भावार्थ।

इस मधुज्ञान को पिता सर्वप्रिय ज्येष्ठ पुत्रको और ब्रह्मज्ञानको अथवा योग्य शिष्य को ब्रह्मज्ञान वा इस मधुविद्या को कहै॥ ५॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिःपरिगृहीतां नस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततोभूयइत्येतदेव ततो भूय ति ॥ ६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

भावार्थ ।

इस ब्रह्मज्ञान को पुत्र वा शिष्य के सिवाय दूसरेको नहीं देवे । जो नुष्य चतुःसमुद्रान्त इस पृथ्वी को भी ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये देवे भी उसको ब्रह्मविद्या नहीं देवे । इससे यह सिद्ध हुआ कि सुवर्ण-र्ण भूमिकी प्राप्ति के दानसे भी यह ब्रह्मविद्या दान अधिक है ॥ ६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वादशः खण्ड आरभ्यते ।

गायत्री वा इदꣳ सर्वंभूतं यदिदं किञ्चवाग्वैगायत्री ग्वा इदꣳ सर्वंभूतं गायति च त्रायते च ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्याय के द्वादश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

यह सब प्राणीमात्र और स्थावर जङ्गम सबही गायत्री है और गा-त्री ही वाणी है और यह सब प्राणी गायत्री हैं यह सब प्राणी शब्द रते हैं और इनकी गायत्री रक्षा करती है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

यह ब्रह्मविद्या अधिकफल को देनेवाली है इसलिये इस ब्रह्मविद्या न को प्रकारान्तरसे भी कहते हैं । यहभी ब्रह्म नहीं है यहभी ब्रह्म हीं है इत्यादि निषेध से नहीं प्रतीत होसके ऐसे ब्रह्म का गायत्रीद्वारा पदेश करते हैं । छन्दोंमें गायत्री प्रधानहै इसलिये ब्रह्मज्ञान का द्वार ने से गायत्री ही का उपादान करते हैं । यज्ञकरनेवाले मनुष्य गायत्री न्दवाली ऋचाओं से सोम को यज्ञ में लाते हैं इसलिये गायत्री ही ह्मप्राप्ति में मुख्य है । प्रातर्मध्यसायं इन तीनों यज्ञों में गायत्री

व्यापक है इसलिये यज्ञ में गायत्री प्रधान है। और ब्राह्मणों के गायत्री सार है। ब्राह्मण माता की तरह गायत्री का त्याग करिके और को प्राप्त होता है। क्योंकि गायत्री में गौरव का आधिक्य है। इसी गायत्री द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन होसकताहै। यह सब प्राणी स्थावर जङ्गम सब गायत्री ही हैं। यह वाणी ही गायत्री है। वाग्द्वारा यह गौ है यह अश्वहै इसप्रकार सब भूतों की रक्षा करती इसलिये गायत्री के गान और रक्षा करने से गायत्री में गायत्रीपनाहै॥

या वै सा गायत्रीयं वाऽवसा येयं पृथिव्यस्याꣳ हीदꣳसर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

भावार्थ।

जो यह सर्वभूतरूप गायत्री है वह इस पृथ्वीरूप है क्योंकि में सब प्राणी स्थितहैं। और इस पृथ्वी का उल्लङ्घन नहीं करतेहैं॥

या वै सा पृथिवीयं वाऽवसायदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाःप्रतिष्ठिताएतदेव नातिशीयन्ते॥

भावार्थ।

जैसे गान और त्राण सम्बन्ध से गायत्रीको भूतस्वरूप कहा फिर भूतों की स्थितिसे गायत्रीको पृथ्वीरूप कहा इसी प्रकार इस का शरीर भी गायत्रीही है क्योंकि यह शरीर पृथ्वी से उत्पन्न हुआ और इसमें भूतशब्द से कहेजावें ऐसे प्राण स्थितहैं इसलिये भूत वाच्य प्राण और पृथ्वी सम्बन्धसे यह शरीर भी गायत्री ही है॥

यद्वैतत्पुरुषे शरीरमिदं वाऽव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

भावार्थ।

भूतशब्दवाच्य प्राण सम्बन्ध से जैसे शरीरको गायत्री कहा इसी प्रकार इस पुरुष के अन्तर्हृदयपुण्डरीक में प्राण रहते हैं इसलिये प्राण सम्बन्ध से हृदय भी गायत्री है॥ ४॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधागायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्॥५॥

अक्षरार्थ।

चार पादवाली यह गायत्री छः प्रकार की है यह ऋचा से प्रकाशित है॥ ५॥

भावार्थ।

प्राणही माता और पिताहैं। इस गायत्री के छः अक्षरोंका एकपाद होता है और चार पादका यह गायत्री छन्द होताहै। छन्दरूपभी यह गायत्री छः प्रकारकी है। वे छः प्रकार यहहैं वाग्भूत पृथ्वी शरीर हृदय और प्राण। गायत्री मन्त्रसे प्रकाशित यह ब्रह्मगायत्री द्वारा प्रकाशित किया है॥ ५॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुषःपादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवीति॥ ६॥

भावार्थ।

इस गायत्रीनामक ब्रह्मकी उतनीही विभूति है कि जितने गायत्री छन्दके चार पाद और छः भेदहैं। अर्थात् छःप्रकार का ब्रह्ममें विकार है। इसलिये उस विकार और वाग्रूप गायत्र्याख्य ब्रह्मसे परमार्थ में सत्य रूप और विकाररहित पुरुष उत्तम है इस ब्रह्म के अर्थात् पुरुषके सब स्थावर जङ्गम और प्राणी ये पादहैं। और यह पुरुषही त्रिपाद अमृत है क्योंकि यह पुरुषरूप अमृत प्रकाशरूप सर्वकी आत्मामें स्थितहै॥६॥

तद्वैतद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योयं बहिर्द्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः॥ ७॥

अक्षरार्थ।

जो त्रिपाद अमृत को कहा और गायत्रीद्वारा ब्रह्मको कहा परस्पर भिन्न हैं वा एक हैं। यह दोनों एकही हैं इनमें भेद नहीं। यह पुरुष के बाहिर पञ्चभौतिक आकाश है। और जो वह पुरुष बाहिर को आकाश है ॥ ७ ॥

अयं वाव स योयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ।

और जो पुरुषके शरीर में आकाशहै वह अन्तःपुरुषाकाश है॥

अयं वाव स यो यमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्त्ति पूर्णमप्रवर्त्तिनीᳬं श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९

इति तृतीयाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

भावार्थ।

और जो पुरुष के हृदय के भीतर आकाश है वह हृदयाकाश (प्रश्न) आकाश तो सत्यरूप एक है फिर उस आकाश के भौतिकाकाश हृदयाकाश और पुरुषाकाश इसप्रकार तीन भेद कैसे कहे (उ॰) जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियद्वारा विषयों के देखने से बाहिर के आकाश में बहुत दुःख दीखता है। फिर स्वप्नावस्था में शरीराकाश में अल्प दुःख दीखता है। फिर हृदयाकाश में सब दुःखों की निवृत्ति होजाती है लिये उपाधि भेद से एक आकाश के तीन भेद कहे हैं। बृहदाकाश हृदयाकाश तक जो आकाश का संकोच किया है वह चित्तका एकाग्र होने के लिये कहा है। इस हृदयाकाश में ब्रह्म है। वह ब्रह्म सर्वव्यापी और पूर्ण है। और इस हृदयाकाश में चित्त एकाग्र ऐसा होता है उसकी कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होती। जो पुरुष इस हृदयाकाशमें स्थित ब्रह्मको जानता है। वह अविनश्वर और पूर्ण श्री को प्राप्तहोता है॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्ड आरभ्यते ।

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स यो स्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजो न्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादोभवति य एवं वेद ॥ १॥

अब तृतीयाध्याय के त्रयोदश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

इस हृदय के पांच द्वार हैं । उनमें जो पूर्वका द्वार है वह प्राण है ौर जो चक्षु है वह आदित्य है इसको तेजोऽन्नाद्य रूप से उपासना रे । जो पुरुष इस भाँति जानता है वह तेजस्वी और दीप्ताग्निवाला ोता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जैसे द्वारपालों की सेवा राजसमीप प्राप्ति के लिये है इसीप्रकार स हृदय की प्राप्ति के लिये पांच द्वारपालों की सेवा करना चाहिये । वर्गलोक भवनरूप उस हृदय के पूर्वाभिमुख जो छिद्रहै वह प्राणहै । ौर उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो छिद्रहै वह चक्षुरूप आदित्य । अर्थात् वह आदित्य चक्षुमें स्थितहै । इसप्रकार यह प्राणाख्य वायु वर्गका द्वार होने से ब्रह्महै । स्वर्गलोक को चाहनेवाला मनुष्य तेज ौर अन्नाद्यगुण से युक्त चक्षुरादित्यस्वरूप से सूर्य की उपासना करे । ाणादि द्वारपालों की उपासना से स्वर्गकी प्राप्ति होती है तेजस्वी तथा ीप्ताग्निवाला होता है ॥ १ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

भावार्थ ।

जो इस हृदय पुण्डरीक का दक्षिण द्वार है उसमें रहनेवाला जो वायु है वह अनेकप्रकार के वीर्ययुक्त कर्मों को करता हुआ प्राण

और अपान इन दोनों वा आयु को रोक कर स्कन्ध सन्धि मर्मस्थ
में अनेक प्रकार से चेष्टा करता है इसलिये इसका नाम व्यान है
वायु का सम्बन्ध श्रोत्रके साथहै इसलिये यह श्रोत्रहै और इसका
म्बन्ध चन्द्रमा के साथ श्रुति में कहा है श्रोत्रसे ज्ञान होताहै इस
ऐश्वर्यदृष्टि से श्रोत्रकी उपासना करे और चन्द्रमा से अन्न होताहै
ज्ञान अन्नवाले का यश होता है इसलिये यशोदृष्टि से चन्द्रमा की
पासना करे ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक्
ग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस
दोभवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

और जो इस हृदयपुण्डरीक का पश्चिम द्वार है उस में जो
है वह अपान है। यह मूत्र और विष्ठा को दूर करता हुआ नीचे
करता है इसलिये इसका नाम अपान है। और इस अपानका स
वाक् से है इसलिये यह अपान वाग्रूप है और वाक्का अधिष्ठाता अ
है इसलिये अग्नि भी अपानरूप है। इस अपान वायु की ब्रह्म
अन्नाद्य गुणोंसे उपासना करे। श्रेष्ठ आचरण और वेदाध्ययन से
हुए तेजको ब्रह्मवर्चस कहते हैं। और आचरण वेदाध्ययन अग्नि
होताहै इसलिये ब्रह्मवर्चस गुणवाले अग्निरूप से अपान की उपा
करे। और अपान वायु से अन्नका ग्रास होता है इसलिये यह अ
वायु अन्नाद्य गुणवालाहै। जो मनुष्य पूर्वोक्तप्रकार से अपान वा
जानता है वह तेजस्वी और दीप्ताग्निवाला होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्ज
स्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान् व्यु
मान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ।

और जो इस स्वर्गरूप हृदय पुण्डरीक का उत्तर द्वार है उस में रहनेवाला वायु भोजन किये हुए अन्न को और पानको एक समय में अपने २ स्थान में पहुंचाता है इसलिये उसका नाम समान है। उस समान वायुका सम्बन्ध अन्तःकरण के साथहै। इसलिये समान वायु अन्तःकरणरूप है। और जल पर्जन्य से होता है इसलिये वृष्टिरूप पर्जन्य भी समान वायु है। अन्तःकरण से जलको उत्पन्न किया है इसलिये यह कीर्तिरूपहै क्योंकि मनोज्ञान सेही कीर्ति होती है। और पर्जन्यकी वृष्टि होने से कान्ति होती है इसलिये मनको कीर्ति गुणसे और पर्जन्य को कान्ति गुण से उपासना करे। जो मनुष्य पूर्वोक्त गुणवाली समान वायु की उपासना करता है वह कीर्तिवाला और कान्तिवाला होता है॥ ४॥

अथ योऽस्योर्द्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत ओजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद॥ ५॥

भावार्थ।

जो इस हृदय पुण्डरीक का उपरिद्वारहै वह उदान वायुहै। पादतल से ऊपरतक उड़ने का कर्म करता है इस से इसका नाम उदान है। वह उदान और उस उदान वायुका आधाररूप आकाश इन दोनों की बल और तेजरूप से उपासना करे। जो मनुष्य पूर्वोक्तप्रकारसे उदान वायु को जानता है वह पराक्रमवाला और तेजवाला होताहै॥५॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदाऽस्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद॥६॥

भावार्थ।

जैसे राजा के द्वारपर द्वारपाल रहते हैं। इसीतरह इस हृदय रीक के प्राणादि पांच द्वारपाल हैं। इनहीं चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, प्राण पांच द्वारपालों का बाहिर के विषयों में प्रवृत्ति से ब्रह्मप्राप्ति स्थान हृदय पुण्डरीक रुका हुआ है। यह बात प्रत्यक्ष दीखती है जिस पुरुषकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं उसका मन ब्रह्म में स्थित होसकता क्योंकि ब्रह्म विषयों के व्यापार से मन प्रसन्न रहता है लिये ये पांचों चक्षुरादि ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके द्वारपालहैं। जो पूर्वोक्त गुणविशिष्ट स्वर्गलोक के द्वारपालों की सेवा करताहै वह सना से वश किये राजद्वारपालों की भाँति राजारूप हृदय पुण्ड ब्रह्म को प्राप्त होता है। और जो पुरुष पूर्वोक्त पांचों द्वारपालों की सना करता है। उस विद्वान् के कुल में वीर पुरुष उत्पन्न होताहै उस वीर पुत्रकी उत्पत्ति से ऋण दूर होता है इसी से ब्रह्मकी उपा प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार परंपरा से स्वर्गलोककी प्राप्ति होतीहै।

अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदंवाव तद्यदि स्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिस्तस्यैषादृष्टिः॥ ७॥

भावार्थ।

जो इस स्वर्गलोक से परे स्वप्रकाशरूप ज्योति है जिसका तरफ प्रकाश है अर्थात् संसारके ऊपर प्रकाशहै। वह ज्योति अ पुरुषों के एकरूप होनेसे उत्तमलोक में भी है। वह ज्योति यह जो इस पुरुष के मध्यमें चक्षु श्रोत्रद्वारा उष्णताकी प्रतीति होती जो स्पर्शसे प्रतीत होता है वह चक्षुसेही प्रतीत होता है। त्वक् चक्षुसे स्पर्श और रूपका दृढ़रूप से प्रतीति होती है॥ ७॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स छं स्पर्शेनोष्णिमानं विजा ति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव न

रिवाग्नेरिव ज्वलतउपशृणोति तदेतद्दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्यु पासीत चक्षुष्यः श्रुतोभवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

भावार्थ ।

पूर्व श्रुति में शरीरमें उष्णताकी प्रतीति त्वक्से होती है और चक्षुसे भी होती है यह कहा वहां चक्षुसे उष्णताकी प्रतीति कैसे होती है सो कहते हैं । जैसे किसी पुरुषका हस्त से स्पर्श करते हैं और उसका जो उष्णस्पर्श होता है वह देह में रहनेवाले चैतन्यरूप ब्रह्म प्रतीतिमें कारण है । क्योंकि लोक में भी प्रसिद्ध है कि जिसका स्पर्श उष्ण होता है उसे जीता हुआ समझते हैं और जिसका स्पर्श शीत होता है उसे मरण हुआ समझते हैं । क्योंकि मरणसमय में तेज परदेवता में चला जाता है इसलिये जैसे अग्निका कारण धूम असाधारण है इसीप्रकार ब्रह्म का असाधारण कारण औष्ण्य है । जो पुरुष इस ज्योतिके दर्शन की इच्छा करता है वह दोनों हाथों से कर्णों को आच्छादन करके रथ के शब्द की भाँति जलती हुई अग्नि के शब्द की भाँति शब्द को सुनता है वह ज्योति है इस ज्योति की उपासनासे दर्शनीय और प्रसिद्ध होता है ॥ ८ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्ड आरभ्यते ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

अब तृतीयाऽध्याय के चौदहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

यह सब ब्रह्म है । उस ब्रह्म से यह उत्पन्न होता है । उसी में यह

संसार लीन होता है। और उसी से इस संसार का जीवन होता है
लिये इस ब्रह्म की शान्तवृत्ति से उपासना करे। अध्यवसायरूप
है। जैसे इस लोक में क्रतु के योग्य फलका भागी पुरुष होता है।
प्रकार मरण के अनन्तर यज्ञफल के अनुरूप शरीर को धारण
है। इसलिये यह पुरुष क्रतु को करे ॥ १ ॥

भावार्थ।

अब उसी अमृतरूप ब्रह्मकी प्रतीकोपासना को त्यागकरके
ब्रह्मकी उपासना का प्रकार कहते हैं। यह सब प्रत्यक्ष दृश्य नाम
पात्मक जगत् ब्रह्म है। क्योंकि यह जगत् उस ब्रह्म से तेज अप्
इत्यादि क्रम से उत्पन्न होताहै। फिर जिस प्रकार यह संसार उस
से उत्पन्न हुआहै उसकी विपरीततासे उसमें लीन होताहै। और
ब्रह्म में जीवनकाल में चेष्टा करता है। इसलिये यह ब्रह्मही जगत्
यह जगत् ब्रह्म है इसी से ब्रह्म एक है और जगत् ब्रह्मसे भिन्न
है। यह सब जगत् ब्रह्मरूप है इसलिये राग द्वेषादि दोषरहित
और इन्द्रियों को जीतकर शान्तवृत्ति से अद्वैत ब्रह्मकी उपासना
अब उस ब्रह्मकी उपासनाका प्रकार कहते हैं। पहिले ऐसी निश्च
त्मक बुद्धिको करे कि यह जगत् ब्रह्महीहै इसमें कोई सन्देह नहीं।
ऐसा ऐक्य समझनेसे क्या प्रयोजन है। और ऐसा निश्चय कैसे करना
चाहिये। और ऐसा निश्चय इष्टार्थसाधक होताहै इसलिये इस चौदह
खण्डका आरम्भ है। अध्यवसायरूप जीव है। इस जीवका इस लो
में जैसा अध्यवसाय और जैसा निश्चय जीवन समयमें है। वैसा
इस देह से मरण के अनन्तर निश्चय के योग्य फलानुसार शरीर
पाताहै। ऐसा ही शास्त्र में लेख है। "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्य
कलेवरम्" जिस २ भाव को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर
त्याग करता है उसी भाव को वह मनुष्य जन्मान्तर में प्राप्त होता
है। इसलिये मनुष्य क्रतुको करे जैसा हम कहते हैं क्योंकि क्रतु
योग्य फल होता है ॥ १ ॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपःसत्यसङ्कल्प आकाशा

मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्या
त्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

यह ब्रह्म मनोरूप प्राणरूप कान्तिरूप है और इसके विचार सत्य हैं। और यह आकाशरूप है। और यह संसार ईश्वर ने रचा है। और इसके सब काम दोषरहित हैं। और इसकी सब वस्तुवें सुखकारक हैं। और इस में सब रस हैं। और यह ईश्वर सब जगद्रूप है। इस ईश्वर से सब जगत् व्याप्त है। और यह वाणी रहित है इसमें कोई संदेह नहीं है॥ २॥

भावार्थ।

यह पुरुष मनःप्राय है। क्योंकि मनोद्वारा पुरुषकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। पुरुष मनःप्राय होकर मन जिस समय विषयों में प्रवृत्त होता है उससमय पुरुष भी विषयों में प्रवृत्त होता है और मन जिस समय विषयों से निवृत्त होता है उस समय पुरुष भी विषयों से निवृत्त होता है। और वास्तवमें पुरुष न निवृत्त होता है न प्रवृत्त होताहै इसलिये पुरुष मनःप्राय है। यह पुरुष मनः प्राय है इसीलिये ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिवाला प्राण शरीर है। प्राण लिङ्गशरीर को कहते हैं। इसका प्रकाश स्वरूप है। इसके विचार सत्य हैं। इस ईश्वर का विचार संसारी मनुष्योंकी भाँति निष्फल नहीं है क्योंकि विचारमात्र मिथ्या से संयुक्त होते हैं। और यह ईश्वर आकाश की भाँति सर्वव्यापी सूक्ष्म और रूपादिरहित है। और इसीसे यह सब जगत् किया जाता है अथवा इस ईश्वर का जगत् ही कर्म है। और इसके काम दोषरहित हैं। इसके सब सुखकारकहैं। और इसके सब रस हैं। इस ईश्वर के समय रस और गन्ध पवित्रहैं। क्योंकि यह अज्ञान रहित है। उस ईश्वर में यह संसार व्याप्त है। और यह ईश्वर इन्द्रियरहित है और इन्द्रियों के विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। और यह ईश्वर

नित्यतृप्त है और इसके सब कार्यों की प्राप्ति होती है इसलिये
अनुपपत्तिका कोई सन्देह नहीं ॥ २ ॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा
पाद्वाश्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्त
येज्यायान्पृथिव्याज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवोज्याय
भ्योलोकेभ्यः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

यह पूर्वोक्त गुणवाला आत्मा मेरे हृदय कमल के भीतर
यवों से सरसों से श्यामाक से और तण्डुलोंसे भी सूक्ष्म है । इस
से ईश्वरको सूक्ष्म कहा तो ईश्वर में महत्त्व नहीं रहा इसलिये
में महत्त्व उत्तरार्द्ध से कहते हैं । यह आत्मा मेरे हृदय कमल में
अन्तरिक्ष, स्वर्ग और इन लोकोंकी अपेक्षा भी महान् है ॥ ३ ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम
त्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैत
प्रेत्याभिसम्भावितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकि
त्सीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

भावार्थ ।

ईश्वर अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है इसरूप
ईश्वरकी उपासना करें यह कहा तो क्या मनोमयादिरूप से उपा
नहीं करे इस शङ्काकी निवृत्ति के लिये फिर श्रुति कहती है कि
प्राय सब संसार जिसका कर्म है सब जिसके कामहैं सब जिसके
और रसहैं । यह संसार जिसमें व्याप्त है और अणु महान् गुणवा
वह आत्मा मेरे हृदय कमल में है । और यहही ब्रह्म है इस श
का त्याग करके मैं इस ब्रह्म में ही लीन होऊंगा । यहां आत्मश

जीवात्माका ग्रहण नहीं है किन्तु परमात्माकाही ग्रहण है । मैं क्रतु-रूप आत्माको जानताहूं ऐसा जिसको सत्य निश्चय है वह मरण के अनन्तर उसी भावको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्ड आरभ्यते ।

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्य्यति दिशो ह्यस्यस्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलछं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदछं श्रितम् ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्यायके पन्द्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

कोशकी भाँति अन्तरिक्षही इस कोशकी पोल है और भूमि मूल है इसवास्ते यह जीर्ण नहीं होता और दिशा इस कोश के कोण हैं । और द्यौ इस कोशका उत्तर बिल है ऐसा यह वसुधाननामक कोश है इसमें यह विश्व आश्रित है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

स्वर्गलोक के पांच द्वारपालों को जाननेवालों के वीर पुत्र होता है यह कहा परन्तु वीरपुरुष के जन्ममात्र से पिताकी नरक से निवृत्ति नहीं होती किन्तु पुत्रके बहुकालपर्यन्त जीवनसे निवृत्ति होती है इस लिये पुत्रका बहुत से कालपर्यन्त जीवनोपाय कोश विज्ञानको कहते हैं । खजानाकी तरह इस कोश के अन्तरिक्षही भीतरी पोल है और उसका भूमिही मूल है इसलिये वह जीर्ण नहीं होता । क्योंकि उसका त्रिलोकी ही स्वरूप है । अर्थात् वह कोश हजार युगपर्यन्त स्थिर रहताहै । इस कोश के दिशाही सब कोण हैं । और इस कोश के द्यौही उपरितन बिलहैं । ऐसा यह वसुधाननामक कोश है । इस में प्राणियों का कर्म फलरूप द्रव्य स्थापन कियाजाता है इसी से इसका नाम

वसुधान है इस वसुधाननामक कोश के भीतर सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मों का फल और यह जगत् स्थित है ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेव वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम् ॥ २ ॥

भावार्थ ।

इस कोशके पूर्वदिशा का नाम जुहू है । क्योंकि कर्म करनेवाले मनुष्य पूर्वाभिमुख होकर होम करते हैं । और प्राणी पापकर्मों के फल को यमपुरी में सहन करते हैं इसलिये इसके दक्षिण दिशा का नाम सहमाना है । राजा वरुण से युक्त होने से पश्चिम दिशा का नाम राज्ञी है । और ऐश्वर्यवाले कुबेरादिकों का निवासस्थान होने से उत्तर दिशा का नाम सुभूता है । उन दिशाओं से वायु उत्पन्नहोता है इसलिये दिशाओं का वायु ही वत्स है । पुत्र का दीर्घ कालपर्यन्त जीवनको चाहनेवाला जो पुरुष वायुको दिशाओं का वत्सरूप अमृतको जानता है उसको पुत्र के निमित्त रोदन नहीं होता । क्योंकि पूर्वोक्त गुणवाला कोश और दिशाओं का वत्सरूपी विज्ञानको मैं पुत्रकी दीर्घायुको चाहताहुआ मैं वायुको दिशाओं का वत्स जानताहूं इसलिये मेरे को पुत्रमरणनिमित्त रोदन मत होओ ॥ २ ॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुनास्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

मैं पुत्र की आयु बढ़ने के लिये अविनाशी पूर्वोक्त कोश को प्राप्त हुआ हूं । इस पुत्रद्वारा मैं प्राणको प्राप्त होता हूं । इस पुत्र से मैं भूर्लोक

को प्राप्त होता हूं । इस पुत्रसे मैं भुवर्लोकको प्राप्त होता हूं । इस पुत्र से मैं स्वर्लोकको प्राप्त होता हूं । इस पुत्रसे मैं सब वस्तुवों को प्राप्त होता हूं । इस पुत्र से इसका सब स्थानों में तीनबार उच्चारण करे ॥ ३ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

जो मैंने कहा कि मैं प्राणको प्राप्त हुआ हूं वह यह कहा है कि यह सब प्राणी और जगत् प्राणही है इसलिये प्राणको प्राप्त हुआहूं अर्थात् सब प्राणी और जगत्को प्राप्त हुआहूं ॥ ४ ॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

और जो कहा है कि भूर्लोकको प्राप्त होताहूं । उससे यह कहा कि पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकों को प्राप्त हुआहूं ॥ ५ ॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

और जो मैंने कहा कि भुवर्लोकको प्राप्त होताहूं उससे मैंने यह कहा कि अग्नि वायु और आदित्यको प्राप्त हुआहूं ॥ ६ ॥

अथ यदवोचꣳस्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

भावार्थ ।

और जो मैंने कहा कि स्वर्लोकको प्राप्त हुआहूं उससे मैंने यह कि ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेदको प्राप्त हुआहूं ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य षोडशः खण्ड आरभ्यते ।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षा तत्प्रातः सवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रा सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणावाव वसवए दꣳ सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्यायके सोलहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

पुरुषही यज्ञ है उसके जो २४ चौबीस वर्षकी आयु है वह प्र सवन है । क्योंकि चौबीस अक्षरोंका गायत्री छन्द है और गायत्रना प्रातःसवन है । इस पुरुष यज्ञके वसुदेवता अधीन हैं और प्राणही हैं । ये प्राणही इस सब पुरुष यज्ञको वासित करते हैं । अथवा पु यज्ञमें निवास करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

पुत्रकी आयुवृद्धि के लिये उपासना और जपको कहा । अब पने दीर्घजीवनके लिये उपासना और जपको कहताहूं । मनुष्य जी काल मेंही पुत्रादि फलसे युक्त होता है अन्यथा नहीं होता। इसलि अपने को यज्ञरूप समझे । पुरुषरूप यज्ञ है। उस पुरुष की जो चौबी वर्षकी आयु है वह प्रातःसवन है । प्रातःकालमें जो विधिपूर्वक कर्म करते हैं वह प्रातःसवन हैं । उसमें स्तोत्र गायत्री छन्दसेही होता इसलिये प्रातःसवन का नाम गायत्रहै । इसीसे पुरुषको यज्ञरूप कह में चौबीसही सादृश्यहैं । इसीप्रकार उत्तर आयु को भी सवनद्वय

कहने में त्रिष्टुप् और जगती छन्दोंकी अक्षर संख्या ही साधारण धर्म है। इस पुरुषयज्ञ के प्रातःसवन के स्वामी वसुदेवता हैं। विधियज्ञ की तरह पुरुषयज्ञ के भी अग्न्यादि वसुदेवता नहीं हैं। किन्तु प्राण वागादि वायु ये ही इस पुरुषयज्ञ के वसुदेवता हैं क्योंकि ये प्राणादिही इस पुरुषादि प्राणिवर्गको स्थिर रखते हैं। क्योंकि जबतक शरीर में प्राण है तबतक ही ये सब निवास करते हैं अन्यथा नहीं इसी वास से इनका नाम वसुदेवता है॥ १॥

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणावसव इदं मे प्रातः सवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्य गदो ह भवति॥ २॥

भावार्थ।

उस यज्ञसंपादित पुरुष को इस प्रातःसवनरूप अवस्था में कुछ रोगादिक मरण शङ्का कारण दुःखका उत्पादन करे तो वह यज्ञ करने वाला पुरुष अपने को यज्ञरूप मानताहुआ इस मन्त्र का जप करे। हे प्राणरूप, वसुदेवताओ! यह मेरा प्रातःसवन यज्ञ है इसको माध्यन्दिन सवन की आयु के साथ निरन्तर एक करो। और प्रातःसवन के स्वामी प्राणरूप वसुदेवताओ तुम्हारे मध्य में यह मेरा यज्ञ नष्ट मत होवे। वह पुरुष 'प्राणावसव' इस मन्त्र के जपसे वा ध्यान से उस दुःखसे रहित होकर सुखी होता है॥ २॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणावाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वं रोदयन्ति॥ ३॥

भावार्थ।

और जो चौबीस वर्ष से चवालीस वर्षतक की आयु है वह माध्यन्दिनसवन है। क्योंकि मध्याह्न के कर्मों में त्रिष्टुप् छन्दवाले मन्त्रों से ही स्तुति होती है और त्रिष्टुपछन्द चवालीस अक्षरों का है इसलिये चवालीस वर्षतक का पुरुष यज्ञ माध्यन्दिन सवनरूप है। इस माध्यन्दिनसवन के रुद्रदेवता स्वामी हैं। और यहां रुद्रही प्राण हैं। क्योंकि ये रुद्ररूप प्राणही इन सब भूतों को वा जगत् को क्रूर होने से रुलाते हैं ॥ ३ ॥

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिन छं सवनं तृतीयसवमनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानाछंरुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्य गदो ह भवति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ।

इस पुरुष को जो इस चवालीस वर्ष की अवस्था में दुःख हो तो वह पुरुष उससमय प्राणारुद्रा इस मन्त्र का जप करे। हे प्राणरूप रुद्रदेवताओ ! इस मेरे माध्यन्दिन सवनको तृतीयसवन के साथ युक्त करो और प्राणभूत रुद्रों के मध्य में मेरे यज्ञ का लोप मत होवे इस मन्त्र के जपसे वह उससमय दुःखरहित होता है ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टा चत्वारिछंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिछंशदक्षरा हि जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणावावादित्या एते हीदछं सर्वमाददते ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ।

और जो अड़तालीस वर्ष की आयु है वह तृतीय सवन है क्योंकि अड़तालीस अक्षरों का जगती छन्द है और तृतीयसवन

गतीछन्द से ही स्तुति की जाती है इसी से तृतीय सवन का नाम
गत है । इसके स्वामी आदित्य हैं । और वे आदित्य प्राणरूप हैं ।
र ये आदित्य ही इस सब संसार को ग्रहण करते हैं ॥ ५ ॥

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आ
दित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्रा
णानामादित्यानां मध्येयज्ञोविलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्य
गदो हैव भवति ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

इस पुरुष को जो कोई इस अवस्था में दुःख होय तो वह 'प्राणा
आदित्या' इस मन्त्र का जप करे । हे प्राणभूत, आदित्य देवताओ ! इस
मेरी तृतीय सवनकी आयु को ११६ एक सौ सोलह वर्षपर्यन्त की
पूर्णायुरूप यज्ञको समाप्त करो । प्राणभूत आदित्यों में मैं लोपको नहीं
प्राप्त होऊँ । इस मन्त्र के जप से वह मनुष्य ११६ वर्षतक निरुपद्रव
रहता है । इन सब मन्त्रों का भावार्थ पन्द्रहवें खण्डके मन्त्रोंके सदृश
जानो ॥ ६ ॥

एतद्धस्मवै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म
एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं
वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य उत्तम रीति से विद्याको जानता है उस पुरुषको उस
विद्या का फल अवश्य होता है । इसमें महिदासका उदाहरण देते हैं ।
इस यज्ञ के दर्शनको इतराका पुत्र महिदास ने कहा । हे रोग ! तू मेरे
को क्यों दुःख देता है क्योंकि मैं यज्ञरूप हूं तेरे दुःख से मैं नहीं म-
रणको पाऊंगा इसलिये मेरेको दुःख देने में तेरा वृथा श्रम है । ऐसे

निश्चयसे वह महिदास सोलह सौ वर्षपर्यन्त प्राण धारण करता है जो सामान्य मनुष्यभी पूर्वोक्त यज्ञ संपादन को जानता है वह निश्चयवाला सामान्य पुरुष भी सोलह सौ वर्षपर्यन्त प्राण धारण सकता है ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य सप्तदशः खण्ड आरभ्यते।

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता दीक्षा ॥ १ ॥

अब तृतीयाध्यायके सत्रहवें खण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

वह पुरुषरूप यज्ञ जो भोजन करने की इच्छा करता है। पान करनेकी इच्छा करता है। और जो अपने अभिलषित नहीं प्राप्ति से जिस दुःखका अनुभव करता है वहही इस पुरु का व्रत हैं इस व्रत सादृश्य से पुरुष यज्ञरूप है ॥ १ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति

अक्षरार्थ।

और जो वह यज्ञपुरुष भोजन करता है, पान करता है औ वस्तु की प्राप्ति से रतिका अनुभव करता है। वह उपसदों के को प्राप्त होता है। उपसदों के दुग्धपानरूप व्रत से सुख होता है जो दिन भोजन के प्रसिद्ध हैं वे आसन्न हैं उनमें उपसदों का भोजनादिकों का स्वास्थ्य रहता है। इसलिये भोजन और उपस सादृश्य है। इससे भी पुरुष को यज्ञत्व प्राप्ति है ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति शस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

और वह यज्ञपुरुष जो हँसता है और जो भोजन करता है और जो मैथुन धर्मका आचरण करता है वह क्लेशनिवृत्तिपूर्वक सुखोत्पत्ति से स्तुत शस्त्रोंके समान है। इस से भी पुरुष को यज्ञत्व प्राप्त होता है॥३॥

अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

और जो तप, दान, सरलता, अहिंसा (प्राणिवध न करना) सत्य बोलना ये धर्मपोषक हैं इसलिये इस पुरुष यज्ञकी ये दक्षिणा हैं ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेतिपुनरुत्पादनमेवास्यतन्मरणमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

अब शब्द सामान्य से पुरुष में यज्ञदृष्टिको कहते हैं। यज्ञही पुरुष है इसलिये उसका उत्पादन करनेवाली माता अवश्य है तो उसमाता को जब गर्भ रहताहै। उससमय 'सोष्यति' गर्भिणी है ऐसा कहते हैं और जब पुत्रको उत्पन्न करती है उस समय 'असोष्ट' पुत्रको उत्पन्न किया ऐसा कहते हैं और सवन शब्द जो यज्ञवाची है उसका भी प्रयोग 'षूङ्' धातु से है और 'असोष्ट' 'सोष्यति' यह भी 'षूङ्' धातु काहै इसलिये 'षूङ्' धातु के सादृश्य से भी पुरुष यज्ञ ही है। और उस पुरुष का मरण जो है वह ही यज्ञसमाप्ति में यज्ञान्तस्नान है ॥ ५ ॥

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयंप्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

इस यज्ञ दर्शन को घोरनामक आङ्गिरसगोत्रवाला ऋषि अ शिष्य देवकी का पुत्र कृष्णके लिये कहा । और वह कृष्ण इस य शैन को सुनकर और विद्याओं में पिपासारहित हुआ । इस से सिद्ध हुआ कि यह विद्या सर्वोत्तम है जो कि देवकीपुत्र कृष्ण की और विद्याओं से तृष्णा को दूर करता है । इसप्रकार वह घोर कृष्ण इस विद्या को कहकर कहा कि पूर्वोक्त यज्ञवेत्ता मनुष्य मरणसमय इन तीन मन्त्रों का जप करे । मन्त्र 'अक्षतमसि' तुम अक्षीण हो 'प्रच्युतमसि' स्वरूप से नहीं बिगड़े हो 'प्राणसंशितमसि' प्राणों सूक्ष्म तत्त्व हो । इस विद्याकी स्तुति में दो ऋचायें होती हैं ॥६॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसः १ उद्वयन्तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तममितिज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

भावार्थ ।

'आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरं परो यदिध्यते दि' यह मन्त्रहै इस मन्त्रका अब व्याख्यान करते हैं । ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मचर्य अनन्तर शुद्धान्तःकरण होकर इस संसार का बीजभूत प्राचीन देदीप्यमान परब्रह्ममें स्थित सर्वत्र व्याप्त ऐसे ब्रह्मसम्बन्धि प्रकाश अन्तर्दृष्टि से देखते हैं । जिस प्रकाशसे सूर्य चन्द्रमा विद्युत् ग्रह तारागण प्रकाशित होरहे हैं । इस ज्योतिको हम अज्ञान और आदि द्वारा अन्धकारको दूरकरनेवाली जानते हैं और वह ही ज्योति ह हृदय में स्थित है । और जो इनसे भी उत्कृष्ट ज्योतिहै उसे भी हम प्रकाशमान और सब संसारके प्राणधारण में समर्थ सूर्य में स्थित ज्यो ही को जानते हैं । और इसी का तीन मन्त्रों से और दो ऋचाओं स्तुति किया है ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्याष्टादशः खण्ड आरभ्यते।

मनोब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशोब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च॥ १॥

अब तृतीयाध्यायके अट्ठारहवें खण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

ब्रह्म के यत्किञ्चिद्गुणों को लेकर ईश्वरको मनोमय और आकाश रूप कहा। अब ईश्वरको मन और आकाशरूप कहते हैं। मन अर्थात् अन्तःकरण ही परब्रह्म है इसी को अध्यात्मदर्शन कहते हैं। आकाश ही ब्रह्म है यह देवता विषयक दर्शन है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदेवरूप मन और आकाश की ब्रह्मरूपसे उपासना करनीचाहिये मन सूक्ष्म है और मनसे ही ब्रह्म की प्रतीति होती है इसलिये मन ही ब्रह्म है। और आकाश सर्वव्यापी सूक्ष्म और उपाधिरहित है इसलिये ब्रह्म है॥ १॥

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्मवाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रंपाद इत्यध्यात्मथाधिदैवतमग्निः पादोवायुः पाद आदित्यः पादोदिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टंभवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च॥ २॥

भावार्थ।

इस मनोरूप ब्रह्मके चार पाद हैं वाक् प्राण चक्षु और श्रोत्र ये अध्यात्म ब्रह्मके चारपाद हैं। और आधिदैवत आकाशरूप ब्रह्म के भी अग्नि वायु आदित्य और दिशा ये चार पाद हैं। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदेव ब्रह्मके चार पाद कहे उनमें मनोरूप ब्रह्म के वाणी ही चतुर्थपाद है क्योंकि जैसे गौ अपने स्थानको पादसे ही प्राप्त होती है इसप्रकार देवदत्त भी अपने कथनीय विषयको वाणी से ही कहसकता है इसलिये मनके वाक्ही पाद हैं। इसी प्रकार घ्राणरूप प्राण भी

पादही हैं। क्योंकि घ्राणरूप प्राण से गन्धरूप विषय को मनुष्य होता है। इसी प्रकार चक्षु और श्रोत्र भी मन के पाद हैं। इसी आकाशरूप आधिदैवत ब्रह्म के भी जैसे गौ के पाद उदर में दीखते हैं इसी प्रकार आकाश के उदर में लगे हुए अग्न्यादि दी इसीलिये अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा ये पाद हैं ॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्यो भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या य ब्रह्मवर्चसे न य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ।

उनमें वाक्ही मनोरूप अध्यात्म ब्रह्मका उत्तम पाद है व आधिदैविक अग्निरूप प्रकाश से देदीप्यमान होता है और संता उष्णता को करता है। अथवा अग्नि की तैल घृतादि अशन से हुई वाणी कहने को उत्साहयुक्त होती है उससे उपासक प्रता शस्वी और ब्रह्मवर्चसवाला होता है ॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्यो भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या य ब्रह्मवर्चसे न य एवं वेद ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्य षा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या य ब्रह्मवर्चसे न य एवं वेद ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्यो भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या य ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

भावार्थ ।

प्राणही ब्रह्म का चतुर्थपाद है वह वायु से गन्धरूप होकर प्रकाश
ाला और प्रतापी होता है ॥ चक्षुही ब्रह्म का चौथा पाद है वह आ-
ित्यरूप ज्योति से रूपग्रहण के लिये देदीप्यमान होता है ॥ श्रोत्रही
ह्म का चतुर्थ पाद है वह दिशारूप ज्योति से शब्द ग्रहण के लिये
दीप्यमान होता है ॥ जो मनुष्य पूर्वोक्तरूप से पादों को जानता है
ह प्रतापवाला यशस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी होता है । और उसको ब्रह्म
ान होता है ॥ ४ । ५ । ६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्यैकोनविंशः खण्ड आरभ्यते ।

**आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेद
ग्रआसीत् ? तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्त्तत
त्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डक
ले रजतञ्च सुवर्णञ्चाभवताम् ॥ १ ॥**

अब तृतीयाध्यायके उन्नीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

आदित्य ब्रह्म है यह कहा उसका व्याख्यान करते हैं । यह पहिले
हीं था ? जो नहीं था वह पूर्व सत्य था उससे अण्ड हुआ और वह
मयरूपको प्राप्त हुआ फिर वह अण्ड विकसित हुआ वे आण्ड और
पाल रजत और सुवर्णरूप हुए ॥ १ ॥

भावार्थ ।

आदित्य ब्रह्मका पाद है यह कहा उसमें सकल ब्रह्मदृष्टिको कहते
। आदित्य ब्रह्म है ऐसा उपदेश किया अब उसका विस्तारसे व्याख्यान
ते हैं । नाम और रूपसे रहित यह संसार उत्पत्ति के पहिले नहीं था ।

अब यहां शङ्का करते हैं कि जो यह संसार उत्पत्ति के पूर्व नहीं था फिर यह उत्पन्न हुआ तो अविद्यमान वस्तु जो है ही नहीं वह फिर उत्पन्न होसकती है जैसे शशके शृङ्ग हैं ही नहीं तो वे उत्पन्न भी होते। ऐसा नहीं किन्तु जगत् के नहीं होने में हमारा अभिप्राय शृङ्ग की भाँति नहीं है किन्तु यह जगत् उत्पत्तिके पूर्व नामरूप नहीं था किन्तु उत्पत्ति के अनन्तर यह संसार नाम रूपवाला है इस प्रकार हम अविद्यमानकी उत्पत्ति को सत् कहते हैं तो यह हुआ कि नाम और रूपके कथन में है ? इस सत्यबोधक पदका है। वह नाम और रूप आदित्यके अधीन है क्योंकि आदित्य होता तो संसार में अन्धकार होने से नाम और रूपकी प्रतीति होती इसलिये वह संसार का नाम और रूप आदित्य के अधीन इसलिये आदित्यद्वारा लोक में सत्यता का व्यवहार है। जैसे सम्पन्न पूर्णवर्म राजा के अभाव में यह राजाका कुल भी अभाव है। ऐसी प्रतीति होती है इसप्रकार उत्पत्ति के पूर्व यह संसार है सूर्यद्वारा नामरूप प्रतीति के अनन्तरही संसारकी सत्यरूप से होती है पूर्व नहीं होती। असद्रूप वह जगत् उत्पत्ति के पूर्व भी जैसे बीजमें वृक्ष है परन्तु उस बीज में उसका नाम और रूप दीखता इसलिये बीज में वृक्ष नहीं है ऐसी प्रतीति होती है फिर जब संस्कार द्वारा अंकुर उत्पन्न होता है तब यह प्रतीति होती है वृक्ष का अंकुर है फिर क्रमसे वृद्धिहोने से नामरूप प्रतीति के अ यह अमुक वृक्ष है ऐसी प्रतीति सद्रूप होती है इसी प्रकार पहिले श्चल और क्रिया शून्य यह संसार नहीं है ऐसा प्रतीत होता है फि कार्योत्पादनमें कुछ भी प्रवृत्त होताहै तब सत् जैसा प्रतीत होता है जब उस में क्रिया होती है तब यह वस्तु हुई ऐसी प्रतीति है फिर क्रमसे बढ़ता हुआ तब जल से अण्ड उत्पन्न हुआ और वह प्रसिद्धकाल का परिमाणरूप होकर स्थितहुआ फिर वह अण्ड के अण्डे की भाँति संवत्सर परिमाणरूप काल के पश्चात् भिन्न भिन्न हुआ उस अण्ड के रजत और सुवर्ण ये दो कपाल हुए।

तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳसा द्यौर्यज्जरायु पर्वता यदुल्बꣳ स मेघो नीहारो या धमनयस्तानद्यो द्वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उन दोनों कपालों में जो रजत कपाल है वह पृथ्वी है अर्थात् वी रूपसे दीखताहुआ नीचे का अण्ड कपाल है। और जो दूसरा र्णमय कपाल है वह द्यौ है अर्थात् द्युलोकरूप से दीखताहुआ ऊर्ध्व पाल है। और जो ऊपर के अण्डका छिलका है वह दूर होकर पर्वत ए। और जो सूक्ष्मगर्भ से लगाहुआ छिलका है वह मेघों के साथ हुआ। और जो उत्पन्नहुए गर्भ के प्राणी की नाडियां हैं वे नदियां । और जो उस अण्डगत प्राणीकी मज्जामें जल है वह समुद्रहै॥ २॥

अथ यत्तदजायतसोऽसावादित्यस्तं जायमानंघोषा लूलवोऽनुदतिष्ठत्सर्वाणिच भूतानिसर्वेचकामास्तस्मा स्योदयं प्रतिप्रत्यायनंप्रतिघोषा उलूलवोऽनुतिष्ठन्ति र्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो उस अण्ड में उत्पन्नहुआ वह आदित्यहै। उस आदित्य के पन्नहोते समय कई प्रकारके उत्सव के शब्दहुए। ईश्वरके आदित्य- प्रथम पुत्र के जन्म में समग्र स्थावर और जङ्गम प्राणी और उन णियों के संपूर्ण काम और स्त्री वस्त्र अन्नादि विषय जिस २ समय र्य का उदय वा अस्त होताहै उस समय उत्पन्न होते हैं। क्योंकि सूर्य जन्मप्रयुक्त उत्सवों से कामादिकों की उत्पत्ति होती है इसलिये उस र्य के उदयास्त के समय सब प्राणी और समग्र प्राणियों के काम र जन्मप्रयुक्त उत्सव शब्द होते हैं जैसे साधारण मनुष्यों के प्रथम जन्म में गीतादि शब्द और बाजों का शब्द होता है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनछंसाधवोघोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयः प्रपाठकः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् पूर्वोक्तरूप से सूर्य की महिमा को जानकर ब्रह्मरूप से उपासना करता है वह सूर्य सायुज्यको प्राप्त होता जिन शब्दों से किसीप्रकार का पातक नहीं होता ऐसे शब्द हैं और उस मनुष्य को सुखी करते हैं ॥ ४ ॥

इति तृतीयाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

इति छान्दोग्योपनिषद्भाषाभाष्ये तृतीयः प्रपाठकः ॥ ३ ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदश्चतुर्थप्रपाठकेचतुर्थाध्यायस्य प्रथमः खण्ड आरभ्यते ।

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

अब छान्दोग्योपनिषद् के चौथे प्रपाठक में चौथे अध्याय के खण्डका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जनश्रुत के पुत्र का पौत्र जानश्रुति श्रद्धापूर्वक बहुत देने और बहुतसा भोजन करानेवाला था और उसने बहुतसी धर्मशाला और भोजनशालायें बनाई ॥ १ ॥

भावार्थ ।

पूर्वाध्याय में वायु और प्राणकी पाददृष्टि से उपासना को कहा । अब उस वायु और प्राणकी ब्रह्मरूप से उपासना का प्रकार कहते हैं । इस प्रकार को सुखपूर्वक बोध के लिये इतिहास से कहते हैं । और विद्यादान का ग्रहण और दान का प्रकार भी इस इतिहास से कहते हैं। जहां धर्म और अर्थ न होवे और धर्मार्थपूर्वक श्रवणेच्छा भी नहीं होवे । वहां विद्या को नहीं कहना चाहिये जैसे ऊसर भूमी में बीज को नहीं देते हैं । "धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे" इस स्मृति को प्रमाण करके रैक्वऋषि राजा से बहुतसा द्रव्य लेकर राजा को विद्यादान दिया । और जानश्रुति राजा भी शास्त्रमर्यादा को जानकर बहुत से द्रव्य का दान से श्रद्धा-युक्त होकर उस ऋषि से विद्या का ग्रहण किया । छः सौ गायों को देकर विद्या को ग्रहण किया । और द्रव्यदान में अशक्त होवे तो वह श्रद्धा प्रणामादिकों से भी विद्या को ग्रहण करसकता है । जनश्रुत के पुत्र का पौत्र जानश्रुति श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों को देनेवाला और बहुत देनेवाला और प्रतिदिन अतिथियों के लिये बहुतसा भोज्य जिसके गृह में होवे ऐसा जानश्रुति किसी उत्तम देश में किसीसमय में था उसने सब देश ग्राम तथा नगरादिकों में बहुतसी धर्मशालायें और बहुतसी भोजनशालायें सदाबर्त आदि निर्माण किये ॥ १ ॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद होहोयि भल्लाक्षभल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा स्प्राक्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

इसके अनन्तर रात्रि में हंस आये और एक हंस को दूसरे हंसने

कहा। जानश्रुति की ज्योति द्युलोक में व्याप्त होरही है उससे
स्पर्श करना वह तेरा दाह मत करे ॥ २ ॥

भावार्थ।

इसप्रकार वह राजा राज्यशिक्षा करता था उसीसमय ग्रीष्म
महल के नीचे राजा बैठाथा उसी समय रात्रीमें हंस आये अर्थात्
राजाके अन्नदान से प्रसन्न हुए ऋषि और देवता हंसरूप होकर
दर्शन में आये। उसीसमय उन हंसों में से एक हंसने कहा रे
देख यह कैसी आश्चर्यकारक वृत्त है जो इस जानश्रुतिका अन्न
उत्पन्न हुआ देदीप्यमान प्रकाश द्युलोकके साथ व्याप्त होरहा है
कारण तुम इसके साथ स्पर्श मत करना। और उस स्पर्शसे वह
तेरा दाह मत करो ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्त सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथ सयुग्वा रैक्व इति ॥ ३ ॥

भावार्थ।

उस हंस को दूसरा हंस कहता है कि अरे! यह राजा तो
कर्म करनेवाला है इसके लिये तुम कैसे ज्ञानी राजा रैक्की
प्रशंसा करते हो। रैक के सदृश इस राजा की प्रशंसा योग्य नहीं

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

भावार्थ।

अब सयुग्वा को रैक सदृश कहने में दृष्टान्त कहते हैं। जैसे
खेलने में चार मनुष्योंके द्रव्यका पण होता है फिर उनमें जि
जय होता है उसका वह संपूर्ण द्रव्य होता है इसी तरह यह

कृताय जीतनेवाला युग्वादि राजाओं के धर्म का अन्तर्भाव होता है। जो सब प्रजा धर्म करती हैं उसका रैक के धर्म में अन्तर्भाव होता है और उस रैकके फल में सब प्राणियों के धर्मफल का भी अन्तर्भाव होता है। इसलिये यह राजा रैकके सदृश है ॥ ४ ॥

यदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाचाऽङ्गारे ह स युग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथ छं स युग्वा रैक्क इति ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

महल के नीचे बैठाहुआ जानश्रुति राजा ऐसे अपनी निन्दारूप हंसके वाक्यों को सुने और रैकके प्रशंसाके वाक्य सुने। और उस हंस वाक्यका पुनःपुनः स्मरण करता हुआ ही रात्रिको व्यतीत करता भया। फिर स्तुतियुक्त वाणी से प्रतिबोधित कराया वह राजा स्तुति करनेवाले वन्दी से कहा । निद्रा को त्याग करके । सयुग्वा रैक की तरह मेरे को क्यों कहते हो क्या वह ही स्तुति के योग्य है और मैं नहीं हूं। अथवा तुम जाकर सयुग्वा से कहो कि आप के जानश्रुति पौत्रायण की दर्शन में अभिलाषा है। ऐसे राजा के वाक्य सुनकर वन्दी ने कहा कि महाराज! उस रैक का चिह्न क्या है कि जिससे मैं उसको पहिचान करलाऊँ ॥ ५ ॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनछं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

उसकी पहिचान के लिये राजा भल्लाक्ष के वचन को कहता है। जैसे कृतयुग के धर्मों में त्रेता द्वापर और कलिके धर्म मिलते हैं इसी प्रकार प्रजाके किये हुये धर्म वा अधर्मों का फल जिसमें मिले उसको

सयुग्वा रैक जानो। और उस राजा के ज्ञान के सदृश ज्ञान
होवे वह भी उस के सदृश है। यह उसकी पहिचान है ॥ ६ ॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्यनाविदमिति प्रत्येयाय त
वाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥

भावार्थ।

वे वन्दीजन नगर और ग्रामों में रैक का अन्वेषण करते
रैक को नहीं पहिचाना तो पीछे राजा से आकर कहा कि महाराज
तो रैक को नहीं पहिचान सके तब राजा ने कहा कि जिस
नदी तट वा एकान्त स्थान में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण रहते हैं वहां
तुम इसका अन्वेषण करो ॥ ७ ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोप
तछं हाभ्युवाद त्वं नु भगवः स युग्वा रैक इत
हारा ३ इति ह प्रतियज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति
याय ॥ ८ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

भावार्थ।

वे वन्दीजन अन्वेषण करके एकान्तदेश में एक शकटके नीचे
लाते हुए को देखकर विचार किया कि यह ही रैक है। ऐसा ज
उसके समीप में बैठगये। और उससे पूछा कि आपही सयुग्वा
तब उसने स्वीकार किया। वे वन्दीजन उसको सयुग्वा रैक ज
पीछे राजा के पास आये ॥ ८ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः खण्ड आरभ्यते।

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां

ष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तछं हाभ्युवाद॥१॥

अब चौथे अध्यायके दूसरे खण्डका आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

वह जानश्रुति पौत्रायण ऋषिका गार्हस्थ के लिये धनकी चाहना को देखकर छःसौ गायें व कण्ठका हार और अश्वसहित रथको लेकर रैक के समीप गया। और उससे कहा ॥ १ ॥

रैक्केमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवता छं शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

भावार्थ।

भो रैक ! तेरेलिये मैं ये छःसौ गायें और कण्ठहार और अश्व समेत रथ लायाहूं इनको तू ग्रहण कर। और जिस देवता की तुम उपासना करतेहो उस देवताकी उपासना का मेरे को उपदेश करो ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादायप्रतिचक्रमे॥३॥

भावार्थ।

ऐसे जानश्रुति के वाक्य सुनकर रैक कहता है। रे शूद्र ! इन सब गाय, हार और रथको तूही रख मेरेको इनसे कोई प्रयोजन नहीं है। यह जानश्रुति क्षत्रिय था क्योंकि राजा है फिर ऐसे ज्ञानी त्रिकालज्ञ रैकने इसको शूद्र कैसे कहा। हंसके वाक्यों को यह राजा सुनकर शोकग्रस्त होगया था इसी से ऋषि इस को अपना माहात्म्य कहने के लिये शूद्र कहा और जातिसे शूद्र नहीं कहा। अथवा शूद्र की भाँति यह विद्या ग्रहण करने के लिये रैक के पास गया और शुश्रूषा से नहीं

आया अथवा अल्पद्रव्य से विद्याग्रहण करने को आया इस
ऋषिने इसको शूद्र कहा और यह जाति से शूद्र नहीं था। आ
शूद्रको विद्या ग्रहण करने का अधिकारही नहीं। यह ऋषि अ
के लाने से क्रोध होकर मेरेको शूद्र कहा ऐसा ऋषि के अभि
जानकर फिर वह जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गायें और
जाया होने योग्य अपनी लड़की को लेकर ऋषि के समीप गया॥

तछं हाभ्युवाद रैक्केदछं सहस्रं गवामयं निष्के मश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वे भगवः शाधीति ॥ ४ ॥

भावार्थ।

और ऋषिसे कहा हे रैक! ये सहस्र गायें और ये कण्ठहा यह अश्वयुक्त रथ और स्त्री होने को यह मेरी लड़की इन को मैं हूं और जिस ग्राममें आप रहतेहो वह ग्राम इन सब को ग्रहण आप जिस देवताकी उपासना करतेहो उसका मेरेको उपदेश करो।

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचा जहारेमाःशूद्र नैव मुखेनालपयिष्यथा इति ते हैते रैक्कपर्णा नाम वृषेषु यत्रास्मा उवास स तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

भावार्थ।

ब्रह्मचारी धन देनेवाला बुद्धिमान् श्रोत्रिय प्रिय और विद्या विद्या को देनेवाला ये छः विद्या के तीर्थ हैं। इस वाक्य को जा वह ऋषि उस राजा की लड़की का मुख को विद्यादान में तीर्थ जा हुआ उसको ग्रहण किया और गवादिकों को भी अङ्गीकार कि और कहा रे शूद्र! विद्याग्रहण में तीर्थरूप इस मुखसे मैं विद्याका उपदेशकरूंगा। जिन ग्रामों में वह रैक रहता था वे

महावृष देश में रैकपर्ण के नाम से विख्यात हैं । उनहीं ग्रामों को ये राजा उस रैकपर्ण को दिया और धन दिया तब फिर वह रैक उस जानश्रुति राजाको विद्यादान दिया ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्ड आरभ्यते ।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वापति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

अब चतुर्थाध्याय के तृतीय खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

वायुही संवर्ग है । जब अग्नि शान्त होती है तो वायु में ही मिलती है । और जब सूर्य अस्त होताहै तब वह भी वायुमें ही मिलताहै । और जब चन्द्र अस्त होता है । तब वह भी वायुमें ही मिलता है॥१॥

भावार्थ ।

अब अधिदेवतारूप से विद्यादान प्रकारको कहते हैं । बाह्य वायु संवर्ग है । क्योंकि अग्न्यादि तेजः पदार्थ इस प्रत्यक्ष दृश्य वायु में मिलकर वायुरूप होते हैं इसलिये वायुही संवर्गरूप है संवर्जनाख्य गुणका वायु के समान ध्यान करना । अब वायुका संवर्ग प्रकारही कहते हैं । जिससमय अग्नि शान्त होती है उस समय वह अग्नि वायु में ही मिलती है अर्थात् वायुरूप को प्राप्त होती है । और जब सूर्य वा चन्द्र अस्त होते हैं तो वे भी वायु मेंही मिलते हैं (शङ्का) सूर्य चन्द्र तो प्रत्यक्ष भिन्न २ स्वरूप दीखरहा है फिर वे वायुरूप कैसे होते हैं। सूर्य चन्द्रका अस्त में वायुही कारण है । क्योंकि चलन वायुका कार्य है इसलिये वायु से सूर्य अस्त होता है । अथवा प्रलयकाल में सूर्य और चन्द्रमा का जब स्वरूप नाश होता है तब तेजोरूप सूर्य चन्द्रमा की वायु में ही लीनता होती है ॥ १ ॥

यदापउच्छुष्यन्ति वायुमेवापि यन्ति वायुर्ह्येवैता
न्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

भावार्थ ।

और जब जल सूखता है तब वह वायु मेंही मिलता है क
वायुही इन अग्न्यादि देवताओं को अपने स्वरूप में लीन करक
इसलिये संवर्ग गुणवाले वायुकी उपासना करनी चाहिये इस
देवताओं में संवर्ग विद्याको कहा ॥ २ ॥

अथाध्यात्मं १ प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपि
प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणछं श्रोत्रं प्राणं
प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

अब आत्मा में संवर्गविद्याको कहते हैं। मुख्य प्राणही संव
जिससमय पुरुष शयन करता है उससमय वाणी प्राण में ही
होती है। जैसे अग्नि वायुमें लीन होती है। और चक्षु, श्रोत्र,
भी प्राण मेंही लीन होते हैं। क्योंकि वागादि सर्व पदार्थ प्रा
जाकर मिलते हैं इसलिये संवर्ग गुणवाले वायु की उपासना
चाहिये ॥ ३ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणःप्राणेषु

अक्षरार्थ ।

देवताओं में वायु और वागादिकों में प्राण ये दोनों अ
अध्यात्मरूपवाले संवर्गगुणवाले हैं ॥ ४ ॥

अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणं च
सेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ
ददतुः ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

अब अधिदेवतारूप वायु और अध्यात्मरूप प्राणकी स्तुति इतिहास द्वारा करते हैं । कपि गोत्रवाला शुनकका पुत्र शौनक को और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी को भोजन करते समय ब्रह्मचारी शौण्ड याचना करता भया । तब उस ब्रह्मचारीका ब्रह्मज्ञानको जाननेकी इच्छा से उन्होंने उस ब्रह्मचारी को भिक्षाप्रदान नहीं किया ॥ ५ ॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेयं नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्र तारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्त मिति ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

तब उस ब्रह्मचारी ने कहा कि अग्न्यादिकोंके प्रति एक देव वायु है । और वागादिकों के प्रति प्राण है । वह सबको ग्रसन करनेवाला कौन है । भूरादि सब लोककी रक्षा करनेवाला वह प्रजापति है हे कापेय ! उस प्रजापतिको अज्ञानी मरणधर्मवाले अज्ञानी हम नहीं जानते हैं । हे अभिप्रतारिन् ! अध्यात्म आधिदैव अधिभूतरूप से रहने वाले जिस प्रजापतिके लिये प्रतिदिन भोजन संस्कार कियेजाते हैं उस प्रजापति को यह अन्न तुमने नहीं दिया ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजाना छं हिरण्यदछंष्ट्रोबभसोऽनसू रिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनघमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

ऐसे उस ब्रह्मचारी के वाक्योंका एकाग्रमन से विचार करते हुए शौनक और कापेय उस ब्रह्मचारीके समीप आये । और कहा कि हे

ब्रह्मचारिन् ! तुमने जो कहा कि उस प्रजापति को मनुष्य नहीं जानते हैं उसको हम जानते हैं परन्तु वह प्रजापति स्थावर जङ्गमरूप का आत्मा और अग्न्यादि देवताओं का आत्मामें संहार करने और उनका उत्पन्न करनेवाला और वायुरूप से अग्न्यादिकों का अधिदेवता और प्राणरूप से वागादिकोंका अध्यात्म और प्रजा उत्पन्न करनेवाला कैसे है। अथवा अग्नि वागादि देवताओंका और स्थावरजङ्गमरूप प्रजाओंका उत्पन्न करनेवाला और वाला और भोजन करनेवाला तथा बुद्धिमान् ऐसे इस प्रजा ब्रह्मवेत्ता अपरिमित महिमाको कहते हैं। क्योंकि इस प्रजा कोई भी भक्षण नहीं करता और यह सब अग्नि वागादि दे का भक्षण करता है हे ब्रह्मचारिन् ! हम इसी ब्रह्मकी उपासना क इसके लिये हम भिक्षाको देवेंगे ॥ ७ ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये सन्नस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृत छं विराडन्नादी तयेद छं सर्वदृष्टछं सर्वमस्येदं दृष्टं भ न्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

वे शौनकादिक उस ब्रह्मचारीको भिक्षाको देते भये। वे ये अ रूप वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल ये पांच आधिदैविक और प्राण, श्रोत्र, चक्षु, वाणी और मन ये पांच अध्यात्म संवर्ग ये मिलकर दश होते हैं ये दशही द्यूतमें कृत शब्द से कहेजाते हैं और में मिले हुए ये दश कृतयुग कहे जाते हैं। जैसे प्राणादि और वा दशों द्यूत में कृत कहे जाते हैं इसी प्रकार श्रोत्रादिकों में से १ प्राणमें मिलाते हैं तब अवशिष्ट चार चोक कहाते हैं और युगोंमें कृतयुग है और जब श्रोत्रादि दो प्राणमें मिलते हैं तो अवशिष्ट

तीया द्यूत में और युगोंमें त्रेता कहते हैं। और जब श्रोत्रादि तीन प्राण में मिलते हैं तब अवशिष्ट दो दुआ और द्वापर कहते हैं और जब श्रोत्रादिकों को प्राण में मिलने से एक अवशिष्ट रहता है उसे नक्की और कलि कहते हैं। ये दश मिले हुए कृत शब्द से कहे जाते हैं। अग्न्यादि वागादि मिलेहुए दश और दशों दिशा होने से दश सामान्य धर्मसे दश अक्षरोंवाला विराट्ही अन्न है। यह विराट् दश संख्यावाली होने से और कृतवाली होने से अन्न और अन्नादिनी दोनों है। इसी प्रकार विद्वान् देवतारूप होकर विराट् रूप दश संख्या से अन्न और कृत संख्या से अन्नादि होता है और उसी अन्न वा अन्नादिनी से इस संसारको दशों दिशामें स्थित कृत संख्या से जानाजाता है। जो मनुष्य पूर्वोक्तप्रकार से इस संसारको जानता है उसका दशो दिशाओं में सम्बन्ध होता है और वह पुरुष अन्नादी होता है॥ ८॥

इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्डः॥ ३॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः खण्ड आरभ्यते।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोऽन्वहमस्मीति॥ १॥

अब चौथे अध्याय के चौथे खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

सत्य कामवाला जाबालने अपनी माता जबाला से कहा कि मैं ब्रह्मचर्य में रहूंगा मेरा गोत्र क्या है॥ १॥

भावार्थ।

पूर्वखण्ड में प्राणादि और वागादि इन दशों देवताओं से व्यतिरिक्त जगत् नहीं है जिसने ये दश देवता देखे हैं वह सब जगत् को देखा है यह कहा। अब वागादि अग्न्यादि अन्न और अन्नादिरूप से स्तुति किये जगत्को एक करके फिर उसका सोलह विभाग करके उस

में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये यह कहते हैं। श्रद्धा और तप ये ब्रह्मो-
सनाका अङ्ग है यह कहनेको इतिहास कहते हैं। सत्यकामनामक
जबाला के पुत्र ने जबाला नामक अपनी मातासे कहा कि हे पूज्य
वेदाध्ययनके लिये मैं आचार्यकुल में वास करूंगा इसलिये तू मेरे गोत्र
को कह ॥ १ ॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं
चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद
यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम
त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति ॥ २ ॥

भावार्थ।

पूर्वोक्त प्रकार से पुत्रके वाक्य सुनकर जबाला ने पुत्रसे कहा कि
पुत्र! मैं तेरे गोत्रको नहीं जानतीहूं तू किस गोत्रका है। क्योंकि भर्ता
के गृहमें आयेहुए अतिथि अभ्यागतादिकों की सेवा में मेरा चित्त रहता
था इसलिये गोत्रादिकों का स्मरण मेरे मन में नहीं रहा। उसीसमय
यौवन में मैं तेरेको प्राप्त भई और उसीसमय तेरा पिता कथाशेष हो
गया। फिर मैं अनाथ इस बातको नहीं जानती हूं कि किस गोत्र
का तू है तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है जो तेरे
आचार्य गोत्रादि पूछे तो तू यह कहना कि जबालाका पुत्र मैं सत्य-
काम हूं ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति
वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥

भावार्थ।

वह सत्यकाम हरिद्रुमतका पुत्र गौतम गोत्रवाले के समीप जाकर
कहा मैं आपका शिष्य होकर ब्रह्मचर्य में रहने के लिये आपके समीप
आयाहूं। आप हमारे पूजनीय हैं ॥ ३ ॥

तꣳ होवाच किं गोत्रो नु सौम्यासीति स होवाच हमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳ सा मा त्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे हमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि त्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामो जाबा ोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

कुल और गोत्र को जानकर शिष्य करना चाहिये इसलिये हा- ुमत सत्यकाम से पूछता है कि तुम्हारा क्या गोत्र है तब सत्यकाम कहा कि मैं यह नहीं जानता कि मेरा क्या गोत्र है परन्तु आपके ले मेरी मातासे मैंने पूछा था कि मैं ब्रह्मचारी होनेको जाता हूं इस ये तू गोत्रको कह तब उसने कहा कि मेरे भर्ताके बहुत से अतिथि ते थे उनकी सेवामें मैं रहतीथी इसलिये तेरे गोत्रका मेरेको स्मरण ीं तू युवावस्था में हुआ था उसीसमय मेरा पति शान्त होगया । ने मेरेसे यह कहा कि जबाला का पुत्र मैं सत्यकाम हूं ॥ ४ ॥

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सौ ाहरोये त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशा मबलानां चतुः शता गा निराकृत्योवाचेमाः सौम्या संव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच ना सहस्रेणावर्त्ते ति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

तब उस सत्यकामको गौतमने कहा सत्य तुम ब्राह्मणही हो क्योंकि ह्मणके विना दूसरा कोई ऐसी सरलवृत्ति से अपना वृत्त नहीं कह

सकता । क्योंकि ब्राह्मण जातिही सत्य से नहीं च्युतहै । इसलि ह्मण तेरेको मैं उपनयन करूंगा । इसवास्ते होमके लिये तुम लाओ । ऐसा कहकर उसका उपनयन करके गायों के यूथ से चार सौ गायोंको दूरकरके सत्यकामसे कहा कि तुम इन गायों जावो और इनकी रक्षा करो । जब उन गायों को सत्यकाम लेजाने लगा तब ऋषिने कहा जबतक ये सहस्र गायें नहीं होवें तुम पीछे मत आना । वह सत्यकाम ऋषि के ऐसे वाक्य सुनक दुःखादि रहित तृण जलसे पूर्ण अरण्य में उन गौवों को लेजा वर्षपर्यन्त उस अरण्य में रहा । और जबतक वे गायें सहस्र पूर्ण हुई तबतक उनकी उसने रक्षा की ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमः खण्ड आरभ्यते ।

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः न आचार्य कुलम् ॥ १ ॥

अब चौथे अध्याय का पांचवां खण्ड आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

इसके पश्चात् बैल ने इससे कहा हे सत्यकाम, हे भगवन् सुनलिया हम सहस्र होगये अब हमको आचार्य कुलमें पहुंचा

भावार्थ ।

श्रद्धा और तप से युक्त इस सत्यकाम को दिक्सम्बन्धि देवता प्रसन्न होकर बलीबर्दका स्वरूप धारण करके सत्य कहा । हे सत्यकाम ! तब सत्यकामने कहा हे भगवन् ! मैं हम सहस्र पूर्ण होगये हैं तेरी प्रतिज्ञाभी पूर्ण होगई। इसलिये आचार्य कुल में पहुंचा ॥ १ ॥

ब्राह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति
स्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा
क्कलोदीची दिक्कलैष वै सौम्य चतुष्कलःपादो ब्रह्मणः
काशवान्नाम ॥ २ ॥

भावार्थ ।

और मैं तेरेलिये परब्रह्मके पादों को कहूंगा । महाराज ! आप ब्रह्म
पाद कहिये । तब ऋषभ ने सत्यकाम से कहा । पूर्व पश्चिम उत्तर
र दक्षिण इन दिशाओंका चतुर्थांश २ मिला के ब्रह्मका एक पाद है ।
स पादका नाम प्रकाशवान् है । इसके दिग्भागरूप चार अवयव हैं ।
सी प्रकार अवशिष्ट तीन पादभी चार अवयववाले हैं ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रका
वानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशव
ो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं
ह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस ब्रह्मके चार अवयववाले पादको प्रकाशवान् गुणसे
ककी उपासना करता है । वह इस लोक में प्रसिद्ध होता है । और
काशवाले अमृतभोजी लोक के देवादिकोंका जय करता है ॥ ३ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य षष्ठः खण्ड आरभ्यते ।

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वो भूते गा अभिप्रस्था
याञ्चकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय

गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्
विवेश ॥ १ ॥

अब चौथे अध्याय के छठे खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ ।

वह बैल तेरेको अग्निदेवता ब्रह्मके पादको कहेंगा यह तूष्णीं होगया। फिर वह सत्यकाम नित्यकर्मको करके गौवोंको कुल में लेजाने लगा। और वे गायें भी शनैः २ आचार्यकुल लगीं। जब सायंकाल हुआ तब सब गायें एक स्थानमें बैठगईं वह सत्यकामभी वहां अग्निका स्थापन करके गौवोंको रोकक को लाकर अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठगया और उस वाक्यका ध्यानकिया ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव ३
प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उस सत्यकाम को अग्निने कहा कि हे सत्यकाम ! तब ने हे भगवन् ! यह उत्तर दिया ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भग ति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽ न्नाम ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

मैं तेरेको ब्रह्मका पाद कहती हूं। तब सत्यकाम ने कहा पृथिव्यादिरूप से अग्नि स्थित रहती है इसलिये अग्नि वस्तुवों के पाद को कहती है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स का चतुर्थांशही ब्रह्मका पाद है। इसका नाम अनन्तवान् है॥

स य एतमेवं विद्वाᳫंश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्त
वानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लो
काञ्जयति य एतमेवं विद्वाᳫंश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो
ऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य इस चार अवयववाले और अनन्तगुणवाले ब्रह्मके पाद की उपासना करता है । वह अन्तरहित होता है । और देवलोक का जय करता है ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य सप्तमः खण्ड आरभ्यते ।

हᳫंसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वो भूते गा अभिप्रस्था
पयाञ्चकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधा
य गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्ङुपोप
विवेश ॥ १ ॥

अब चौथे अध्याय के सातवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

फिर उस बैलने कहा अग्निरूपी हंस अर्थात् आदित्य तेरे लिये पाद को कहेगा ऐसा कहकर वह बैल तूष्णीं होगया । फिर वह सत्यकाम दूसरे दिन सायंकाल में गौवों को एकत्रित करके और अग्निस्थापन कर समिधु को लाकर अग्नि के पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर बैठगया ॥ १ ॥

तᳫंहᳫंस उपनिपत्याऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उस सत्यकाम को हंस ने आकर कहा हे सत्यकाम ! तब सत्य
ने हे भगवन् ! इस प्रकार उसके श्रवणको जनाया ॥ २ ॥

**ब्रह्मणः सौम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भग
ति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला
विद्युत्कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योति
र्नाम ॥ ३ ॥**

भावार्थ ।

हे सौम्य ! मैं तेरेको ब्रह्मके पाद को कहता हूं तब सत्यका
कहा कि, हे भगवन् ! मुझसे कहो। तब हंसरूप आदित्य ने
अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् इनका चतुर्थांश २ मिलाके ब्रह्म
पाद है इस के चार अवयव हैं और इसका नाम ज्योतिष्मान् है।
ज्योतिरूप अवयवों काही पाद कहा है इसलिये हंस शब्द से
की प्रतीति होती है ॥ ३ ॥

**स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्यो
ष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योति
तो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं
ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥**

इति चतुर्थाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य चार अवयववाले ब्रह्म के पाद को ज्योतिष्मान
उपासना करता है वह इसलोक में प्रतापी होता है और सूर्यादि
का मरण के अनन्तर जय करनेवाला होता है ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्याष्टमः खण्ड आरभ्यते।

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वो भूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

अब चौथे अध्याय के आठवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

फिर उस हंस ने कहा कि जल में रहनेवाला पक्षी तेरे लिये ब्रह्मके पाद को कहेगा ऐसा कहकर वह हंस चुप होगया फिर वह सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल में गौवों को लेजाने लगा। जब सायंकाल में वे गौवें जहां एकत्रित होकर बैठगईं तहां अग्निस्थापन करके गौवों को रोककर समिध् लाकर अग्नि के पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर बैठगया॥१॥

तं मद्गुरूपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इतिभगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

उस सत्यकाम से जलचर पक्षीने आकर कहा हे सत्यकाम! तब उसने कहा हे भगवन्! इस प्रकार से स्वीकार किया ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सौम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवनिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! मैं तेरको ब्रह्म के पाद को कहता हूं हे भगवन्! आप मेरे को कहिये तब उस पक्षीने कहा प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन इनका

चतुर्थांश २ का एक पाद है। इसके चार अवयव हैं। इसका आयत
नाम है। इस पाद में सब इन्द्रियों के भोग आकर मिलते हैं।
मन है। इसीलिये यहां प्राणविषयक पदार्थोंका ही पाद कहा।

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आ
नवानित्युपास्त आयतनवानस्मिल्ँलोके भवत्याय
तो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं
ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

भावार्थ।

जो मनुष्य इस चार अवयववाले आयतननामक पाद की उ
करता है वह इसलोकमें आश्रयवाला होता है। और मरण के अ
द्युलोकका जेता होता है ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य नवमः खण्ड आरभ्यते।

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

अब चतुर्थाध्याय के नवम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

इस प्रकार वह सत्यकाम ब्रह्मवेत्ता होकर आचार्यकुल में पहुंचा
आचार्य ने कहा हे सत्यकाम ! हे भगवन् ! इसप्रकार उस वाक्
श्रवणको सूचन किया ॥ १ ॥

ब्रह्मविदिव वै सौम्य भासि को नु त्वानु शशासेत्य
मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेवमे
ब्रूयात् ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

आचार्य उस सत्यकाम को प्रसन्न इन्द्रियवाला और हास्ययुक्त खवाला चिन्तारहित कृतकृत्य देखकर कहता है हे सौम्य! तुम ब्रह्म-ता जैसा दीखतेहो तुमको किसने यह ब्रह्मज्ञान दिया तब सत्यकाम कहा मनुष्यसे व्यतिरिक्त किसी देवता ने मेरे को ब्रह्मज्ञान दिया । वता के विना आपका शिष्य मेरेको कौन मनुष्य शिक्षा करसकता है । ह उसने प्रतिज्ञापूर्वक कहकर कहा अब आपही मेरी इच्छा को पूर्ण र कहो मैं उसको नहीं जानता हूं ॥ २ ॥

श्रुतछंह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै ह्येतदेवोवाचात्रह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

भावार्थ ।

मैंने आप जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य से ज्ञात हुई विद्याही उत्तम होती है। इसलिये आपही मेरेको विद्या प्रदान करें। तब आचार्य उन देवताओं से कही हुई विद्याकीही शिक्षा करने का आरम्भ किया । ऐसा उस विद्या का उपदेश आचार्य ने किया कि देवताओं के उपदेश से इसमें कुछभी भेद न रहा ॥ ३ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य दशमः खण्ड आरभ्यते ।

उपकोशलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाग्नीन् परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयछंस्तछं ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

अब चतुर्थाध्याय के दशम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

सप्रपञ्च ब्रह्मोपासना को कहकर कार्य ब्रह्मोपासना से भि
कारण ब्रह्मकी उपासनाको कहते हैं। अब ब्रह्मविद्या को प्रकार
कहते हैं और उस ब्रह्मविद्या जाननेवाले की गति अग्निविद्या के
और तप ब्रह्म विद्या के साधन हैं। यह कहते हैं इतिहास से।
का पुत्र उपकोशल जबालाका पुत्र सत्यकामके समीप ब्रह्मचर्य
निवास किया। और उस आचार्य की अग्नि का द्वादशवर्ष पर्य
चर्या की। परन्तु उस आचार्य ने और २ ब्रह्मचारियों को वेदा
समावर्तन किया। और उस उपकोशलका समावर्तन नहीं किया

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परि
रीन्मात्वाग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै
प्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

भावार्थ।

आचार्य स्त्री ने अपने पति से कहा। हे भगवन्! यह
बहुत प्रकार से अपने शरीर को दुःखित करता हुआ आपकी
प्रकार से सेवा की है। और आप अपनी अग्नि के भक्तका स
नहीं करते हैं इसलिये अग्नि आपकी निन्दा न करे। इसवा
उपकोशलको वाञ्छित विद्याको कहो। ऐसे जायाके वाक्यों से
ने उसका समावर्तन नहीं किया ॥ २ ॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच
चारिन्नशान किंनु नाश्नासीति स होवाच बहव इमे
न्पुरुषे कामानानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि
ष्यामीति ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

उपकोशल ने मानस दुःख से अनशन व्रत को धारण किया और अग्निस्थान में चुप होकर बैठे हुए उस उपकोशल से आचार्य स्त्री ने कहा हे ब्रह्मचारिन् ! तुम भोजन करो तुम भोजन क्यों नहीं करते हो। मेरे को बहुत से काम करनेकी इच्छा है और वे काम अभी पूर्ण नहीं हुए इस दुःखसे मैं पूर्ण हूं । इसलिये मैं भोजन नहीं करूंगा ऐसा कह कर वह ब्रह्मचारी चुप होगया ॥ ३ ॥

अथ हाग्नयः समुदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीत् हन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

शुश्रूषारहित करुणायुत अग्नियां इकट्ठी होकर कहने लगीं इस समय हमारा भक्त तपस्वी श्रद्धावाला यह ब्रह्मचारी दुःखित है । इस लिये हम इसको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें ॥ ४ ॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कञ्चतु खञ्च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणञ्च हास्मै तदाकाशञ्चोचुः ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अक्षरार्थ ।

प्राण सुख और आकाश ये ब्रह्म हैं तब उस उपकोशल ने कहा जो प्राण है उसको मैं ब्रह्म जानता हूं । सुख और आकाश को ब्रह्म नहीं जानता । तब अग्नि ने कहा जो सुख है वह ही आकाश है जो आकाश है वह ही सुख है । और इस उपकोशल के लिये प्राणही और आकाश कहा ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

प्राण सुख और आकाश ये ब्रह्म हैं। तब उस ब्रह्मचारी ने कहा कि प्राण को जो तुमने ब्रह्म कहा वह प्रसिद्ध है। क्योंकि जबतक प्राण है तबतक जीवन है जब प्राण नहीं है तब जीवन भी नहीं है। प्राण वायुरूप लोक में ब्रह्मरूप से प्रसिद्ध है। इसलिये मैं प्राण को ब्रह्म जानता हूं। और सुख तथा आकाश को ब्रह्म नहीं जानता हूं। सुख और आकाश प्रसिद्ध है फिर उसको क्यों नहीं जानते। सुख क्षणिक है और आकाश अचेतन है इसलिये सुख और आकाश को ब्रह्म से नहीं जान सकते। तब उस अग्निने ब्रह्मचारी से कहा कि जो सुख है वह ही आकाश है। क्योंकि विषय और इन्द्रियोंके संयोग से हुआ सुख आकाश में रहताहै और भौतिक अचेतन आकाश से भिन्न हुए हार्द आकाश में ही सुख रहता है। यहां सुख हार्द आकाश में रहनेवाला जानना और आकाशको सुखका आश्रयवाला जानना लौकिक सुख तथा आकाश को नहीं जानना। इसलिये सुखरूप आकाशका ध्यान करना चाहिये। प्राण का सम्बन्धि आकाश हार्दाकाश है। और वह हार्द आकाश सुखगुणवाला ब्रह्म है। और सुख गुणवाले आकाश में रहनेवाला प्राण भी ब्रह्म है। इसी से व आकाशको ब्रह्म कहा॥ ५॥

इति चतुर्थाध्यायस्य दशमः खण्डः॥ १०॥

अथ चतुर्थाध्यायस्यैकादशः खण्ड आरभ्यते।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्याग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १॥

अब चतुर्थ अध्याय के ग्यारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

इसको गार्हपत्य अग्नि ने शिक्षा की। पृथिवी अग्नि अन्न

ादित्य ये चार शरीर हैं। जो यह आदित्य में पुरुष दीखता है ह मैं हूं॥ १॥

भावार्थ।

सब अग्नियां मिलकर उस ब्रह्मचारीके लिये ब्रह्मका उपदेश किया। ब वे अग्नियां भिन्न २ होकर विद्याको कहती हैं। उनमें पहिले गार्ह-त्य अग्नि उस ब्रह्मचारीको उपदेश करती है पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये चार मेरे शरीर हैं। उनमें जो आदित्य में पुरुष दीखता है हही मैं गार्हपत्य अग्नि हूं। और जो गार्हपत्य अग्नि है वह ही मैं आदित्य में पुरुष हूं। अर्थात् गार्हपत्याग्निही आदित्य है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी वति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीय त उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्चलोकेऽमुष्मिꣳश्च य तमेवं विद्वानुपास्ते॥ २॥

इति चतुर्थाध्यायस्यैकादशः खण्डः॥ ११॥

भावार्थ।

जो मनुष्य चार प्रकारकी गार्हपत्याग्नि की अन्न और अन्नादरूप उपासना करता है वह पापकर्म का नाश करता है। और लौकि-ाग्निवाला होता है। सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहता है। और उज्ज्वल ीवनवाला होता है। और इसके कुल में उत्तम पुरुष होते हैं सन्तति ा नाश नहीं होता। और उसकी हम इस लोक में तथा परलोक में ोनों लोकों में पालना करते हैं॥ २॥

इति चतुर्थाध्यायस्यैकादशः खण्डः॥ ११॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वादशः खण्ड आरभ्यते।

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्रा

णि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते
मस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अब चतुर्थ अध्याय के द्वादशवें खण्ड का आरम्भ करते हैं

भावार्थ ।

इसके अनन्तर इस उपकोशल को दक्षिणाग्नि ने उपदेश जल, दिशा, नक्षत्र, चन्द्रमा ये चार मेरे शरीर हैं । यह मैं चा से अपना विभाग करके स्थित हूं । उनमें जो यह चन्द्रमा दीखता है वह मैं दक्षिणाग्नि हूं । और जो मैं दक्षिणाग्नि हूं यह चन्द्रमा में पुरुष है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लो वति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षी उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च मेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

भावार्थ ।

अन्न के सम्बन्ध से और ज्योतीरूप होने से दक्षिणदिशाके से दक्षिणाग्नि और चन्द्रमा एक है । जल और नक्षत्र अन्न और रूप होने से एक हैं । जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से दक्षिणाग्नि सना करता है । वह पापकर्म को नाश करता है । और पूर्णायु होता है उज्ज्वल जीवनवाला होता है । और उसके कुलमें अ नहीं उत्पन्न होते हैं तथा उसका वंश नाश नहीं होता है । उसकी इस लोक में तथा परलोक में पालना करते हैं ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशः खण्ड आरभ्यते ।

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो

द्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स वाहमस्मीति ॥ १ ॥

अब चतुर्थ अध्याय के तेरहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

दक्षिणाग्नि के उपदेशके अनन्तर आहवनीयाग्नि के उपदेश करने का आरम्भ किया । प्राण, आकाश, द्यौ और विद्युत् ये चार आहवनीयाग्नि के शरीर हैं । और जो यह विद्युत् में पुरुष दीखता है वह मैं आहवनीयाग्नि हूं और जो मैं आहवनीयाग्नि हूं वहही विद्युत् में पुरुष है । द्यौ और आकाश का आश्रयाश्रयीभाव से ऐक्य है और विद्युत् आहवनीय का भोग्य भोजक भाव सम्बन्ध से ऐक्य है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाःक्षीयन्त उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

भावार्थ ।

जो मनुष्य दक्षिणाग्नि का पूर्वोक्त प्रकार से ऐक्य जानकर उपासना करता है वह पापकर्म को नाश करता है और लोक में प्रसिद्ध पूर्णायुवाला होता है । और सौ वर्षपर्यन्त जीवनको धारण करता है । और उज्ज्वल जीवनवाला होता है । और इसके कुल में अधम पुरुष नहीं होता । और इसका वंशोच्छेद नहीं होता । और उसका हम इस लोक में तथा परलोक में पालन करते हैं ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्दशः खण्ड आरभ्यते ।

ते होचुरुपकोशलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या

चार्यस्तुतेगतिंवक्तेत्याजगाममहास्याचार्यस्तमाचार्यो वादोपकोशल ३ इति ॥ १ ॥

अब चतुर्थ अध्याय के चौदहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं

भावार्थ ।

उन गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय तीनों अग्नियों ने कहा हे उपकोशल ! हमने तुमसे इस अग्निविद्या को कहा पहिले प्राण सुख और आकाश ब्रह्म है इस आत्मविद्या को और विद्याफल की प्राप्ति के लिये आचार्य तेरे को गति कहेगा कहकर वे अग्नियां विराम को प्राप्त भई । कुछ काल के इस उपकोशल का आचार्य आकर उस उपकोशल से कहा कोशल ! ॥ १ ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सौम्य भाति को नुत्वानुशशासेति को नु मानुशिष्यादि हायेव निह्नुते इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इति नभ्यूदे किं नु सौम्य किलतेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे भगवन् ! इसप्रकार अपने बोधन को प्रकट किया है तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता की तरह प्रसन्न जैसा दीखताहै । तेरे को ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया । आपको परदेश गये बाद मेरे शिक्षा करसकता था इसप्रकार शिष्यने आचार्य से गुप्त रक्खा मेरी परिचर्या कीहुई इन अग्नियों ने कहा । क्योंकि ये तेरे को कम्पित जैसी दीख रही हैं । पहिले इनका स्वरूप औरही था आचार्यने शिष्य से कहा क्या तेरे को इन अग्नियों ने क्या दिया ॥ २ ॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सौम्य

ब्रहन्तुते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न
श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति
ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच॥ ३॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः॥ १४॥

भावार्थ।

इसप्रकार उसने कहा यह प्रतिज्ञा की। कुछ दृष्टान्तरूप से कहा। र अग्नि ने जैसा कहा वैसा नहीं कहा। तब आचार्य ने कहा हे म्य! तेरे को पृथिव्यादि लोकको कहा और उत्तम रीति से ब्रह्म को हीं कहा। अब मैं तेरे लिये ब्रह्म को कहता हूं सो तू सुन और मैं स ब्रह्मज्ञानको कहता हूँ उसका माहात्म्य तू सुन। जैसे पद्मके पत्रमें लका स्पर्श नहीं होता इसी प्रकार मैं जिसप्रकार से ब्रह्म को कहताहूँ सप्रकार से ब्रह्म जाननेवाले को पातक स्पर्श नहीं करते हैं। ऐसे क्य आचार्य के सुनकर उपकोशल ने कहा आप मेरे को ब्रह्म-ान कहें॥ ३॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः॥ १४॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य पञ्चदशः खण्ड आरभ्यते।

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैत
दमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्च
न्ति वर्त्मनी एव गच्छति॥ १॥

अब चतुर्थाध्याय के पन्द्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जो यह नेत्रों में पुरुष दीखता है। यह आत्मा है यह कहा और हही अमृत अभय और ब्रह्म है। यद्यपि इसमें घृत वा जलका सेक ोता है परन्तु वह नेत्रों के बाहर ही रहते हैं भीतर नहीं जाते॥ १॥

भावार्थ।

जो यह विषयों से विमुख नेत्रवाले ब्रह्मचर्य से युक्त शान्त ज्ञानवाले पुरुषों को जो यह नेत्रों में पुरुष दीखता है। यह आत्मा अब यहां शङ्का करते हैं कि अग्नियों ने तो कहा था कि आचार्य को गति कहेगा। सो यहां आचार्य ब्रह्मज्ञान को कहरहा है अग्नियों ने मिथ्या कहा। और अग्नियों को भविष्यद्विषय का ज्ञान नहीं होता है यह दोष आया। परन्तु यह दोष उत्तम नहीं सुखगुणवाले आकाश की उपासना काही अग्नि ने उपदेश किया उसी द्रष्टारूप कारण ब्रह्मका अक्षियों में दर्शन कहा है गति के के लिये इसीलिये अग्निका भाषण भी मिथ्या नहीं है और न अग्नियों को भविष्यद्विषय का अपरिज्ञान है और यह आक्षिपुरुषही सब की आत्मा है। इसका कभी नाश नहीं होता इसी से यह अमृत है यह ब्रह्म अनन्त है। और इस अक्षिपुरुषरूप ब्रह्म का माहात्म्य है कि उस पुरुष का स्थानरूप नेत्रों में घृत वा जल देवें तो वह मेंही बाफों में ही रहता है और जैसे पद्मके पत्रमें जल का संपर्क नहीं होता इसप्रकार चक्षु के साथ उसका संपर्क नहीं होता। जिसके स्थान का ही यह माहात्म्य है तो उसका तो क्या कहना ॥ १ ॥

एतछं संयद्वाम इत्याचक्षत एतछंहि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

भावार्थ।

इस पुरुष को संयद्वाम कहते हैं क्योंकि इसमें सब 'वाम' पदार्थ आकर मिलते हैं। जो पुरुष संयद्वाम गुणवाले पुरुष को है उसको सर्वप्रकार की उत्तम २ वस्तुवें आकर प्राप्त होती हैं।

एष ३ एव वामनीरेषहि सर्व्वाणि वामानि सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

यह ही आत्मा वामनी है । क्योंकि प्राणियों के लिये पुण्य के अनुरूप कर्मफलको देता है । जो मनुष्य आत्मा को वामनी रूप जानता उसको आत्मा के धर्म होने से सब कर्मफल मिलते हैं ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

और यह आत्मा ही भामनी है । क्योंकि यह ही सब लोकों में आदित्य, चन्द्र, अग्न्यादिरूप से प्रकाशमान है । जो मनुष्य इस आत्मा को भामनीरूप से जानता है वह सारे संसार में प्रतापी होता है ॥ ४ ॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

अब पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ता की गति को कहते हैं । ब्रह्मवेत्ता का मरण के अनन्तर शवकर्म करतेहैं वा नहीं करतेहैं तो उस शवकर्म सपिण्डादिकों से ब्रह्मवेत्ता को कोई विशेष फल नहीं होता और सपिण्डादिकों के नहीं करने से ब्रह्मवेत्ता का बन्धन नहीं होता । यद्यपि शवकर्म सपिण्डादि श्राद्धों के नहीं करने से फल में प्रतिबन्ध होता है परन्तु वह प्रतिबन्ध सामान्य पुरुषों का होता है और ब्रह्मविद्या जाननेवाले को शवकर्म हो वा नहीं हो तो भी कर्मफल में प्रतिबन्ध नहीं होता । जो मनुष्य संपद्वामनी भामनी गुणवाले और नेत्रस्थ सुखाकाश को तथा प्राण सहित अग्निविद्या की उपासना करता है उनका मरण के

अनन्तर कर्म्म हो वा नहीं हो वो सर्वथा तेजोरूप देवता को प्रा-
है फिर उस तेजोरूप देवता से दिन के देवता को और दिन के
से शुक्लपक्ष के देवताको और शुक्लपक्ष के देवता से जब सूर्य छ
पर्यन्त उत्तर दिशा में रहता है तो उस उत्तरायण के देवता
उन छः मासाधिष्ठातृ उत्तरायण देवता से संवत्सर देवता को औ
संवत्सर देवतासे आदित्य को और आदित्य से चन्द्रमा को और
से विद्युत् को प्राप्त होता है। तब विद्युत् में रहतेहुए इन ब्रह्म
को कोई पुरुष ब्रह्मलोक से आकर सत्यलोक में रहनेवाले
लेजाता है ॥ ५ ॥

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एते तिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते

इति चतुर्थाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

भावार्थ।

सत्यलोक में रहनेवाले ब्रह्मकोही प्राप्त होसकता है। औ
ब्रह्मको नहीं प्राप्त होसकता। क्योंकि मुख्य ब्रह्मप्राप्ति में भे
रहता। कदाचित् जीवका पारमार्थिकरूप सन्मात्र ब्रह्मही
उपासक की गति नहीं कहसकते क्योंकि ब्रह्म से उपासक का
नहीं। इसलिये मुख्य ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं कहसकते किन्तु सत्य
ब्रह्मकी प्राप्तिही कहसकते हैं। यह अर्चिरादि मार्गही दे
ब्रह्मपथ कहाजाता है। इस मार्ग से जानेवाले पुरुष फिर जन्म
को नहीं पाते हैं ॥ ६ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य षोडशः खण्ड आरभ्यते।

एष हवै यज्ञोयोऽयं पवत एष ह यन्निदꣳसर्वं यदेष यन्निदꣳसर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी ॥ १ ॥

अब चतुर्थाध्यायके सोलहवें खण्डका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जो यह वायु चलता है वहही यज्ञ है यह जब चलता है तो सब को पवित्र करता है यहही यज्ञ है इसके वाणी और मन दोनों वर्तनी हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

उपासनाप्रकरण में प्रसंग प्राप्त यज्ञ में यदि कोई क्षति होवे तो उसकी निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्तरूप व्याहृति को कहते हैं । और उस व्याहृति के जाननेवालेको मौन धारण करना चाहिये । यह कहने को सोलहवें खण्डका आरम्भ करते हैं । जो यह गतिवाला वायु है वहही यज्ञ है । क्योंकि वायु में ही यज्ञ स्थित है ऐसा श्रुतियों में प्रसिद्ध है । वायुही यज्ञका आरम्भ करता है यह वायु चलता हुआ सब जगत् को पवित्र करता है अर्थात् शोधन करता है । चलनक्रियावाला यह वायु है इसलिये दोषों को दूर करसकता है स्थिर नहीं करसकता यह वायु सब जगत् को पवित्र करता है इसलिये यह यज्ञरूप है । इस यज्ञ में वाणी से मन्त्रोच्चारण होताहै । और मनसे सत्य अर्थ का ज्ञान होताहै इसलिये वाणी और मन दोनों यज्ञ के मार्गहैं इनसेही यज्ञका विस्तार होताहै । क्योंकि वाणीके उच्छ्वास निःश्वास से और मनका पूर्वापर भावसे यज्ञ होता है ॥ १ ॥

तयोरन्यतरांमनसासछंस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराछं स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरापरिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उन दोनों मार्गोंमें से ब्रह्मा एक ज्ञानवाले मनसे वाणी का संस्कार करता है । और शुद्धप्रयोग की वाणी से मनका संस्कार करता है । और होता, अध्वर्यु, उद्गाता तीनोंही ऋत्विक् वाणी सेही वाणी का

संस्कार करते हैं। इसलिये वाणी और मन तीनोंही यज्ञ संस्
मार्ग हैं। और जिस समय ब्रह्मा परिधानीय ऋचा के पहिले अ
ऋचा का प्रारम्भ में मौनका त्याग करता है ॥ २ ॥

**अन्यतरामेव वर्त्तनिꣳ सꣳस्करोति हीयतेऽन्य
स यथैकपाद्व्रजन्रथोवैकेन चक्रेण वर्त्तमानो रिष्य
मस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरि
स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३ ॥**

भावार्थ।

तब ब्रह्मा वाणीरूप मार्ग का संस्कार तो करसकता है औ
मार्ग का नाश होजाता है। अर्थात् परिधानीय ऋचा का उच्चा
मन एकाग्र नहीं रहता। तब उस यज्ञ का केवल वाणीरूप यज्ञ
नहीं होती इसलिये यज्ञका नाश होजाता है। जैसे एकपाद से
हुआ पुरुष व एकचक्र से चलता हुआ रथ नष्ट होता है इसीप्रका
से यजमान का यज्ञ नष्ट होता है और यज्ञके नष्ट होने से यजमा
होता है। क्योंकि यज्ञही यजमान का प्राण है। इसलिये यज्ञके
से यजमान का नाश होना योग्यही है वह यजमान उस यज्ञके
से पापी होता है ॥ ३ ॥

**अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाकेन पुरा परिधानी
ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न
ऽन्यतरा ॥ ४ ॥**

भावार्थ।

जहां ब्रह्मा मौन को ग्रहण करके परिधानीय ऋचा का उच्चा
पूर्व अनुवाक का उच्चारण नहीं करता है। तो उस यजमान के
दोनोंही मार्ग संस्कारयुक्त रहते हैं। एक का भी नाश नहीं होता

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञःप्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

भावार्थ।

जैसे दोनों चक्रोंसे चलता हुआ रथ स्थिर रहता है इसप्रकार यजमान का यज्ञ भी स्थिर रहता है। और यज्ञ के स्थिर रहने से यजमान भी स्थिर रहता है। इसप्रकार मौनवाला ब्रह्मा ज्ञानपूर्वक ब्रह्मयुक्त यज्ञका यजन करके श्रेष्ठ होता है ॥ ५ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य षोडशःखण्डः ॥ १६ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य सप्तदशः खण्ड आरभ्यते।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतप्यत्तेषां तप्यमानानाᳬंरसान् प्राबृहदग्निंपृथिव्यावायुमन्तरिक्षादादित्यंदिवः ॥ १ ॥

अब चतुर्थाध्याय के सत्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

भावार्थ।

पूर्वखण्ड में यज्ञ में ब्रह्मा मौनसे रहे यह कहा। ब्रह्मा का कर्म नष्ट होय अथवा होता अध्वर्यु का कर्म नष्ट होय तो उसका व्याहृतियों से होम करनाही प्रायश्चित्त है। उसके लिये व्याहृतिओं का विधान करते हैं। प्रजापति ने लोकका सारभूत वस्तु ग्रहण करनेको तप किया। और उस तपसे पृथ्वी से अग्निरूप रस को और अन्तरिक्ष से वायुको और स्वर्ग से आदित्यरूप रसको ग्रहण किया ॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाᳬंरसान्प्राबृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूᳬंषि सामादित्यात् ॥ २ ॥

भावार्थ।

फिर उस प्रजापतिने अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों देवताओं

का ध्यानरूप तप किया। उस तपसे अग्निसे ऋग्वेदरूप रस को वायु से यजुर्वेदरूप रस को और आदित्य से सामवेदरूप सार ग्रहण किया ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्राबृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

फिर उस प्रजापतिने वेदत्रयीका ध्यानरूप तप किया। उस ऋग्वेद से भूः इस व्याहृतिरूप सार को और यजु से भुवः इसको सामसे स्वः इस व्याहृतिरूप सार को ग्रहण किया। इसीलिये लोक और वेदोंका रसरूप ये महाव्याहृतियांहैं ॥ ३ ॥

तद्यदृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्येजुहुयादृचा तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति॥४॥

भावार्थ ।

यदि यज्ञमें ऋग्वेद से कोई हानि हुई होवे तो गार्हपत्याग्नि "भूःस्वाहा" इस मन्त्रसे हवन करनाही प्रायश्चित्त है। क्योंकि ऋग् से उत्पन्न हुई हानिकी पूर्ति ऋग्वेद के रस से व ऋग्वेद के पराक्रम ही होती है ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

जो यजुर्वेद के मन्त्रों से कोई यज्ञकी हानि हुई तो दक्षिणाग्नि "भुवः स्वाहा" इस मन्त्रसे हवन करनाही प्रायश्चित्त है। क्यों यजुर्वेद के मन्त्रों से उत्पन्न हुई यज्ञकी हानिकी पूर्ति यजुर्वेद के रस पराक्रम से ही पूर्ण होती है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहु त्सामामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरि ष्टं सन्दधाति ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

जो यज्ञ में सामवेद के मन्त्रोच्चारण से किसी प्रकार की हानि हुई य तो उसकी निवृत्तिके लिये आहवनीयाग्नि में "स्वः स्वाहा" इस त्र से हवन करे तो इससे साम के रस वा वीर्य से उस यज्ञकी हानि पूर्ति होती है ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णछं सन्दध्यात्सुवर्णेन रजतछं तेन त्रपु त्रपुणा सीसछं सीसेन लोहं लोहेन दारु रु चर्मणा ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

पहिले होता आदि के अपराध से यज्ञ नाश में प्रायश्चित्त कहा । दे ब्रह्मा के अपराध से यज्ञका नाश हुआ होवे तो "भूः स्वाहा, भुवः हा, स्वः स्वाहा" इन तीनों व्याहृतियों से हवन करे । क्योंकि वह नाश वेदत्रयीप्रयुक्त है । जैसे क्षार से सुवर्ण को और सुवर्ण से त को और रजत से तांबा पीतल को और तांबा से सीसा को सीसा लोह को लोह से काष्ठ को और चर्म से काष्ठ को जैसे सन्धान ते हैं ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया र्येण यज्ञस्य विरिष्टछं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष ज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

इसीप्रकार इन लोकों के वा देवताओं के वा वेदत्रयी के रसरूप क्रम से यज्ञ की हानि का सन्धान करते हैं । जैसे रोगवाले के

सुशिक्षित वैद्य होता है इसीप्रकार जिस यज्ञमें व्याहृति होमप्रा-
श्चित्त को जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ है ॥ ८ ॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्ये-
वंविदᳬं ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्तते
तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥

भावार्थ ।

यह यज्ञ गम्भीर और दक्षिणा से उन्नत होता है । जिसमें इस
प्रायश्चित्त को जाननेवाला ब्रह्मा होता है इसलिये यह गाथा ब्रह्मा की
स्तुति में है । जिस २ स्थान होता अध्वर्यु आदि से यज्ञ में क्षति होती है
उस यज्ञकी क्षति के प्रायश्चित्त से ब्रह्मा सन्धान करके कर्ता की रक्षा
करता है ॥ ९ ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षत्येवंविद्ध वै
ब्रह्मा यज्ञं यजमानᳬं सर्वाᳬंश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मा-
देवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

मौनधारण करने से वेदार्थों का मनन करने से ब्रह्मा को मानव
शब्द का प्रयोग कियाजाता है जैसी अश्वा असवार की रक्षा करती है
इसीभाँति ब्रह्मा ऋत्विजों की और यज्ञ करनेवाले की रक्षा करता है
पूर्वोक्तदोष के दूर करने से । इसलिये व्याहृत्यादि जाननेवाले को
यज्ञ में ब्रह्मा करना चाहिये ॥ १० ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं छान्दोग्योपनिषदः पूर्वार्द्धः ॥

ॐ

अथ सामवेदीयछान्दोग्योपनिषद् उत्तरार्द्ध सभाषा
भाष्यं प्रारभ्यते ।

ॐ यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च वति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

अक्षरार्थ ।

जो प्रसिद्ध ही ज्येष्ठ को श्रेष्ठ जानता है सो प्रसिद्धही ज्येष्ठ श्रेष्ठ ता है । प्राणही ज्येष्ठ श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

श्रीगुरुरुवाच ॥ हे शिष्य ! इस उपनिषद् के अध्यायचतुष्टयात्मक र्द्ध करके सगुण ब्रह्मविद्या करके [अर्थात् पञ्चाग्नि विद्या से अति- क सगुण ब्रह्मविद्या करके तिन विद्या बिषे निष्ठावान् उपासकों की] त्तरागति कही । अब इस उत्तरार्द्ध के प्रथम और उपनिषद् के पञ्चम ध्याय बिषे पञ्चाग्निविद्या के ज्ञाता गृहस्थ की अरु ऊर्द्ध्वरेता पुरुषों जोकि विद्या बिषे शील (स्वभाव) वाले परमश्रद्धालुओं की गति हके, पश्चात् उससे अन्य जे दक्षिणायनसम्बन्धी केवल कर्मियों धूमादि लक्षणवाली पुनरावृत्तिरूपा द्वितीया गति । उसके अनन्तर द्या (उपासना) अरु कर्म (इष्टापूर्त्तादि) इन दोनों से रहित पुरुषों की अतिदुःखरूप संसारगति को कहते हैं [ननु क्रम से मुक्ति का भव होने से सगुण ब्रह्मविद्या रूपा उत्तरागति कही सो अस्तु, परन्तु नरावृत्तिरूपा दक्षिणायनगति अरु वारंवार जन्म मरण रूपा संसार- गति 'जो कि अतिनिकृष्टा हैं' क्यों उपदेश करते हो] समाधान । उक्त दोनों गति अति ही कष्टरूपा हैं ताते उनसे मुमुक्षु को सम्यक् प्रकार राग्य होय एतदर्थ इस पञ्चम प्रपाठक की भाषा टीका का प्रारम्भ करते ॥ तहां । "प्राणो वाव संवर्ग इत्यादि" । प्राणही संवर्ग है, इत्यादि इस उपनिषद् के पूर्वार्द्ध बिषे कहा है, अतएव उस प्राण के उपासक के लिये

वागादि सर्व इन्द्रियादिकों से प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के निरूपण करते हैं। जो स्पष्टही इस प्रथम वय करके सर्व को और सर्व से अधिक गुणवान् होने से सर्व से श्रेष्ठ को जा सो स्पष्टही ज्येष्ठ अरु श्रेष्ठ होता है। इसप्रकार श्रुति फलवाद श्रवण कराय (फल का लोभ देखाय) पुरुष की वृत्ति को अपने कर कहती है। "प्राणोवाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।" [प्राणही ज्येष्ठ अर्थात् वागादि सर्व इन्द्रियों से प्रथम उत्पन्न होने से यह प्राण से ज्येष्ठ है, क्योंकि गर्भस्थ पुरुष को वागादि इन्द्रिय वृत्तिके पूर्व ही प्राणवृत्ति का लाभ अर्थात् प्राणवृत्ति लब्धात्मिका हो और जैसे २ गर्भ (गर्भस्थशरीर) वृद्धि को प्राप्त होता है तैसे चक्षुरादि स्थान (गोलक) रूप अवयवों करके निष्पन्न होता तिसके पश्चात् वागादि इन्द्रियवृत्ति का लाभ होता है। और जो शरीर की वृद्धि और चक्षुरादि स्थानों की प्राप्ति होती है सान्य प्राणवृत्ति के आश्रय होती है प्राणवृत्ति के पूर्व लाभ बि में शरीर की वृद्धि होवे नहीं, अतएव गर्भ में वागादि इन्द्रिय लाभ से पूर्व प्राणवृत्ति का लाभ होने से प्राण सर्व में वय करके है। अथवा। "एतस्माज्जायतेप्राणः"। "प्राणमसृजत"। इत्यादि प्रमाण करके प्राण की सर्व से प्रथम उत्पत्ति होने से भी प्राण सब से ज्येष्ठ है। अरु उसकी श्रेष्ठता तो अग्रिम। "सु हय"। वाक्यों के देखने से स्पष्ट है सो प्राण की गुणों करके जो वागादि में श्रेष्ठता है सो कहते हैं॥ १॥

यो ह वै वशिष्ठं वेद वशिष्ठो ह स्वानां भवति व वाशिष्ठः॥ २॥

अक्षरार्थ।

जो प्रसिद्ध ही वशिष्ठ को जानता है सो प्रसिद्धही वशिष्ठ होता है, वागही वशिष्ठ है॥ २॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! । "यो ह वै वशिष्ठं वेद वशिष्ठो ह स्वानां भवति" । [जो स्पष्टही वशिष्ठ को जानता है सो अपने में वशिष्ठही होता है] अर्थात् जो इस प्रसिद्ध ही सर्व को आच्छादित करनेवाला घनवान् वायु वशिष्ठ को जानता है सो अपनी ज्ञाति के मध्य वायुवत् घनवान् प्रसिद्ध ही वशिष्ठ होता है । प्रश्न । तर्हि वशिष्ठ कौन है ? । उ० ॥ "वाग् वाव वशिष्ठः" । [वाग्ही वशिष्ठ है] अर्थात् जो वेद शास्त्र की विद्या करके सम्पन्न प्रखरवाणीवाला पुरुष है सो सभाबिषे अन्य पण्डितों को तथा घनवानों को पराभव करता है ।ः—अर्थात् जो वाणीरूप प्राण की उपासना करता है सो वाणीमान् और घनवान् हुआ सर्व को पराजय करनेवाला अपनी ज्ञाति बिषे वायुवत् उक्तप्रकार का वशिष्ठ ही होता है ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

जो स्पष्टही प्रतिष्ठा को जानता है सो इस लोक व परलोक में स्पष्ट प्रतिष्ठित होता है । चक्षुही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! । "यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा" । [जो प्रसिद्धही प्रतिष्ठा को जानता है सो इस लोक व परलोक में प्रतिष्ठा को पावताहै] अर्थात् जो पुरुष इस प्रसिद्ध प्रतिष्ठा को (चक्षुविशिष्टप्राण को) जानता है सो जीवते इस लोक में और मरणोत्तर परलोक में प्रतिष्ठा (उत्तम स्थान) को प्राप्त होताहै । प्रश्न । प्रतिष्ठा क्याहै ? । उत्तर । "चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा" । [चक्षु ही प्रतिष्ठा है] अर्थात् यह पुरुष सम शुद्ध धरातल बिषे वा ऊंचे नीचे दुर्गम स्थल बिषे चक्षुसे सम्यक् प्रकार देखके उत्तम स्थान बिषे स्थित होताहै, एतदर्थं चक्षुही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

यो ह वै सम्पदं वेद सꣳहास्मै कामः पद्यन्ते देवा मनुष्याश्च श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥४॥ यो ह वा आयत दायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥

अक्षरार्थ ।

जो प्रसिद्धही सम्पदा को जानताहै उसको देवता और मनु काम प्राप्त करते हैं श्रोत्रही सम्पत् है ॥ ४ ॥ जो प्रसिद्धही आ (स्थान) को जानता है सो अपने का प्रसिद्ध आयतन होता है प्रसिद्धही आयतन है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! । "यो ह वै सम्पदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दे मानुषाश्च" । [जो प्रसिद्धही सम्पदा को जानताहै उसको देवता मनुष्य सर्वकामोंको प्राप्त करते हैं] अर्थात् हे प्रियदर्शन ! जो सम्पदाको जानके उसकी उपासना करता है उसको देवता और म सर्वकामों को प्राप्त करते हैं । प्रश्न । तर्हि सम्पदा क्या है ? । उ "श्रोत्रं वाव सम्पत्" । [श्रोत्रही सम्पत् है] अर्थात् श्रोत्र का वेदों के मन्त्रों को ग्रहण करते हैं पश्चात् उसके अर्थ को जान के अनन्तर उसके अनुसार कर्मों को करते हैं तदनन्तर कामों के होते हैं । अतएव काम सम्पत्ति की प्राप्ति का हेतु होने से सम्पत ही है ॥ ४ ॥ हे सौम्य ! । "यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह भवति" [जो प्रसिद्धही आयतन (स्थान) को जानता है सो का आयतन होताहै] अर्थात् इन्द्रियों करके ग्रहण किये भोग षयों का और उनकी प्रत्ययों का मन आयतन कहिये आश्रय है दर्थ । "मनो ह वा आयतनम्" । [मनही प्रसिद्ध आयतन है] हे सौम्य ! वाग्, चक्षु, श्रोत्र और मन इनको क्रमसे जो वशिष्ठ तिष्ठत्व सम्पदात्व और आयतनत्वपना कहा है सो तत्तद्विशि का जानना ॥ ५ ॥

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्युदिरेऽह ꣳ श्रेयान स्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमे त्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ।

अब प्रसिद्ध सर्व प्राण (इन्द्रियां) हम श्रेय हैं (ऐसा विचारके) विवाद करते हम श्रेय हैं हमारा ही श्रेयत्व है (ऐसा मानके) अपने पिता प्रजापति के समीप जाय प्रश्न करते हुए कि हम सर्व में श्रेष्ठ कौन है ? ॥ ६ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! । "अथ ह प्राण अहꣳ श्रेयसि व्युदिरेऽहꣳ श्रेयान स्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति" । [सो प्रसिद्ध इन्द्रियां हम श्रेय (श्रेष्ठ) हैं 'ऐसा विचार' परस्पर विरुद्ध होय विवाद करते व कहतेहुए हम श्रेष्ठ हैं हम श्रेष्ठ हैं] । हे सौम्य ! अब इन्द्रियों के परस्पर विवाद और उनकी अश्रेष्ठतापूर्वक प्राण की श्रेष्ठता को श्रवण करो । हे शिष्य ! कहे प्रकार वागादि इन्द्रियां यथोक्त गुणों करके युक्त होते सन्ते भी हम श्रेष्ठ हैं हम श्रेष्ठ हैं, इसप्रकार विचार के अपनी २ श्रेष्ठता के हेतु परस्पर में नाना विरुद्ध कहते हुए ।:—अर्थात् एक दूसरे की श्रेष्ठता का खण्डन कर अपनी २ श्रेष्ठता को प्रकट करतेहुए, परन्तु विरुद्ध विवादयुक्त होने से श्रेष्ठता का निर्णय न हुआ ।:— तब सो प्रसिद्ध इन्द्रियां विवाद करते हुए अपने विषयक श्रेष्ठत्व के जानने के लिये अपने उत्पादक पिता प्रजापति (ब्रह्मा) के समीप जाय प्रणामकर कहते हुए कि हे भगवन् ! हमारे सर्व के मध्य श्रेष्ठ ' अर्थात् गुणों करके अधिक, कौन है ? सो आप कृपा करके कहिये । क्योंकि आप वृद्धपुरुष के कहे बिना हम अज्ञातों का परस्पर का विवाद मिटना नहीं ॥ ६ ॥

तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतर मिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

उन इन्द्रियों के प्रति स्पष्ट कहता हुआ जिसके निकल जाने शरीर पापिष्ठतर ऐसा दृष्ट आवे सो वो श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब अपनी २ श्रेष्ठता के विज्ञानार्थ वागा इन्द्रियों ने परस्पर विवाद कर उसके निर्णयार्थ अपने पिता प्रजाप के निकट जाय प्रश्न किया। तब उसको श्रवण कर सो प्रजापति इन्द्रियों प्रति कहता हुआ ।:— अर्थात् वागादि इन्द्रियों ने अपनी श्रेष्ठता के लिये परस्पर में विवाद कर अपने सर्व के मध्य कौन है ? ऐसा विचार उसके विज्ञानार्थ अपने पिता प्रजापति के समीप प्रश्न किया तब उस प्रजापति ने विचार किया कि जो इनमें श्रे उसको न जानके ये सर्व अपने बिषे श्रेष्ठता का मिथ्या अभिमान अपने सर्व के मध्य कौन श्रेष्ठ है उसके निर्णयार्थ यहां आये हैं, अब अब इनको ऐसा कहिये जो यह अपने मध्य श्रेष्ठ को आपही सम प्रकार जानलेवें। ऐसा विचार वो प्रजापति कहता हुआ। :— हे वा दिको ! तुम्हारे सर्व के मध्य जिसके निकलजाने से यह शरीर जीवते भी अतिशय करके पापिष्ठ (अपवित्र) ऐसा है, सो विशेष पापिष्ठतर ।:—अर्थात् यह शरीर अस्थि मांसादि अति अपवित्र वस्तु से निर्मित और मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थों का आयतन होने जीवतेही यह पापिष्ठ ऐसा (पापों का कार्य) है, और उसके अन्त जिसके निकलजाने से यह शरीर अतिशय करके पापिष्ठतर (महा पवित्र) ।:— दृष्ट आवे, अर्थात् गत प्राण स्पर्श करने की योग्यता रहित महाअपवित्र होय, सोई तुम्हारे सर्व के मध्य श्रेष्ठ है। अर्थ जिसके न रहने से यह शरीर अतिशय करके अपवित्र होय उसही तुम अपने सर्वके मध्य श्रेष्ठ जानो ॥ ७ ॥

साह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यपर्येत्योवाच कथ मशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः

प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मन सैवमितिप्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ ।

सो प्रसिद्ध वाग् निकलती हुई सो एक वर्ष पर्यन्त अपने व्यापार से निवृत्त होय पुनः आय कहती हुई मेरे विना तुम जीवने को कैसे समर्थ हुए ? जैसे मूक (गूँगा) पुरुष न बोलता हुआ प्राणकरके जीवता है, चक्षु करके देखता है श्रोत्र करके श्रवण करता है मन करकेही ध्यान करता है । इसप्रकार जब (अन्योंने कहा) तब वो प्रसिद्ध वाक् अपने स्थान में प्रवेश करती हुई ॥ ८ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब प्रजापति ने वागादि इन्द्रियों से कहा [शङ्का । ननु सर्वज्ञ प्रजापति ने वागादि इन्द्रियों को यह क्यों न कहा कि तुम सर्व में एक मुख्य प्राणही श्रेष्ठ है] समाधान । जो प्रजापति उनको प्रथमही कहता कि तुम्हारे सर्व के मध्य एक मुख्य प्राण ही श्रेष्ठ है, तो वो वागादि सर्व दुःखित होते । :—क्योंकि जब अपनी श्रेष्ठता वा नेष्टता अपने यथार्थ अनुभव से सम्यक्प्रकार जानी जाती है तब दुःख नहीं होता । :—अतएव उनको दुःख न होनेके कारण सर्वज्ञ प्रजापति ने उनके प्रति प्राण को श्रेष्ठ न कहके ऐसा कहा कि वो अपना निर्णय आप ही करलेवें । हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब प्रजापति ने कहा तब वागिन्द्रिय अपने स्थानसे निकल एक संवत्सरपर्यंत अपने व्यापार से उपराम हो बाह्य स्थित हुई, और संवत्सर के व्यतीतहुए पुनः शरीर के निकट आय अन्य शरीरादिकों से प्रश्न करती हुई, हे शरीरादिको ! तुम सर्व मुझ विना अपने जीवनके धारण करनेबिषे किसप्रकार समर्थ हुए ? । इसप्रकार अपनी श्रेष्ठता के अभिमान वश वागिन्द्रिय ने प्रश्न किया तब वो सर्व कहते हुए कि जैसे मूक (गूँगा) पुरुष लोक बिषे वाणी विना का हुआ प्राण करके जीवता है, चक्षु करके देखता है,

श्रोत्र करके श्रवण करता है, मन करके ध्यान करता है। अर्थात् मुख्य प्राण के आश्रय सर्व करण (इन्द्रियादिक) अपने २ को करते हैं। इसप्रकार एक तुम्ह विना मूक पुरुषवत् जीवते हैं। प्रकार जब शरीरादिकों ने वाक् से कहा तब वो वाक् अपनी समुझ श्रेष्ठता का अभिमान त्याग स्वस्थान में स्थित होय अपने पार में प्रवृत्त होता हुआ ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्रामतत्संवत्सरं प्रोष्यपर्येत्योवाचकथम तत्तेमज्जीवितुमिति। यथाऽन्धाअपश्यन्तः प्राणन्तः नवदन्तोवाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेणध्यायन्तोमनसैवमि विवेशह चक्षुः ॥ ९ ॥

अक्षरार्थ।

चक्षु निकलता हुआ एक वर्षपर्यन्त बाह्य रह अपने व्यापार हो पुनः निकट जाय कहताहुआ तुम मुझ विना अपने जीवनके बिषे कैसे समर्थ हुए। जैसे अन्धा विनाही देखे प्राणकरके जी वाणीसे बोलता है श्रोत्र से सुनता है मन करके ध्यान करता है प्रकार सुनके चक्षु अपने स्थान में स्थित हुआ ॥ ९ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्तप्रकार जब वागिन्द्रिय अपनी अश्रेष्ठता को अनुभव कर लज्जित हो अपने स्थान बिषे स्थित होय अपने व्या प्रवृत्त हुई। तदनन्तर चक्षु इन्द्रिय अपने बिषे श्रेष्ठताका अभिमा शरीर से निकल एक संवत्सर पर्यन्त बाह्य रह अपने व्यापार से हो पुनः शरीरादिकों के समीप आय प्रश्न करतीहुई कि तुम सर्व विना अपने जीवनके धारण करने बिषे कैसे समर्थ हुए? इसप्रका चक्षु ने प्रश्न किया तब शरीरादिक कहतेहुए कि, जैसे लोक बिषे विनाही देखे प्राण करके जीवता है, वाणी करके बोलताहै, श्रो श्रवण करता है, मन करके ध्यान करता है। इसप्रकार अन्ध पु

झ विना हम सर्व अपने २ व्यापारों को करत सन्ते प्राण करके जीते हैं । इसप्रकार जब शरीरादिकों ने कहा तब अपनी अश्रेष्ठता को अनुभव कर श्रेष्ठता के अभिमान के अभावपूर्वक अपने स्थान में प्रवेश कर स्वव्यापार में प्रवृत्ति होती हुई ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाचकथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

अक्षरार्थ ।

श्रोत्रेन्द्रिय निकलती हुई सो एक वर्षपर्यन्त बाह्य रह पुनः आयके कहतीहुई कि तुम सर्व मुझ विना अपने जीवन के धारण करने में कैसे समर्थ हुए ? जैसे बधिर विनाही श्रवण किये प्राण करके जीवता है वाणी करके बोलता है चक्षु करके देखताहै मन करके ध्यान करताहै । इसप्रकार श्रवण करके श्रोत्र स्वस्थान में स्थित हुआ ॥ १० ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब चक्षु इन्द्रिय भी अपनी अश्रेष्ठता को अनुभव कर लज्जित हो अपने स्थान में स्थितहुई उसके अनन्तर श्रोत्र इन्द्रिय शरीर से निकल बाह्य जाय अपने व्यापार से उपराम हो एक संवत्सर के उपरान्त पुनः आय शरीरादिकों से प्रश्न करती हुई कि मुझ विना तुम सर्व अपने जीवनके धारण करने के विषयमें कैसे समर्थ हुए । इसप्रकार जब श्रोत्रेंद्रिय ने अभिमानपूर्वक प्रश्न किया तब शरीरादिक कहतेहुए कि जैसे बधिर (बहिरा) पुरुष विनाही श्रवण किये प्राणकरके जीवता है, वाणी करके बोलता है, चक्षु करके देखता है, मनकरके ध्यान करता है । ताते श्रवणेन्द्रिय विनाके बधिरपुरुष के जीवनव्यापारवत् हमारे सर्व का जीवनव्यापार होता है, अतएव अब तुझको

जहां की इच्छा होय तहां जा । इसप्रकार जब शरीरादिकोंने उसको श्रवणकर अपने श्रेष्ठत्वपनेके अभिमान को त्याग होय श्रोत्रेन्द्रिय अपने स्थान में पुनः स्थित होय अपने व्यापार होती हुई ॥ १० ॥

मनो होच्चक्रामतत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच शकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रो वमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ ।

मन निकलता हुआ सो एक संवत्सर पर्यन्त बाह्य रह पुनः कहता हुआ कि मुझ विना तुम सर्व अपने जीवनके धारण कैसे समर्थ हुए ? जैसे बालक मन विना का प्राण करके जीवता करके बोलता है चक्षु करके देखता है श्रोत्रकरके ही श्रवण कर ऐसा श्रवणकर स्पष्टमन पुनः स्वस्थान में प्रवेश करता हुआ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार वागादि सर्व इन्द्रियां अपने २ बिषे श्रे का अभिमान धार शरीरका जीवन अपने आश्रय जान उसकी के लिये एक २ बाह्य निकल एक २ वर्षपर्यन्त अपने २ व्या उपराम होय पुनः आय अपने विना सर्वका जीवना देख लज्जि अपने २ स्थान में स्थित होय अपने २ व्यापार में प्रवृत्त हुई । न्तर सर्व इन्द्रियों के नायक मन ने विचार किया कि हमको इ का नायक होने से इन सर्व का जीवन व्यापार हमारे अधीन है अभिमान कर मन निकलताहुआ सो एक संवत्सरपर्यन्त बाह्य रह व्यापार से उपराम हो पुनः शरीरादिकों के निकट आय प्रश्न हुआ कि मुझ विना तुम सर्व अपने जीवन के धारण बिषे कैसे हुए । तब शरीरादिकों ने कहा कि जैसे बालक मन विना प्राण

जीवता है वाणी करके बोलता है चक्षु करके देखता है श्रोत्र करके ही श्रवण करता है । एतदर्थ मन विना के बालक के जीवन व्यापारवत् तुम्हारे विना हमारा जीवन व्यापार होता है । इसप्रकार जब शरीरादिकों ने कहा तब उसको श्रवणकर अपने श्रेष्ठत्वपने के अभिमान को त्याग लज्जापूर्वक अपने स्थान में स्थित होय अपने व्यापार में प्रवृत्त होता हुआ ॥ ११ ॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् सङ्खिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्त छंहाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधित्वन्नः श्रेष्ठोऽसिमोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ ।

अब प्रसिद्ध मुख्य प्राण निकलने की इच्छा करता हुआ सो जैसे श्रेष्ठ अश्व अपने पादबन्धन कीलों को उखाड़ता है तैसे इतर प्राणों (इन्द्रियों) को उखाड़ताहुआ तब सो प्राण समीप आय कहते हुए हे भगवन् ! आप हम सर्व के मध्य ज्येष्ठ व श्रेष्ठ हो आप उत्क्रमण मत करो ॥ १२ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार वागिन्द्रियादि लेके मन पर्यन्त सर्व अपने २ विषे श्रेष्ठत्वपने का अभिमान धार शरीर का जीवन अपने अधीन जान उसके निश्चयार्थ शरीर से एक २ निकल एक २ वर्ष पर्यन्त अपने २ व्यापार से उपराम हो बाह्यरह पुनः शरीर के निकट आय अपने विना अन्यों का जीवन देख आप अपने २ मिथ्या अभिमान से लज्जित हो स्वस्वस्थान में स्थित होय अपने २ व्यापार में प्रवृत्तहुए तब मुख्य प्राण ने कहा कि अब हम यहां से जाते हैं —ः॥ तदनन्तर मुख्यप्राण शरीर से निकलने की इच्छा करता हुआ । प्रश्न । सो इच्छा करके क्या करता हुआ । उ० । जैसे अतिश्रेष्ठ अश्वकी परीक्षा के लिये परीक्षक उसपर आरूढ़ होय कोड़े से ताड़ना करता है तब सो

अश्व भागने की इच्छा से अपने पैर बन्धन के कीलाओं (मेखों उखाड़ता है । तैसेही प्राण ने ।:— इन्द्रियों से अपने बिषे अनाद ताड़ना पाय अपने निकलने की इच्छाकर ।—: अपने अंश अप वा वागादि इन्द्रिय विशिष्टरूप इतरप्राणों को उनके उनके स्थ उखाड़ा । तब वो इन्द्रियरूप इतरप्राण चलायमान हुए सन्ते स्थान में स्थित होने को न सहसके (न समर्थ हुए) तब सर्व दु होय प्राण के समीप आय नम्रतापूर्वक कहते हुए । हे भगवन् पूजा नमस्कार करने योग्य !) जैसे वैश्य राजा से धन उपार्जन पुनः वो धन राजा के अर्थ बलि (कर) दान में देते हैं, तै सर्व आपको आपकाही धन अर्पण करते हैं क्योंकि आप हम स्वामी हो । अतएव आप अपना कर ले इस देह से मत निकलो, आप के निकलने से हम सर्व ही नाशको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

अथ हैनंवागुवाच यदहं वशिष्ठाऽस्मित्वंतद्व ऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहंप्रतिष्ठाऽस्मित्वं तिष्ठा ॥ १३ ॥

अक्षरार्थ ।

अब प्रसिद्ध प्राण को वाग् कहती हुई जो मैं वशिष्ठ हौं हौं वशिष्ठ हो । तदनन्तर उस प्राण को चक्षु कहताहुआ जो मैं प्रति सो तुम प्रतिष्ठा हौ ॥ १३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार कहके पुनः वागिन्द्रिय कहती हुई हम वशिष्ठ हैं सो तुम वशिष्ठ हौ । अर्थात् यहां जो यत् (जो) सो क्रियाविशेषण है अतएव जो वशिष्ठत्वगुण मैं हौं सो वशिष्ठ करे आप वशिष्ठ हौ । अथवा यहां जो तत् (सो) शब्दहै सो वि विशेषण है एतदर्थ आपका किया जो वशिष्ठत्वगुण सो आपका परन्तु अज्ञान करके उस आपके गुण को मैंने अपना मानके

किया है तथापि जो मुझमें वशिष्ठत्व गुण है सो आपकाही है । इस प्रकार वागिन्द्रियके कहे उपरान्त मुख्य प्राण से चक्षु कहताहुआ कि हे भगवन्! जो प्रतिष्ठा मैं हौं सो प्रतिष्ठा आपहौ अर्थात् जो प्रतिष्ठत्व गुण मुझ बिषे है सो आपही का है परन्तु उसको न जानके आप के उस गुण बिषे मैंने अपना अभिमान किया तथापि मुझमें जो प्रतिष्ठत्व गुण है सो आपही का है ॥ १३ ॥

अथ हैनछं श्रोत्रमुवाच यदहछंसम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनंमनउवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥१४॥ नवै वाचो न चक्षूछंषि न श्रोत्राणि नमनाछंसीत्याचक्षते। प्राण इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥ १५ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अक्षरार्थ ।

अब मुख्य प्राण को श्रोत्र कहताहुआ जो मैं सम्पत् हौं सो आप सम्पत् हौ । तदनन्तर मुख्य प्राण को मन कहताहुआ जो मैं आयतन हौं सो आप आयतन हौ ॥ १४ ॥ निश्चय करके न वाक् है न चक्षु है न श्रोत्र है न मन है ऐसा कहते हैं प्राण ही है जो यह सर्व हुआ है ऐसा कहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य! उक्तप्रकार जब मुख्य प्राण से वाक् अरु चक्षु ये दोनों कहचुके तदनन्तर श्रोत्र अरु मन ये दोनों उस मुख्य प्राण से कहते हुए । तहां प्रथम श्रोत्र कहता हुआ कि हे भगवन्! (हे नमस्कार करने के योग्य!) मैं जो सम्पदा हौं सो आप सम्पदा हौ । अर्थात् मुझ में जो सम्पदत्व रूप गुण है सो आपही का गुण है, परन्तु उसके अज्ञान से मैंने आपके सम्पदत्वरूप गुणको अपना मानके अभिमान किया तथापि सो

गुण आपका किन्तु आपही हौ॥ हे सौम्य ! इसप्रकार जब श्रोत्र
रहा उसके उपरान्त उस मुख्य प्राण से मन कहता हुआ कि हे भग
(हे पूजाकरने के योग्य!) मैं जो आयतन हौं सो आपही आयतन
अर्थात् मुझ में जो आयतनपनारूप गुण है सो आप का ही है,
तैसे जाने विना आपके उस आयतनपनेरूप गुणमें मैंने अपना अ
किया कि यह आयतनत्वरूप गुण मेरा है परन्तु सो मेरा नहीं कि
गुण आपका है वा आपही हौ॥ १४॥ हे सौम्य ! श्रुति का यह
युक्तही है जो वागादि इन्द्रियों करके एक मुख्य प्राणही सर्व से श्रे
जिसकरके ही लोकबिषे न वाचा है, न चक्षु है, न श्रोत्र है, न
है। इसप्रकार वागादि करणों को साधारण लौकिक पुरुष वा शा
जाननेवाले पुरुष कहते हैं। प्रश्न। तब क्या है। उत्तर। प्राणही
हैं [अर्थात् वागादि इन्द्रियों को प्राण की परतन्त्रता है] जिस
प्राण ही इन सर्व वागादि करणजात (करणरूप) हुआ है। वा
इन्द्रियोंसे प्रति अनुरूप एक मुख्य प्राणही हुआहै वा कहाहै॥ श
ननु जैसे चेतनावान् पुरुष परस्पर विवाद करतेहुए स्पर्द्धा करते हैं
ही अचेतनवान् वागादि इन्द्रियों का अपनी २ श्रेष्ठता के प्रख्या
परस्पर में विवादपूर्वक स्पर्द्धा करना ऐसा जो कथन सो उन श्रे
के लिये युक्त नहीं, क्योंकि अचेतनों बिषे स्पर्द्धादिकों का अदर्शन
अरु वाणीसे अतिरिक्त चक्षुरादि इन्द्रियोंका जो परस्परमें संवादक
सो भी अनुचितही है, क्योंकि कथन को वाणी का व्यापारपना है
चक्षुरादिकों को नहीं। अरु तैसेही वागादि इन्द्रियों को अचेतन
से उनका शरीर से निकलना प्रजापति के पास जाना पुनः श
प्रवेश करना।:—और पुनः शरीर से निकलना एक संवत्सर
बाह्य रहना स्वव्यापार से उपराम होना पुनः समीप आवना
विना सर्व को जीवता देख लज्जित हो स्वस्थान में स्थित होना
स्वव्यापार में प्रवृत्त होना—:। इत्यादि कुछ भी सम्भवे नहीं॥
धान॥ अग्नि आदिक चेतनावान् देवताओं को उन वागादि इ
का अधिष्ठाता होनेसे उन वागादि इन्द्रियों को चेतनावान्पना अ

(वेद) करके अनादि सिद्ध है। अर्थात् [अग्नि आदिक जे चेतनावान् देवता हैं तिन्हों करके अधिष्ठित होने से इन्द्रिय अरु तिनके अधिष्ठाता देवताओं का तादात्म्यरूप अभिप्राय से वागादि इन्द्रियों को चेतनावान्पने का सम्भव है, अतएव उन बिषे वचनादि सर्वव्यापार सम्भवे है। तथाच। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशादिति॥ शङ्का॥ ननु एक देहको अनेक चेतन करके युक्त होना युक्त नहीं, क्योंकि ईश्वर के निमित्त कारणपने का अग्रहण होनेसे॥ समाधान॥ [वादी के मतकरके जैसे एक देह को चेतन जीवकरके अधिष्ठितपना है तैसे चेतन ईश्वर करके भी अधिष्ठितपना मानते हैं, तब एक शरीर को अनेक चेतन करके अधिष्ठितपना सम्भवे नहीं ऐसी जो ईश्वरवादियों की शङ्का सो युक्त नहीं]॥:—हे सौम्य! यह जो विद्वानों ने अन्वय व्यतिरेक करके वागादि इन्द्रियों का और प्राण का परस्पर में संवादरूप उक्त आख्यायिका कही है सो सर्व में एक प्राण की ज्येष्ठता व श्रेष्ठता के निर्द्धारणार्थ अध्यारोपमात्र है। जैसे लोक बिषे बहुत से पुरुष अपनी २ श्रेष्ठता के प्रकट करने के लिये परस्पर में विवाद करत सन्ते किसी एक गुण विशेष के जाननेवाले गुणज्ञ पुरुष के निकट जाय प्रश्न करते हुए कि हे भाई! हम सर्व में गुणों करके अधिक कौन है। तब उस ने उत्तर दिया कि जिस एक गुण (कार्य करने) का तुम अपने २ बिषे अभिमान मानते हो उन सर्व कार्य के करने में जो एक समर्थ होय उसही को तुम अपने मध्य गुणों करके अधिक मानो। तैसेही इन वागादिकों का विवाद और निर्णयरूप आख्यायिका श्रुति ने कल्पना किया है। क्योंकि श्रुति का तात्पर्य आख्यायिका के कथन बिषे न होके प्राण की ज्येष्ठता व श्रेष्ठता के निर्द्धारविषयक है। क्योंकि उक्त अध्यारोप का अपवाद एक प्राण की महिमा बिषे है। अरु [अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतादि रूप सर्व देवतादिकों का एक मुख्य प्राणरूप देवताबिषे समास है। तथाच। "कतम एको देव इति, प्राण इति"। यह बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीयाध्याय के शाकल्य ब्राह्मण बिषे शाकल्य नाम ऋषि से याज्ञवल्क्य ऋषि का वाक्य है। अर्थात् उक्त

ऋषियों के संवाद द्वारा अध्यात्म आदि सर्व देवताओं का एक प्राणरूप देवता बिषे समास निर्णय हुआ है] । :- अतएव श्रो आदि सर्व देवतादिकों का जीवन एक मुख्य प्राण को होने प्राणही सर्व में श्रेष्ठ है । अथवा प्राण को अपरब्रह्मत्व और ब्रह्मत्व होने से भी प्राणही श्रेष्ठ है । और वागादि एक २ के अभाव हुए भी शरीर का जीवन देखते हैं न तु प्राण के । मुख्य प्राण के अभावहुए किसी का भी जीवन देखते नहीं । एक मुख्य प्राणही सर्व में श्रेष्ठता को प्राप्तहोता है, इस विषय शीतकी उपनिषद् की श्रुति भी प्रमाण है । तथाच । "जीवति पेतो मूकान् हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् हि पश्यामो श्रोत्रापेतो बधिरान् हि पश्यामो जीवति मनोपेतो बालान् हि जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्नः" । इत्यादि ॥ १५ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके द्वितीयखण्डः प्रारभ्यते ।

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदि श्वेभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वाएतदनस्यान्नम् वै नाम प्रत्यक्षं न हवा एवंविदि किञ्च नान्नं भवतीति

अब छान्दोग्य पञ्चमप्रपाठक में द्वितीयखण्ड का आरम्भ करते

अक्षरार्थ ।

सो प्राण स्पष्ट कहता हुआ क्या मेरा अन्न होगा वागादिकों जो कुछ यह सहित अश्व के और सहित शकुनी के भक्षण किया है सो तुम्हाराही अन्न है । यह अन (प्राण) काही अन्न है, ता ही प्राणका प्रत्यक्ष नाम अन है, जो स्पष्टही उक्त प्रकार के जानता है उसका सर्व अन्न नहीं ऐसा नहीं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब प्राण के उत्क्रमण (निकलने

गादि इन्द्रियोंने इस शरीर में अपनी स्थिति किसी प्रकार भी न देखी व्याकुल होय प्राण के स्थित रहने में उसकी प्रार्थना की अरु अपने२ बिषे जो २ गुण विशेष हैं सो तुम्हारेही हैं ऐसा कहके अपने २ बिषे जे प्राणके वशिष्ठत्वादि गुण सो ' जैसे राजा को वैश्य तैसे प्राणरूप अपने राजा को बलि अर्पण किया, तब शरीर में स्वस्थ होय प्राण उन वागादिकों के प्रति प्रश्न करता हुआ । अर्थात् मुख्य प्राण को प्रश्नकरनेवालेवत् अरु वागादिकों को उत्तरदातावत् कल्पनाकर श्रुति कहती हुई ॥ सो प्राण जो सर्व में ज्येष्ठ श्रेष्ठ है वागादि इन्द्रियों से प्रश्न करता हुआ कि मेरा अन्न क्या होगा । इस प्रकार जब मुख्य प्राण ने प्रश्न किया तब वागादि इन्द्रियां कहती हुई कि हे भगवन् ! जो इस लोक बिषे यावत् अन्न (भक्षण करने योग्य पदार्थ) प्रसिद्ध हैं, अरु जो सहित श्वकरके अरु सहित शकुनी (पक्षी) करके भक्षण कियाजाताहै ।:— अर्थात् अश्व उपलक्षण करके समस्त जे रजजाति के जीव अरु शकुनी उपलक्षण करके अण्डज जाति के समस्त जीव जो अन्न तृणादिकों के भक्षक हैं तिन्हों करके । वा सामान्यरीत्या सर्व प्राणियों का जो अन्नहै, अर्थात् सर्व प्राणधारी जीवमात्र का जो अन्न है सो तुम्हारा ही अन्न है । प्राणका ही सर्व अन्न है, क्योंकि “ प्राणोऽत्ता सर्वस्यान्नस्येति” । ऐसा प्रतिपाद्य है । इस प्रकार इन्द्रिय अरु प्राणके परस्पर संवादरूप कल्पित आख्यायिकारूप श्रुति को समाप्त वा पृथक् करके अब स्वयंश्रुति कहती है । सोई यह लोक बिषे किंचिन्मात्र भी जो प्राणियों करके अन्न भोजन कियाजाता है सो सर्व 'अन' नामवाले प्राणका ही अन्न होता है । अर्थ यह जो प्राण करके ही सो अन्न भक्षण किया होता है । अरु सर्व प्रकार चेष्टा व्याप्ति गुण प्रदर्शनार्थ 'अन' यह प्राण का प्रत्यक्ष नाम है । अथवा तैसे सर्व अन्नों का अत्ता (भोक्ता) इस नाम के ग्रहणार्थ प्राण का यह प्रत्यक्षनाम 'अन' है ॥ अरु सर्व अन्न का भोक्तापना प्राण का सर्वको प्रत्यक्ष अनुभव है । अतएव स्पष्ट ही जो उक्त प्रकार के भोक्तारूप प्राण का जाननेवाला (अहमग्रे उपासनाकरनेवाला) अर्थात् जो सर्व भूतों बिषे स्थित होयके सर्व अन्न का

भोक्ता जो प्राण है सो प्राण मैं हौं मुझसे इतर भोक्ता प्राण कोई इस प्रकार का जो अहमग्रे उपासना करनेवाला जो कोई विद्वान् है तिस करके जो 'किंचिन्मात्र भी सर्व प्राणियों करके भोजन होता है सो सर्व उस विद्वान् करके भोजन किया न होता हौं नहीं। अर्थात् सर्व प्राणिमात्रों करके जो कुछ भोजन किया है सो सर्व उस प्राण के उपासक विद्वान् करके ही किया होता है। वो विद्वान् अहमग्रे उपासना द्वारा प्राणभूत (प्राणसाथ अभेद है ताते। तथाच। "प्राणाद्वा एष उदेति प्राणोऽस्तमेति"। "म्यैवंविदो ह्वा उदेति सूर्य एवं विचरस्तमेतीति"। श्रुत्यन्तरात्।

सहोवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति हो-स्माद्वाएतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परि-लम्भुको हवासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

सो प्राण कहताहुआ कि मेरा वस्त्र क्या होगा ? वागादिक हुए जल आपका वस्त्र है तस्मात् यह जो विद्वान् भोजन करता के पूर्व और पश्चात् जल करके परिधान करता है सो लाभ हुआ है तब स्पष्ट अनग्न होता है ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! पूर्ववत् पुनः श्रुति आख्यायिका की कल्पना करती है।:—उक्त प्रकार जब वागादि इन्द्रियों ने मुख्य प्राण के अर्थ प्राणियों करके भक्षण किया जो अन्न सो आपका ही होता है, ऐसा प्रश्न के उत्तर में कहा तब पुनः। सो प्राण प्रश्न करताहुआ कि मेरा क्या होगा, तब वागादि इन्द्रियों ने पुनः उत्तर दिया कि जल आपका वस्त्र होगा। अर्थात् प्राणका वस्त्र जल होने करके यह जो यथोक्त विद्या का जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण जो सर्व जीवों का एक प्राण हुआ सर्वत्र सब अन्न का भोक्ता है सो भोजन करने के पूर्व और प

लपान वा जल का आचमनरूप परिधान करता है तब वो जल मुख्य
ण को लाभ हुआ वस्त्र होता है, अर्थ यह जो वो जल प्राण को
त्र प्राप्तहुएवत्रही होता है। तब वो प्राण अनग्न होता है॥:—अर्थात्
त्र से रहित का नाम नग्न होता है अरु वस्त्रवाले का नाम अनग्न
(नग्नता से रहित का नाम अनग्न है) सो प्राणविद्या को यथार्थ
नके उसकी अहमग्रे उपासना करनेवाले विद्वान् का जो भोजन के
और उत्तर जलपान वा आचमन है सो मुख्य प्राण का वस्त्र स्था-
पन्न होने से वो प्राण अनग्न होता है:—। अर्थात् वस्त्रवान् होता है।
रु भोजन करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण के लिये भोजन से पूर्वोत्तर जो
चमन विधि है सो शुद्धि के लिये जानी गई है उस विधि बिषे जो
ण का वस्त्र होता है सो केवल दर्शन (देखावने) मात्र है। अर्थात्
से कहा है कि लौकिक प्राणीमात्र करके भोजन किया जो अन्न है
सर्व प्राण का ही है, ऐसा देखावने के लिये कहा है। तैसेही सर्व
णियों करके पानकिया जल सामान्यरीत्या प्राण का वस्त्र होता है,
योंकि जैसे प्राण ने कहा कि मेरा अन्न क्या होगा ? तैसेही पुनः कहा
मेरा वस्त्र क्या होगा ? इसके उत्तर में इन्द्रियों ने कहा कि सर्व
णियों करके भक्षण किया जो अन्न सो तुम्हाराही होगा, तैसे भोजन
पूर्वोत्तर में जो जलपान है सो तुम्हारा वस्त्र होगा ऐसा देखाया है,
योंकि दोनों प्रश्नोत्तरों की समानताहै। :—अरु विशेष करके प्राणविद्या
ननेवाले विद्वान् के लिये भोजन के पूर्वोत्तर में आचमन करने की
धिभी है। अरु सो विद्वान्करके किये जे भोजन के पूर्वोत्तर में आच-
न सो प्राण के बिछावने ओढ़ने के वस्त्र स्थानापन्न होते हैं॥ २॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायो
क्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवा
स्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ३॥

अक्षरार्थ।

सो स्पष्ट यह (प्राणविद्या) सत्यकाम जाबाल नामवाला

ऋषि गोश्रुत वैयाघ्रपद्य ऋषि से कहताहुआ, यद्यपि जिस को स्थाणु प्रति कहे तो उस बिषे नवीन शाखा पत्र पुष्पादिक आवते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य! अब श्रुति जो है सो प्राणविद्या की स्तुति करती है कैसी वो स्तुति है । उत्तर । सोई प्राणविद्या जो पूर्व स्पष्ट कही की महिमा सत्यकाम जाबाल नामवाला ऋषि गोश्रुत नामवाले ऋषि के प्रति कहताहुआ । अर्थात् व्याघ्रपदनामक के पुत्रको वैयाघ्रपद्यनाम से कहते हैं, ताते व्याघ्रपद नामवाले के याघ्रपद्यगोश्रुत नामवाले ऋषि के प्रति सत्यकाम जाबाल ऋषीश्वर जो प्राणविद्या का सम्यक् प्रकार ज्ञाता है सो कहता हे गोश्रुत! जो कदापि प्राणविद्या के जाननेवाला प्राण का उ प्राणविद्या शुष्क (सूखे) काष्ठ के ठूंठ प्रति कहै तो उस सूखे नवीन शाखा औ पत्र पुष्पादिक प्रकट (उत्पन्न) होते हैं। यह प्राणविद्या साधनसम्पन्न शुद्ध जिज्ञासु प्रति सम्यक् प्रा करके उपदेश कियाजाय अरु उस जिज्ञासु के अज्ञात अन्त शुष्क स्थाणुबिषे श्रद्धारूपा शाखा अरु प्राणविद्या के मन्त्रों की रूप पत्र अरु प्राण की अहमग्रे उपासनारूप पुष्प अरु सूत्र पद की प्राप्तिरूप फल, प्राप्त होवे तो क्या आश्चर्य है कि भी नहीं ॥ ३ ॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा मास्यार्छं रात्रौसर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनो छाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे मवनयेत् ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

उसके अनन्तर यदि महत्त्व की इच्छा होय तो अमा

दीक्षावान् होय पूर्णमासी की रात्रि को सर्वओषधियों का मन्थन कर दधिमधुमिलाय, " ज्येष्ठाय, श्रेष्ठाय स्वाहा, " इस मन्त्र से अग्नि बिषे घृत की आहुति करे (जो स्रुवा में लगारहे तिसको) मन्थ में डाले ॥४॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्राणविद्या के जाननेवाला जो उपासक है उसके लिये इस मन्थ नामवाले कर्म के कहने का आरम्भ करते हैं । तिसके अनन्तर । :—अर्थात् वागादि सर्व में प्राणकी ज्येष्ठता श्रेष्ठता के जानने के अनन्तर :— । जो कदापि उस विद्वान् को सर्व में महत्त्वपनेके प्राप्त होनेकी इच्छा होय तो उसके लिये यह कर्मविधि कहते हैं । अर्थात् बहुतसे धनादि प्राप्तिवालेको यह कर्मानुष्ठान है क्योंकि धन करके यज्ञादिक होते हैं अरु उसकरके पुनः देवयान को और पितृयान को वा अन्यमार्गों को प्राप्त होता है, अतएव उक्तमार्गों की प्राप्तिरूप प्रयोजन को एकत्र करने की इच्छावाले के लिये यह कर्म है, विषय भोगों की कामनावाले के लिये नहीं । :— अर्थात् यह जो प्राणविद्या के जाननेवाले प्राणोपासक के लिये महत्त्वप्राप्ति की इच्छासे मन्थाख्य कर्म है सो मुख्यकरके प्राणोपासनाद्वारा सूत्रात्मा के पद की प्राप्तिरूप महत्त्व, अरु देवयानमार्ग से प्राप्त जो ब्रह्मलोक उसकी प्राप्तिरूप महत्त्व, अरु पितृयान मार्ग से प्राप्त जो पितृलोक उसकी प्राप्तिरूप महत्त्व, वा अन्य विद्या के मार्ग से अन्य देवभावकी प्राप्तिरूप महत्त्व, तिन महत्त्वों के लिये जानना । अरु इस लोक के महत्त्व का प्राप्ति इस कर्म का मुख्य अरु आवान्तर फलहै ऐसा जानना । तात्पर्य यहहै जो इस मन्थाख्यकर्म का फल विशेष धनकी प्राप्तिहै सो इस कर्म से जो धन प्राप्त होवे तो उस धनसे वो विद्वान् अपने बिषे उत्तरायण आदि मार्ग से प्राप्त जो ब्रह्मलोक उसकी प्राप्तिरूप महत्त्व उसको सम्पादन करे । इस कर्मसे प्राप्त हुआ जो धन उसको विषयभोग में व्यय न करे क्योंकि विषयभोगमें व्यय किया धन अनर्थ का हेतु होता है । ताते यह जो अग्रिम कहने का मन्थाख्यकर्म है सो विषयभोगकी कामनावालों के लिये नहीं :— । हे सौम्य ! अब इस अग्रिम कहने के मन्थाख्यकर्म के

करने के कालादि विधिको कहते हैं।:—हे प्रियदर्शन! मूल श्रुति
भाष्यकार स्वामीने अयनविधि कही नहीं कि अमुक अयन
में यह कर्म करना, परन्तु मैं अपनी अल्पबुद्धिके विचारानुसार
करके कहता हौं कि इस कर्म के करने में प्रथम उत्तरायण का
होय तों अति उत्तमहै :—। अमावास्या के दिवस दीक्षावान् होय,
यज्ञादिकों की दीक्षा को प्राप्तहुए यजमानवत् भूमिशयनादि
को करे जो तपरूप है, तहां सत्यभाषण करना ब्रह्मचर्य्य विधि
अर्थात् स्त्रीसंगका त्यागकरना क्षौर अभ्यङ्गादि न करावना
स्पर्श न करना त्रिकाल स्नानादिक करके पवित्र रहना, भूमिपर
चटाई वा धौतवस्त्र बिछायके शयनकरना इन्द्रियों को विषयों से
समाहितचित्तसे प्राण के ज्येष्ठत्व श्रेष्ठत्वादि गुणोंको श्रुतियों
क्यानुसार विचारते रहना अन्न भक्षण न करना, उपसद्व्रती
"उपसद्व्रतीति।" श्रुत्यन्तरात्। अर्थात् पय (दूध) मात्र का
करना (दूध मात्र का आहारकरके जो तपाचरण करते हैं उन
सद्व्रति कहते हैं) इस प्रकार शुद्धिके कारण तपको करना। इ
अमावास्या से दीक्षित होय तपाचरण करतसन्ते जब पूर्णमासी
आय प्राप्त होवे तब उसकी रात्रिमें कर्मका प्रारम्भ करना, तहां
में अरु अरण्य में प्राप्त होनेवाली सर्व ओषधियों को अपनी
अनुसार थोड़ा २ इकट्ठा करना।:—यहां जो शक्तिके अनुसार
लेनेको कहा है तिसका तात्पर्य यह है कि अग्रिम कहने का
षधियों का मन्थ अन्त में यजमानको भक्षण करनापड़ता है
अपने भक्षण करने की शक्तिके अनुसार ग्रहण करे क्योंकि वो
नहीं जाता :—। और श्रवणकरो हे सौम्य!।:—बृहदारण्यक उ
के अष्टमाध्याय बिषे भी इस प्राणविद्यापूर्वक मन्थाख्यकर्म की
कही है, तहां अमावास्या से प्रारम्भ पौर्णिमापर्य्यन्त का नियम
नहीं, वहां शुक्लपक्ष अरु द्वादश दिवसका नियम किया है। अ
की सर्वौषधि में व्रीहि यवादि सर्व अन्न के ग्रहण करने का नियम
अरु अरण्यकी ओषधियों में उससमय जितने ऋतुफल होयँ

भी यथाशक्ति लेना कहा है। अरु कर्म्म में विधानकिये जे स्रुवादि पात्र सो सर्व गूलर के काष्ठके होने चाहिये ऐसा कहा है। अरु इस छान्दोग्योपनिषद् में कहेकी अपेक्षा बृहदारण्य में विधि विशेष भी है:—। हे सौम्य! पूर्व कही जो ग्रामकी सर्व अन्नरूपा ओषधि अरु अरण्यकी सर्व ऋतुफलरूपा ओषधि।:— अरण्य की सर्व ओषधियों का रात्रि में प्राप्त होना प्रायः कठिन है अतएव उसको दिवस में ही संग्रह करना:—। तिन सर्व के छिकुले आदि पृथक् कर उनको शुद्ध स्वच्छ करना, पश्चात् सहित दधि मधु के उन सर्व ओषधियों को पीसना पश्चात्। "औदुम्बरे कंसाकारे चमसाकारे पात्रे"। इस अन्य (बृहदारण्य की श्रुति के प्रमाण से गूलरके काष्ठ का चमस के आकार पात्र में उन पिसी हुई सर्वौषधियों को रखके अपने अग्रभाग में रखना। :—हे सौम्य! जिस स्थान में हवन करे वहां की भूमि को प्रथम झड़वाय लिपवायके शुद्ध करे पश्चात् उस भूमि के मध्य एक हाथ लम्बी अरु एक हाथ चौड़ी चार अंगुल ऊंची शुद्ध मृत्तिका की वेदी निर्माण करे, पुनः। "परिसमूह्य परिलिप्य अग्निमुपसमाध्याय"। इत्यादि श्रुति स्मृति के कहे प्रमाण उस वेदी को संस्कार करके शुद्ध करे तहां प्रथम तीन कुशों से उस वेदी को तीनबार झाड़े पश्चात् अपने अंगुष्ठ औ अनामिका अंगुली इनकी चुटकी से तीनबार उस वेदीमें से मृत्तिका बाहिर डाले, पश्चात् तीनबार उस वेदी पर पानी का छींटा दे उपलेपन करे। इस प्रकार उस वेदी को शुद्ध कर पश्चात् उस वेदी पर धूमरहित अङ्गार अग्निको स्थापित कर इसपर गूलर वा पलाश काष्ठका समिध् रख उस अग्निको प्रज्वलित कर उस पर एक पात्र में गौके घृत को तपावे, पश्चात् उस घृत की। "अग्नये स्वाहा"। इत्यादि मन्त्र से तीन २ आहुति करे अर्थात् प्रथम कुशकण्डिका कर अग्निके संस्कारकरे पश्चात् मन्थाख्यकर्म की आहुति करे :—। पश्चात्। "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा"। इस मन्त्र से घृतकी आहुति करे औ स्रुवा में रहा जो आहुति का शेष घृत सो उस मन्थमें डाले॥ ४॥

वशिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्यहुत्वा मन्थे सम्पा

तमवनयेत्सम्पदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे स
तमवनयेदायतनायस्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वामन्थे स
तमवनयेत् ५ अथप्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय ज
मो नामास्यमाहिते सर्वमिदꣳ सहि ज्येष्ठः श्रेष्ठोरा
पतिः समाज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमय
मवेदꣳ सर्वमसानीति ६ अथ खल्वेतयर्चापच्छ
चामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य
जनमित्याचामति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति
गस्य धीमहीति सर्वं पिबति ७ निर्णिज्यकꣳसं
वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले व
चोयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मे
द्यात् ८ तदेषश्लोको "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ
षु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्श
स्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ९ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठके प्राणविद्या समाप्ता

भावार्थ ।

हे सौम्य ! । इस प्रकार । "वशिष्ठाय स्वाहा" । इस मन्त्र से
में घृत की आहुति करें औ स्रुवा में रहे आहुति के शेष घृत
मन्थ में डाले । ऐसेही । "प्रतिष्ठायै स्वाहा" । "सम्पदे स्वाहा"
तनाय स्वाहा" । इन मन्त्रों करके भी अग्नि में घृत की आ
औ पूर्ववत् ही प्रति आहुति के स्रुवा में रहे शेष घृत को उस
डालत जावे ॥ हे सौम्य ! उक्त प्रकार आहुति करके पश्चात्

दोनों हाथों की अञ्जली में उस मन्थ को लेके इस मन्त्र से उस मन्थ की स्तुति करे । मन्त्र । "अमोनामास्यमाहितेसर्वमिदꣳसहि ज्येष्ठःश्रेष्ठो राजाधिपतिः समाज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यंगमयत्वहमेवेदꣳसर्व्वमसानीति" । अर्थ । अम यह प्राण का नाम है अन्न करकेही प्राण शरीर में रहता है, एतदर्थ मन्थरूप द्रव्य प्राण का अन्न (आश्रय) होने से उस मन्थ की प्राणरूप से स्तुति करते हैं किंतु अम नामवाला है, जो तू प्राण के साथ एक है इस करके तुझ इस प्राणभूत का यह समस्त जगत् होने से अम नामवाला है । सो निश्चय करके प्राणभूत मन्थ ज्येष्ठ श्रेष्ठ है । एतदर्थही सर्वका राजा दीप्तिमान् सर्व का अधिपति (अधिष्ठाता) होने से सर्व का तू पालयिता है । सो तू मुझको भी प्राणात्मभूत प्राण के ज्येष्ठत्वादि गुणों को प्राप्त कर कि जिस करके मैं भी प्राणवत् गुणवान् होवों इति । शब्दमन्त्रकी समाप्ति के अर्थ है ॥ तिसके अनन्तर कहने के मन्त्र के एक २ पाद करके मन्थ में से एक २ ग्रास भक्षण करे । तहां । "तत्सवितुर्वृणीमहे" । इस प्रथम पादसे प्रथम ग्रास भक्षण करे । "वयं देवस्य भोजनं" । इस द्वितीयपाद से द्वितीय ग्रास भक्षण करे । "श्रेष्ठꣳसर्वधातमं" । इस तृतीयपादसे तृतीय ग्रास भक्षण करे पश्चात् । "तुरंभगस्य धीमहि" । इस चतुर्थ पाद से सर्व्व पान करे अर्थात् उस मन्थ के पात्र को कि जिस चमसाकार पात्र बिषे मन्थ स्थापित कियारहा उसको धोयके उस जल को पान करे । पश्चात् वाणी का बोलने से संयम कर अफुरचित्त हो अर्थात् सर्व अशुभ व्यावहारिक चिन्तना को त्यागकरे कि जिसके संस्कार से स्वप्न में अनिष्ट दर्शन न होय, ऐसा समाहितचित्त होयके अग्नि की ओर मस्तक कर अर्थात् वो अग्नि कि जिस बिषे हवन किया है' अपने मस्तक के निकट पूर्व्वदिशा में होय ऐसे स्थान में अजिन (मृगचर्म) पर वा केवल भूमिपर शयन करे । इसप्रकार कर्म समाप्त करके वहां सोयाहुआ यजमान यदि स्वप्न में स्त्री को देखे तो यह निश्चय करे कि मेरा यह कर्म यथार्थ हुआ और मुझको समृद्धि (लक्ष्मी) प्राप्त होगी इस अर्थ बिषे वेद का मन्त्रभी प्रमाण है । यदि (धनकी) कामना से किया जो कर्म

उसकी समाप्ति हुए स्वप्न में जो (अपूर्व) स्त्री को देखे तो यह
कि मुझको समृद्धि प्राप्त होगी क्योंकि मैंने स्वप्न में स्त्री को दे
दोबार जो कथन है सो कर्म समाप्ति के सूचनार्थ है ॥ ५ । ६ ॥

इति द्वितीयःखण्डः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदिपञ्चमप्रपाठकविषयकप्राणविद्या समाप्ता

अथ पञ्चमप्रपाठके पञ्चाग्निविद्या प्रारभ्यते ।

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाᳫं समितिमेयाय ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पिता हि भगव इति ॥ १ ॥

अब पांचवें प्रपाठक में पञ्चाग्निविद्या का आरम्भ करते हैं

अक्षरार्थ ।

श्वेतकेतु नाम प्रसिद्ध आरुणेय पञ्चालदेश के राजा की सभा
प्राप्त होताहुआ तब उससे प्रवाहण नाम जैवलि राजा प्रश्न करता
हे कुमार ! तुझको पिताने विद्या पढ़ाया है, उसने कहा हां भगवन्
पढ़ाया है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! अब मुमुक्षु पुरुष जो मोक्ष की इच्छा
वाला है उसको इस नामरूपक्रियात्मक अतिदुःखमय असत
से, जो दृढ़ बन्धन का हेतुहै, दृढ वैराग्य होने के लिये ब्रह्मा से
लेके स्तम्बपर्यन्त संसारगति का कहना योग्य जानके परम
करनेवाली श्रुति भगवती एक आख्यायिका द्वारा संसारगतिको
है ॥:—तहां एक उद्दालकनाम ऋषि और प्रवाहण नाम राजा का
है, तहां उक्त राजा ने उक्त ऋषीश्वर को संसारगति देखावने
पञ्चाग्निविद्या उपदेश करी है । हे सौम्य ! यह जो पञ्चमाध्याय
कया है अर्थात् आख्यायिका है सो षष्ठ अध्याय की आख्यायि
पश्चात् की है, क्योंकि उद्दालकऋषि ने अपने श्वेतकेतुनाम

षष्ठ अध्याय में उपदेश कियाहै उसके पूर्व उद्दालक ने आप उस श्वेतकेतु को विद्या अध्ययन कराया नहीं अन्य आचार्य के यहां भेजके उसको विद्याध्ययन करवाया। अरु इस पञ्चमाध्याय की आख्यायिका में उक्त राजा ने श्वेतकेतु से प्रश्न किया है कि हे कुमार! तुझको तेरे पिताने सर्वविद्या उपदेश किया है तब श्वेतकेतु ने कहा कि हां मुझको पिताने सर्वविद्या उपदेश कियाहै। अतएव जानना चाहिये जो षष्ठ अध्याय की कथा के पश्चात् की यह कथा है। अरु वो श्वेतकेतुको राजा करके किये पांचों प्रश्नों में से किसीका भी उत्तर न आया तब वो अतिलज्जित हो अपने पितासमीप जाय सर्व वृत्तान्त कह कहताहुआ कि हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि मैंने तुझको सर्वविद्या अध्ययन कराया है परन्तु मुझसे राजा करके प्रश्न करी गई जो विद्या सो आपने नहीं पढ़ाया॥ हे सौम्य! इन सर्वप्रसङ्गों से प्रतीत होताहै जो यह पञ्चमाध्यायसम्बन्धी श्वेतकेतु की कथा षष्ठ अध्याय के पश्चात् की है। परन्तु षष्ठ अध्याय में जो कथा है सो और सप्तम व अष्टम अध्याय में जो कथा है सो सर्व आत्मविद्या महावाक्य और आत्मोपासना का उपदेश है, अतएव इस षष्ठ अध्याय की आख्यायिका कथा से पश्चात् होनेवाली आख्यायिका कथा को उपासनासम्बन्धिनी होने से इस पञ्चमाध्याय में कि जिसमें अन्य भी उपासनविद्या है कहा है॥

हे सौम्य! एक समय श्वेतकेतु नामवाला प्रसिद्ध अरुण नामवाले ऋषि का पौत्र अरु आरुणि नामवाले ऋषि का पुत्र आरुणेय सो पाञ्चालदेश के राजा की सभा में आय प्राप्त हुआ, तब तिसको अपनी सभा में आया देख प्रसिद्ध जो प्रवाहण नामवाला और जैबलि नामवाले राजा का पुत्र ताते जैबलि नामवाला राजा सो उस श्वेतकेतु को कहताहुआ कि हे कुमार! तुझको पिता ने विद्या शिक्षा कियाहै, अर्थात् तू अपने पिता से विद्या शिक्षा पाय अनुशिष्ट (सर्वविद्यासम्पन्न) हुआ है। इस प्रकार जब उस प्रवाहण नाम जैबलि राजा ने श्वेतकेतु से प्रश्न किया तब वो कहताहुआ कि हे पूजा योग्य, राजन्! मैं अनुशिष्ट हौं॥:—हे सौम्य! वो श्वेतकेतु अपनी

बाल्यावस्था में माता पिता को अधिक प्यारा और चञ्चलस्वभाव ने शिक्षा को न ग्रहण कर मूर्खबालकोंवत् खेलताही रहा, तब उसके ने उसके स्वभाव को देख अनुमान किया कि यह यहां विद्या करने का नहीं, अतएव इसका किसी अन्य आचार्यके यहां विद्या यन करने को भेजना चाहिये। ऐसा विचार उसका यज्ञोपवीत कर आचार्य के यहां विद्या अध्ययन करने के लिये भेजा, तब वो अन्य कुलीन आचार्य के यहां विद्याअध्ययनार्थ गया, उससम श्वेतकेतु की द्वादशवर्ष की अवस्था थी और तीव्रबुद्धि होने के वो चौबीस वर्ष की अवस्था होने पर्य्यन्त उसने छहो अङ्ग सहित ऋगादि चारों वेद अध्ययन करलिया, और अन्य सर्ववि में अधिक विद्वान् होनेसे उसको यह अभिमान हुआ कि इस सम समान विद्वान् अन्य कोई नहीं। इस प्रकार अहंकारी अप्रणात हुआ वो श्वेतकेतु देश देशान्तर में जाय अन्य ब्राह्मणों को शा परास्त करता घूमता अपने पिता के निकट आय प्राप्तहुआ, प पने को विद्वान् अधिक समझने के कारण पिताको भी प्रणाम न तब उसके पिता उद्दालक ने अपने पुत्र उस श्वेतकेतु को मह मानी अप्रणातस्वभावरूप दोषकरके युक्त होने से उसको अप कुल में कलङ्करूप हुआ जान उसके दोष की निवृत्ति करना विचा किया कि हे पुत्र ! तू जो इस प्रकार अहंकारी अप्रणातस्वभाव सो अन्य विद्वान् ब्राह्मणों से तुझ में क्या विशेष है, जो तू विद्या का इतना अभिमान करता है सो उस विद्या को भी जा या नहीं कि जिस एक के जानने से सर्व जानाजाता है तब उस कि उस विद्या को मैं नहीं जानता और आचार्य ने भी मुझ विद्या नहीं कही। अतएव हे भगवन् ! आप उस विद्याको मैं कहिये। इसप्रकार जब श्वेतकेतु ने कहा तब उसके पिता ने पूर्वक एक अद्वैत आत्मविद्या उपदेश किया। तब वो श्वेतकेतु पर परा अपरा उभय विद्या पाय सर्वविद्या का अहंकारी हुआ किसी मय पाञ्चाल देशके राजा की सभा में आय प्राप्त हुआ। अरु

ने पूर्व श्रवण भी किया रहा कि एक ऋषि का पुत्र विद्या में अपने को सर्व से अधिक मान जहां तहां ब्राह्मणों से विवाद करता फिरता है। सो उसको अपनी सभा में देखके उक्त राजा ने उस कुमार से प्रश्न किया कि हे कुमार ! तू अपने पितासे विद्या पाय शिक्षित हुआ है तब उसने कहा कि हां मैं पिता करके शिक्षित अनुशिष्ट हौं:— ॥ १ ॥

"वेत्थयदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति" "नभगवइति" "वेत्थ यथा पुनरावर्त्तन्ता ३ इति" "नभगव इति" "वेत्थपथोर्देवयानस्यपितृयाणस्य च व्यावर्त्तना ३ इति" "नभगवइति" ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

जानता है जिस प्रकार अधो से प्रजा ऊर्द्ध्व को जाती है, नहीं भगवन्, जानता है जिसप्रकार फिरके आवती है, नहीं भगवन्, जानता है मार्ग देवयानका पितृयान का अरु जहां से इनका भेद होता है, नहीं भगवन् इति ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब उस कुमारावस्थावाले श्वेतकेतु ने अपने को पिता करके शिक्षित अनुशिष्ट सूचित किया, तब उस जैबलि नाम राजा ने कहा कि यदि तू अनुशिष्ट है तो तू जानता है जिसप्रकार इस लोक से प्रजा मरके ऊर्द्ध्वलोक को जाती है इस प्रकार जब राजाने प्रश्न किया तब सो श्वेतकेतु कहताहुआ। कि हे भगवन् ! मैं उस प्रकार को जानता नहीं ॥ तब पुनः राजाने प्रश्न किया कि जिस प्रकार वो प्रजा पुनः इस लोक में आवती है तिसको तू जानता है । इस प्रकार जब राजा ने प्रश्न किया तब उस श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! मैं सो भी जानता नहीं ॥ तब पुनः राजा ने प्रश्न किया कि हे कुमार ! जिस प्रकार देवयान अरु पितृयान इन दोनों मार्गों का कि जिस मार्ग से गये एक तो फिरके आवते हैं अरु एक पुनरावृत्ति को

नहीं प्राप्त होते वो दो मार्ग जहां से पृथक् २ होते हैं सो तू जानता है। इस प्रकार जब उस राजा ने प्रश्न किया तब श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन् ! मैं उसको नहीं जानता ॥ २ ॥

वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्य्यता ३ इति न इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो न्तीति नैव भगव इति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ।

जैसे स्वर्गलोक नहीं पूर्ण होता, सो तू जानता है। नहीं भग जानता है जैसे पांचवीं आहुति में आयके जल पुरुष नामवाला है। नहीं भगवन् ! ॥ ३ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! उस राजा जैबलि के किये तीन प्रश्नों के उत्तर श्वेतकेतु ने यही उत्तर दिया कि हे भगवन् ! मैं उसको नहीं जा तब पुनः राजा ने प्रश्न किया कि पितृलोकसम्बन्धी स्वर्गलो जिसको प्राप्त होयके पुनरावृत्ति को पावते हैं और तिस बिषे केवल कर्म के करनेवाले चले भी जाते हैं तोभी जिस कारण लोक भर नहीं जाता तिसको तू जानता है। तब श्वेतकेतु ने क हे भगवन् ! उसको मैं नहीं जानता। तब पुनः उस राजा ने प्रश्न किया कि हे कुमार ! जिस क्रम करके पांच संख्यावाली जे हवन करी अरु आहुति का साधन जे जल 'अर्थात् श्रद्धाशब्द का जे जल सो जिस प्रकार पांच अग्नि बिषे आहुति किया षष्ठ से पुरुषनामवाली षष्ठ आहुति भूत को 'अर्थात् क्रमकरके आहुति जल षष्ठ आहुतिरूप पुरुष नाम को, प्राप्त होता है, तिसको तू है इसप्रकार जब उस जैबलि नाम राजा ने प्रश्न किया तब श्वेत केतु पुनः वोही उत्तर कहता हुआ कि हे भगवन् ! मैं उसको

जानता । अर्थात् आप करके किये जे प्रश्न तिनमें से एक को भी मैं जानता नहीं ॥ ३ ॥

अथनु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात् कथ छं सोऽनुशिष्टो ब्रवीतेति सहायस्तः पितुरर्द्धमेयाय तछंहोवाचाऽननु शिष्य वावकिल मा भगवन् ब्रवीदनु वाशिषमिति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

जब नहीं जानता तब कैसे कहता है मैं अनुशिष्ट हौं, जो निश्चय करके उन प्रश्नों को न जानता होगा सो कैसे कहेगा मैं अनुशिष्ट हौं। सो श्वेतकेतु लज्जित हो पिता के स्थानपर आय उस पिता से कहता हुआ मुझको स्पष्ट अनुशासन किये विनाही आपने कहा कि तुझ को सर्वविद्या शिक्षा किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब उस श्वेतकेतु ने निरुत्तर होयके कहा तब वो राजा कहता हुआ कि हे कुमार ! जो तू इस प्रकार का अज्ञ है कि मेरे किये प्रश्नों में से जब एक का भी उत्तर नहीं जानता तब अपने को मैं अनुशिष्ट हौं ऐसा क्यों कहा । जो प्रसिद्ध इन मुझकरके पूछे प्रश्नों के अर्थों को (उत्तरों को) न जानता होवे सो विद्वानों बिषे कैसे कहेगा कि मैं अनुशिष्ट हौं, किन्तु कदापि न कहेगा । इस प्रकार जब उस राजा ने किंचित् निरादरपूर्वक उस श्वेतकेतु से कहा तब वो अतिलज्जित हो उस सभा से निकल अपने पिता के स्थानपर जाताहुआ । और अपने पिता के निकट प्राप्त हो कहताहुआ कि हे पिता जी ! आपने मुझको अनुशासन किये विना (अर्थात् सर्वविद्या उपदेश किये विना) ही मुझको समावर्त्तन के समय (अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याऽध्ययन की समाप्ति के समय) आपने कहा कि मैंने तुझको सर्व

विद्या अध्ययन कराया है अब कोई विद्या तेरे अध्ययन को अवशिष्ट नहीं, सो आपने मिथ्याही कहा ॥ ४ ॥

पञ्चमा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकं कंविवक्तुमिति सहोवाच यथा मात्वंतदैतानवदो मेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं तेना मिति ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

हे भगवन् ! राजा है बन्धु जिसके वह राजा मुझसे पांच को पूछताहुआ उनमें से एक का उत्तर कहने को मैं समर्थ न पिता कहता हुआ जैसे तू नहीं जानता है तैसे मुझको भी जान उन प्रश्नों के उत्तर को जानता नहीं जो कदापि मैं इनको जानता तो तुझको क्यों न कहता ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! पुनः वो श्वेतकेतु कहताहुआ कि । हे भगवन् कारण से सर्व राजा हैं बन्धु जिसके ऐसा जो पाञ्चालदेश का नामवाला जैबलि राजा सो बड़ा विद्वान् है । :-उस राजा की में मैं गया तब उस राजा ने मुझको देख प्रश्न किया कि पिता ने सर्वविद्या अध्ययन कराय अनुशिष्ट किया है और तू अ हुआ है, तब मैंने कहा हां मैं अनुशिष्ट हौं आपको जो प्रश्न होय सो करिये । तब उस राजा ने मुझसे पांच प्रश्न किये प्रश्न । जिस प्रकार इस लोक से सर्वप्रजा ऊद्ध्र्व को जाती है तू जानताहै १ अरु ऊद्ध्र्व को गई प्रजा जिस प्रकार फिरके आ तिसको तू जानता है २ अरु जहां से देवयान अरु पितृयान के मार्ग पृथक् २ होते हैं तिसको तू जानता है ३ अरु जिस प्रकार लोकसम्बन्धी स्वर्गलोक प्रजा करके पूर्ण नहीं होता तिसको तू जा है ४ अरु जिस प्रकार जल पांच आहुत भाव को प्राप्त होके पुरु

ला षष्ठ आहुतिरूप होताहै तिसको तू जानता है ५।:— ॥ उसने
झसे उक्त पांच प्रश्न किये परन्तु उन पांच प्रश्नों में से एकका भी
त्तर दे तिसका निर्णय करने के अर्थ में मैं समर्थ न होताहुआ। अत
व जो आपने मुझसे समावर्त्तनकाल में कहा कि मैंने तुझको सर्व
द्या अध्ययन कराया है, सो आपने असत्य ही कहाहै। इस प्रकार
ब श्वेतकेतु ने अपने पितासे कहा तब वो उद्दालक अपने असत्य-
दीपने के निवारणार्थ अपने श्वेतकेतुनाम पुत्र से कहता हुआ कि
वत्स! जैसे राजा करके किये प्रश्नों में से एकके भी उत्तर कहने को
समर्थ न हुआ तैसेही तू मुझको भी जान मैं भी उन प्रश्नों के उत्तर
ो जानता नहीं, अर्थात् हे पुत्र! तेरे अज्ञानरूप लिङ्गकरके मेरे भी
स विद्याविषयक अज्ञान को अनुमानकरके जानले। हे पुत्र! जैसे
उन प्रश्नों में से एक का उत्तर भी नहीं जानता तैसें 'मुझकरके
शिक्षित' तू भी नहीं जानता। अरु जिस करके तू नहीं जानता तिस
ो कारण से मैं भी उन प्रश्नों के उत्तर को नहीं जानता।:— अर्थात्
जस विद्या को शिष्य नहीं जानता तिस शिष्य के अज्ञानरूप लिङ्गसे
सके अध्यापक बिषे भी उस विद्याविषयक अज्ञान सिद्ध होताहै। अरु
जस विद्याको अध्यापक नहीं जानता तब उसकरके शिक्षित शिष्य
सको कैसे जानेगा? अतएव गुरु शिष्य में से एकके अज्ञानरूप लिङ्ग
रके दूसरे के बिषे अनुमान करके अज्ञान की सिद्धि है :—। अतएव
पुत्र! मेरे ऊपर असत्यवादीपने का आरोप कर क्रोध करना तुझको
ग्य नहीं अतएव मुझपर क्रोध मत करे। हे सौम्य! उक्त प्रकार कहके
नः वो उद्दालक कहताहुआ कि हे पुत्र! जो मैं इन तेरे प्रति राजा
रके किये प्रश्नों के उत्तरों को यदि जानता होता तो कैसे मैं तुझ
यपुत्र के अर्थ पूर्व समावर्त्तनकाल बिषे न कहता 'किन्तु अवश्यही
हता।:— जो यह विद्या तुझको अध्ययन करने योग्य अवशिष्ट है,
र्थात् मैं जानता होता तो वो विद्या तुझको अवश्य ही कहता परन्तु
जानता नहीं अतएव असत्यवादी नहीं ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोर्द्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्च

कार स ह प्रातः सभाग उदेयायतछं होवाचमानु
भगवन् । गौतम । वित्तस्य वरं वृणीथा इति स हो
तवैव राजन् मानुषं वित्तं, यामेव कुमारस्यान्ते वा
षथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

सो प्रसिद्ध गौतम (उद्दालक) राजा के स्थानपर जाताहुआ प्रसिद्ध अपने यहां प्राप्तहुए गौतम का राजा ने सम्यक् प्रकार श्यादिसत्कार किया तदनन्तर दूसरे दिवस प्रातःकाल के समय राजा की सभा में जाताहुआ, तब राजा कहताहुआ हे पूजाके गौतम ! इस मनुष्यलोकसम्बन्धी वित्तादिकों की इच्छा होय तो ऐसे राजा ने कहा तब गौतम कहताहुआ हे राजन् ! यह जो मनुष्यलोकसम्बन्धी वित्तादिक है सो आपके आपको ही रहे आपने मेरे पुत्र से पांच प्रश्न कहे हैं सो मेरे प्रति कहो ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार गौतमगोत्रवाला उद्दालक ऋषि अपने श्वेतकेतु से कहकर उस विद्या को, कि जिस विद्यासम्बन्धी पांच राजा ने श्वेतकेतु प्रति कियेरहें और जिनका उत्तर श्वेतकेतु आयारहा, जिज्ञासा धारके पांचाल देशके जैबलिनाम राजाके स आवताहुआ । तब तिस लोक प्रसिद्ध गौतम को अपने स्थानपर हुआ जानके राजा उसके समीप जाय कुशलप्रश्नपूर्वक अर्घ आतिथ्य सत्कार कर उसको सुख विश्राम करावताहुआ । तब वो उस दिन रात्रि को वहां निवास कर दूसरे दिन प्रातःकाल के ह अपने स्नान संध्यादि नित्यकर्म से निवृत्त होय राजाकी सभा में हुआ, तब पुनः उस राजा ने उस गौतम का पूजादि सत्कार अथवा । "सभागः" । अन्योंकरके पूज्यमान जो लोकप्रसिद्ध स्वयं गौतम सो राजा की सभा में प्राप्त होता हुआ । तब तिस गौ

प्रति हाथजोड़ विनयपूर्वक राजा कहताहुआ, हे पूजा के योग्य, गौतम ! मनुष्यलोकसम्बन्धी धन, धाम, रत्न, रथादि पदार्थों में से आप अपनी कामना के अनुसार मांगलीजिये।:-जिस पदार्थ की आपको इच्छा होगी सोई मैं आपके लिये अर्पण करोंगा-: । इस प्रकार जब राजा ने कहा तब सो प्रसिद्ध गौतम कहता हुआ कि आपका मनुष्यलोक सम्बन्धी वित्तादि सर्व आपके पासही रहै उनकी मुझको कामना नहीं । इसप्रकार जब गौतम ने कहा तब पुनः राजा कहता हुआ कि [हे भगवन् ! जब आपको वित्तादिकों की कामना नहीं तब कृतकृत्य जो आप तिसका यहां आगमन कैसे हुआ है ? इस प्रकार जब राजा ने उनके आगमन में शङ्कापूर्वक प्रश्न किया तब पुनः गौतम कहता हुआ] हे राजन् ! जो आपने मेरे पुत्र के समीप पांच प्रश्न किये हैं अरु जिसका उत्तर उससे न आया, मैं भी उसको जानता नहीं, अतएव सो पांच प्रश्न लक्षणवाली विद्या आप मेरे प्रति कहिये ॥ ६ ॥

स ह कृच्छ्री बभूवतछं ह चिरंवसेत्याज्ञापयाञ्चकारत छंहोवाच यथा मात्वंगौतमाऽवदोयथेयन्नप्राक्त्वत्तःपुरा विद्याब्राह्मणान्गच्छति तस्मादुसर्वेषुलोकेषुक्षत्रस्यैवप्र शासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

सो प्रसिद्ध राजा दुःखी होताहुआ, तिसको प्रसिद्ध चिरकाल बसने की आज्ञा करता हुआ, तिसके अर्थ सो राजा कहताहुआ हे गौतम ! तुमने मुझसे विद्या कहने को कहा सो यह विद्या तुमसे पूर्व ब्राह्मणों बिषे गई नहीं, तिसही करके सर्व लोक बिषे क्षत्रियों का ही प्रशासन होताहुआ है। इतना कह तिसके प्रति राजा कहता हुआ ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब गौतम ने मनुष्यलोकसम्बन्धी वित्तादिकों

की याचना न करके विद्या की याचना किया ॥ तब तिसको विद्या
करके वो राजा अपने चित्त में दुःखित होय विचारने लगा कि यह
यह विद्या आजपर्यन्त क्षत्रियों मेंही रही है तिसको आज यह विद्या
मांगता है :— । ब्राह्मण सर्वप्रकार मान्य करने योग्य हैं, अरु
भी यह गौतम साधारण ब्राह्मणोंवत् नहीं यह सर्वोत्तम ब्राह्मण आप
परन्तु न्याय करके विद्या कहने योग्य है । :—अर्थात् यह गौतम विद्या
चर्यादि सर्वसाधनों करके सम्पन्न अति उत्तम अधिकारी है ताते के
विद्या कहनी योग्यही है तथापि जिज्ञासु की परीक्षापूर्वक विद्यादे
सनातनीय आम्नाय है अतएव इससे ब्रह्मचर्यादि करवावना भी
है—: । ऐसा अपने चित्त में विचार वो राजा कहताहुआ कि हे गौ
आप यहां दीर्घकाल (एकवर्ष) निवास करो पश्चात् मैं विद्या क
इसप्रकार आज्ञा करता हुआ । जो पूर्व तो राजा ने प्रश्नकरके विद्या
अरु पश्चात् दीर्घकाल बसने की आज्ञा किया तिस निमित्त के अ
को ब्राह्मण क्षमा करे, अरु जिस निमित्त चिरकाल बसने की आज्ञा
तिसके हेतु को कहताहौं ॥ राजोवाच ॥ हे गौतम ! आप सर्वविद्या
सम्पन्न होने से अरु जाति में सर्वोत्तम ब्राह्मण होने से सर्वप्रका
हौ, तथापि हे गौतम ! आपने मुझसे कहा कि जो आपने मैं
से प्रश्न किये तिन प्रश्न लक्षणवाली विद्या को आप मेरे प्रति कह
आपने उस विद्यासम्बन्धी अपने अज्ञान करकेही कहा । ताते मुझ
तुम्हारे प्रति विद्या कहनी है । हे गौतम ! जिसकरके यह (अग्नि
की) विद्या तुमसे पूर्व ब्राह्मणों बिषे गई नहीं । :—अर्थात् हे गौ
जिस विद्या की आप याचना करते हौ सो विद्या जब मैं आप
कहूंगा तिस काल से ब्राह्मणजाति में जायगी इससे पूर्व ब्राह्मण
में यह विद्या गई नहीं—: । इस विद्याकरके ब्राह्मण अनुशासित
हैं यह सर्वलोकबिषे प्रसिद्ध है । :—अर्थात् जो यह विद्या ब्राह्म
होती तो आप इस विद्या के लिये यहां क्यों आवते किन्तु न आवे
अरु इस विद्या करके ब्राह्मण अनुशासितवन्त (शिक्षित) नहीं
यह लोकबिषे प्रसिद्ध एतदर्थ पूर्व सर्व लोकबिषे क्षत्रिय जाति

विद्या का शिष्यों प्रति उपदेश करनेवाले हुए हैं । अरु क्षत्रियों में ही यह विद्या परम्परा करके अद्यावधि चली आवती है । तथापि मैं इन विद्याओं को जब तुम्हारे प्रति कहूंगा तिसके पश्चात् तुम्हारे द्वारा यह विद्या अन्य ब्राह्मणों बिषे जावेगी । अतएव मैंने जो आपसे कहा कि आप यहां चिरकाल निवास करके ब्रह्मचर्यादि करो तिसके पश्चात् मैं विद्या कहूंगा, सो आप क्षमा करने के योग्य हौ, इतना कहके तिस गौतम के प्रति राजा जैबलि विद्या कहता हुआ ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ छान्दोग्येपञ्चमप्रपाठके चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते ।

असौ वावलोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुते सोमो राजा सम्भवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्येपञ्चमप्रपाठकेचतुर्थःखण्डः ॥ ४ ॥

अब छान्दोग्यपञ्चमप्रपाठक में चतुर्थखण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

हे गौतम ! स्वर्गलोक प्रसिद्ध अग्नि है तिसका आदित्यही समित है, किरण धूम हैं, दिवस ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र तिसके विस्फुलिङ्ग (चिनगारियां) हैं १ तिस इस अग्निबिषे देवता श्रद्धा (जल) की आहुति करते हैं तिस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होताहै ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! अब पूर्व जो राजा जैबलि ने श्वेतकेतु प्रति जो पञ्चम प्रश्न कियारहा कि जिसप्रकार पांचवीं आहुति में आयके जल पुरुष नामवाला होता है, उस प्रश्न का निर्णय प्रथम कहते हैं क्योंकि इस

प्रश्न के निर्णय के आवान्तर अन्य प्रश्नों का निर्णय कहना होगा ताते । हे सौम्य ! अग्निहोत्र की आहुतियां जो कार्य का करती हैं सो वाजसनेयि बृहदारण्य उपनिषद् बिषे कहा है ता हुति का उत्क्रामण गति प्रतिष्ठा तृप्ति पुनरावृत्ति अरु प्रत्युत्थान जाना) इन सबों का निर्णय तहांही किया है ॥ सो इतनी अ की आहुति कीहुई यहां से उत्क्रमण होयके (उठके) अन्त प्रवेश को पावती है, अर्थात् सो आहुति अन्तरिक्षरूप आहवनीय बिषे आहुति की होती है, कैसा है वो अन्तरिक्षरूप अग्नि वायु समित् हैं, अरु सूर्य की किरणही शुद्ध आहुति हैं उस आहुति अन्तरिक्ष तृप्त होता है। सो आहुति वहां से उत्क्रमण होती है, अरु इसप्रकार ही अन्तरिक्ष से ऊर्द्ध्वको उत्थान हुई आहुति को तृप्त करती हैं । :—उक्त प्रकार आहुति के साथ भावना करके त्म्यता को प्राप्त हुआ यजमान भी आहुति करके आकर्षित हुआ प्रकार स्वर्ग को प्राप्त होता है । अर्थात् जिस प्रकार अग्निहोत्र हुति अन्तरिक्षादि क्रम से स्वर्ग को प्राप्त होती है सो यजमान ही होती है अरु सो आहुति स्वर्गस्थ अपने कर्त्ता यजमान दान से तृप्त करती है सो यजमान अपने कर्म के क्षयहुए जल आहुति से साथ हुआ (तादात्म्य को पाया)—: । प्रथम पुनः अन्तरिक्ष में इस क्रम से—: । पृथिवी में प्रवेश पावता है होके व्रीह्यादि अन्नरूप होय पुनः पुरुष बिषे प्रवेश कर वहां परिणाम को पाय तदनन्तर स्त्री बिषे प्रवेश को पाय वहां से पु शरीररूप परिणाम को पाय लोकबिषे प्रकट होता है। इसप्रकार होत्र की आहुति अपने कार्य की आरम्भक होती है ऐसा कहते

हे सौम्य ! इसलोक में तो सो कार्यारम्भ अग्निहोत्र अपू णाम लक्षण को पांच प्रकार विभाग करके तिस बिषे अग्निकी से उपासना को उत्तरमार्ग की प्राप्ति का साधनविधि करते कहते हे सौम्य ! उक्त प्रकार राजा जैबलि के कहे प्रमाण वो गौतम एकवर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके पुनः उस राजा के समीप गया

द्दालक के प्रति राजा कहता हुआ-: । जो स्वर्गलोकही अग्नि है त्यादिक ॥ हे गौतम! स्वर्गलोकही प्रसिद्ध अग्नि है। जैसे अग्निहोत्र ा अधिकरण आहवनीय है। तैसे यहां तिस स्वर्गलोकाख्य अग्नि का ादित्यही समित् है, क्योंकि तिस आदित्यरूप समिधा करकेही स्वर्ग ोक दीप्यमान होताहै अतएव स्वर्गलोक को दीप्यमान करने से सूर्य सका समित् है। अरु सूर्यकी जो किरणा है सोई उसका धूम है क्योंकि मितसेही धूम उत्थान होताहै। अरु दिवसही उस अग्नि की ज्वाला है योंकि दिवस की अरु ज्वाला की प्रकाशरूपता में समता है। अथवा वस को आदित्य का कार्यपना है, तैसे ज्वाला को अग्नि का, ताते। रु उस स्वर्गाख्य अग्निका चन्द्रमाही अङ्गार है क्योंकि दिवस के शान्त ए चन्द्रमा प्रकटहोता है, जैसे ज्वाला के शान्तहुए अङ्गार। अरु उस र्गाख्य अग्निके नक्षत्रगणही चिनगारियां हैं,क्योंकि चन्द्रमासे अवयव- तू अरु चन्द्रमा से निकलेवत् नक्षत्र हैं, जैसे अङ्गार के अवयव अरु ङ्गार से निकलेवत् विस्फुलिङ्ग (चिनगार) होते हैं, ताते नक्षत्र अरु नगार की उत्थान बिषे समता है ताते॥ तिस इस यथोक्त लक्षणवाले र्गाख्य अग्नि बिषे देवता जलरूप श्रद्धा की आहुति करते हैं। अर्थात् जमान की प्राणादि इन्द्रियां, जो स्वर्गलोक बिषे अग्नि आदिक अ- दिवभाव को पाय देवतारूप हुए हैं सो श्रद्धा को, अर्थात् यह अग्नि- त्रकी जो पय आदि आहुति हैं सो अपने परिणाम अवस्थारूप से सूक्ष्म लभूत तिसको श्रद्धा करके भावित होनेसे उस जल को श्रद्धारूप से हते हैं। क्योंकि पांचवीं आहुति से हवन किया जलपुरुष नाम से कटहोता है, ऐसा आहुतिरूप से जलको पूर्व श्वेतकेतु प्रति राजा के श्नकरके श्रवण हुआ है ताते॥ तिस जलरूप श्रद्धा को देवता उस कस्वर्गाख्य अग्नि बिषे आहुति करते हैं, तब उस आहुति से सोम जा, अर्थात् श्रद्धाशब्द का वाच्य जल जो स्वर्गलोकरूप अग्नि में वता करके आहुति हुआ है तिसका परिणामरूप सोम राजा 'जो ब्रा- णों का है, उत्पन्न होता है॥ :-हे सौम्य! यहां जो श्रुति बिषे कहा कि देवता श्रद्धा की आहुति करते हैं, तिसका विचार करना योग्य

है जो कौन वो देवता हैं और किस प्रकार आहुति करते हैं अ
वो श्रद्धानामवाला हवि (हवन करने योग्य द्रव्य) है मे
विचार किंचित् बृहदारण्य बिषे कहे प्रकार अरु अपनी युक्ति
हैं। हे प्रियदर्शन ! यह जो अग्निहोत्र की आहवनीयनाम
और हवनकरने का दुग्ध घृतादि हवि है तिस बिषे अपनी
करके भावित हुआ यजमान वेदोक्तमन्त्रों से श्रद्धा करके समि
उभयकाल उस अग्नि बिषे उक्त हवि की आहुति करता है,
आहुति प्रथम अन्तरिक्षरूप आहवनीय अग्नि में कि जिसक
वायु है परिणाम को पाय सूक्ष्मरूप से प्राप्तहोती है अरु वो
की किरणों करके व्याप्त है, तब उस अन्तरिक्षरूप आहवनी
बिषे सूक्ष्म परिणामरूप से प्राप्तहुई जे दुग्धादि हवि की
वहां से उत्क्रमण होयके (उठके) सूर्य की किरणों के सम्बन्ध
लोकरूप आहवनीय बिषे कि जिसका समित् सूर्य है आहुति
है तब वहां अतिसूक्ष्म परिणाम को पाय श्रद्धा से समन्वित
शब्द का वाच्य होता है। अरु यहां श्रद्धा अग्नि और हवि
अपनी भावना करके भावितहुआ यजमान जब मृत्यु को
तब उसको ग्राम से बाह्य लेजायके उसकी अग्निहोत्र की
उसके शरीर की आहुति करते हैं, तब उस यजमान का कर्म
यहां से ऊर्द्ध्व को आकर्षण करता है अरु उसका उपास्य
को ऊर्द्ध्व को प्राप्त करता है तब वो आहुति के क्रम से
प्राप्त हो तिस लोकसम्बन्धी शरीर को पावता है पुनः वहां से
को पाय आहुति के क्रम से स्वर्गलोक में प्रवेश को पाय
सम्बन्धी देवशरीर को पाय वहां अपने कर्मानुसार दिव्य
भोगता है। अरु जब उसके कर्म समाप्त होनेपर आवते हैं तब
रहने पावता नहीं, तब उन कर्मफल में आसक्त हुआ उन
भोगार्थ इस कर्मलोक में आय कर्म करने के अर्थ पूर्वकी
जो उसको वहां श्रद्धाशब्दकी वाच्य हुई सूक्ष्म जलरूप से प्रा
सको वो आप देवरूप हुआ उस स्वर्ग लोकाख्य अग्नि बिषे

मेत् सूर्य है आहुति करता है अरु उस आहुति बिषे अपनी भावना से वित तन्मय हुआ आप भी उस आहुति के साथ हुत हुआ सोमरूप परिणाम को पाय प्रकट होता है, अर्थात् सोमलोकसम्बन्धी शरीर पावता है, तब वहां के भोग्य भोगके कर्म के क्षय हुए अपने सोम-बन्धी देवरूप से अपने सोमत्वपनेरूप की पूर्ववत् पर्जन्यरूप अग्नि में हुति कर वहां से वर्षारूप परिणाम को पाय पुनः पृथिवीरूप अग्नि षे आवता है वहां अन्नरूप परिणाम को पाय पुरुषरूप अग्नि बिषे वता है वहां वीर्यरूप परिणाम को पाय स्त्रीरूपा अग्नि बिषे आवता वहां गर्भरूप परिणाम को पाय नव वा दशमास वहां रह पुरुषनाम प्रकट हो पुनः इस लोक बिषे कर्म्मों को करता है ।इसप्रकार देवता वन अरु हवि का विचार जानना—:। अर्थात् जैसें ऋग्वेदादि पुष्पों रस ऋगादिरूप मधुकर करके ग्रहण किया वा प्राप्त किया आदित्य बिषे यशआदिरूप कार्य्य को और लोहितादिरूप लक्षण को आरम्भ रते हैं, यह मधु विद्याबिषे कहा है । तैसे यह अग्निहोत्रकी आहुति मवायवाला श्रद्धाशब्द का वाच्य सूक्ष्मजल द्युलोक में प्रवेश कर न्द्ररूप कार्य्य को आरम्भ करे है, सो अग्निहोत्र की आहुति का फल प है । अरु आहुति की भावना करके भावित आहुतिमय हुआ अग्नि-त्र के कर्त्ता यजमानों को जो आहुति की भावना करके भावित श्रद्धा ब्द के वाच्य जल से समवाय को पाया आहुतिरूप कर्म करके आक-त हुआ वा तिसके वश हुआ द्युलोक में प्रवेश कर सोमरूप हुआ ता है [अर्थात् सोमसम्बन्धी सोम समीपस्थ शरीर को पावता है] रु तिसकरके अग्निहोत्र हुत होता है अरु आहुति का परिणाम पञ्चाग्नि सम्बन्धक्रम से प्रधानता (मुख्यता) करके उपासना के अर्थही वक्षित है यजमानों की गति के अर्थ नहीं । अरु तिस (पञ्चाग्नि पासना को) न जाननेवाले को धूमादि क्रम से गति कही है, अरु न उपासनाविद्या के जाननेवाले विद्वान् के विद्याकृत अर्चिरादि क्रम उत्तरागति कही है ॥

इति छान्दोग्येपञ्चमप्रपाठके चतुर्थःखण्डः ॥ ४ ॥

अथ छान्दोग्येपञ्चमप्रपाठके पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते।

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समि-
न्मो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादिन्यो विस्फुलिङ्गाः
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति
आहुतेर्वर्षꣳ सम्भवति ॥ २ ॥

इति पञ्चमःखण्डः ॥ ५ ॥

अब छान्दोग्य पञ्चमप्रपाठक में पञ्चमखण्ड का आरम्भ करते

अक्षरार्थ।

हे गौतम! पर्जन्य ही अग्नि है उसका वायु ही समित् है, अभ्र धूम है, बिजली ज्वाला है, बिजली का चमत्कार अङ्गार है, गर्जना विस्फु-लिङ्ग है १॥ तिस इस अग्निबिषे देवता सोमराजा को आहुति देते हैं उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! अब द्वितीय होम पर्याय को कहते हैं तिसको श्रवण करो, राजा जैबलि कहताहै कि। हे गौतम! पर्जन्य ही अग्नि है। अर्थात् पर्जन्यनाम वृष्टि उपकरण के अभिमानी देवताविशेष है। तिस पर्जन्याख्य अग्नि का वायुही समित् है, क्योंकि वायुकरके ही पर्जन्यरूप अग्नि वर्द्धमान प्रकाशित होताहै, पूर्वदिशा के वायु के अधिक चलने से वृष्टि होती देखते हैं ताते। और उस पर्जन्याख्य अग्नि का अभ्र धूम है, जैसे अग्नि का कार्यभूत धूम होता है, तद्वत् पर्जन्य से, अथवा धूमवत् अभ्र दृष्ट में आवता है ताते। और उस पर्जन्याख्य अग्नि की विद्युत् (बिजली) अर्ची (ज्वाला) है क्योंकि ज्वाला की और विद्युत् की प्रकाशरूपता में समता है। अरु उस पर्जन्याख्य अग्नि का विद्युत् का चमकनाही अङ्गारहै, क्योंकि अङ्गार की और अशनि के चमकने वा 'गिरने' की काठिन्यता में वा विद्युत् अग्नि के कार्य होने में समता है। अरु उस पर्जन्याख्य अग्नि का ...

शब्दविशेष है सोई उस अग्नि की चिनगारियाँ हैं, क्योंकि गर्जना होने से चिनगारियोंवत् मेघ प्रायः सर्व ओर को बिखर जाते हैं ॥ १ ॥ तिसही इस अग्निबिषे देवता पूर्ववत् सोमराजा की आहुति देते हैं, तब तिस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है। अर्थात् पूर्व जो श्रद्धाशब्द का वाच्य जल कहा है सो प्रथम द्युलोकाख्य अग्निबिषे हवनकिया सोम रूप परिणाम से उत्पन्न होता है, पुनः वो सोम पर्जन्यरूप अग्निबिषे आहुति हुआ वर्षारूप परिणाम से उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति छान्दोग्येपञ्चमप्रपाठके पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके षष्ठः खण्डः प्रारभ्यते।

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव स मिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा आवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्व ति तस्याहुतेरन्नꣳ सम्भवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अब पञ्चम प्रपाठक में षष्ठ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे गौतम! पृथिवी ही अग्नि है, तिसका संवत्सरही समित् है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशा अङ्गार हैं, आवान्तर दिशायें चिनगारियां हैं ॥ १ ॥ तिस इस अग्निबिषे देवता वर्षा की आहुति करते हैं तिस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! अब तृतीय हवनपर्याय को श्रवण करो। राजा जैवलि कहता है कि हे गौतम! यह पृथिवी ही प्रसिद्ध अग्नि है, अरु तिस पृथिवीरूप अग्नि का संवत्सरही समित् है, क्योंकि संवत्सर के अवयवभूत कालकरकेही व्रीह्यादि अन्नरूप से पृथिवी निष्पन्न वर्द्धमान

होती है। अरु तिस पृथिवीरूपा अग्नि का आकाश धूम है। जैसे अग्नि से धूम उठता है तैसेही पृथिवी से उत्थान हुएवत् भासता है ताते। अरु तिस पृथिवीरूप अग्नि का पूर्वादि दिशा हैं, क्योंकि अङ्गार की और दिशाओं की उपशान्तता में समान ताते। अरु तिस पृथिवीरूप अग्नि की आवान्तर ईशानादि चिनगारियां हैं ॥ १ ॥ तिस इस पृथिवीरूप अग्नि बिषे देवता की आहुति करते हैं, तब तिस आहुति से व्रीहि यवादि अन्न होता है ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके सप्तमः खण्डः प्रारभ्यते।

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित् धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या तेरेतःसम्भवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अब पञ्चम प्रपाठक में सप्तम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समित् है धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षुः अङ्गार हैं, श्रोत्र चिनगारियां हैं॥ तिस इस अग्नि बिषे देवता अन्न की आहुति करते हैं, तिस आहु रेत (वीर्य) उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! अब चतुर्थ होमपर्याय को श्रवण करो। राजा कहताहुआ कि हे गौतम ! यह पुरुष प्रसिद्ध अग्नि है, तिस पु अग्नि का वाणी ही समित् है, क्योंकि मुखरूप द्वार करके

काशित होती है कि यह पुरुष बोलता है, गूंगा प्रकाशता नहीं। अरु तिस पुरुषरूप अग्नि का प्राणही धूम है, क्योंकि जैसे अग्नि से धूम का उत्थान होता है, तैसे मुखसे धूमवत् प्राण उत्थान होता है ताते। अरु तिस पुरुषरूप अग्नि का जिह्वा ज्वाला है, क्योंकि ज्वाला की अरु जिह्वा की अरुणता बिषे समता है ताते। अरु तिस पुरुषरूप अग्नि का चक्षु अङ्गार है भास का आश्रयपना होने से। अरु तिस पुरुषरूप अग्नि का श्रोत्र चिनगारियां हैं, क्योंकि इनकी बिखरने में समता है ॥ १ ॥ तैसही इस अग्नि बिषे देवता ब्रीहि यवादि संस्कृत (सिद्ध किये) अन्नकी आहुति करते हैं, तब तिस आहुति से रेत (वीर्य) रूप फल उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठकेऽष्टमःखण्डः प्रारभ्यते।

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठकेऽष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अब पञ्चम प्रपाठक में अष्टम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है, तिसका उपस्थ समित् है, तिसका उपमन्त्रण धूम है, योनि ज्वाला है, भोगकरना अङ्गार है, आनन्द चिनगारियांहैं ॥ १ ॥ तिस इस अग्निबिषे देवता वीर्यकी आहुति करते हैं तिस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! अब पञ्चम होमपर्याय को श्रवणकरो, राजा जैबलि

कहताहै कि । हे गौतम ! यह स्त्री ही प्रसिद्ध अग्नि है, अरु तिस का 'पुरुषका' उपस्थ (लिङ्ग) ही समित् है, क्योंकि तिस अ समित् करके ही सो स्त्री पुत्रादि उत्पन्न करनेके अर्थ वर्द्धमान है अरु उस स्त्रीरूप अग्नि का उपमन्त्रण (निकट होना वा नि लावना) धूम है । अरु उस स्त्रीरूप अग्नि की योनि ज्वाला है, योनि अरु ज्वाला की अरुणतामें समताहै । अरु स्त्रीरूप अग्निः भोगकरना है सोई उसका अङ्गारवत् अङ्गार है । अरु स्त्रीरू का जो विषयजन्य अभिनन्द (आनन्द) है सोई उसकी चिन हैं, क्योंकि विषयजन्य सुख की और चिनगारियों की क्षुद्रताबि है तातें ॥ १ ॥ तिस इस अग्निबिषे देवता वीर्यकी आहुति करते तिस आहुति से गर्भरूप फल उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठकेऽष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

हे सौम्य ! इसप्रकार । :—अग्निहोत्र की आहुति का अन्ति णाम जो द्युलोकसम्बन्धी—: । जल सो श्रद्धा, सोम, पर्जन्य, व रेत, हवनपर्याय करके गर्भीभूत होता है । :—अर्थात् श्रद्धा वाच्य जल द्युलोकादि उक्त अग्नियों बिषे हवन क्रमकरके श्रद्धा वर्षा, अन्न, रेत इत्यादि परिणाम को पावताहुआ स्त्रीरूप अग्नि रूप परिणाम को प्राप्त होता है—: । तहां जल को आहुति होनेसे प्राधान्यकरके विवक्षित है । सो आपः " पञ्चम्यामाहुतौ सो भवतीति " इस श्रुति से है । परन्तु केवल जलही सोमादि करता नहीं, क्योंकि केवल जल त्रिवृत्कृत नहीं है । शङ्का त्रिवृत्करण होनेसे जलकाही विशेष कथन कैसे देखते हैं । स सर्वको त्रिवृत्कृत होनेसे भी विशेषसंज्ञा का लाभ देखते हैं है यह जल है यह अग्नि है, बाहुल्यता के निमित्तसे ॥:—अ जो अग्नि, जल, पृथिवी है सो सर्व त्रिवृत्कृत है, अर्थात् ए तत्त्व में अर्द्धभाग पृथिवी का है अरु अर्द्धभाग में जल और अतएव उस बिषे पृथिवी का अर्द्धभाग मुख्य होनेसे सो पृथिवी जाती है, तैसेही जलमें जल का भाग मुख्य होनेसे सो ज

ाता है—ः । अतएव बाहुल्यता होने से अरु कर्म से समवाय होने से ल सामादि कार्य का आरम्भक होता है ऐसा कहते हैं । अरु उन लके कार्य 'सोम' वृष्टि अन्न, रेत, देह इन बिषे जलके धर्म द्रवता ी बाहुल्यता देखते हैं, शरीर में बहुत द्रवता है । यद्यपि शरीर पार्थिव पृथिवी का विकार) है, तथापि पांचवीं आहुति करके स्त्रीरूप अग्नि वीर्यरूपसे हवन हुआ जल गर्भीभूत होता है ॥ इति ॥

अथ छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके नवमः खण्डः प्रारभ्यते ।

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापःपुरुषवचसो भवन्तीति उल्बावृतो गर्भो दश वा नव मासानन्तः शयित्वा याव ाथ जायते ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य पञ्चम प्रपाठक में नवम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

इस प्रकार तो पांचवीं आहुति करके हवन किया जल पुरुष नाम ाला होता है । सो गर्भ जरायु (झिल्ली) करके वेष्टित हुआ दश वा व मास पर्यन्त यावत् नियमितकाल है तावत् माता के गर्भस्थान में ायन करके पुनः उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! इस प्रकार तो । :—उस जैबलि नाम राजा ने श्वेत- तु से जो पञ्चम प्रश्न कियारहा कि—ः । जिस प्रकार पांचवीं आहुति रके हवन किया जल पुरुषनामवाला होता है सो तू जानता है तिस क प्रश्न का व्याख्यान (राजा ने गौतमप्रति) कहा ॥ अब पूर्वोत्तर श्न की संगति देखावते कहते हैं । उस राजा ने श्वेतकेतु से जो थम प्रश्न किया रहा कि " वेत्थयदितोऽधिप्रजाःप्रयन्तीति " तू जा- नता है जो यहां से यह सर्व प्रजा जिस प्रकार ऊर्द्ध्व को जाती है । तिस प्रश्न का यह उपक्रम है । सो गर्भ जो जल का पञ्चम परिणाम विशेष है, अरु श्रद्धाशब्द का वाच्य आहुतिरूप कर्म से समवाय को

पाया है, सो जरायु (झिल्ली) करके आवृत कहिये वेष्टित हु
वा नव वा तिससे न्यून अधिक मासपर्यन्त माता की कोख
स्थान) बिषे शयन (निवास) करके कर्मानुसार जब प्रकट
समय प्राप्त होता है तब गर्भ से बाह्य उत्पन्न होता है ॥

हे सौम्य ! "। उल्बावृतः ।" इत्यादि जो श्रुति का कथन है
रादि संसार से केवल वैराग्य के ही हेतु है । हे प्रियदर्शन ! दे
बड़ा ही कष्ट है जो माता की कुक्षि में शयन (निवास) है
वो माता की कुक्षि (गर्भस्थान) कैसा है मूत्र, विष्ठा, वात
कफ, रुधिर, पीब इत्यादि अतिअपवित्र वस्तुओं करके पूर्ण है
तिस करके वो जरायु अतिलिप्त अतिही अपवित्र है । अरु देह
कारण स्त्री का शोणित (मासधर्म का रुधिर) अरु पुरुष का
बीज सो भी अतिही अपवित्र है । :—अर्थात् अति अपवित्र कि
स्पर्शमात्र से पुरुष सचैल स्नानादिक प्रायश्चित्त का अधिकारी
होता है ऐसे, शुक्र शोणित का परिणामकार्य शरीर सो पुनः वो
प्रकार की जरायु में वेष्टित अरु उक्त प्रकार के गर्भाशय में स्थि
यह महान् कष्ट दशावाला—: । अरु उसपर भी माताकरके भोज
अन्नादिक उसका परिणाम रस उस करके वर्द्धमान होनेवाले का
कष्ट है । :—अर्थात् गर्भस्थान 'जो अति अल्प संकुचित स्थान है
बिषे अन्नके विकार शुक्र शोणित के मिश्रित हुए उपजनेवाला ग
माता करके भक्षण किये अन्न जलादिकों के सूक्ष्मरस को नाल
नाड़ी विशेष द्वारा पायके जब उस स्थान में वर्द्धमान होता है त
स्थान को अति अल्प होने के कारण तहां गठरी में बँधेवत् फँसा
अपने अङ्गों के पसारने को स्थान न पायके अतिही दुःखित
है—: । अरु उस दशापर भी अपने कर्मों के अनुसार जो वो गर्भ
नष्ट न होके जब उसके जन्म होने का समय आय प्राप्त होता है
अपानवायु करके ढकेला हुआ योनिद्वार से जब बाहर आव
तब । :—जैसे सुवर्णकार लोह की जन्तीनामक शस्त्र विशेष में ता
खींचता है तैसे योनिद्वार से खींचा हुआ—वो अत्यन्त क्लेश पाव

ह तिस कारण से मूर्च्छित होता है, अरु जब उस मूर्च्छा से जागता
व उस तात्कालीय अनुभव किये महान् क्लेश की स्मृति कर प्रथम
इन करता है—ः । इसप्रकार जो उस अतिक्लेशित के कष्टतर जन्म
ा कथन है सो केवल वैराग्यको ही ग्रहण करावता है ॥ हे प्रियद-
न ! जिस स्थान के निवास को मनुष्य एक क्षणमात्र को भी असह्य
नता है उस स्थान में दश वा कुछ न्यूनाधिक्य इतने दीर्घकाल पर्यन्त
ता की उक्त प्रकार की कुक्षि (गर्भस्थान) में निवास तो अत्यन्त
दुःखतर है । उस स्थान अरु तज्जनित दुःख को कहने को वाणी
मर्थ नहीं ॥ १ ॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय वहरन्तियतएवेतोयतःसम्भूतोभवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके नवमः खण्डः ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

सो (गर्भस्थ) जन्म को पाय यावत् आयुष तावत् जीवता है सो
रताहै अग्नि बिषे दाह करने को लेजाते हैं, क्योंकि द्युलोकादि अग्नि
म से यहां उत्पन्न हुआ है तिसही से अग्नि में दाह करने के अर्थ
ह आये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! ।ः—यह जो श्रद्धाख्य जल को द्युलोकादि अग्निबिषे
वतारूप हुआ हवनकर्त्ता यजमान, जो यहांसे अग्निहोत्र की आहुति
के साथ अपनी भावना करके भावित तन्मय हुआ आहुति के क्रम से
रिणाम को पावते सन्ते अन्तरिक्ष के मार्ग से स्वर्गलोक में जाय देव-
ाव को प्राप्त हुआ है, सोई उस श्रद्धाशब्द के वाच्य जलरूप आहुति
ाथ अपनी भावना से तन्मय हुआ द्युलोकादिरूप अग्निबिषे आहुति
हुआ क्रमसे परिणाम को पावता हुआ पञ्चम रेतरूप परिणाम को पाय
स्त्रीरूप अग्नि में आहुति हुआ देहके साथ तादात्म्य को पाया गर्भबिषे

देहाकार परिणाम को पाय विशेषरूप से प्रकट हो गर्भमें नि[illegible] की अवधिके पूर्ण हुए जन्म पावता है—: ॥ सो (अग्निहोत्र [illegible] यजमान) कथित प्रकार जन्म को पाय यावत् आयुष्य जीवता [illegible] पुनः घड़ी यन्त्रवत् अपने गमनागमन के अर्थ कर्म करता [illegible] है । :—अर्थात् घटीयन्त्र (रहट) को कहतेहैं, जैसे रहट की [illegible] एकरस्सी साथ बँधीहुई कूपके भीतर अरु बाहर अधो ऊर्द्ध्व [illegible] हैं । तैसे ही केवल अग्निहोत्रादि कर्म के कर्ता यजमानरू[illegible] अपने कर्मरूप रज्जु में बँधे अन्तर्यामी की सत्ता के आश्रय [illegible] बैलके भ्रमाये इस संसाररूप महाअन्धकूप बिषे इस लोकरूप [illegible] स्वर्गलोकरूप ऊद्ध्वे को अरु स्वर्गलोकरूप ऊद्ध्वे से इस [illegible] अधो को उक्त प्रकार आवते जातेही रहते हैं । अरु जैसे रहट [illegible] ड़ियां भरीहुई ऊपर आवती हैं और खाली हुई नीचे को जाती [illegible] ही कर्मी अपने कर्मों करके संयुक्त स्वर्ग को जाते हैं वहां [illegible] के फल भोग के खाली हुए अधो इस लोक बिषे आवते हैं—: ॥ कुलालके चक्रवत् तिर्यग्भ्रमणके लिये । :—अर्थात् घटीयन्त्रके [illegible] से जो ऊद्ध्वे अधोगमनागमनरूपा गति कही है सो अग्नि[illegible] कर्म के कर्ता कर्मियों के लिये जानना, अरु जो कर्म से रहित [illegible] कुलाल के चक्रवत् तिर्यग् भ्रमण कहिये ऊद्ध्वेगमनसे रहित [illegible] ही लोकबिषे अनेक योनियों में भ्रमण करते हैं—: । यावत् क[illegible] प्राप्त किया शरीर का आयुष्य तावत् जीवता है । अरु सो इसप्रका[illegible] हुआ अपने आयुष्य के क्षीण हुए मरके अपने कर्मानुसार प्रा[illegible] जो अपने अर्थ परलोक (अन्यशरीर) तिसके प्रति प्राप्त होता [illegible] र्थात् " जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च " इस [illegible] के प्रमाणसे सम्यक् आत्मज्ञान विना जन्म मरणसे रहितता [illegible] (शान्ति) प्राप्त होती नहीं] अरु जो कदापि जीवते वेदोक्त [illegible] उपासनाबिषे अधिकारी हुआ जिसने कर्म उपासना करते हुए [illegible] पाया तब उसको अग्नि में अन्तेष्टिकर्म (दाह) करने के [illegible] ग्रामसे बाह्य अरण्य श्मशानमें ऋत्विज् वा पुत्र लेजाते हैं ।

जा जब मृतक होता है तब उसके शरीर के अन्तेष्टि संस्कारके लिये ऋत्विज् अरु सामान्य गृहस्थको उसही निमित्त उसके पुत्रादि श्मशान पर्यन्त लेजातेहैं—ः। हे सौम्य ! ऐसेही अग्नि के सकाश से श्रद्धादि आहुतिक्रम करके यहां आवता है। अरु जिस करके पांचो अग्निबिषे आहुति हुआ परिणाम को पाया उत्पन्न होता है, इसही से मरता है तब अग्निबिषे दाह करते हैं। अर्थात् वो कर्मी यजमान अपनी योनि (उत्पत्ति का स्थान) जो अग्नि तिसको अपने बिषे प्राप्त करता है। अर्थात् वो यजमान अग्निभाव को प्राप्त होता है॥

हे सौम्य ! इस अग्निहोत्र के कर्त्ता यजमान की अन्तेष्टि का प्रकार बृहदारण्य उपनिषद् के अष्टमाध्याय बिषे इस प्रकार कहा है कि "अथैनमग्नयेहरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति"॥ अर्थ, जब यह अग्निहोत्र का कर्त्ता यजमान मरण को प्राप्त होता है तब उसको अग्नि आहुति करने के लिये ऋत्विजादि नगर से बाहर लेजाते हैं (अर्थात् अग्निहोत्र के मरे पश्चात् उसके शरीर का दाह उस अग्निहोत्र की अग्नि बिषे होता है अरु उसके शरीर के साथ उसकी अग्निहोत्र की अग्नि को भी बाहर लेजाते हैं) अरु उस आहुतिभूत शरीर के हवन करने की जो यह प्रसिद्ध अग्नि है सोई अग्नि है।ः—हे प्रियदर्शन ! जैसे अग्निहोत्र का कर्त्ता यजमान द्युलोकसे श्रद्धाख्य जलरूप आहुति बिषे अपनी भावना कर भावित तन्मय हुआ आहुति के क्रम से सोमादिरूप परिणाम को पावता स्त्रीरूप अग्निबिषे वीर्यरूप से आहुति हुआ पुरुषरूप से प्रकट होय जन्मता है, अरु यावत् आयुष तावत् जीवता अग्निहोत्र करता है, अरु जैसे पूर्व की आहुतियों में अपनी भावना कर भावित तन्मय हुआ होता है तैसेही इस शरीररूप आहुति 'जो पञ्चम आहुति का परिणाम षष्ठ आहुति है, तिस साथ तन्मय हुआ मरणोत्तर ऋत्विजादि द्वारा वेदोक्त मन्त्र करके अपने अग्निहोत्र की इस प्रत्यक्ष अग्नि बिषे आहुति हवन हुआ होता है—ः। जो हवन का अधिकरण

अग्नि है सो उसके शरीर की आहुति होने का द्युलोकादिक
ल्पित अग्नि नहीं। अरु यह जो प्रसिद्ध पलाशादि काष्ठरूप
सोई उस प्रसिद्ध अग्निका समित् है। अरु जो प्रसिद्ध धूम
धूम है। अरु जो प्रसिद्ध अर्चि (ज्वाला) है सोई उस प्रसिद्ध
की ज्वाला है। अरु जो प्रसिद्ध अङ्गार है सोई उसका अ
अरु जो प्रसिद्ध चिनगारियां हैं सोई उस अग्नि की चिनगा
ऐसी जो प्रसिद्ध अग्नि तिसही इस अग्निबिषे (ऋत्विजा
देवता पुरुषनाम शरीररूप हवि की अन्तिम आहुति करते
उस आहुति से पुरुष (यजमान) भास्वरवर्ण (अतिशय प्रका
होता है॥ :–हे सौम्य! उक्त प्रकार द्युलोकादि अग्नि बिषे
रूप से आहुति हुआ यजमान इस लोक बिषे आवता है,
यावत् आयुष तावत् अग्निहोत्र कर्मद्वारा अग्नि की
उपासना करता है। अरु जब मरता है तब अपने उपास्य
ऋत्विजादि द्वारा आहुति हुआ उस अग्नि करके प्रथम अन्त
में प्राप्तहो पुनः स्वर्गलोक में जाय अतिशय प्रकाशवान्
होता है। इस प्रकार अग्निहोत्र के कर्त्ता यजमान का
जानना॥ २॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके नवमः खण्डः॥ ९॥

अथ छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके दशमः खण्डः प्रारभ्यते

**तद्यइत्थंविदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धातपइत्युपा
षमभिसम्भवत्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमा
पक्षाद्यान् षडुदङ्ङेतिमासाछंस्तान्॥ १॥**

अब छान्दोग्य पञ्चम प्रपाठक में दशम खण्ड का आरम्भ

अक्षरार्थ।

जो सो इस (विद्या) को जानते हैं, अरु जो अ
तप को उपासते हैं सो अर्चिष को प्राप्त होते हैं अर्चिष

दिवस से शुक्लपक्ष को शुक्लपक्ष से छः उत्तरायण के मासों को तिन मासों से) ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! पूर्व जो राजा जैबलिने श्वेतकेतु के प्रति प्रथम प्रश्न किया रहा कि "वेत्थ यदितोऽधिप्रजाःप्रयन्ति" तू जानता है जिस प्रकार यह सर्वप्रजा मरके ऊद्ध्र्व को जाती है । यह प्रश्न अब निर्णय करने को उपस्थित है । तहां लोक बिषे जो अधिकृत (यथा समय सर्व संस्कार को प्राप्त हुआ अधिकारी गृहस्थ गृहमेधी) (न्याय से कुटुम्ब का पोषणकर्त्ता) अग्निहोत्री गृहस्थके लिये यह यथोक्त पञ्चाग्निविद्या है कि हम द्युलोकादि पांच अग्नि से क्रम करके उत्पन्न हुए हैं ।:— अर्थात् अग्नि के अरु आहुतिके साथ अपनी भावना करके भावित तन्मय अग्निरूप हुए हम प्रथम श्रद्धाख्य जलबिषे अपनी भावना से भावित हुए द्युलोकाख्य अग्निबिषे आहुति हुए सोमरूप से, अरु तिस अपने सोमरूप की पर्जन्याख्य अग्निबिषे आहुति हुए वर्षारूप से, अरु तिस अपने वर्षारूप की पृथिवीरूपा अग्निबिषे आहुति हुए अन्नरूप से, तिस अपने अन्नरूपकी पुरुषाग्निबिषे आहुतिहुए वीर्यरूपसे, अरु तिस अपने वीर्यरूप की स्त्रीरूप अग्निबिषे आहुति हुए इस पुरुषनामक शरीररूप से हम प्रकट हुए हैं । इस प्रकार द्युलोकादि पांचअग्नि के क्रम से हम उत्पन्नहुए हैं—: ॥ अतएव हम अग्निरूप हैं । इस प्रकार जो जानताहै (सो उत्तरमार्ग को प्राप्तहोता है) ॥ प्रश्न ॥ "तद्य इत्थं विदुः" सो जो इसको जानताहै, ऐसा जो श्रुति का कथनहै सो किसके लिये है ॥ उत्तर ॥ यह कथन गृहस्थ के लिये है अन्य के लिये नहीं । गृहस्थों के मध्य जो उक्त विद्या को न जानके केवल इष्टापूर्त्त दत्त के परायण होरहेहैं ॥:—अर्थात् इष्टा कहते हैं अग्निहोत्रादि वैदिक नित्यकर्मादिकों को, अरु पूर्त्ता कहते हैं 'वापी, कूप, तालाब, बाग, धर्मशाला आदिक अन्यों के सुखार्थ स्मृति उक्त प्रमाणानुसार करने को, अरु दान कहते हैं 'अन्न, गौ, धन, ग्रामादि, यथाधिकार से दान करना ॥ तिन केवल कर्मी गृहस्थों के लिये धूमादि क्रम से (दक्षिणायनमार्ग से)

चन्द्रलोक को जाते हैं, ऐसा कहा है॥ अरु जे अरण्योपलक्षित अर्थात् "येचेमेऽरण्ये" इस वाक्य करके अरण्योपलक्षित (अरण्य निवासी) वानप्रस्थ अरु संन्यासी श्रद्धा तप की उपासना को (हिरण्यगर्भादि सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले) उनको मार्ग से (उत्तरायणमार्ग से) गमन कहा है॥ :—अर्थात् अरण्य निवासी वानप्रस्थ अरु आत्मज्ञानसे रहित त्रिदण्डी आदिकों तपपूर्वक हिरण्यगर्भ वा प्रणवादि सगुणब्रह्म की उपासनासे मार्ग करके उत्तरायणगति की प्राप्ति कही है। अतएव उनके "इत्थं विदुः" पञ्चाग्निका जानना उत्तरमार्ग की प्राप्ति के लिये नहीं—:॥ अतएव उनसे परिशेष (अवशेष) रहने से अरु की आहुति के सम्बन्ध से केवल गृहस्थहीके लिये "इत्थं विदुः" वाक्यका कथन है॥

हे सौम्य!। :—अब गृहस्थ के लिये कहा जो पारिशेष वादी आक्षेप करता है—:॥ शङ्का॥ ननु ग्रामश्रुति करके अरु श्रुति करके। :—अर्थात् "येचेमेऽरण्ये" अरु "अथ य इमे इन दोनों श्रुति करके अरण्यउपलक्षण करके वानप्रस्थ अरु का अरु ग्रामउपलक्षण करके गृहस्थों का ग्रहण है—:। वानप्रस्थ न्यासी और गृहस्थ इनका ग्रहण है। तैसे उभय स्थान में का भी ग्रहण है तब गृहस्थ को ही "इत्थं विदुः" पञ्चाग्नि के जानने के लिये कैसे पारिशेष कहतेहौ। :—अर्थात् अरण्योपलक्षित वानप्रस्थ अरु संन्यासी को उत्तरमार्ग की प्राप्ति के लिये पञ्चाग्नि का ज्ञान न होके हिरण्यगर्भादि सगुणब्रह्म की उपासना है, अरण्योपलक्षितों से इतर ग्रामोपलक्षित गृहस्थ को ही पारिशेष उसको उत्तरमार्ग की प्राप्तिके लिये पञ्चाग्निविद्या का ज्ञान युक्त नहीं, क्योंकि जैसे अरण्योपलक्षितोंसे गृहस्थ को पारिशेष तैसे दोनों उपलक्षणों करके लक्षितों में ब्रह्मचारी भी पारिशेष होता है। अतएव ब्रह्मचारी को उत्तरमार्ग की प्राप्ति के लिये विदुः" इस श्रुति से पञ्चाग्निविद्या का ज्ञान कहना युक्त है—

वादिन् ! तैंने जो " तद्य इत्थं विदुः " 'सो जो इस (पञ्चाग्निविद्या) को जानता है, इस श्रुति को ब्रह्मचारी के लिये कहा—: । क्या नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये ग्रहण किया वा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के लिये कहा (ग्रहण किया) तहां प्रथम आदि विकल्प को दूषण कहते हैं]॥ उत्तर ॥ हे वादिन् ! तूने कहा सो दोष नहीं, क्योंकि ऊर्द्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये पुराण स्मृतियों के प्रमाण से उत्तरमार्ग की गति प्रसिद्ध है, अतएव सो भी अरण्योपलक्षित वानप्रस्थ संन्यासियों के साथ उत्तरगति को जाता है । अरु जो उपकुर्वाणसंज्ञक ब्रह्मचारी है सो वेदाध्ययन करने पर्यन्तही है अतएव इसका विशेष करके ग्रहण नहीं ॥ :—अर्थात् जो यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् आजन्मपर्यन्त विवाह न करके ब्रह्मचर्य से गुरुकुल में वास करते हैं अरु जिनका वीर्यपात होता नहीं उनको ऊर्द्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं उनको अपने ब्रह्मचर्यधर्म के प्रभाव से उत्तरायणमार्ग प्राप्त होता है । अरु जो यज्ञोपवीतसंस्कार के उत्तर वेदाध्ययन करनेपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके पश्चात् गृहस्थाश्रम को ग्रहण करते हैं उनको उपकुर्वाण ब्रह्मचारी कहते हैं । ताते नैष्ठिकब्रह्मचारी का अरण्योपलक्षितों के साथ ग्रहण है, अरु उपकुर्वाणब्रह्मचारी का ग्रामोपलक्षित गृहस्थ के साथ ग्रहण है । ताते उभय प्रकार के ब्रह्मचारियों का पृथक् ग्रहण नहीं—: ॥ शङ्का । ननु यदि ऊर्द्ध्वरेतत्व उत्तरमार्ग की प्राप्ति का कारण पुराण स्मृतियों के प्रमाण होनेसे इच्छित है तो " इत्थंविक्त्व " पञ्चाग्निविद्या के जाननेपने को (अर्थात् ज्ञान को) अनर्थता की प्राप्ति होती है ॥ समाधान ॥ सो नहीं, क्योंकि " इत्थंविक्त्व " को अर्थात् पञ्चाग्निविद्या के जाननेपने को गृहस्थों के अर्थ होने से, सो अनर्थक (निष्प्रयोजन) नहीं । अरु जो गृहस्थलोक इस पञ्चाग्निविद्या के न जाननेवाले अग्निहोत्र के कर्त्ता केवल कर्मी हैं उनके लिये स्वभावसे ही धूमादिलक्षणवान् दक्षिणमार्ग (गति) प्रसिद्ध है । तिन केवल कर्मी गृहस्थों ही के मध्य जे कोई कहे प्रकार से इस पञ्चाग्निविद्या को जानता है, अर्थात् पञ्चाग्निविद्या करके वा अन्य प्रकार से सगुण

ब्रह्म को जानता (उपासता) है सो देवयान उत्तरायणमार्ग (ब्रह्मलोक) को जाता है। " अथ यदु चैवास्मिन् सव्यं कुर्वन्ति चनार्चिषमेवेतिलिङ्गादुत्तरेण ते गच्छन्ति "। शङ्का॥ ननु ऊर्ध्व का अरु गृहस्थों का आश्रमित्वपने में समानता होने से ऊर्ध्वरेता उत्तरायणमार्ग से जाता है गृहस्थ नहीं ऐसा कथन युक्त क्योंकि गृहस्थ को अग्निहोत्रादि वैदिककर्म की बाहुल्यता है (फलबाहुल्यताभी युक्त है) [ऊर्ध्वरेता अरु गृहस्थ की आश्रमित्वपने बिषे समता कही तहां गृहस्थ को विशेषता देखावते हैं, को अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों की बाहुल्यता है उस बाहुल्य होते सन्ते भी अविद्वान् (पञ्चाग्निविद्या के न जाननेवाले) ताओं को ही देवयानमार्ग करके गमन है गृहस्थों का नहीं कथन योग्य नहीं। क्योंकि अग्निहोत्रादि साधनों की बाहुल्य फल की बाहुल्यता न होनी यह न्यायसे विरुद्ध है]॥ समाधान यह दोष नहीं [ऊर्ध्वरेता अरु गृहस्थ के आश्रमित्वपने में षता के हुएभी उनके परस्पर के धर्म की विशेषता से विशुद्धि तम्यता होनेसे इनकी एकरूपता नहीं इस प्रकार उक्त शङ्का हार करते हैं]॥ :—अर्थात् वादी शङ्का करता है कि पञ्चाग्नि जाननेवाले अविद्वान् ऊर्ध्वरेता को उसके धर्मानुसार उसके मार्ग की गति पुराण स्मृतियों के प्रमाण से कही, अरु अविद्वान् (ग्निविद्या के न जाननेवाले) गृहस्थ के लिये न कही सो युक्त क्योंकि उस अविद्वान् ऊर्ध्वरेता की अपेक्षा उस अविद्वान् के अग्निहोत्रादि वैदिक धर्म की विशेषता है, अतएव उसके उत्तरायणगतिरूप फल की विशेषता न होनी यह न्याय के है, इस प्रकार की जो वादी की शङ्का है उसका समाधान करते हे वादिन्! तूने कहा सो यह दोष नहीं, क्योंकि सो अपूत (ही है ताते॥ शङ्का॥ पञ्चाग्निविद्या से हीन अग्निहोत्रादि धर्मवान् को भी अशुचिता कैसे है?॥ समाधान॥ तिस अग्नि धर्म की बाहुल्यतावाले अविद्वान् कर्मी गृहस्थ को शत्रु मित्र

निमित्तों सेही रागद्वेष है। तैसेही हिंसा अनुग्रह के निमित्त के किये धर्म अधर्म भी हैं॥ :—अर्थात् गृहस्थ को पुत्रादि कुटुम्बवान् होने से उसके शत्रु मित्रका होना सम्भव है। अरु शत्रु मित्रके होनेसे रागद्वेष का भी सम्भव है। अरु रागद्वेष होने से शत्रुके निमित्त की अशुभ चिन्तनारूपा हिंसा अरु मित्रके निमित्त का शुभचिन्तनरूप अनुग्रह का सम्भव है, अरु सोई धर्म अधर्म का निमित्त है—:॥ अरु हिंसा, मिथ्याभाषण, कपट, अब्रह्मचर्य, परिग्रहादि पुनः अन्य भी। अरु तिस के बहुतसे शुद्धिके कारण भी हैं तथापि उक्त अपूतत्वको परिहार (निवारण वा प्रायश्चित्त) नहीं, अतएव वो अपूत (अशुचि वा अपवित्र) ही है॥ शङ्का॥ तुल्य ऊर्ध्वरेता को भी अशुद्धिके हेतु की बाहुल्यता होनेसे उसको भी अपूतत्व है॥ समाधान॥ :—उस ऊर्ध्वरेता को तमोगुण के कार्य—:। हिंसा (निर्दयता) मिथ्याभाषण, कपट, अब्रह्मचर्य (स्त्रीलम्पटता) आदिकों का परिहार होने से उस शुद्धात्मा को (शुद्ध अन्तःकरणवाले को) ही इतर शत्रु, मित्र रागद्वेषादि को (रजोगुणके कार्यों) का परिहार होनेसे सो विरज। :—अर्थात् वो उक्तदोषों के परिहार से रज तम के कार्य से रहित विरज शुद्धअन्तःकरणवाला है—:। तिसको उत्तरमार्ग युक्त है॥ तहां पौराणिक कहतेहैं। तथाच "। येप्रजामीषिरेऽधीरास्तेश्मशानानिभेजिरे। येप्रजानेषिरेधीरास्तेऽमृतत्वंहिभेजिर, इत्याहुः"। शङ्का॥ पञ्चाग्निविद्या के जाननेवाले गृहस्थों को अरु अरण्यवासी वानप्रस्थ संन्यासियोंको समान मार्ग करके अमृतत्वरूप फल की प्राप्ति से अरण्यवासियों को विद्या अनर्थ की प्रापक है अरु तैसेही श्रुति से भी विरोध है। तथाच "। न तत्र दक्षिणायन्ति नाविद्वांसस्तपस्विन इति"। "। स एवमविदितो न भुनक्तीति" यह विरोध है॥ समाधान॥ सो नहीं "। आभूत संप्लवस्थान" का अमृतत्व करके कथन है ताते। तहां पौराणिक ही कहते हैं "। आभूतसंप्लवंस्थानममृतत्वंहि भाष्यत इति" जो कि आत्यन्तिक अमृतत्व मोक्ष है तिसकी अपेक्षा करके "। न तत्र दक्षिणायन्ति, स एनमविदितो न भुनक्तीत्याद्याः श्रुतयः" तहां दक्षिणमार्गवाला नहीं जाता, सो इसको न जाननेवाला

नहीं भोक्ता (नहीं प्राप्तहोता) इत्यादि श्रुतियोंका विरोध नहीं अर्थात् ऊर्द्ध्वरेताको जो उत्तरमार्ग से ब्रह्मलोकप्राप्तिसम्बन्धी तत्त्वप्राप्ति है सो पञ्चाग्निविद्याके न जाननेवाले अविद्वान् गृहस्थ दक्षिणमार्गसे पितृलोक के अधिकारी हैं तिनकी अपेक्षावाला है सापेक्षिक है, वा आत्यन्तिक मोक्षकी अपेक्षा ब्रह्मलोक की प्राप्ति अमृतत्व गौण है, क्योंकि उत्तरायणमार्ग से वा सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र को भेदनकरके उक्त नाड़ी के मार्ग से जानेवाले की है अरु ब्रह्मलोकरूप अमृतत्व पावनेवाला पुनः इस कल्प में इस लोक पुनरावृत्ति न पायके वहांही रहता है परन्तु कल्पान्तर में पुनः आता है। अतएव ब्रह्मलोक की प्राप्ति से आवागमन से रहितरूप जो है सो आत्यन्तिकी मोक्षकी अपेक्षा गौण है ॥ अरु " सदेकमेवा यम् " एकही अद्वितीय सत् मैं हौं इसप्रकारकी प्रत्ययवाला (सा अनुभव निश्चयवाला) । :–अर्थात् " एतदात्म्यमिद ँ सर्वंतत्सत्यं सआत्मातत्त्वमसि " इत्यादि प्रकार तत्त्वमस्यादि महावाक्य के से जिसको अपने आप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अपने आत्मा का, संशय विपर्ययादि सर्व व्यवधान से रहित सम्यक् साक्षा कार अनुभव निश्चय हुआ है उस आत्मज्ञानी का मस्तक भि करके सुषुम्णा नाड़ीद्वारा वा अर्चिरादिमार्गद्वारा उसका लोका गमन नहीं, उसका जो स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान से ब्रह्म आत्मा अभेदरूप मोक्ष है सो यहां जीवतेही होता है, आत्मज्ञान के नि वालाहोनेसे । तथाच " ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति " " तस्मात्तत्सर्वमभव " न तस्यप्राणा उत्क्रामन्ति " " अत्रैव समवलीयन्त " इत्यादि श्रु तेभ्यः ॥ इत्यादि सैकड़ोंश्रुतियोंके प्रमाणसे ॥ शङ्का ॥ हे वादिन् ! ऐसी कल्पना करे कि यह जो "न तस्यप्राणा उत्क्रामन्ति" श्रुतिहै अर्थ यहहै कि जीवसे पृथक् होके प्राण उत्क्रमण होते नहीं किन्तु के साथही जातेहैं, सो नहीं। क्योंकि जो उक्त अर्थ को अङ्गीकार करें " अत्रैव समवलीयन्त " यह श्रुतिने जो कहा है यहांही सम्यक् लय होता है, सो यह विशेषण अनर्थक होने से, अतएव आत्म

के प्राण के उत्क्रमण की शङ्का ही करनी योग्य नहीं। अरु यद्यपि मोक्ष हुए का संसारगति की विलक्षणता होनें से प्राणों का जीवके साथ आगमन की शङ्का न होवे एतदर्थं "तस्मान्नोत्क्रामन्ति" उत्क्रमण नहीं होते, ऐसा श्रुति का कहना है। अरु जो जीव करके सहित प्राणों के उत्क्रमण की शङ्का होवेगी तो यह जो श्रुति ने विशेषण कहा है कि "अत्रैव समवलीयन्त" सो अनर्थक होता है ताते। अत एव प्राण से पृथक् हुए को शरीर से बाह्य निकलके लोकान्तर की गति प्राप्त नहीं॥ :—अर्थात् जिसके प्राण आत्मज्ञान के न होने से अधिष्ठान चैतन्य में लीन होते नहीं उसका प्राण के साथ शरीर से उत्क्रमण होय लोकान्तर वा शरीरान्तर को गमन है। अरु जिसके प्राण सम्यक् आत्मज्ञान द्वारा अपने अधिष्ठान में लीन होते हैं उस ज्ञानवान् के प्राण शरीर से उत्क्रमण होते नहीं वो जिस आत्मअधिष्ठान से फुरे हैं उसही में लय होते हैं—:॥ ["कस्मिन्नहमुत्क्रान्तउत्क्रान्तो भविष्याभि। कस्मिन्वाप्रतिष्ठितेप्रतिष्ठास्यामीति॥ स प्राणमसृजत" अर्थ, सो परमात्मा प्रथम इच्छा करताहुआ कि मुझ निराकार निर्विशेष का किसके उत्क्रमण (निकलने) से उत्क्रमण होगा, और किसके रहने से रहना होगा। :—क्योंकि मुझ अक्रिय निराकार विषे गमन अरु स्थित होनेरूप व्यापार बने नहीं, अरु गमनादिव्यापार सर्व सिद्ध हुआ चाहिये—:। ऐसा विचार वो परमात्मा अपने गमनागमन वा स्थिति के लिये प्रथम प्राण को सृजता हुआ]। :—अतएव उक्त श्रुति के प्रमाण से एक अद्वैत सत् निराकार निर्विशेष आत्मा के जो जीवत्वपने की प्राप्ति अरु आवागमन की प्राप्ति है सो प्राणरूप उपाधि के सम्बन्ध से ही है, प्राण से पृथक् हुए की गमनागमनरूपा गति उपपाद्य नहीं—:। अरु [एक अद्वैत चिदात्मा को प्राण से पृथक् हुए जीवपने की भी प्राप्ति नहीं, क्योंकि उस एक अद्वैत चिदात्मा को जो जीवशब्दका वाच्यपना है सो प्राणरूप उपाधि का किया है]॥ एक अद्वैत चैतन्य को सर्वात्मा अरु निरवयव होनेसे प्राण के सम्बन्धमात्र से ही अग्नि से विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) वत् जीवत्वपने अरु भेद की प्राप्ति का

कारण है। अतएव तिस प्राणरूप उपाधि के वियोग (अभाव) सामान्य सर्वात्मा निराकार निरवयव चैतन्यबिषे जीवपने अरु गमनगति की कल्पना करने को कोई भी समर्थ नहीं ॥ जैसे इन्धनयुक्त विशेष प्रज्वलित अग्नि से इन्धनरूप उपाधि के से अल्पचिनगारियां उत्थान होती हैं तब उस उपाधि के सम्बन्ध उस अग्निबिषे चिनगारीपना अरु उस महत् अग्नि से पृथक् अल्पपना प्राप्त होता है, अरु जब वो चिनगारी विशिष्ट अग्नि वि... को त्याग निर्विशेष सामान्य अग्नि साथ अभेद होताहै तब उस ... सामान्य अग्नि से भिन्न अल्परूप चिनगारी हैं ऐसी कल्पना करने को कोई भी समर्थ नहीं। तैसेही समान सर्वात्मा निराकार परमा... उसकी इच्छानुसार, अर्थात् इच्छारूपा मायाविशिष्ट चैतन्य से प्र... स्फुरण हुए प्राणविशिष्ट चैतन्य की प्राण के सम्बन्ध से जीवसं... गमनागमनवान् ब्रह्म से भिन्नपना भासे है। अरु जब सम्यक् ज्ञान करके प्राणरूप उपाधि चैतन्य सत्ता से पृथक् होती है वा अपने अधिष्ठान में लय होता है तब उस प्राणरूपा उपाधि से रहित सामान्य निर्विशेष सर्वाधिष्ठान चैतन्य बिषे जीवपने की अरु ग... गमन की अरु ब्रह्म से पृथक्पने की कल्पना करने को कोई भी ... नहीं—॥ ताते सर्वात्मा शुद्ध निर्विशेष निरवयव निर्विकार निराका... चैतन्यबिषे अणुभाव जीवत्व अरु ब्रह्मरन्ध्र में छिद्र करके 'ब्रह्मलो... वा अन्य नाड़ियों के मार्ग से अन्य लोकान्तर को, जाता है। इस... की कल्पना करनेको कोई भी समर्थ नहीं ॥ एतदर्थ "तयोर्दर्ध्व... मृतत्वमेतीति" यह जो नाड़ीद्वारा उत्क्रमण होय अमृतत्व की ... है सो सगुणब्रह्म की उपासनावाले उपासक को है अरु सो अ... की प्राप्ति नाड़ी के मार्ग की अपेक्षा करनेवाली होने से सो (ब्रह्म... सम्बन्धी) सापेक्षक अमृतत्व है। वो साक्षात् मोक्ष नहीं। तथाच ... राजितापूस्तदैरं मदीयंसर तदश्वत्थः सोमसवन" इत्यादि श्रुति ... है। अरु "तेषामेवैषब्रह्मलोक" इत्यादि विशेषणों से। एतदर्थ ... ग्निविदो, गृहस्थ को ही कहा है।:—अर्थात् तात्पर्य यह है कि ...

इत्थं विदुः " इस श्रुति ने जो कहा है कि इस पञ्चाग्निविद्या का जाननेवाला उत्तरायणमार्ग की गति को प्राप्त होता है, सो केवल गृहस्थ के लियेही कहा है अन्य के लिये नहीं, क्योंकि गृहस्थ से इतर जे नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अरु संन्यासी ये अपने २ आश्रमधर्म करके अरु हिरण्यगर्भादि सगुणब्रह्म की उपासना करके उत्तरायणमार्ग की गति को प्राप्त होते हैं। अरु गृहस्थ को अग्निहोत्रादि इष्टा, वापी, कूप, आरामादि, पूर्त्ता अरु दान इन कर्मोंका अधिकार विशेष है क्योंकि इसके न करनेसे उसको प्रत्यवाय है, अरु हिरण्यगर्भादिओं की उपासना न करनेसे उसको प्रत्यवाय नहीं। तैसेही नैष्ठिक ब्रह्मचारी अरु वानप्रस्थ अरु संन्यासी उनमें संन्यासी को छोड़के उक्त दोनों को हिरण्यगर्भ की उपासना मुख्य है और गौण है। अरु संन्यासी को एक प्रणवरूप सगुण ब्रह्म कीही उपासना कर्त्तव्य है और नहीं। अतएव इन तीनों को उक्त सगुण ब्रह्मोपासना उत्तरमार्ग की प्राप्ति का कारण है, ताते इनके अर्थ पञ्चाग्निविद्या का ज्ञान उक्तगति की प्राप्ति में हुआ न हुआ तुल्य है। अरु गृहस्थ को उत्तरमार्ग की गति की प्राप्ति में एक पञ्चाग्निविद्या का उक्त प्रकार का ज्ञानही मुख्य कारण है और नहीं। अतएव " तद्यइत्थं विदुः " यह जो श्रुति का कथन है सो केवल गृहस्थ के लियेही है अन्य के लिये नहीं ॥ अरु अरण्योपलक्षित जे वानप्रस्थ संन्यासी नैष्ठिक ब्रह्मचारी करके सहित श्रद्धा सम्पन्न हुए तपाचरण के करनेवाले सगुणब्रह्म के उपासक। अर्थात् " श्रद्धातपइत्युपासत " इस श्रुति में जो उपासनशब्द है सो तात्पर्यवाची है, जैसे गृहस्थ के लिये " इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते " इस श्रुति में उपासनशब्द तात्पर्यवाची है तैसे ॥ श्रुत्यन्तरप्रमाण " ये च सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यमुपासते तेसर्वेऽर्चिषम् " अर्चिरभिमानीन्देवतामभिसंविशन्ति, प्रतिपद्यन्ते " ताते जे अरण्यनिवासी वानप्रस्थ संन्यासी अरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी, श्रद्धासम्पन्न तपाचरण उपासना के करनेवाले हैं सो देहत्यागोत्तर अर्चिके अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। उस अर्चिअभिमानी देवता से आगे दिवस के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। उस दिवसाभिमानी देवता से आगे

शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। उस शुक्लपक्षाभिमानी से आगे उत्तरायण के षट्मासाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (मासों से)॥ १ ॥–॥ अथवा पञ्चाग्निविद्या के सम्यक् ज्ञानपूर्वक इष्टापूर्त्तादत्त (दान) का करनेवाला गृहस्थ अरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी वानप्रस्थ यह तीनों कि जिनके मरणोत्तर शरीर का दाह अग्नि होता है सो अरु चतुर्थ त्रिदण्डी आदिक गौण संन्यासी जिनके का दाह अग्निविषे होता नहीं सो, इस प्रकार उक्त चारो अपने धर्माचरणविद्या के प्रभाव से शरीरत्यागोत्तर प्रथम अर्चिअभि देवता को प्राप्तहोता है, वहां से उसको दिवस का अभिमानी देव जाता है दिवस के अभिमानी देवता से उसको शुक्लपक्ष का अभि देवता लेजाता है। पुनः वहां से उसको उत्तरायणका षट्मासाभि देवता लेजाता है॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्च सेचन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः सएनां ब्रह्म यत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

उन मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को। तिस विद्युत् को प्राप्तहुए का मानसपुरुष ब्रह्मलोक लेजाता है, यह देवयानमार्ग है॥ २॥

भावार्थ।

हे सौम्य! राजा जैबलि उद्दालक से कहता है कि हे गौतम प्रकार के चारो आश्रम के विद्वान् उपासक पुरुष देहत्यागोत्तर यणके षण्मासाभिमानी को प्राप्त होते हैं, तब उन षण्मासाभि देवता से आगे संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होता है, उस संव भिमानी देवता से आगे आदित्याभिमानी देवता को प्राप्त होताहै आदित्याभिमानी देवता से आगे वो चन्द्राभिमानी देवता को प्राप्त

पुनः उस चन्द्राभिमानी देवता से आगे वो विद्युदभिमानी देवता प्राप्त होता है । इसप्रकार जब वो विद्वान् उपासक विद्युदभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं तब वहां से उनको ब्रह्माके मानस सृष्टिका ब्रह्मलोकनिवासी ब्राह्मणों में से कोई एक सत्यलोक नामवाले ब्रह्मा के ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है । :—अथवा उक्त प्रकार जब वो विद्वान् उपासक उत्तरायण के षण्मासाभिमानी देवता करके तहां प्राप्त किया होता है तब वहां से उसको संवत्सरका अभिमानी देवता ले जाता है । तब संवत्सर के अभिमानी देवता से आगे उनको चन्द्राभिमानी देवता लेजाता है । तहां से उनको विद्युत् का अभिमानी देवता लेजाता है । इस प्रकार जब वो विद्युदभिमानी देवता को प्राप्त होताहै तब वहांसे उसको ब्रह्मलोक से ब्रह्मा की मानस सृष्टि का पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥ इस प्रकार करके चारों आश्रमके विद्वान् तपस्वी उपासक ब्रह्मलोकसम्बन्धी पुरुष करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं, तब वहां देवतारूप हुए सर्वोत्तम सर्व से उत्कृष्ट भावको पाय वहां अनेक दिव्य वर्षपर्यन्त अर्थात् यावत् पर्यन्त ब्रह्मा ब्रह्मलोकमें निवास करताहै तावत् पर्यन्त वो भी वहां निवास करता है । वो ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए पुनः इस संसार में पुनरावृत्ति को पावते नहीं, यही उनको अमृतत्व की प्राप्ति है । परन्तु ब्रह्मा के मुख्य मोक्ष हुए वो प्रकृतिलक्षणरूप मोक्ष को पाय पुनः सृष्टिकाल में उनका आगमन होताहै । ताते ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप मोक्ष सापेक्षिक होने से गौण है ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासतेतेधूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैतिमासाꣳस्तान्नैतेसंवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

जो यह ग्रामनिवासी गृहस्थ इष्टापूर्त्त दान करते हैं सो धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के षड् मासों को, उन मासोंसे संवत्सरको प्राप्त होताहै ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! चतुर्थ गति के व्याख्यान करके [उत्तराय
व्याख्यान का उपसंहार करते हैं] यह देवयानमार्ग का कि
सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग बाह्यगमनसे ब्रह्मलोक पर्य्यवसान (
वा परमगति) है व्याख्यान किया । अरु । :—राजा जैबलि ने
प्रति प्रथम यह प्रश्न कियारहा कि "।वेत्थयदितोऽधिप्रजाःप्र
जानताहै जैसे अधोसे प्रजा ऊद्ध्र्वको जाती हैं । उस प्रश्न का
राजानेही इस उत्तरायणमार्ग के व्याख्यानसे गौतमगोत्रवाले
प्रति कहा ॥ अरु कोई एक कहते हैं कि उक्त नाड़ीद्वारा निकल
देवयानमार्ग से जाते हैं सो ब्रह्माण्डको भेदन कर उसके बाह्य
प्राप्तहोते हैं, उसका निराकरण करते उनके प्रति कहते हैं]
रापितरंमातरञ्चेति, मन्त्रवर्णात् " [पिता द्युलोक है माता पृथिवी
माता पिता के मध्यही कर्म अरु उपासना के अधिकारी कर्मी
की गति है अण्ड से बाह्य गति नहीं] । :— क्योंकि कर्म उपा
फल अरु उस फल के प्राप्त होने के मार्ग ब्रह्माण्डान्तरही है-
अर्थान्तर प्रस्तावना करके दक्षिणायनगति को कहते हैं ॥ हे
राजा जैबलि उद्दालक के प्रति कहता है कि हे गौतम ! यह
उपलक्षण करके लक्षित जे गृहस्थ हैं । अर्थात् यहां जे गृहस्थ
'ग्राम' यह जो असाधारण विशेषण है सो अरण्यवासी वानप्रस्थ
से पृथक् करने के लिये है । जैसे वानप्रस्थ संन्यासियों को गृह
पृथक् करने के लिये अरण्य विशेषण है तैसे । सो ग्रामों लक्षित
इष्टपूर्त्ता दान को उपासता (कर्त्ता) है । तहां इष्टा कहिये अ
ग्न्यादिक वैदिक कर्म, अरु पूर्त्ता कहिये वापी (बावली) कूप
(बाग) धर्मशालादिक कि जिससे मार्ग के चलनेवाले य
साधु सन्तों को निवासादिक के लिये स्थानादिकों की प्राप्ति
होवे, उनका बनवावना । अरु दान कहिये निर्द्धनादि यथार्थ
को धन अन्नादिकों का देना । :— अर्थात् सामान्य साधारण
अन्न वस्त्रादिकों से रहित दीन पुरुषों के लिये अन्न वस्त्र का य

ना । अरु विशेषरीति से जो किसी प्रकार के उद्देश से वा वारपर्वणी आदिकों में वा तीर्थों में दान करना सो अधिकारी विद्वान् ब्राह्मणों के लिये दान देना । अरु सर्वोत्तम दान वो है कि जो कोई तीनों आश्रम मनुष्य अपने २ धर्म में तत्पर होय ईश्वरोपासन आराधन करते हैं तिन्होंके अन्न वस्त्र की अप्राप्तिरूप निमित्त के किये विक्षेप को ' जो तिनके व्यवधान से रहित निरन्तर धर्मानुष्ठान ईश्वर प्रणिधान में विघ्नकारी है, अन्न वस्त्र धनादिकों के दान से अभाव करना, इससे अधिक उत्तम दान कोई नहीं—: ॥ अरु [अपने गुरु, माता, पिता, ज्येष्ठ, श्रेष्ठों की शुश्रूषा सेवा करनी अरु शरण आये की रक्षा करनी ।:— अरु अग्निहोत्र से इतर संध्या, गायत्री, नित्यश्राद्ध, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, अतिथिसेवनादि नित्यकर्म—: ।] इन सबको यथाविधि उपासते हैं, अरु पञ्चाग्निविद्या को जानते नहीं सो उस न जानने के हेतु से मरणोत्तर अग्निविषे दाह हुए प्रथम धूम को अर्थात् धूमशब्द करके धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । पश्चात् उस धूम से आगे रात्रि को (रात्रि के अभिमानी देवता को) प्राप्त होते हैं । उससे आगे कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । पश्चात् उस कृष्णपक्षाभिमानी देवता से आगे दक्षिणायन के षड् ६ मास कि जिन छः मासों (संक्रान्तियों) में सूर्य दक्षिणायन होता है । :—अर्थात् कर्कसंक्रान्ति से लेके धनसंक्रान्तिपर्यन्त छः संक्रान्ति में सूर्य दक्षिणायन रहता है—: । तिन षड्मास के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । उन दक्षिणायन के छः मासों के अभिमानी देवता से आगे संवत्सर के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं ॥ शङ्का ॥ उसको संवत्सर के अभिमानी देवता की प्राप्ति, कैसे कही है, क्योंकि " मासेभ्यः पितृलोकं " ऐसा आगे श्रुति ने कहा है ताते—: ॥ समाधान ॥ उसको संवत्सराभिमानी की प्राप्ति है, क्योंकि एक संवत्सर के ही उत्तरायण अरु दक्षिणायन दो अवयव हैं । तहां अर्चिरादिमार्ग से प्रवृत्त हुए को उत्तरायण के छः मासरूप अवयवों की प्राप्ति से अवयवी संवत्सर की प्राप्ति कही है । एतदर्थ यहां भी उस संवत्सर अवयवभूत दक्षिणायनसम्बन्धी छः मासों

की प्राप्ति श्रवण करके उन अवयवों के अवयवी संवत्सर
वत् प्राप्ति प्राप्त है, अतएव उसका प्रतिषेध नहीं। अर्थात्
प्राप्तिका निषेध नहीं। इस प्रकार अवयव के सम्बन्ध से
संवत्सर की प्राप्ति जाननी ॥ ३ ॥

**मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाका-
मसमेष सोमोराजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति**

अक्षरार्थ।

उन मासों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को,
चन्द्रमा को, कि जो यह (ब्राह्मणों का) राजा सोम है, सो
का अन्न है उसको देवता भक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! वो राजा जैबलि गौतम (उद्दालक) के प्रति
हुआ कि हे गौतम! तिन दक्षिणायन के षड्मासाभिमानी
आगे 'वो केवल कर्मी गृहस्थ पितृलोकको प्राप्त होताहै, पुनः
से आगे आकाश को अर्थात् आकाशाभिमानी देवता को,
है। पुनः आकाश के आगे चन्द्रमा को प्राप्त होता है ॥ प्र
सा वो चन्द्रमा है। :—कि जिसको वो केवल कर्म का
गृहस्थ प्राप्त होताहै ॥ उत्तर ॥ जो यह सोमनामवाला
राजा अन्तरिक्ष में प्रत्यक्ष दृश्य आवता है, उसको वो प्राप्त
सो देवताओं का अन्न है उसको इन्द्रादिदेवता भक्षण करते
उस धूमादिलक्षणवान् दक्षिणमार्ग करके गये चन्द्ररूप हुए
देवता भक्षण करते हैं (अर्थात् वो चन्द्रलोक को प्राप्त हुआ
देवताओं करके भक्षण किया होता है) ॥ शङ्का ॥ ननु यह
वैदिक कर्मों का करना अनर्थरूपही है, कि जिसके करने
हुआ यजमान देवताओं करके भक्षण कियाजाता है ॥
यह दोष नहीं ॥ क्योंकि यह जो अन्न का कथन है उपकार
विवक्षित है ताते। उसको ग्रास करनेवत् देवता भक्षण का

प्रश्न ॥ कैसे वो देवताओं का उपकरणमात्र होता है ॥ उत्तर ॥ वो स्त्री पशु भृत्यादिवत् भोग्यसामग्री का उपकरण होताहै, अतएव उसको अन्नशब्द करके कहतेहैं ॥ तथाच ॥ " स्त्रियोऽन्नपशवोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञाभिति "॥ अर्थात् राजा का 'स्त्री, पशु, वैश्य, भृत्यादि सर्व भोग्यसामग्री के प्राप्त कर्त्ता उपकरण होनेसे उनको अन्न करके कहते हैं-: ॥ पुनः तिन स्त्री आदिकों को पुरुष का उपभोग होने से भी उनको उपभोग नहीं ऐसा नहीं । :-अर्थात् स्त्री पशु भृत्यादि राजा को उपभोग होते हैं तथापि उन भृत्यादिकों को भी खान पानादि विषयों का उपभोग सुख होता है-: ॥ एतदर्थ केवल कर्म के कर्त्ता कर्मियों को देवताओं का उपभोग्य होनेसन्ते भी सुखी हुए देवता के साथ क्रीड़ा करते हैं। अरु उन कर्मियों को सुख के उपभोग योग्य चन्द्रमण्डलमें शरीर का आरम्भ होता है। सो पूर्व कहा है श्रद्धा शब्द का वाच्य जल द्युलोकाख्य अग्निविषे हवनक्रिया सोम राजारूपसे उत्पन्न होताहै। अर्थात् चन्द्रलोकसम्बन्धी शरीररूप से उत्पन्न होताहै। सो जल कर्म से समवाय को प्राप्त हुआ प्रथम द्युलोक को प्राप्त होके पश्चात् चन्द्रत्व सम्पन्न होय इष्टादिकों के कर्त्ता उपासकों के लिये शरीरादिकों का आरम्भक होताहै। :-ताते चन्द्रलोक को प्राप्तहुए केवल इष्टादि कर्म के कर्त्ता कर्मी देवताओं के भोग्यों के उपकरण होते हैं, एतदर्थ कहा है कि उनको देवता भक्षण करते हैं-:॥४॥

तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

(यावत् कर्म का क्षय नहीं) तावत् तिस चन्द्रमण्डल बिषे भोग्य भोगके उसके अनन्तर उसही मार्ग से पुनः इस लोक बिषे आवता है, जैसे यह कहा (तिससे अन्य प्रकार भी कहते हैं) आकाशमें आवता है, आकाश से वायु में आवता है, वायु होके धूम होता है, धूम होके अभ्र होताहै ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! वो राजा जैबलि उद्दालक प्रति कहता है कि, तम ! शरीरपात के अन्त में शरीररूप आहुति को (जो षष्ठ है) अग्नि बिषे हवनहुए अग्नि करके दह्यमान शरीर बिषे जो जल है उस बिषे यजमान को वेष्टन करके । :—अर्थात् केवल मरणोत्तर शरीर का अग्निबिषे दाह होता है तब उस दह्यमान बिषे जो यजमान की श्रद्धानाम जल है कि जिस बिषे वो कर्त्ता मान अपनी भावना करके भावित तन्मय हुआ है, उस यजमान वो जल अपने बिषे वेष्टन करके—: । धूमके साथ मिल चन्द्र को प्राप्तहो कुश मृत्तिकास्थानीया बाह्य शरीर का आरम्भ करके होता है । तिस आरम्भ किये, अर्थात् चन्द्रमण्डल में प्राप्तहुए करके इष्टादि कर्म के फल का भोक्ता होता है । सो यावत् उस मण्डल के उपभोगोंके निमित्त जो कर्म उनका क्षय नहीं होता, वहां से सम्यक् पतन के हेतु कर्मों का क्षय नहीं है । क्योंकि पात होवे जिस करके सो कहिये "सम्पातः ।" सो कर्मों सम्पात है । ताते यावत् कर्मों का क्षय नहीं होता तावत् वो मण्डल बिषे निवास भोग करके उसके अनन्तर इसही कहे हुए से, कि जिस क्रममार्ग से गया है, पुनः वहां से आवता है । यहां वहां से आवता है, इस कहने से सिद्ध होता है कि पूर्व अनेकबार मण्डल को प्राप्त हो वहां से फिर आया है ॥ एतदर्थ इस लोक इष्टा पूर्त्तादि कर्मों के करनेवाले यहां कर्म करके पुनः मरणोत्तर लोक को जाते हैं वहां अपने कर्मों के फलों को भोगने से कर्म हुए वहां एक क्षणमात्र भी रहने को समर्थ होते नहीं, क्योंकि की स्थिति का निमित्त जे कर्म उसका क्षय होता है ताते । के क्षीण हुए दीपक क्षणमात्र भी रहता नहीं तैसे ॥ प्रश्न ॥ जिन कर्मोंसे चन्द्रलोक को प्राप्त हुआ है उनके अरु उनसे जो हैं तिन सर्व कर्मों के क्षय हुए उस लोक से पुनरावृत्ति पावता है कुछ कर्मों के अवशेष रहे, पुनरावृत्ति होती है । इस प्रकार के प्र

हुए उत्तर कहते हैं ॥ उत्तर ॥ जो कदापि वहां ही सर्व कर्म भोग देके क्षय होवे तो वहांही मोक्ष होना चाहिये, अतएव कुछ अवशेष रहे कर्मों के यहां आवता है। अरु ऐसा न मानने से वहांसे आयेहुएको शरीरोत्पत्ति अरु उपभोग संभवे नहीं (सर्वकर्मोंका उपभोगसे क्षय होने से) " ततः शेषेणेत्यादि " स्मृतियों से विरोध होता है [चन्द्रलोक में ही जिन कर्मोंको भोक्तव्य है उनका भोगकरके क्षयहुए पश्चात् अवशेष रहे जे अभुक्त (विना भोगे) कर्म तिनकरके यहां जन्म को पावता है। इत्यादि स्मृतिसे सर्व कर्मोंके क्षयहुए आगमन का पक्ष विरोध को पावता है ॥ :—अर्थात् जिन कर्मों के फल भोगार्थ कर्मी यजमान चन्द्रलोक में गया है तिनके अवशेष रहे यहां का आवना अरु उन अवशेष रहे कर्मों का यहां उपभोग होना संभवे नहीं क्योंकि इष्टा पूर्त्तादि कर्म चन्द्रमण्डल के ही उपभोग का निमित्त है इसलोक का नहीं। ताते इष्टादि कर्म से व्यतिरिक्त भी मनुष्यलोक के शरीर अरु उपभोग के निमित्तवाले अनेक कर्मों का संभव है, और तिन कर्मों का चन्द्रमण्डल उपभोग नहीं। अतएव जो चन्द्रमण्डल के उपभोग निमित्तक कर्म हैं तिन सर्व के उपभोग से क्षयहुए अरु उनसे व्यतिरिक्त कि जिन का फल इसही लोक में भोक्तव्य है, अवशेष रहे वो कर्मी पुनः इस लोक बिषे आवता है। इस में स्मृति से विरुद्ध नहीं। अरु चन्द्रलोक के उपभोग निमित्तक सर्वकर्म के क्षयहुए वहांही मोक्ष होगा उस का इस लोक में आवना बने नहीं, यह दोष भी अभाव होवेगा—: ॥ अरु इष्टादि कर्मों से विरुद्ध अनेक योनियों में अपने फल का उपभोग देनेवाले अनेक कर्म ऐसे हैं जो वो स्थावर जंगमरूप अनेक योनियों में जन्म के आरम्भक है ॥ :—अर्थात् उस केवल कर्मी गृहस्थ के आश्रम के सम्बन्ध से व्यावहारिक बहुत से ऐसे कर्म हैं कि जिसकरके यह अशुचिही रहता है, यह पूर्व कह भी आये हैं। अरु वो कर्म प्रायः ऐसे हैं कि एक २ कर्म अनेक २ जन्मों में अपना फल भोगवाते हैं। अरु उनके फल का उपभोग इसही लोक सम्बन्धी अनेक योनियों में होते हैं—:॥ पुनः एकही जन्म में सर्वकर्मोंका उपभोग

होयके क्षय होना उपपाद्य नहीं। जैसें ब्रह्महत्यादि एक २ को अनेक २ जन्मों का आरम्भ करना शास्त्रों करके जाना जाता है तस्मात् एकही जन्म में सर्व कर्मों के फल का उपभोग बने नहीं। कोई एकवादी ऐसा कहते हैं कि कर्मादिकों का आश्रय जो शरीर संघात उसके नष्टहुए कर्म (अरु व्यतीत हुए अनुभव अभ्यास किये वासनादि सर्व) नष्ट होते हैं॥ सो बने नहीं, जैसे पूर्व अनुभव मनुष्य, मयूर, मर्कट आदि जन्म पाय उन शरीरादिकों के धर्म अरु उनकी परस्पर में अनेक विरुद्ध वासना के संस्कार सो इन अन्तःकरण में संस्काररूप से रहते हैं, सो मर्कटजन्म के प्रापक वाले) जे कर्म तिन करके मर्कटजन्म के आरम्भ किये नष्ट होते तैसेही मर्कटादि जन्म प्राप्ति के निमित्त जे कर्म सो भी स्वाश्रय के नष्ट हुए नष्ट होते नहीं। :—अर्थात् यह जीव अपने कर्मों के सार स्थावर जङ्गमादि शरीर धारण करता है तिन सर्व शरीरोंके किये जे धर्म कर्मादि सो सर्व संस्काररूप से इनकी बुद्धि में रहे तैसेही मर्कटादि अनेक जन्म के देनेवाले जे कर्म सो भी जन्मों के बीजरूप से इनके अन्तःकरण में रहते हैं, उन कर्म में से जो कर्म इन जीवोंको अपना फल भोगावने के लिये सम्मुख अपने अनुसार जन्म का आरम्भ करते हैं, तब उस शरीरके धर्म के संस्कार विशेषता से स्मृति में आय स्फुरण होय विनाही सिखाये उस जीव से उस शरीर के धर्म कर्म करावते हैं। तातें नाशहुए 'व्यतीतहुए शरीरों के अनुभव किये धर्म कर्म के संस्कार अरु भविष्यत् जन्मों के आरम्भक कर्मों का नाश होता नहीं— निश्चय करके पूर्वजन्मों की अनुभव वासना सर्वही नष्ट होती मर्कटादि जन्म के निमित्तक जे कर्म तिन कर्मों करके मर्कट होते जे मर्कटके जन्ममात्रसेही माताके उदरकी संलग्नता अर्थात् उसकी माता मर्कटी (वानरी) एक शाखा से दूसरी शाखा पर गमन करती है तिससमय उस अल्पकालके उत्पन्न हुए मर्कट बालक का जो अपनी माता के उदर से संलग्नहोने आदिक

की कुशलता सो उसको न प्राप्तहोनी चाहिये । क्योंकि इस जन्म उसको अपनी माता के उदर को सम्यक् प्रकार ग्रहण करने का भ्यास है नहीं । :—अर्थात् इन जीवों ने अनादि कालसे जो २ जन्म ण किये हैं अरु उन असंख्य जन्मों के धर्म कर्मादिकों को अनुभव ये हैं, तिन सर्व के संस्कार सूक्ष्मरूप से इसकी बुद्धि में रहतेहैं, जब जीव अपने कर्मानुसार जिस जाति में जन्म पावता है तब पूर्वानु- होने से उस शरीर के सर्व धर्म कर्म इसको स्फुरण हो आवते हैं—:॥ एव इस कहे प्रकार के अनुभव विचार से उस मर्कट का जन्म नेवाले जीवात्मा के व्यतीतहुए जन्मों में उसका वानर का जन्म हीं हुआ ऐसा कहने को कोई भी समर्थ नहीं । तथाच "। तं विद्याक समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च " इत्यादि श्रुति । ताते वासना सहित षकर्मों का नाश होवे नहीं । अतएव कर्मों का शेष रहना संभव जब ऐसे है तिसही करके कहा है कि कर्मों के शेष रहनेसे जीवों संसार (जन्म) की प्राप्ति है । इस विषय में श्रुति करके स्मृति के युक्ति करके लौकिक प्रत्यक्षकरके किसी प्रकार भी विरुद्ध नहीं ॥ न ॥ कौनसा वो मार्ग है कि जिस मार्ग से यह (क्षीण कर्म) चन्द्र- क से इसलोक बिषे आवता है ॥ उत्तर ॥ जैसे गया है तैसे आवता ॥ शङ्का ॥ ननु "। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रम- मिति " मासों से पितृलोक को पितृलोक से आकाश को आकाश से द्रमा को, इस क्रम मार्ग से गया है, ऐसा श्रुति ने कहा है, परन्तु निवृत्ति (आगमन) कहा नहीं । अरु जो तैसेही आगमन है तो थेतमाकाशमाकाशाद्वायुः" इत्यादि क्रम कैसे कहाहै ॥ समाधान॥ वादिन् ! तूनें कहा सो दोष नहीं । आकाश की प्राप्ति से पृथिवी की से तुल्य होनेसे ॥ यहां "। यथेतमेवेति " यह जो श्रुति ने कहा है ही प्रकार चन्द्रलोक से इस लोक में आवता है इसप्रकार मार्ग का म नहीं, किन्तु येन केन मार्ग से पुनः आवता है इसका तो नियम एतदर्थ पूर्व श्रुति ने जो यह कहा है कि "। यथेतमध्वानं " सो वल उपलक्षणमात्र ही कहा है ॥ :—अर्थात् इस पांचवें मन्त्र में

प्रथम तो यह कहा है कि " अथैतमध्वानं " जिस मार्ग से
में जाता है उसही क्रममार्ग से वहां से यहां आवता है।
कहा है कि " यथेतमाकाशं " चन्द्रमण्डल से आकाश बिषे
है। इन दोनों वाक्यों से उस क्षीणकर्मा कर्मी यजमान के
बिषे आवने विषयक क्रममार्ग के नियम का अभाव देखाया है।
इसलोक से चन्द्रमण्डल को प्राप्त होनेका निमित्त जो इष्टा
सो सर्व गृहस्थों का धर्म होनेसे सर्व कर्मियों का धूमादि
एक है। अरु वो कर्म चन्द्रलोक बिषे अपना फल देके
होते हैं, क्योंकि उन कर्मों के फल भोगार्थही यजमान का
में गमन है, उन कर्मों का फल भोग इस लोक बिषे बने नहीं
इष्टा पूर्त्तादिकर्म अपने कर्त्ता को चन्द्रमण्डल में अपना फल
आप अशेष अभाव होते हैं, पश्चात् रहगये जे उन कर्मियों
जन्म के अरु इस जन्म के अनभोगे अनेक विचित्र शुभाशुभ
सर्वके सम न होके सम विषम होनेसे अरु उनमें तारतम्यता
जिसके जो कर्म इस लोक में प्राप्त करनेवाले होतेहैं वो अपने
मार्ग से उस कर्मी को इस लोक में प्राप्त करते हैं। अतएव
मार्ग का नियम न करके वहांसे आवने का नियम किया है
दर्थ वो क्षीणकर्मी यजमान चन्द्रलोक से (बर्फवत् पिघलके
तावत् भौतिक आकाश को प्राप्तहोता है। जो उन कर्मियों
मण्डल बिषे शरीर के आरम्भक जल सो तिनको चन्द्रलोक बिषे
के निमित्त जे कर्म तिनके क्षयहुए वो विलीन होता है। जैसे
संयोग से घृत का पिण्ड अपनी काठिन्यता को त्यागके द्रवी
है तैसे, तिस आकाश बिषे विलीनहुए जल के साथ वेष्टित
यजमान सो प्रथम अन्तरिक्षस्थ भूताकाश बिषे सूक्ष्महुए
हैं (यहां जो आकाश को भूताकाश का विशेषण कहा है
काश से पृथक् करने के लिये कहा है) पुनः वो क्षीणकर्मी
अन्तरिक्षरूप आकाश से वायुरूप हुआ वायु के बिषे लीन होके
अर्थात् आकाश से वायु कुछ स्थूल होता है, तैसेही प्रथम

न्द्रलोक से घृतवत् पिघल आकाशवत् अति सूक्ष्म जलरूपहुए अन्त-आकाश बिषे लीन होते हैं; उसके पश्चात् आकाश से वायुवत् कुछ स्थूलहुए वो क्षीणकर्मा यजमान वायुरूप हुए वायुबिषे लीन हुएवत् होते हैं, अर्थात् वायुभूत हुए होते हैं। वायु होके तिनकरके सहित ही धूमहोता है।:—अर्थात् अग्नि का काष्ठादिकों से संयोग विना धूम होता नहीं, अरु यहां कहा है कि वायुहोके धूम होता है, तहां वायु वृष्टिका हेतु होने से वायु से सूक्ष्म परमाणुरूप बाफ होता हुआ, ऐसा मानना चाहिये है, अरु जैसे आकाश से वायु स्थूल है तैसे वायु से बाफ कुछ स्थूल है ताते वो क्षीणकर्मा यजमान वायुसे स्थूल धूम शब्दका वाच्य बाफ होताहै—:। धूम से अभ्र होताहै (बाफ का विशेषरूप अभ्र है) जिसके देखने से मेघ अरु वर्षा होने का अनुमान होता है॥ ५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवाओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रापतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति॥ ६॥

अक्षरार्थ।

अभ्र होयके मेघ होता है, मेघ होयके प्रकर्ष वर्षा होती है (वर्षता है) तब यहां व्रीहि (धान्य) यव ओषधि वनस्पतियां तिल उड़द इत्यादि अन्नरूप से उत्पन्न होते हैं, अतएव निश्चय करके अतिदुःख से निकलते हैं जो २ अन्न खाते हैं जो रेत को (स्त्री बिषे) सिञ्चन करते हैं तब सो तिसके सदृशही होता है॥ ६॥

भावार्थ।

हे सौम्य! राजा जैबलि कहता है कि हे गौतम! अभ्र होयके तिसके अनन्तर सेचनकरने की सामर्थ्यवाला मेघ होय उन्नत (ऊंचे) प्रदेश बिषे प्रकर्ष करके वर्षता है। अर्थात् चन्द्रमण्डल से उक्त क्रम करके आये जे शेष कर्मा यजमान सो वर्षा की धारारूप हुए 'अर्थात्

जलधारा बिषे अनुगतहुए पृथिवीपर गिरते हैं। तब यहां पृथि-
व्रीहि (धान्य) यव, ओषधि, वनस्पतियां, तिल, माष (उड़
इनसे इतर मूँग, मसूर, गेंहू, बाजरा, ज्वार इत्यादि अनेक
से, वो क्षीणकर्मा उत्पन्न होते हैं। यहां जो बहुवचन से निर्दे
उन क्षीणकर्माओं को अनेक होने से है। अरु पूर्व जो मेघादि
एक वचन से कहा है सो उनके उनके एक रूप होने से कहा
जिस करके उन सहस्रावधि जलधाराओं में अनुगतहुए जे क्षी
यजमान सो उन जलधाराओं के सहित हुए पर्वत, तट, दु
रुमुद्र, अरण्य, मरुदेश आदि स्थानों में। गिरे तिनबिषे
पावते हैं। तिस हेतु से निश्चय करके उनका दुःखसे भी
निकलना है। जिस करके पर्वत के ऊपर नीचे निकटसे वो
जल प्रथम अनेक छोटे २ स्रोत होय पश्चात् परस्पर में मि
भाव को प्राप्त होते हैं उरुके अनन्तर वो नदी समुद्र को प्राप्त
उसके अनन्तर उस जल को मकरादि भक्षण करते हैं, तब
के भक्षण करने के साथ उस जल में अनुगत हुए क्षीणकर्मा
मकरादि करके भक्षण किये होते हैं, सो मकरादि अन्यों करके
किये होते हैं। :—अर्थात् वर्षा की धारा के सम्बन्ध से नदी
जलाशयों में पतन हुए क्षीणकर्मा मकरादिरूप से प्रकटहोते हैं
को मीन मकरादि भक्षण करते हैं, तब उनके उदर में जाकु
वीर्यरूप से प्रकट हो मकरादिरूप जन्म को पावते हैं। वा
रादिकों के उदर में जाय उनके किसी प्रकार अभावहुए पुनः
जलरूप हुए रहते हैं—:। तब पुनः जब उस समुद्रादिकों
मेघ वा सूर्य आकर्षण करते हैं तब वो क्षीणकर्मा भी जलके
कर्षित हुए पुनः उन वर्षा की धाराओं करके सहित हुए म
शिलातटबिषे, वा किसी अगमदेशबिषे गिरके वहीं रहते हैं
जलरूप हुए को जो कदापि उनके कर्मानुसार मृगादि पशु
तो उन करके भक्षण किये क्षीणकर्मा। :—उनके उदर में वी
मृगादिरूप पशुओं के जन्म पावते हैं—:। वा वो जिन मृगादि

भक्षण किये होते हैं तिन मृगादिकों को अन्य किसी सिंहादिकों ने भक्षण किया तो उसके उदर में जाय वीर्यभाव को पाय सिंहादिकों का जन्म पावते हैं। इस प्रकार शुभकर्म जिनका क्षीण हुआ है ऐसे जे क्षीणकर्मी यजमान सो अपने अवशेष रहे अशुभ कर्मों के अनुसार उक्त प्रकार से परिवर्त्तन को पावतेही रहते हैं॥ अरु जो कदापि अभक्षण करनेवाले स्थावरोंबिषे प्राप्त हुए तो वहांही सूखगये। :-अर्थात् जो कदापि वो क्षीणकर्मी यजमान अपनें कर्मानुसार वृक्षादि स्थावरयोनि को प्राप्त हुआ अरु कर्मानुसार उसही जाति के वृक्ष के दो चार जन्म पावते हैं तो उस वृक्ष के बीज में आय पुनः पृथिवी जल के संयोग को पाय पुनः उस वृक्षाकार से प्रकट हु", अरु जो कदाचित् वृक्ष की योनि से पशुआदि जंगमयोनि के प्रापक कर्म उदय हुए तो उन्हों ने जिस जाति के पशुओं में प्राप्त करना है उसके उदर में प्राप्त किया तब वहां उसके वीर्यरूप से प्रकट हो पुनः उस पशुजाति के जन्म को पाया, वा उसही वृक्ष में सुख सूर्य की किरणों द्वारा मेघभाव को प्राप्त होय पुनः जहां कहीं कर्मों को प्राप्त करना है तहां वर्षाद्वारा पुनः पतन को पावता है-:॥ हे सौम्य! स्थावरयोनि से जिन योनियों में रेत होके स्त्री में सिंचन हुए जन्म पावना है सो दुर्लभ है। :-अर्थात् स्थावरयोनि से जंगम योनि की प्राप्ति किञ्चित् पुण्यकर्मवाली होने से दुर्लभ है, उनमें भी वीर्य से अर्थात् माता पिता के संयोग से वीर्य करके प्राप्त होनेवाला जन्म दुर्लभ है, (स्वेदादिकों से उत्पन्न होने वाले जंगम जन्मों से पशु आदिक जे रज जन्म दुर्लभ हैं। अरु जैसे व्रीहि आदिक अन्नादिभाव की प्राप्ति से निकलना अतिही दुस्तर है, तैसेही जंगमभाव से निकलना अतिदुस्तर है। अरु अन्नादिकों के साथ पुरुष के उदर में जाना यह भी अतिही दुःखरूप दुःख का हेतु है, क्योंकि जो कदापि वो क्षीणकर्मी यजमान अपने अशुभ कर्मों का रा अन्नद्वारा होय के जो कदापि, ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी के वा बालक के वा नपुंसक के वा संन्यासी के वा विधवा स्त्री के इत्यादि, मनुष्यों के भक्षण किये अन्नद्वारा उनके उदर में आय वीर्यरूप से उत्पन्न भी

हुआ उनके अन्तरही नष्ट होगये, क्योंकि उनबिषे वीर्यरूप है
स्त्रीसंग के अभाव से शरीरोत्पत्ति का अभाव है ताते। अरु जो
चित् कोई शुभकर्मों का प्रेरा यदि रेतके सिंचन करने के
वाले गृहस्थ के भक्षण किये अन्नद्वारा उसके उदर में जाय
को प्राप्त होनेवाले उस क्षीणकर्मा यजमानको कर्म करने की
लाभ होता है। :—अर्थात् गृहस्थ (स्त्रीवाले पुरुष) के भक्षण
अन्न के साथ अपने कर्मानुसार उसके उदर में प्राप्त हुआ जो
मण्डल से आया क्षीणकर्मा यजमान सो प्रथम वीर्यरूप से प्रकट
है—: पश्चात्, वो गृहस्थ पुरुष 'कि जिसके वीर्य में क्षीणकर्मा प्रकट
है, यथाविधि ऋतुकाल के समय अपनी स्त्री में उस वीर्य को
पित करता है तब तिसही के आकार। :—अर्थात् मनुष्य करके
किये वीर्य से स्त्री के गर्भ में मनुष्याकारही प्रकट होता है-।
रेत के सिंचन करनेवाले के आकार से प्रकट होता है। तथा
भ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसम्भूतमितिहि; श्रुत्यन्तरात् " अर्थ यह जो सर्व
का सारभूत रेत सर्व अङ्गों से एकत्र होय उपस्थद्वारा स्त्री के
जाय जिसके सर्व अङ्गों से एकत्र होय आया है तिस रेत सिंचने
के आकार से प्रकट होता है॥ :—अथवा ऋतुकाल में जब पु
संग करता है अरु ईश्वर इच्छा से जब उसके वीर्य से गर्भ
गर्भ रहने को होता है तब तिस दिन उस पुरुष के नेत्रद्वारा
स्त्री के मुख की छाया वीर्य के स्खलित समय वीर्य में पड़ती
उस छाया को ग्रहण करके वीर्य स्त्री के गर्भाशय में स्थित हो
छाया के अनुसार आकृति का आरम्भक होता है। ताते जो
त्पन्न होता है सो प्रायः अपनी माता की मुखाकृति से मिलती
कृतिवाला होता है। सो लोकबिषे भी कहते हैं " मापतपूत
जो कदापि वीर्य के स्खलित होने के समय विषयानन्द के
करके परस्पर के दृढ़ आलिङ्गन के हुए दोनों की दृष्टि न मिले
थुन के (वीर्यस्खलितहुए के) अर्थात् वीर्य के गर्भाशय में
पश्चात् अपने पति से इतर जिसका मुख वो स्त्री प्रथम अवलो

कि तिसके मुख की छाया नेत्रद्वारा गर्भाशय के वीर्य में पड़ेगी तिसकी मुखाकृति के समान आकृतिवाला गर्भ प्रकट होवेगा, इत्यादि प्रकार कल्पित विचार है-: ॥ एतदर्थ ही पुरुष से पुरुष उत्पन्न होताहै, गौ से गौकी आकृतिवाला प्रकट होता है, जात्यन्तर आकृति उत्पन्न होवे नहीं। :-अर्थात् मनुष्य से गौ अरु गौसे गज इस प्रकार अन्य जाति से अन्य जाति की उत्पत्ति होवे नहीं-: । एतदर्थ ही श्रुतिने कहा है कि "तद्रूप एव भवति" अरु जे अन्यकर्मी "अनुशयि" चन्द्रमण्डल से स्खलित अतिघोर पाप कर्मों करके व्रीहि यवादिभाव को प्राप्त होते हैं सो यावत् उनके घोर पापों का क्षय होता नहीं तावत् वो उसहीमें पड़े रहतेहैं, वा उसही में घुननामक कीटविशेष होय अभाव होजाते हैं। जब उनके घोर पाप निवृत्त होते हैं तब वो मनुष्यादिभाव को प्राप्त होतेहैं। ताते उनको व्रीहियवादिभावसे निकलना अति कठिन से भी कठिन होताहै। क्योंकि कर्मों करके ही उन्होंने अपने विषे व्रीहि आदि भाव प्राप्त किया है, ताते व्रीहि आदि भावरूप उपभोगके निमित्त जो कर्म उनके क्षय हुए व्रीहि तृणादि जड़रूप देहके विनाश हुए जैसे २ कर्मों करके तिनके संस्काररूप बीज से देहको ग्रहण किया है तैसे २ नये २ देहान्तरको तृण जलूकावत् ग्रहण करता चलताहै, सो विज्ञान बुद्धियुक्तही चलता है। तथाच "संविज्ञानो भवति विज्ञानमेवान्ववक्रामति; इति श्रुत्यन्तरात्" तिस विषयमें बृहदारण्य की श्रुतिप्रमाण है। यद्यपि चक्षुरादि कारणों से रहित हुआही एक देह को त्याग देहान्तर को जाता है। तथापि जैसे स्वप्न के देह की प्राप्तिके निमित्त कर्मों करके उद्भावित वासना के ज्ञानसे सहित विज्ञान के ही देहान्तर को जाता है क्योंकि इस विषय में बृहदारण्य की उक्त श्रुति ही प्रमाण है, तैसेही पूर्वकर्मों के अरु अनुभूत देहों के विज्ञानवासना के संस्कार करके युक्तही अर्चिरादिमार्ग अरु धूमादिमार्ग से जानेवालों की गति है। जैसे स्वप्न में पूर्ववासनासंस्कारवश उद्भूत विज्ञान करके कर्मनिमित्त करके वृत्ति के लाभ से व्यापार है तैसे देहान्तर को प्राप्त होने वाले को कर्म के निमित्त से विज्ञानवृत्ति का लाभ है, क्योंकि गर्भ में

विज्ञानवृत्ति के लाभ से पूर्वानुभूत का स्मरण अनुभव होता है
जो जीव व्रीह्यादिभाव से उत्पन्न होते हैं उनको विज्ञानवृत्ति का
नहीं। :—अर्थात् जैसे जाग्रत् के कर्म अनुभवके संस्कार के स्थान
संस्कारों के आश्रय विज्ञान का उद्भूत होता है, तैसेही अर्चिरादि
धूमादिमार्ग से सत्यलोक अरु चन्द्रलोक के जानेवालों के यहां
शुभ कर्म अरु अनुभव तिनके संस्कार से कर्मों के निमित्त से अ
अनुभूत के विज्ञान करके गमनकी वृत्ति का लाभ है। तैसे च
से आवनेवाले कर्मी को कि व्रीहि आदि जड़भाव से उत्पन्न
तिनको कर्मों के क्षय के निमित्त से विज्ञानवृत्ति का लाभ नहीं
आदिकों के काटने, छाटने, पीसने आदिके बिषे सविज्ञानों की
है नहीं। पुनः सविज्ञानको ही वीर्य का जब स्त्री के देहसे स
होता है तब हीं उत्पन्न होता है॥ शङ्का॥ ननु तृण से तृणान्तर
जलूकाके गमनवत् चन्द्रमण्डल से गिरनेवाले का देहसे देहान्तर
गमन को तुल्यता होनेसे सविज्ञानसेही होना उक्त है। उ०
होने से घोर नरक का अनुभव होगा। :—अर्थात सामान्य दु
अनुभव होताहै अतिघोरका नहीं, क्योंकि अतिघोर दुःख से
होती है मूर्च्छा से विज्ञान नष्ट होता है तिसके नष्ट हुए अनुभव
नहीं, अरु व्रीहियवादिभाव की प्राप्तिवाले को लवनपेषणादि
अतिघोर दुःख के हुए सविज्ञानता रहे नहीं अतएव घोर नरक के
का अनुभव भी बने नहीं—:॥ शङ्का॥ इष्टापूर्त्तादि करनेवाले को
मण्डल की प्राप्ति से आरम्भ यावत् ब्राह्मणादि जन्म अरु
तैसा होने से, अर्थात् [इष्टापूर्त्तादि कर्म करनेवालों को अन्त
का अनुभव है तो तैसा होने से इष्टापूर्त्तादि उपासन केवल अ
अर्थ ही हुआ, अरु इष्टापूर्त्तादि कर्म को विहित होने से श्रेय
विषयता है, ऐसी जो कर्मकाण्ड की श्रुति तिससे विरोध आवता
श्रुति को अप्रामाण्यता प्राप्त होती है क्योंकि वैदिक कर्म को
का हेतु होने से, इस प्रकार की शङ्का के हुए कहते हैं। समा
हे वादिन्! जो तू कहता है सो नहीं। वृक्ष पर चढ़के पतन

शेषता का सम्भव है ताते । [जैसे बुद्धिपूर्वक वृक्षपर चढ़नेवाले को विज्ञानता जानी जाती है, तैसेही चन्द्रमण्डल पर आरोहण करने वाले को सविज्ञानता होतेसन्ते भी तहां से गिरनेवाले को सो विज्ञानत्व है नहीं क्योंकि उस बिषे विज्ञानत्व के उद्भूत होने के कर्मों का अभाव है] देहसे देहान्तर की प्राप्तिवाले को कर्म करबे वृत्ति का लाभ है ताते । एतदर्थ कर्मों करके उद्भूत हुए विज्ञान से सविज्ञानत्व युक्त है। जैसे वृक्ष के अग्रभाग में लगे फल की इच्छावाले को सविज्ञानत्व है। तैसे अर्चिरादिमार्ग से जानेवाले को, अरु धूमादिमार्ग से जानेवाले को सविज्ञानत्व होता है । :—अर्थात् अर्चिरादि अरु धूमादिमार्ग से जानेवाले को विज्ञान के उद्भूतककर्मों का भाव होने से उनको सविज्ञानत्व है—: । तिसप्रकार चन्द्रमण्डल से पतन होनेवाले को साविज्ञानत्व नहीं, सचेतनत्व है (क्योंकि विज्ञान के उद्भूत होनेके कर्मों का अभाव है ताते । जैसे वृक्ष के अग्रभाग से पतन होनेवाले को सचेतनत्व है सविज्ञानत्व नहीं) दृष्टान्त जैसे मुद्गरादिकों के घात से सम्यक् पीड़ित हुए को तिन मुद्गरादिकों की घात से हुई जे अतिवेदना तिसके निमित्त से मूर्च्छित हुए करणों के (इन्द्रियों के) प्रतिबन्ध से स्वदेह के ही एक देश से दूसरे देश को प्राप्त किये को विज्ञान की शून्यता देखी है । तैसे चन्द्रमण्डल से देहान्तर प्रति गिरनेवाले को स्वर्ग भोग निमित्तिक कर्मों के क्षयहोने से मृग जल देहके कारणोंका । ताते अपरित्याग किये देहके बीजभूत कर्मों करके जलरूप से मूर्च्छित हुए आकाशादि क्रम करके आये हुए कर्म निमित्तक स्थावरजाति के देहसे संश्लिष्ट (तन्मय) होते हैं । ताते प्रतिबन्ध करणों करके (करणों के प्रतिबन्ध करके) अनुद्भूत विज्ञानहीं होते हैं । ताते व्रीहि आदिकों के काटने छाटने पीसने आदि संस्कार करके भक्षण किये का रक्तादि रसादिकों का परिणाम रेत तिसको स्त्रीबिषे सिञ्चन करने काल पर्यन्त मूर्च्छित होता है, देहान्तर के आरम्भक कर्मों की अलब्धवृत्ति होने से ॥ शङ्का ॥ [जब चन्द्रमण्डल से आवनेवाले कर्मियों को विज्ञानशून्य होने से पुनः श्रुतिने कैसे कहा है कि "तद्यथा तृण

जलायुका तृणस्यान्ते गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसं [
इत्यादि, जलूका के दृष्टान्त से सचेतना के उपपादन किया
कहते हैं] समाधान । देहका बीजभूत जे आप तिसके
अपरित्याग से ही सर्व अवस्था बिषे बर्त्तता है ॥ :–अर्थात्
का कारण जो उक्त जल तिसके सम्बन्ध के न त्यागने का
क्षीणकर्मा व्रीहि यवादिकों से संश्लेष को पाये सन्ते उन व्रीहि
की लवन कण्डन पेषणादि सर्व अवस्था बिषे बर्त्तता है–:॥
लूकावत् चेतनता विरोध को पावती नहीं, अर्थात्] जलूका
से चेतनपना विवक्षित नहीं किन्तु संसरणमात्र हीं विवक्षित
ताते उस क्षीणकर्मा का व्रीहि आदिभाव को प्राप्त हुए चेतनता
से जलूका के दृष्टान्त से चेतनता का विरोध नहीं क्योंकि
संसरणमात्र का ग्रहण है ताते–:॥] अरु अन्तरालबिषे
वत् अविज्ञातता दोष है [जो 'ऐसा कहो कि, तो इत्यादि
हिंसा अनुग्रहात्मक होने से स्थावरभाव की प्राप्ति भी उसकी
है, अरु तैसा होनेसे वैदिक कर्मों को अनर्थानुबन्धित्व होवे
माण्यता प्राप्त होती है । ऐसी शङ्का के हुए कहते हैं] वैदिक
अर्थ अरु अनर्थ (परस्पर विरोधी होने से) उभयहेतुत्व
करने को शक्य नहीं "। अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य
शास्त्र करके कहीं हिंसा तिसको अनर्थ का हेतुपना अङ्गी
नहीं । अरु जो कदापि उसको अनर्थ का हेतुपना अङ्गीकार
मन्त्रों करके विषआदिकों के दोष के अभाववत् (वेदोक्तमन्त्र
अधर्म का) अभाव होता है वा युक्त है । [जैसे स्वरूप
अरु दधि आदिक मरणरूप अनर्थ के आरम्भक हैं ॥ :–अर्थात्
आदिक साधारण अरु सर्पादिकों का असाधारण विष,
भोजन किया दधि मरणरूप अनर्थ के उपजावनेवाले हैं–
होतसन्ते भी मन्त्रकरके विष अरु शर्करा करके युक्त होनेसे
रूप अनर्थ के आरम्भक होते नहीं] वेदोक्त कर्मों को
के आरम्भ करनेपनेकी उपपत्ति नहीं । मन्त्रकरके ही विष

[पूर्वोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं, तिस (मन्त्र) करके । :—वा य अनुपान युक्ति करके—: । युक्त भक्षण किये विष का अनर्थ का तुपना करके पुष्टि का हेतुपना है, तैसे वैदिक कर्म बिषे जो प्रविष्ट ा है उस हिंसा करके पुरुषार्थ ही सिद्ध है] ॥ ६ ॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां निमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्य निं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां निमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डाल निं वा ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

तहां जो इस लोकबिषे शुभाचरण का अभ्यासवाला है सो प्रसिद्ध योनियों को प्राप्त होता है, ब्राह्मणयोनि को वा क्षत्रिययोनि को वैश्ययोनि को । अथवा जो इस लोक बिषे अशुभाचरण के अभ्यास ा है सो अशुभयोनि को प्राप्त होता है तहां श्वानयोनि को वा रयोनि को वा चाण्डालयोनि को ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! [" तद्भूयएवभवति " इस श्रुतिवाक्य से यह प्रसंग के प्राप्त हुई प्रासंगिक कथा तिसको परिसमाप्त करके अरु जिसके ने का आरम्भ किया है तिस प्रकृत श्रुति का व्याख्यान करते हैं] त क्षीणकर्माओं के मध्य । :—जो चन्द्रलोक से पतन पाय व्रीहि दि भाव को प्राप्त हुए हैं—: । जो इस लोक बिषे रमणीयचरणा अर्थात् शुभ कर्मों के करने का सुन्दर स्वभाव है जिनका तिनको हिये रमणीयचरणा । तिस रमणीयचरण करके उपलक्षित जे शोभन णकर्म को पुण्यकर्म हैं जिनके तिनको रमणीयचरणा कहते हैं । र्थात् क्रूरता असत्यभाषण कपट इत्यादि (आसुरीसम्पदा करके)

वर्जित (रहित) को ही रमणीयचरणपने का उपलक्षण...
अर्थात् उक्तप्रकार के पुरुष को ही रमणीयचरणत्वपनारूप ...
होने को शक्य है। :—अर्थात् चन्द्रमण्डल की प्राप्ति होने...
लोक बिषे इष्टापूर्त्तादि विहिताचरण से इतर जे सत्य, दया, ...
आदि दैवीसम्पदारूप शुभाचरण करने के अभ्यासवाले, रम...
है—: । सो अपने इष्टादि पुण्यकर्मों करके चन्द्रमण्डल के ...
इष्टादि कर्मों का फल भोग तिनके क्षय हुए अरु इस लोक में ...
सम्पदा शुभाचरणरूप कर्मों के अवशेष रहे तिनके पूर्वाभ्यास ...
से चन्द्रमण्डल से पतन होय यथाक्रम व्रीहि आदि भाव को ...
रूप हुए क्रौर्य्यादिवर्जित रमणीययोनि को प्राप्त होते हैं ॥:—॥
कौन वो रमणीययोनि हैं ॥ उ० ॥—: । ब्राह्मणयोनि को वा क्ष...
को वा वैश्ययोनि को, अपने २ कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। ...
चन्द्रलोक को प्राप्त होनेवाले कर्मियों को इस लोकबिषे इ...
विहित कर्मों से इतर भी अभ्यास द्वारा स्वभावभूत हुए, स...
आर्जव, अकुटिलतादि दैवीसम्पदा के लक्षणरूप सत्त्वगुणात्...
उत्तम कर्म हैं सो चन्द्रलोक से उक्त मार्ग के क्रम करके इस...
आय ब्राह्मणयोनि को प्राप्त होते हैं, अरु जिनके उक्त कर्म म...
हैं सो क्षत्रिययोनि को प्राप्त होते हैं, अरु जिनके उक्त क...
होते हैं सो वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं—: ॥ पुनः तिन उक्त...
रमणीयचरण अभ्यासियों से विपरीत जे कपूयचरण करके ...
अशुभ कर्मों के करने के अभ्यासवाले अशुभकर्मी हैं। :—अर्थ...
पुरुषों को इसलोक बिषे इष्टापूर्त्तादि विहित कर्म से इतर रज...
आसुरीसम्पदालक्षणरूप कर्मों का अभ्यास है—: । सो पु...
कर्मानुसार योनियों को जो कर्मसम्बन्ध से वर्जित (रहित)
अधमयोनि हैं उनहीं को प्राप्त होते हैं। :—अर्थात् जो पुरुष इ...
विहित कर्म करत सन्ते अशुभ कर्मों के अभ्यासवाले हैं सो ...
में अपने इष्टादिविहित कर्मों का फल भोग तिनके क्षय हुए ...
होय अपने पूर्व के अशुभ कर्मों के संस्कारों के अवशेष रहे ...

पतन को पाय उक्त क्रमसे व्रीहि आदि भाव से उत्पन्न हुए पश्चात् अपने २ अशुभ कर्मों के अनुसार श्वानादि अशुभ पशुओं करके भक्षण किये उनके उदरमें जाय वीर्यभाव को पाय अति अधमयोनि को प्राप्त होते हैं। —:। प्रश्न। कौन सी वो अधमयोनियां हैं कि जिनको उक्त प्रकार के अशुभ कर्माभ्यासी प्राप्त होते हैं ॥ उत्तर। वो पुरुष श्वानयोनि को वा शूकरयोनि को वा चाण्डालयोनि को प्राप्त होते हैं ॥ :— यहां जो श्वानयोनि अरु शूकरयोनि कही है तिनको उपलक्षणमात्र ग्रहण करके अति अशुभ कर्माभ्यासियों को श्वानादि अति अशुभ योनि की प्राप्ति जाननी, अरु जिनको उनसे कुछ न्यून अशुभ कर्मों का पूर्वला अभ्यास संस्कार है तिनको अश्वादि पशुयोनि की प्राप्ति जाननी। अरु जिनको पूर्व के साधारण अशुभ कर्मों के संस्कार हैं सो अपने कर्म संस्कारवश मनुष्यों में अति अधम चाण्डालादि योनियों को प्राप्त होते हैं। इसप्रकार अशुभ कर्मों के अभ्यासी पुरुष अपने इष्टादि विहित कर्मों का फल चन्द्रलोक में भोग तिनके क्षय हुए इस लोक में आय अपने अशुभ कर्मों की सामान्य विशेषतारूप तारतम्यता के आश्रय हुए उक्त प्रकार की अशुभ योनियों को प्राप्त होते हैं ॥ अर्थात् शुभ कर्म करने से द्विजाति जे वर्णत्रयी के पुरुष सो अपने इष्टादि कर्मों करके धूमादिमार्ग से चन्द्रलोक को अरु चन्द्रलोक से इस लोक में आवते जातेही रहते हैं घटीयन्त्रवत् उनका आवागमन मिटता नहीं अरु जो कदापि वो पञ्चाग्निविद्या को प्राप्त होते हैं तो वो अर्चिरादि मार्ग से सत्यलोक को जाते हैं उनका इस कल्प में पुनरागमन न होय के वो कल्पान्तर में आवते हैं ॥ ७ ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्य्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ।

अब यह जो कहे दो मार्ग न जायके अन्यतरमार्ग करके ही तिनको यह (उक्त प्रकारकी योनि) न प्राप्त होके अतिक्षुद्र (तुच्छ) मशकादि योनि अनेकबार प्राप्त होती हैं अरु वो जन्मते मरते हैं। ताते यह तृतीयस्थान (गति) है। तिस करके स्वर्गलोक होता नहीं। ताते घृणा करते हैं, तहां श्लोक (मन्त्र) प्रमाण है।

भावार्थ।

हे सौम्य! राजा जैबलि कहता है कि हे गौतम! जो वर्णत्रयी में का पुरुष न तो पञ्चाग्निविद्याको सेवता है न इष्टापूर्त कर्मको सेवता है। :—अर्थात् जो पुरुष न तो इष्टापूर्त्तादि कर्म पूर्वक पञ्चाग्निकी उक्त प्रकार विद्यारूप से उपासना करता है जो अर्चिरादि मार्ग क्रम से सत्यलोक की प्राप्तिरूप अमृतत्व प्राप्ति का है। अरु न केवल इष्टापूर्त्तादि कर्मों को ही यथा शास्त्रविधि करे 'जो धूमादिमार्ग क्रम से चन्द्रलोक रूप स्वर्ग प्राप्ति का कारण है' सो तिस करके 'अर्थात् उक्त प्रकार के कर्म उपासना न करने कर कहे जे अर्चि धूमादि लक्षणवाले दो मार्ग तिनको अन्य किसी प्रकार भी पावते नहीं तब जिसकरके इन कीट, पतङ्ग, मच्छर, जूआं, आदि अति अल्प जीवभाव को पाय अति अल्पकाल स्थित होके संख्यबार उपजते मरतेही रहते हैं—:। ताते जो उक्त उभय मार्ग परिभ्रष्ट हैं सोई वारंवार कीट पतङ्गादि भावसे जन्मते मरतेही हैं। :—अर्थात् जे कर्म उपासना से रहित यथेष्ट पापाचरण करते हैं तिनको मनुष्याकृति कीटपतङ्गादि अतितुच्छ जीवही जानके तिन उभय मार्ग से भ्रष्टों को निरन्तर जन्म मरण होने यह अनु कहते हैं "जायस्वम्रियस्वेति" इस श्रुतिवाक्य करके ईश्वर निमित्त चेष्टा कहते हैं [जो कि (सर्व का नियन्ता) सर्वेश्वर है सो भ को। :—जोकि उन के कल्याणार्थ आपही ने अपनी वेदरूपा आ प्रकाशित किये हैं तिन—:। मार्गद्वय से 'अर्थात् उत्तरायण अरु णायन इन मार्ग दोनों से भ्रष्ट देखता है, तब (तिन पर कुपित है

वारंवार कीटादि भाव से जन्मों अरु मरों, इस प्रकार की प्रेरणा करना है सो यहां कहते हैं] जन्म मरणरूप लक्षण करकेही काल का जानना होता है नतु शोभनकर्मों बिषे वा भोगों बिषे काल का अस्तित्व जाना जाता है यह अर्थ है। यह कीटादि क्षुद्र जन्तु लक्षणरूप तृतीय 'जो पूर्वोक्त दोनों मार्गों की अपेक्षा से, स्थान है सो उक्त दो मार्गों से भ्रष्ट पापाचरण करनेवाले संसृतों का स्थान है॥ जिस करके इस प्रकार दक्षिण मार्ग से जानेवाले भी पुनः उक्त क्रम से इस लोक बिषे आवते हैं। अरु जो विद्या कर्म से अनधिकृत हैं।:—अर्थात् जिन मनुष्यों को उक्त प्रकार के कर्म उपासना का अधिकार नहीं—:। सो दक्षिणमार्ग से चन्द्रमण्डल रूप स्वर्गलोक को जाते नहीं, ताते "। तेनासौ लोको न सम्पूर्यते" तिस करके स्वर्गलोक पूर्ण होता नहीं, अर्थात् भरता नहीं। इस कहने से पञ्चाग्नि करके पञ्चम प्रश्न का व्याख्यान किया॥ :—। अर्थात् पूर्व राजा जैबलिने श्वेतकेतु के प्रति पांच प्रश्न कियेरहे उनमें चतुर्थ प्रश्न यह रहा कि "। वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यता ३ इति" तू जानता है कि जिस प्रकार स्वर्गलोक पूर्ण होता नहीं, तब उस प्रश्न का उत्तर श्वेतकेतु को न आया। उस प्रश्न का उत्तर राजा ने उद्दालक प्रति कहा—:। अरु प्रथम प्रश्न का उत्तर दक्षिणायन उत्तरायण मार्ग करके निर्णय किया।:—अर्थात् पूर्व राजा ने श्वेतकेतु से प्रथम "। यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति" यह प्रश्न किया रहा कि जिस प्रकार यह सर्व प्रजा नीचे से ऊपर को जाती हैं तिसको तू जानता है। उस प्रश्न का उत्तर राजा ने उद्दालक के प्रति कहा—: ॥ अरु दक्षिणायन उत्तरायण मार्गों का व्यावर्तन (पृथक् २) होना भी कहा।:—अर्थात् उक्त दो मार्गों के सेवियों का मरणोत्तर अग्नि में दाह होना समान है। तिसके अन्तर उनका पृथक् होना होता है, तहां उत्तरायणमार्गवाले अर्चिरादिमार्ग से, इतर, दक्षिणायनमार्गवाले, धूमादिमार्ग से जाते हैं। पुनः उत्तर दक्षिण अयन करके षण्मास को प्राप्तहोय, एक संवत्सर के अवयव बिषे दोनों मिलते हैं। पुनः वहां से पृथक् होय अपने २ मार्गों को जाते हैं तहां उत्तरायणवाला उत्तरायण के षण्मास से आगे

संवत्सर को 'संवत्सर से आदित्य को, इसप्रकार प्राप्त होता जा
अरु दक्षिणायनवाला दक्षिणायन के षण्मास के आगे पितृलो
प्राप्त होता है, सो व्याख्यानकिया। :— अर्थात् पूर्व राजा जै
श्वेतकेतु से तीसरा प्रश्न यह कियारहा कि " वेत्थ पथोर्देव
पितृयानस्य च व्यावर्त्तना " तू जानता है कि देवयानका अ
तृयानके मार्ग जहां से भिन्न २ होते हैं। उसका उत्तर रा
उद्दालक से उक्त प्रकार करके कहा—:। अरु क्षीणकर्माओं का
वर्त्तन जिसप्रकार चन्द्रलोक से आकाशादि क्रमकरके होता है
भी कहा॥ :—अर्थात् राजा जैबलि ने पूर्व श्वेतकेतु से द्वितीय
यह किया रहा कि " वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त " तू जानता है
प्रकार फेर आवते हैं। उसका उत्तर भी राजा ने उद्दालक से कह
अरु स्वर्गलोक की अपूर्णता को स्व शब्द करके कहा कि "ते
लोको न सम्पूर्य्यत इति " तिसकरके स्वर्गलोक पूर्ण नहीं होता
करके ऐसाहै तिसकरके संसार गति अति कष्टतरा है, तिस हेतु से
संसारगति से घृणा कहिये ग्लानि करते हैं। अरु जिस करके वा
के जन्म मरण से उत्पन्न हुई जो वेदना तिसको अनुभव करके
क्षणमात्र भी अन्यत्र (सुख) नहीं॥ :—अर्थात् देवयान पितृया
कर्मगति से भ्रष्ट कीट पतङ्गादि क्षुद्रजीव भाव की प्राप्तिरूप तृतीय
वाले को निरन्तर जन्म मरणहोने से सर्व क्षण अति दुःखही है
अरु कीटादि क्षुद्र जन्तु (जीव) जन्ममरण लक्षणरूप अतिदुः
अति अपार महाघोर दुस्तर समुद्रबिषे प्रवेश को पाये निकल
आशासे रहित निरालम्ब अत्यन्त दुःखी हैं जैसे कोई न कोई
रहित महाअगाध अपार दुस्तर समुद्रमें निमग्न निकलने की
से रहित अतिदुःखित होताहै तैसे। तिसहेतु से इस प्रकार की
घोर कष्टतर संसारगति देख विवेकी उक्तप्रकार की संसार गति से
होने की इच्छावाले इस उक्त प्रकारकी संसार गति को देख
दोषदर्शनपूर्वक अति ग्लानि करते कहते हैं कि इसप्रकार के
घोर संसाररूप महासमुद्र बिषे हमारा पात कहिये गिरना कदापि

हो ॥:—अर्थात् जैसे तृतीय स्थान रूप कीटपतङ्गादि जन्म मरण को पावते हैं तैसे इष्टापूर्त्तादिकों के करनेवाले जन्म मरण को पावते हैं, तातें जन्म मरण लक्षणरूप दुःखमय संसार की प्राप्ति दोनोंको ही तुल्य है। ऐसा अनुभव कर मुमुक्षुपुरुष उक्त प्रकार की संसारगति से मुक्त होने के लिये ईश्वर सद्गुरु से प्रार्थना करता है कि उक्त प्रकार के संसारसागर में मेरा पात न हो। अरु कीट पतङ्गादि अतिही अल्पायु अरु क्षुद्र जीव भावकी अरु वारंवार के जन्ममरणभावकी प्राप्ति महापातकों से होती है, तिसकी निवृत्ति पञ्चाग्निविद्या के सम्यक् ज्ञान से होतीहै—:। तिस इस अर्थ बिषे अरु पञ्चाग्निविद्या की स्तुति बिषे अग्रिम कहने का श्लोक (मन्त्र) प्रमाण है ॥ ८ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरांपिबछंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महाचैतेपतन्ति चत्वारःपञ्चमश्चाचरछंस्तैरिति ॥ ९ ॥

अक्षरार्थ।

सुवर्ण का चुरावनेवाला, ब्राह्मण मद्यपानकर्त्ता, गुरु की स्त्री से भोग करनेवाला, ब्राह्मण का बध करनेवाला, यह चार महापातकी गिरते हैं, पञ्चम जो उक्त पतितों के साथ आचरता है (सो भी तद्वत् हुआ गिरता है) ॥ ९ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! राजा जैबलि कहता है कि हे गौतम! चार प्रकार के महापातकी हैं। तहां प्रथम ब्राह्मण के सुवर्ण का चुरावनेवाला, अरु द्वितीय ब्राह्मण होयके मद्यपान करनेवाला। अरु तृतीय अपनी गुरुपत्नी (गुरु की स्त्री) के साथ विषय भोग करनेवाला अरु चतुर्थ ब्राह्मण का बध करनेवाला। यह इतने चार (उक्त प्रकार के तृतीय स्थानरूप अपार समुद्र बिषे) गिरते हैं। अरु पांचवां जो उक्त महापातकियों के साथ आचरता है ॥ :—अर्थात् उक्तप्रकार महापातकियों के साथ जो पुरुष संसर्ग करता है अर्थात् खान, पान, भाषण, सहवासादि करता है सो पञ्चम भी तद्वत् हुआ गिरता है ॥ ९ ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न सहै
चरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भ
एवंवेद य एवंवेद ॥ १० ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके दशमःखण्डः ॥ १० ॥

इति छान्दोग्योपनिषदिपञ्चमप्रपाठके पञ्चाग्निविद्या समाप्त

अक्षरार्थ ।

अथ पुनः जो प्रसिद्ध इतने इन पाँचअग्नियों को जानता
प्रसिद्ध तिनके साथ आचरण करने जन्य पापों से लिपायमान
के शुद्ध पवित्र पुण्यलोक होता है, जो इस प्रकार जानता है
प्रकार जानता है ॥ १० ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! राजा जैबलि उद्दालक प्रति कहता हुआ कि हे
पुनः जो प्रसिद्ध यथोक्त प्रकार के पांचों अग्नियोंको सम्यक् प्र
नता है सो तिन महापातकियों करके सहित उनके साथ आ
(सहवासादि) करताहुआ भी तज्जन्यपापोंसे लिपायमान न हो
शुद्ध ही होती है। अरु उस पञ्चाग्नि के दर्शन ज्ञानकरके
ताते परमपवित्र है। अरु तिस करके पुण्यलोक है। अर्थात् प्रा
(वा ब्रह्मलोकादि) पुण्य लोककी प्राप्ति है जिसको सो कहिये
लोको। ताते पञ्चाग्निविद्याका जाननेवाला पुण्यलोक होता है
पांचों प्रश्नोंकरके प्रश्न किये यथोक्त समस्त प्रश्नों के उत्तर
को जानता है (सो पुण्यलोक होताहै) यहां जो " य एवंवेद
वेद " इस प्रकार दोबार कहाहै सो समस्त प्रश्नोंके निर्णयके
अरु पञ्चाग्निविद्याकी समाप्ति के लिये है ॥ १० ॥

इति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके दशमः खण्डः ॥ १० ॥

इति छान्दोग्योपनिषदिपञ्चमप्रपाठके पञ्चाग्निविद्या ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठके वैश्वानरविद्या।

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञ पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो वुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति॥ १॥

अथ वैश्वानरविद्या।

अक्षरार्थ।

प्राचीनशाल नामवाला उपमन्यु का पुत्र ताते औपमन्यवः अरु सत्ययज्ञ नामवाला पुलुष का पुत्र ताते पौलुषिः। अरु तैसे इन्द्रद्युम्न नामवाला भल्लवका पुत्र भाल्लवि तिसका पुत्र ताते भाल्लवेयः। अरु जननामवाला शर्कराक्ष्य का पुत्र ताते शार्कराक्ष्यः। अरु वुडिल नामवाला अश्वतराश्वका पुत्र ताते आश्वतराश्विः। सो यह प्रसिद्ध पांच बड़े घरवाले बड़े श्रोत्रिय एकत्र होके विचार करतेहुए कौन इसमें आत्मा है क्या ब्रह्म है॥ १॥

भावार्थ।

हे सौम्य! पूर्व "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" इस श्रुतिकरके दक्षिणायनमार्ग से चन्द्रलोक को प्राप्त होनेवाले को अन्नभाव की प्राप्ति कही है, अरु क्षुद्रजन्तु लक्षण करके अतिकष्टतरा संसारगति कही है। तिन उभय दोष की निवृत्ति के लिये वैश्वानरविद्यासे त्रिभाव की प्राप्ति के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं "अत्स्यन्नं पश्यति प्रियं" इत्यादि लिङ्गसे सुख से जानने के लिये अरु विद्या सम्प्रदान न्यायके देखावने के लिये आख्यायिका कहते हैं।

हे सौम्य! (किसी एक समय) प्राचीनशाल इस नामवाला, उपमन्यु का पुत्र ताते औपमन्यवः इस अपत्य नामवाला अर्थात् पिता के नाम से औपमन्यव नामवाला। अरु सत्ययज्ञ नामवाला पुलुष का पुत्र पौलुषि। अरु तैसेही इन्द्रद्युम्न नामवाला भल्लव का पौत्र अरु भाल्लवि का

पुत्र भाल्लवेय इस द्वितीय नामवाला । अरु जन नामवाला श॰ का पुत्र ताते शार्कराक्ष्य । अरु बुडिलनामवाला अश्वतराश्व॰ आश्वतराश्विः ॥ :—यहां जो एक २ ऋषि के दो २ नाम कहे॰ प्रथम का तो उनका है, अरु द्वितीय नाम पिता के सम्बन्ध से॰ उसही नाम के दूसरे से पृथक् करनेके लिये जानने । अर्थात् ए॰ के बहुतसे मनुष्य होवें तिनमेंसे जिसको पृथक् करके कहना है॰ कहते हैं कि अमुकाऽमुके का पुत्र तैसे जानना—: ॥ सो यह उ॰ ऋषि महाशाला कहिये बड़े घराने के बड़े गृहस्थ सन्तति सम्प॰ अरु निवासके अतिदीर्घ आयतन वाले । अरु महाश्रोत्रिय कहि॰ से वेद शास्त्रादि पढ़े अरु श्रवणकिये, ऐसे पाँचों एकत्र होय॰ करनेलगे ॥ :—अर्थात् किसी एक महत् पूर्व में किसी गङ्गादि॰ उक्त पाँचों ऋषि अकस्मात् काकतालीय न्यायवत् एकत्र होयप॰ परिचय विनाही स्नानोत्तर पाँचों ही वैश्वानरविद्या का पाठ क॰ परन्तु वैश्वानरके एक २ अङ्ग के ज्ञाता होने से उनका परस्पर॰ मिले नहीं तब पाँचों ही परस्पर में परिचयकर वैश्वानर आत्मा॰ का विचार करते हुए—: ॥ प्र० । क्या विचार करते हुए । उ० ।॰ आत्मा कौन है, क्या ब्रह्म आत्मा है, क्या ब्रह्म अरु आत्मा इ॰ शब्दों का विशेष्य विशेषण भावहै । क्या अध्यात्मोपाधि परिच्छि॰ से ब्रह्मही आत्मा कहाजाता है, अरु उक्त उपाधि के अभाव से॰ ही ब्रह्म कहाजाता है, क्या आत्मासे अतिरिक्त करके ब्रह्म अ॰ उपासकत्व का निवारण करते हैं । क्या अभेद करके "अयमात्म॰ नातः परमस्ति" "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से॰ आत्मा का अभेद करके—: । आत्माही ब्रह्म है । इस प्रकार ब्र॰ वैश्वानर ब्रह्म सोई आत्मा है । इसप्रकार विचार सिद्ध करते हुए॰

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमा॰ सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति त ᳲ हन्ताभ्याग॰ मेति त ᳲ हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

सो प्रसिद्ध पाँचों अन्यों करके पूज्य होते सन्ते भी वैश्वानर के उपदेष्टा को शोचते वा विचारते हुए; यह अरुण का पुत्र आरुणिः उद्दालक इस प्रसिद्ध नामवाला ऋषि सम्यक्प्रकार वैश्वानर आत्माको जानता है, अतएव अपने उसके पास चलो ऐसा विचार तिसके पास जाते हुए॥२॥

भावार्थ।

हे सौम्य! प्राचीनशालादिक पाँचों ऋषि जो अन्यों करके पूजनीय महाशाल महाश्रोत्रिय सो परस्पर में वैश्वानर आत्मा विषयक विचार करत सन्ते भी निश्चय को न प्राप्तहोके वैश्वानर आत्माके उपदेष्टा को चित्तसे विचारते वा अन्वेषण करतेहुए ॥ः—अर्थात् उक्त पाँचों ऋषि अकस्मात् किसी एक तीर्थ में स्नानार्थ प्राप्तहो सर्व समकाल में एकही स्थानपर स्नानकर अपने २ ज्ञान के अनुसार वैश्वानरविद्या का पाठ करनेलगे ‘ अर्थात् वो पाँचों ऋषि सर्वाङ्ग समस्त वैश्वानर को न जानके एक २ पृथक् २ अङ्ग के ज्ञाता उपासक थे, परन्तु उक्त हेतुसे पाँचों के पाठ भिन्न २ होवें तथापि करें सर्व वैश्वानरविद्या का पाठ, अरु यह न जानें कि हम वैश्वानर के एक २ अङ्ग के ज्ञाता होयके पूर्ण सर्वाङ्ग वैश्वानरविद्या का अहंकार अपने बिषे क्यों करते हैं। अरु जब उनके परस्पर का पाठ एक दूसरे के पाठसे न मिला तब किसी एक स्थानपर पाँचों एकत्र हो उक्तप्रकार विचार करते हुए, तथापि पाठान्तर के भेद होने से सम्यक् एक निश्चय को न प्राप्तहो वैश्वानरविद्या के सम्यक् जाननेवाले को विचारते हुए कि जो कोई ऋषि सम्यक् प्रकार वैश्वानर विद्या को जानता होय तिसके समीप चलके विद्या अध्ययन करनी वा जाननी चाहिये—ः॥ तब उनमें से किसी ने कहा कि हे पूजावन्तो! जिस करके जिसका प्रसिद्ध नाम उद्दालक है सो अरुण का पुत्र आरुणि इस द्वितीय नामवाला ऋषि यहां आया है अरु वो वैश्वानरविद्या को कि जो हमको अभीष्ट है, सम्यक् प्रकार जानता है, अतएव अपने सर्व उसके पास चलो। इसप्रकार वो सर्वऋषि परस्पर में सम्मत निश्चयकर इस उद्दालक के आश्रमपर जातेहुए॥ २॥

स ह सम्पादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्तिमामिमे महाशा
महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताह
मभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥ तान् होवाचाश्वपतिर्वै भ
न्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति
हन्ताभ्यागच्छामेतितछंहाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

सो उद्दालक प्रसिद्ध उन पाँचोंको अपने आश्रमपर आवते
विचारता हुआ कि यह पाँचों महाशाल महाश्रोत्रिय मेरे समीप आ
वैश्वानरविद्या को पूछेंगे अरु मैं सो विद्या सम्पूर्ण जानता नहीं
अन्य किसी जाननेवाले के पास इनको भेजें (अरु हमभी जावें)
ऐसा विचार उनके प्रति कहताहुआ कि हे भगवन्तः! केकयदे
केकयनाम राजा का पुत्र अश्वपतिनाम प्रसिद्ध राजा है वो वैश्व
विद्या को सम्यक् प्रकार जानता है उसके समीप आप जावो (
चलताहौं) सो तिसके पास जातेहुए ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार प्राचीनशाल आदिक पाँचो ऋषि वैश्व
विद्याको सम्यक् प्रकार जानने के अर्थ तिसका ज्ञाता उद्दालक मुनि
जानके तिसके आश्रमपर चले । तब उस उद्दालक मुनि ने उन
को अपने आश्रमपर दूरसेही आवते देख उनके आगमन का
जान विचारने लगा । प्र० । क्या विचारने लगा । उ० । यह विचा
लगा कि यह पाँचों ऋषि यहां आय जिस वैश्वानरविद्या को
से पूछेंगे तिसको मैं समस्त जानता नहीं, अरु ये सर्व बड़े घरके
कुलवाले बड़े विद्वान् बहुश्रुत हैं अतएव इन करके प्रश्न कियेहुए
सर्व उत्तर कहनेको मैं समर्थ नहीं । अतएव अब इनको अन्य कि
सम्यक् वैश्वानरविद्या के जाननेवाले के पास भेजें अरु मैं भी इ
साथ जावों । इसप्रकार उद्दालक अपने चित्तमें विचारताही है

उसही समय वो पाँचों ऋषि उसके आश्रमपर आय प्राप्तहुए, तब उनके आवतेही प्रश्नकरने से पूर्वेही वो उद्दालक कहता हुआ कि जिस वैश्वानरविद्याके जानने के लिये आप सर्व मेरे पास आयेहौ तिसको मैं सम्यक्प्रकार जानता नहीं जो तुम्हारे प्रति कहौं। हे पूजाकरने के योग्यो! अश्वपति नामवाला यह केकय देशके केकयनाम राजा का पुत्र है सो 'कैकेयः' इस द्वितीय नामवाला है सो इस वैश्वानरनामक आत्मविद्याको ' कि जिसका जानना आपको अभीष्ट है, सम्यक् प्रकार जानताहै। अतएव उसकी प्राप्ति के लिये आप उसके पास जाइये (मैं भी तुम्हारे साथ चलताहौं) ऐसा कह उद्दालक सहित छहों ऋषि वैश्वानरविद्या की प्राप्ति की दृढ़ कामना धार उस राजा अश्वपति के पास केकयदेशको जाते हुए॥ ३। ४॥

तेभ्योह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार सह प्रातः सञ्जिहान उवाच नमे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणा वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मादृत्विगे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥ ५ ॥

अक्षरार्थ।

अपने यहां प्राप्तहुए उन्हों के लिये पृथक् २ आतिथ्यादि सत्कार करावता हुआ अरु सो प्रसिद्धराजा प्रातःकाल उनके समीप जाय कहता हुआ मेरे राज्य में चोर नहीं, कृपण नहीं, मद्यपायी नहीं, अग्निहोत्र न करता होय ऐसा नहीं, अविद्वान् नहीं, परस्त्रीगामी पुरुष नहीं, परपुरुषगामिनी स्त्री नहीं तुमने कहीं भी मेरे राज्य में देखाहै। हे पूजा के योग्य! मैं इन अपने एक २ ऋत्विजों को जितना २ धन दूँगा तितना २ आप लोगों को भी दूँगा, हे भगवन्! आप यहां निवास करिये, इति॥ ५॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त छहो ऋषि जब वैश्वानरविद्या की जिज्ञासा
उस राजा अश्वपति के नगर में जाय प्राप्त हुए अरु उन ऋषियों
अपने यहां आगमन राजा ने श्रवण किया–: ॥ तब तिन अपने
प्राप्तहुए ऋषियों का सुख वासादि आतिथ्य सत्कार वो राजा अपने पु
हित अरु भृत्यादि द्वारा करावता हुआ, क्योंकि उस समय राजा
दीक्षित यजमान हुआ अपने यज्ञकार्यमें स्थित था ताते दूसरे दिवस
राजा प्रातःकाल के समय उन ऋषियों के पास जाय प्रणामकर विन
पूर्वक कहता हुआ कि हे भगवन् ! यह इतना धन मुझ करके दि
हुआ आप ग्रहण करियें । तब उन ऋषियोंने कहा हम धनार्थी नहीं
तब वो राजा अपने चित्त में विचारताहुआ कि यह सर्व ऋषि निश्च
करके मेरे बिषे दोष देखतेहैं एतदर्थ मेरे दिये धनको ग्रहण करते नहीं
ऐसा विचार अपनी सद्वृत्ति (धर्मनीति) को प्रकट करत सन्ते कह
हुआ । राजोवाच । हे पूजाकरने योग्य, ब्राह्मणो ! मेरे राज्यमें पराये
के हरणकर्त्ता, तस्कर चोर; कोई नहीं; अरु तैसेही मेरे राज्य में कृ
भी कोई नहीं किन्तु सर्वही स्वशक्त्यनुसार दाता हैं । अरु मेरे रा
में सामान्यरीत्या मद्यपान करनेवाला कोई नहीं, अरु विशेष करके
ह्मण होय के मद्यका पानकर्त्ता तो स्वप्न में भी नहीं । अरु तैसेही
राज्य में ऐसा कोई नहीं जो अग्निहोत्र न करता हो 'अर्थात् जिन
वेदोक्तकर्म का अधिकार है सो सर्वही अग्निहोत्र के कर्त्ता हैं' । अ
विद्वान् भी कोई नहीं । :–अर्थात् चारों वर्ण के मनुष्य अपने २ अ
कारानुसार विद्या के अध्ययन कर्त्ता हैं ॥:–हे सौम्य ! ब्राह्मणादि
वर्णों के मनुष्यों को वेदाध्ययन करने का अधिकार है । अरु शूद्र
पुराण अध्ययन का अधिकार जानना क्योंकि भारतादि ग्रन्थों में
के लिये पुराणोक्तमन्त्र से कर्म करना कहा है । अरु ऐसा भी कहा
कि जो कदापि ब्राह्मण शूद्र के यहां कर्म करावे तो पुराणोक्त मन्त्र
करावे । अरु याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों में शूद्र के लिये आचमनादि
की विधि कही है अरु उनके धर्म भी कहे हैं, एतदर्थ शूद्र के

वेदाध्ययनका अधिकार न होके पुराण अध्ययन का अधिकार सिद्ध होता है -:॥ अरु तैसेही मेरे राज्य में परस्त्री से गमन (भोग) करनेवाला पुरुष कोई नहीं (सर्वही यथाशास्त्र स्वस्त्री में ऋतुदान के कर्त्ता हैं परस्त्रीगामी कोई नहीं) अरु जिस करके मेरे राज्य में परस्त्रीगामी पुरुष नहीं तिसहीं कारणसे परपुरुषगामिनी व्यभिचारिणी स्त्री सो कहां किंतु दुष्टाचारिणी स्त्री तो स्वप्नमें भी नहीं। आपने मेरी प्रजा को उक्त प्रकार से विपरीताचरणवाली कहीं देखाहोय तो कहो।:-- अतएव जिस प्रजा का धन मेरे कोषमें आवता है सो सर्व धर्मात्मा होनेंसे अरु मेरे न्याय नीति प्रमाण ग्रहण करने से मेरा धन अन्य साधारण राजाओं के धनवत् आप सरीखे ब्राह्मणों करके अग्रहण करने योग्य नहीं -:। अरु आपने कहा कि हम इस धन के अर्थी नहीं ताते हम इस धन को ग्रहण न करेंगे, सो क्या इस धन को अल्प मानके आप ग्रहण नहीं करते। हे पूजा करने के योग्य, ब्राह्मणो! मैं अपने एक २ ऋत्विजों को जितना २ धन यज्ञकी दक्षिणा में दान करूंगा उतना २ प्रत्येक आप लोगों को भी दूँगा। अतएव आप सर्व यहां निवासकर मेरे यज्ञ को देखिये ॥ ५ ॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तछंहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरछं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ।

(उक्त प्रकार जब राजा ने कहा तब) सो ब्राह्मण कहते हुए यह पुरुष जिस प्रयोजन के लिये जिसके पास जाय प्रथम उस प्रयोजन को सिद्ध करलेवे, हमारा यही प्रयोजन है कि आप वैश्वानर आत्मा की सम्यक् प्रकार जानतेहो सो हम सर्व के प्रति उपदेश करो ॥ ६ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! ।:--उक्तप्रकार जब राजा अश्वपति ने अपने यहां प्राप्त हुए उपमन्यु आदि छओं ऋषियों के समक्ष अपनी प्रजा का स्वधर्मपूर्वक आचरण अरु अपने धनकी निर्दोषता कही तब तिसको श्रवण

कर —: । सो ब्राह्मण कहते हुए कि हे राजन् ! पुरुषों को उचित है
जिस प्रयोजन के लिये जिसके समीप जाय उससे प्रथम उस प्रयो
को सिद्धकरले ॥ :—अरु उसके सिद्ध किये विना अन्य कार्य में प्र
होता है तो वो पूर्वका कार्य उसको शाप देता है कि तू मेरे अर्थ प्र
होके प्रथम मेरे सिद्धकिये विना अन्य कार्य में प्रवृत्तहुआ अतएव
तुझको सिद्ध होने के नहीं अरु अन्य कार्य भी सिद्ध होने का नहीं
ताते हम जिस प्रयोजन के लिये आपके निकट आये हैं सो जब सि
होलेगा तब और करेंगे। हे राजन् ! हम सर्व धनार्थी न होके वैश्वा
के ज्ञानार्थी आपके समीप आये हैं, अरु आप इस आत्मा वैश्वा
को सम्यक् प्रकार जानते हो, ताते आप सो वैश्वानरविद्या हम
के प्रति उपदेश करिये ॥ ६ ॥

तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्ताऽस्मीति ते ह समित्
पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान् हानुपनीयैवैतदुवाच॥७

इति वैश्वानरविद्यायां प्रथमप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ ।

तिनके प्रति राजा कहताहुआ प्रातःकाल (कल्ह) तुम्हारे प्र
उत्तर मैं देऊंगा (इतना कह राजा अपने गृह को गया) तब
प्रसिद्ध छओं ऋषि समिधा हाथमें ले दूसरे दिवस प्रातःकाल राजा
समीप जातेहुए तब तिन प्रसिद्ध अपने यहां प्राप्त हुए को (विना
शिष्यकिये कहताहुआ ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब प्राचीनशाल आदि ऋषियों ने रा
अश्वपति से कहा कि हे राजन् ! हम आपके यहां धनके प्रयोजन
आये नहीं किन्तु वैश्वानरविद्या के प्रयोजनार्थ आये हैं अतएव
हम सर्व को वैश्वानरविद्या कहिये, तब —: । तिन ऋषियों प्रति रा
कहताहुआ कि मैं कल्ह प्रातःकाल को (यज्ञ से निवृत्तहोके) तुम्

प्रति उत्तर देऊँगा (इतना कह वो राजा उन ऋषियों के स्थानसे अपने भवन को पगधारता हुआ) तब उस राजा के वाक्य के अभिप्राय के जाननेवाले ऋषि ॥ :—अर्थात् राजाने जो उनसे कहा कि मैं तुमको कल्ह प्रातःकाल को उत्तर कहूंगा, तिसका तात्पर्य यह है कि जब तुम शास्त्र रीति प्रमाण समित्पाणि होय जिज्ञासापूर्वक नम्रभाव से मेरे निकट आवोगे तब मैं तुमसे कहूंगा, तिस तात्पर्य के जाननेवाले वो छओं महाशाल व महाश्रोत्रिय ऋषि—: ॥ समित् का भार अपने हाथमें ग्रहण कर दूसरे दिवस पूर्वाह्नको राजाके समीप जातेहुए। जब इस प्रकार वो छओं ऋषि अपने महाशालत्वपने अरु महाश्रोत्रियत्वपने आदिकों के अभिमान को त्याग समित् का भार अपने हाथ में ग्रहणकर अपने से जाति में हीन जो क्षत्रिय राजा तिसके पास विद्यार्थी हो नम्रभावपूर्वक जातेहुए। तैसेही अन्यविद्या उपार्जित करनेवाले को भी करना चाहिये ॥:— अर्थात् जैसे प्राचीनशाल आदि ऋषि अपने सर्व प्रकार के महत्त्वपने आदिकों के अभिमान को त्याग समित् का भार अपने हाथ ले अतिनम्रभावपूर्वक अपने से जाति में हीन जो क्षत्रिय तिसके पास विद्या प्राप्त करने के लिये गये अरु तिसका दिया धन न अङ्गीकार करके अपने प्रयोजन में दृढ़ रहे। तैसे अन्य विद्यार्थियों ने भी अपने सर्व अभिमान को त्याग शास्त्ररीत्या समित्पाणि होय आचार्य के पास जाय विद्या उपार्जन करना अरु जो वो आचार्य जाति में अपने से हीन होय तो भी उसकी हीनता को न विचार उसमें आचार्यत्व भाव जानना—:॥ तब राजा ने विचार किया कि इन ऋषियों के लिये विद्या देनी चाहिये (क्योंकि यह उत्तम ब्राह्मण होके अपने सर्व अहंकार को त्याग समित्पाणि होय चित्तमें शिष्यभाव धार विद्यार्थियोंवत् मेरे यहां अतिदूर से आये हैं, इस प्रकार विचार के) अपनयन (शिष्य) न करके केवल उनके प्रणिपातादि भाव को देखकेही तिन यथायोग्यों के लिये विद्या देता हुआ। तैसे अन्यों ने भी विद्या देनी चाहिये ॥:— अर्थात् जो कोई जिस विद्या को जानता होवे अरु उस विद्या का अर्थी जिज्ञासु श्रद्धा, विनयसम्पन्न होय अपने सर्व अहंकार त्याग शास्त्ररीत्या

समित्पाणि होय उसके समीप प्राप्तहोय तो उसके लिये विद्या
चाहिये-: ॥ यह इस आख्यायिका का तात्पर्य है ॥ ७ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां प्रथमप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते।

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से इति दिवमे
वो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वा
त्वमात्मनामुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं
श्यते ॥ १ ॥

अब वैश्वानरविद्या में द्वितीय खण्डका आरम्भ करते हैं

अक्षरार्थ ।

हे औपमन्यव ! किस आत्मा को तू उपासता है । हे पूज
राजन् ! मैं द्युलोक को उपासता हूं । राजा कहता हुआ यह
नाम आत्मा वैश्वानर है, इस आत्मा को तू उपासता है तिस
से तेरे कुल में सुत प्रसुत आसुत दृश्य आवते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (उक्त प्रकार जब छओं ऋषि राजा अश्वपति
वैश्वानरविद्या के लिये समित्पाणि होय विधिवत् प्राप्तहुए
उपदेश करने से पूर्व राजा उन प्रत्येक से भिन्न २ प्रश्न क
प्रश्न ॥ वो राजा क्या प्रश्न करताहुआ ॥ उत्तर ॥ वो राजा
प्रश्न करता हुआ कि हे औपमन्यव ! किस आत्मा को
जानके उपासता है । यह राजा ने प्रश्न किया ॥ शङ्का ॥
आचार्य होके शिष्य से प्रश्न करना यह अन्याय है ॥ उत्तर ॥
नहीं, क्योंकि " यद्वेत्थ ते न मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि
श्रुति वाक्यरूप न्याय के देखने से ॥ :-अर्थात् यह नारद
संवाद की श्रुति न्याय प्रमाण है । जब नारदऋषि आत्मजिज्ञा
सनत्कुमार के पास जाय विनयपूर्वक कहताहुआ कि आप

आत्मविद्या उपदेश करो, तब सनत्कुमार ने कहा कि जो तू जानता है सो प्रथम मेरे आगे कह मैं प्रथम उसको जानलूं तब उसके पश्चात् जो कुछ कहना होगा सो कहूंगा—: ॥ अरु अन्यत्र भी शिष्य के प्रति आचार्य का प्रश्न देखते हैं "। कैषतदाऽभूत्कुत एतदागादिति " यह बृहदारण्यक के चतुर्थाध्यायमें राजा अजातशत्रु ने गार्गनाम ब्राह्मण से जो उसका शिष्य हुआ प्रश्न किया है—: ॥ ताते आचार्य का शिष्य से प्रश्न करना अन्याय नहीं ॥ तब वो औपमन्यव कहता हुआ कि हे पूजा के योग्य, राजन्! मैं द्युलोकको ही वैश्वानर जान के उपासता हूँ। तब राजा कहता हुआ कि यह ही सुतेजा है, अर्थात् शोभन दिव्यतेज है जिसका सो यह द्युलोक सुतेजा यह प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है। अरु यह सुतेज द्युलोक वैश्वानर का अवयवभूत होने से, जिसको तू पूर्ण वैश्वानर मानके उपासता है सो उसको एकदेश उपासता है। अरु उस वैश्वानर का एक अवयव जो सुतेजा नाम है उसकी उपासना के प्रभाव से तेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि अतितेजस्वी दृष्ट आवते हैं, अर्थात् तेरे कुल के पुरुष अतिही कर्मिष्ठ (वेदोक्त कर्म के कर्त्ता) हैं ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यति प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुलेय एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्द्धात्वेष आत्मन इति होवाच मूर्द्धाते विपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां द्वितीयप्रपाठके द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ ।

और भी जो कोई अन्न को देखता है (वैश्वानर को उपासता है) उसका प्रिय होता है, उसके कुल में सर्व तत्त्ववेत्ता कर्मिष्ठ होते हैं, जो कोई इस सुतेजानाम वैश्वानरको उपासता है, यह द्युलोक वैश्वानर का मस्तक है। इतना कह पुनः राजा कहता हुआ कि मस्तक तेरा गिरपड़ता जो तू मेरे निकट न आवता ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! [यह जो वैश्वानर के मस्तक द्युलोक की उपासना का कहाहै सो केवल प्राचीनशाल केही लिये होय ऐसा नहीं किन्तु भी जो कोई उक्त उपासना को करताहै उसको भी जो फल प्राप्त है] सो कहते हैं, पुनः श्रुति कहती है कि जो कोई सर्वअन्न के वैश्वानर के द्युलोकरूप सुतेजा नाम मस्तकरूप अवयव की उप करता है उसका सर्व प्रिय होताहै अरु उसके कुल में पुत्र पौत्रादि तत्त्ववेत्ता सब कर्मिष्ठ होते हैं, जो कोई यथोक्त वैश्वानर की उप करता है, अरु सो सुतेजानाम द्युलोक जो वैश्वानर का मस्तकरू अवयव है, सो समस्त वैश्वानर नहीं ॥ः—यद्यपि इस वैश्वानर के अवयव मस्तक की उपासना का घन सन्तति की प्राप्तिरूप फल तथापि समस्त वैश्वानर के अभेद ज्ञानवान् उपासक की दृष्टि अज्ञानही है–ः॥ पुनः राजा कहता हुआ कि हे प्राचीनशाल ! अर्थात् वैश्वानर के मस्तकरूप एक अवयव को समस्त वैश्वान रूप जानके उपासना करने के प्रभाव से तेरा मस्तक गिरपड़ता, मेरे निकट न आवता, अभिप्राय यह है कि जो तू वैश्वानरवि ज्ञानार्थ मेरे निकट आया सो अतिश्रेष्ठकिया ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां द्वितीयप्रपाठके द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां तृतीयप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ।

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य मात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति चैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मानमु तस्मात्तवबहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

अब वैश्वानरविद्याके तृतीय प्रपाठक में तेरहवें खण्ड का आरम्भ क

अक्षरार्थ ।

उसके अनन्तर राजा सत्ययज्ञ पौलुषिको पूछताहुआ कि

प्राचीन योग्य ! तू किस आत्मा को उपासता है इति, हे पूजा के योग्य, राजन् ! आदित्य को ही, उपासताहूं, राजा कहताहुआ यह ही विश्व रूप (आदित्य) आत्मा वैश्वानर है, इस आत्मा को तू उपासता है तिस करके बहुत विश्वरूप को तेरे कुलमें देखते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! [यहां जो अथ शब्द है सो प्राचीनशाल के तूष्णीं होने के अनन्तर का बोधक है] उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल के तूष्णीं होने के अनन्तर राजा अश्वपति पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ से कहता (प्रश्नकरता) हुआ कि हे प्राचीनयोग्य ! तू किस आत्मा (वैश्वानर) को उपासता है, इस प्रकार जब राजाने प्रश्न किया, तब सत्ययज्ञ कहता हुआ कि हे पूजा करने के योग्य, राजन् ! मैं आदित्यको ही वैश्वानर आत्मा मानके उपासना करता हूं, इस प्रकार जब सत्ययज्ञ ने कहा तब पुनः राजा अश्वपति कहताहुआ कि यह आदित्य विश्वरूप है, अर्थात् आदित्य के शुक्ल रक्त कृष्णादिरूप होने से विश्वरूप कहते हैं, अथवा आदित्य को सर्वरूप होने से विश्वरूप कहते हैं। अर्थात् त्वष्टा जो सूर्य तिसके ही सर्वरूप हैं याते, एतदर्थ। तिस विश्वरूप आदित्य की उपासना के प्रभाव से तुझको बहुत विश्वरूप है, अर्थात् इसलोक परलोक के भोगार्थ बहुत से उपकरण तेरे कुलमें देखते हैं ॥ १ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नंपश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वे तदात्मनइति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां तृतीयप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अक्षरार्थ।

प्रवृत्त है अश्वतरीयुक्त रथ अरु दासी दासादि तुझको। और

कोई भी जो अन्न (वैश्वानर) को देखता (उपासता) है सो प्रिय अन्न को देखता है, उसका प्रिय होता है, उसके कुल में तत्त्ववेत्ता कर्मिष्ठ होते हैं, जो कोई इस आदित्य वैश्वानर को उपा है, यह आदित्य वैश्वानर का चक्षु है, राजा कहता हुआ अन्धा होजाता जो मेरे निकट न आवता ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (पुनः वो राजा कहताहुआ कि हे सत्ययज्ञ !) तुझको जो अश्वतरी (खच्चर) युक्त रथ वा अश्वतरी रथ कहे अश्वतरी उपलक्षण करके अश्वतरी, अश्व, रथ, हस्ती, उष्ट्रादि वाहन अरु अनेक दास दासी आदि भृत्य सेवक बहुत हैं ॥ :-अ विश्वभोगके उपकरण सामग्री यावत् हैं सो सर्व तुझको प्राप्त हैं- अरु सो सर्व इस आदित्यरूप वैश्वानर आत्मा की उपासनाफल प्रा है (सो यह तुझही को प्राप्तहोय ऐसा नहीं) किंतु अन्य कोई भी इस सर्व अन्नके भोक्ता आदित्यरूप वैश्वानर आत्मा को देखता अ उपासता है सो अतिप्रिय अन्न (भोग्य) को देखता है अरु उ अति प्रिय होता है। उसके कुल में सर्वतत्त्ववेत्ता अरु कर्मिष्ठ होते जो इसही आदित्यरूप आत्मा वैश्वानर को उपासता है । यह आदित्य वैश्वानर आत्मा का चक्षु है, समस्त वैश्वानर नहीं । पुनः राजा कहता हुआ कि जो तू मेरे पास न आवता तो चक्षुविना का अन्धा होजाता अर्थात् तूने वैश्वानर के सर्व अङ्गों से उसके चक्षुरूप अवयव को पृथक् कर उसमें समस्त वैश्वानर की भावना से उपासना किया दोष करके तेरा चक्षु मुझसे पृथक् होजाता अर्थात् तू चक्षुहीन होजाता जो कदापि मेरेपास न आवता । अभिप्राय यह जो तू मो कर आया सो अतिश्रेष्ठ किया ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां तृतीयप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां चतुर्थप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ।

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्यकं त्वमा

मुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेण्योऽनुयन्ति ॥ १ ॥

अब वैश्वानरविद्या के चतुर्थ प्रपाठक में चौदहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

उसके अनन्तर राजा इन्द्रद्युम्न को पूछताहुआ तू किस आत्मा वैश्वानर को उपासता है, इति । हे पूजा के योग्य, राजन् ! मैं वायुको (वैश्वानर जानके उपासता हूं) इति । राजा ने कहा यहही नाना गतिवाला आत्मा वैश्वानर है कि जिसको तू आत्मा जानके उपासता है, तिस करके तुझको नानाजाति के अन्न वस्त्रादि आय प्राप्तहोते हैं और रथों की श्रेणी भी तुझको प्राप्तहोती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार सत्ययज्ञनाम ऋषि से कहके पुनः वो राजा अश्वपति इन्द्रद्युम्न नामवाला भल्लवी का पुत्र भाल्लवेय उसके प्रति कहता हुआ कि हे वैयाघ्रपद्य ! तू किस आत्मावैश्वानरको उपासता है । इसप्रकार जब राजाने प्रश्नकिया तब वो इन्द्रद्युम्न कहता हुआ कि हे पूजाके योग्य, राजन् ! मैं वायु को वैश्वानर आत्मा जानके उपासता हूं । इस प्रकार जब इन्द्रद्युम्न ने कहा तब पुनः वो राजा अश्वपति कहता हुआ यह नाना गतिवाला वायु वैश्वानर आत्मा है जिसको तू आत्मा मानके उपासता है । अर्थात् जिसवायु को तू उपासता है सो "पृथग्वर्त्माऽऽत्मा" इस नामसे कहाजाता है, अर्थात् आवह उद्वहादि नाना गति भेद वर्त्तमान हैं जिसमें वा नाना दिशाओं से चलनेवाला होनेसे नाना गति भेद वर्त्तमान हैं जिसमें, ऐसा यह वायुहै । उस वायुरूप वैश्वानर आत्मा को तू उपासता है तिस करके तेरेपास नाना दिशा देश देशान्तर के अन्न वस्त्रादि लक्षणरूप बलय (भोग्य) आय प्राप्त

होते हैं, अरु नाना प्रकार के (वायुवत् शीघ्रगामी) रथों की भी तेरेको प्राप्त होती हैं (यह सर्व वायुरूप वैश्वानर आत्मा की उपासना का फल है) ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मनइति होवाच प्राणस्तउदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां चतुर्थप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अक्षरार्थ ।

जो इस अन्न के भोक्ता वैश्वानर को उपासता है सो अति अन्न (भोग्य) को देखता है (पावता है) उसका प्रिय होता इसके कुल में तत्त्ववेत्ता कर्मिष्ठ होते हैं जो इसही आत्मा वैश्वानर को उपासता है यह वायु तो वैश्वानर आत्मा का प्राण है इति। हता हुआ तेरा प्राण निकलजाता जो तू मेरे पास न आता।

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (पुनः वो राजा अश्वपति कहताहुआ कि हे इन्द्र जैसे वायुरूप वैश्वानर की उपासना से तुझको नानाजाति के वस्त्रादि अरु नानाजाति के रथ पंक्ति आदि तुझको प्राप्त हैं तैसे भी जो कोई सर्वअन्न (भोग्य सामग्री) के भोक्ता वायुरूप वैश्वानर को उपासता है वो अतिप्रिय अन्न को देखता है 'अर्थात् उसको प्रिय भोग्य सामग्री प्राप्त होती है, अरु उसका प्रिय होता है अर्थात् उसका सर्व अभीष्ट सिद्ध होता है-: ॥ अरु जो इसही आत्मा वैश्वानर की उपासना करते हैं उस के कुल में सर्व कर्मिष्ठ होते हैं । अरु यह वायु तो वैश्वानर का प्राण है, यह वैश्वानर नहीं । इतना कह पुनः राजा कहता हुआ कि हे इन्द्र जो तू मेरे निकट न आवता तो तेरे प्राण निकलजाते ॥

समस्त वैश्वानर को न जानके उसके प्राणरूप वायु एक अवयव को उससे पृथक्कर उसको समस्त वैश्वानरका रूप जानके तैंने उपासना किया, ताते जैसे तैंने वैश्वानर के प्राणवायु को समस्त वैश्वानर से पृथक्किया तैसे तेरा प्राणभी तेरे शरीरसे पृथक् होजाता जो तू वैश्वानर विद्या के लिये मेरे निकट न आवता—ः॥ अतएव यह तूने अति श्रेष्ठ किया जो तू मेरे निकट आया॥ २॥

इति वैश्वानरविद्यायां चतुर्थप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः॥ १४॥

अथ वैश्वानरविद्यायां पञ्चमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः प्रारभ्यते।

अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैषवै बहुल आत्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोसि प्रजया च धनेन च॥ १॥

अब वैश्वानरविद्या के पञ्चम प्रपाठक में पन्द्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

उसके अनन्तर राजा कहता हुआ कि हे जन, शार्कराक्ष्य! तू किस आत्मा वैश्वानर को उपासता है इति, हे पूजा के योग्य, राजन्! आकाश को ही उपासता हूं इति, राजा ने कहा यहही बहुल नाम आत्मा वैश्वानर है जिसको तू आत्मा जानके उपासता है, तिस कारण से तू प्रजा अरु धन करके बहुल है॥ १॥

भावार्थ।

हे सौम्य! इन्द्रद्युम्न से कहने के अनन्तर राजा अश्वपति शर्कराक्ष के पुत्र ज़न नामवाले ऋषि से प्रश्न करता हुआ कि हे जन! तू किस आत्मा वैश्वानर को उपासता है। इस प्रकार जब राजा ने प्रश्नकिया तब वो ज़ननामवाला ऋषीश्वर कहता हुआ कि हे पूजा के योग्य,

राजन् ! मैं आकाश को ही वैश्वानर जानके उपासता हूं ॥
जब उस जननाम ऋषि ने कहा तब पुनः राजा कहता हुआ
जन ! यहही बहुल नामवाला आत्मा वैश्वानर है कि जि
आत्मा वैश्वानर जानके उपासता है । अरु तिस उपासना के ही
करके तू प्रजा अरु धनादि करके बहुल है ॥ १ ॥

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्य
ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते
हस्त्वेष आत्मन इति होवाच सन्देहस्ते व्यशीर्य्यद्यन्मां
नागमिष्य इति ॥ २ ॥**

इति वैश्वानरविद्यायां पञ्चम प्रपाठके पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ ।

जो इस भोक्ता वैश्वानर को उपासता है सो अति प्रिय
(भोग्य) को देखता (पावता) है उसका प्रिय होता है इसके
में तत्त्ववेत्ता कर्म्मिष्ठ होते हैं जो इसही आत्मा वैश्वानर को उ
है । यह आकाश तो वैश्वानर आत्मा का मध्य का शरीर है।
राजा कहता हुआ तेरा मध्य शरीर बिखर वा फट जाता जो तू मे
न आवता ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! पुनः वो राजा कहता हुआ कि हे जन ! (उक्त
नर की उपासनासे जो फल तुझको प्राप्त है सो तेरेही अर्थ हो
नहीं किन्तु) जो कोई इस सर्व अन्न के भोक्ता आत्मा वैश्वान
देखता कहिये उपासताहै सो अतिप्रिय भोग्य सामग्री को पावता
उसका सर्व प्रिय होता है, अरु उसके कुल में सर्वही तत्त्ववेत्ता
होते हैं, जो इसही आकाश वैश्वानर आत्मा को उपासते हैं
आकाश तो वैश्वानर आत्मा का मध्य (कण्ठसे नीचे कटि से
का शरीर है । पुनः राजा कहता हुआ कि मध्य का शरीर तेरा

वा फट जाता जो तू मेरे पास न आवता अतएव यह तैंने बहुत श्रेष्ठ किया जो तू मेरे निकट आया ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां पञ्चमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां षष्ठप्रपाठके षोडशः खण्डः ।

अथ होवाचबुडिलमाश्वतराश्विं वैय्याघ्रपद्यकंत्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वैरयिरात्मा वैश्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वछंरयिमान् पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

अब वैश्वानरविद्या के षष्ठप्रपाठक में सोलहवें खण्ड
का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

उसके अनन्तर राजा अश्वतरा के पुत्र बुडिलनामवाले ऋषि से प्रश्न करता हुआ कि हे व्याघ्रपद्य ! तू किस आत्मा को उपासता है इति, हे पूजा के योग्य, राजन् ! जल ही को (आत्मा वैश्वानर मान के उपासता हौं) इति, राजा कहताहुआ सो रयि (धन) नामवाला आत्मा वैश्वानर है, जिस आत्मा वैश्वानर को तू उपासता है, तिसके प्रभाव से तू धनवान् अरु शरीर से पुष्टिमान् है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! जननाम ऋषीश्वर से कहने के अनन्तर राजा अश्वपति अश्वतराश्व के पुत्र बुडिलनामवाले ऋषि से कहता हुआ कि हे व्याघ्रपद्य ! तू किस आत्मा वैश्वानर को उपासता है । इस प्रकार जब राजा ने प्रश्न किया तब वो, बुडिल कहता हुआ कि हे पूजा के योग्य, राजन् ! मैं जल को आत्मा वैश्वानर जानके उपासता हौं । इस प्रकार जब उस बुडिलने कहा तब पुनः राजा कहताहुआ कि । यह जल जो है सो रयिनामवाला आत्मा वैश्वानर है । रयिनाम धनका है अर्थात् जल से अन्न होता है अन्नसे धन होता है ॥ः—हे सौम्य ! जल शब्द का पर्याय

द्रव्य भी है अरु द्रव्य का पर्याय धन है अरु धन का नाम र
अतएव यहां जल को धननाम से कहा है, अरु जल जो है सो वैश्व
आत्मा का मूत्रस्थानरूप अवयव विशेष है ऐसा आगे कहेंगे
एतदर्थ जिसकी तू उपासना करताहै सो रयिनाम आत्मा वैश्वान
उसकी उपासनाके प्रभाव से तू धनवान् अरु शरीर करके पुष्टिमान्है।

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्य
ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते
स्तिस्त्वेष आत्मन इतिहोवाच वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्य
नागमिष्य इति ॥ २ ॥**

इति वैश्वानरविद्यायां षष्ठप्रपाठके षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अक्षरार्थ।

जो इस अन्नके भोक्ता वैश्वानर को उपासता है सो अतिप्रिय
(भोग्य) को देखता (पावता) है, उसका प्रिय होता है इसके
तत्ववेत्ता कर्मिष्ठ होते हैं जो इसही आत्मा वैश्वानर को उपासत
इस आत्मा का जल मूत्र संग्रहस्थान है इति। पुनः राजा कहत
तेरा मूत्रसंग्रह का स्थान भिन्न होजाता वा फट जाता जो तू
निकट न आवता ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! (पुनः वो राजा अश्वपति उस बुडिलनाम
कहता हुआ कि हे बुडिल! जलरूप वैश्वानर की उपासना से
धनवान् पुष्टिमान् होवे ऐसा नहीं किन्तु) जो अन्य कोई भी सर्व
के भोक्ता वैश्वानर को उपासता है सो भी धनादिक अतिप्रिय
(भोग्य पदार्थों) को पावता है, अरु उसका सर्वप्रिय (अभीष्ट
होता है, अरु उसके कुल में सर्वही तत्ववेत्ता परम कर्मिष्ठ होते
इसही जलरूप आत्मा वैश्वानर को उपासता है यह जो जल
वैश्वानर आत्माका मूत्रसंग्रह का स्थान (उपस्थ) है इतना

राजा कहताहुआ कि हे बुडिल! जो तू मेरे निकट न आवता तो तेरा मूत्रसंग्रह का स्थान भेदको पावता अर्थात् फटजाता, क्योंकि जिसको तू उपासता है सो समस्त वैश्वानर नहीं किन्तु समस्त वैश्वानर के स्वरूप से उसके जिस अवयव को पृथक् करके तू उपासना करता है सो अवयव तेरा तुझ से पृथक् होजाता। अतएव यह तैंने अतिश्रेष्ठ किया जो तू मेरे पास आया॥ २॥

इति वैश्वानरविद्यायां षष्ठप्रपाठके षोडशः खण्डः॥ १६॥

अथ वैश्वानरविद्यायां सप्तमप्रपाठके सप्तदशः खण्डः।

अथ होवाचौद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च॥ १॥

अब वैश्वानरविद्या के सप्तमप्रपाठक में सत्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

उसके अनन्तर अरुण के पुत्र उद्दालक के प्रति राजा कहताहुआ कि हे गौतम! किस आत्मा को तू उपासता है इति, हे पूजा के योग्य, राजन्! मैं पृथिवी को आत्मा वैश्वानर मानके उपासता हूं इति, राजा ने कहा यह ही प्रतिष्ठा आत्मा वैश्वानर है, जिसको तू उपासता है तिसके प्रभाव से तू प्रजा अरु पशु करके प्रतिष्ठित है॥ १॥

भावार्थ।

हे सौम्य! बुडिलऋषि से कहने के अनन्तर वो राजा अश्वपति अरुण के पुत्र उद्दालक नाम ऋषि से कहताहुआ कि हे गौतमगोत्रवाले, उद्दालक! तू किस आत्मा वैश्वानर को उपासता है। इस प्रकार जब राजा ने प्रश्न किया तब वो उद्दालक कहता हुआ कि हे पूजा के योग्य, राजन्! मैं पृथिवी को वैश्वानर जानके उपासता हौं। इसे

प्रकार जब उद्दालक ने कहा तब पुनः राजा कहताहुआ कि यह पृ
ही प्रतिष्ठा (पाद) हैं वैश्वानर आत्मा के, इस आत्मा वैश्वान
तू उपासता है, उस उपासना के ही प्रभाव से तू इस लोक बिषे पु
अरु पशु आदिकों करके प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्य
ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पा
दस्त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां य
नागमिष्य इति ॥ २ ॥**

इति वैश्वानरविद्यायां सप्तमप्रपाठके सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अक्षरार्थ ।

जो इस अन्नके भोक्ता वैश्वानर को उपासता है सो अतिप्रिय
(भोग्य) को देखता (पावता) है, उसका प्रिय होता है, इसके
में तत्त्ववेत्ता कर्मिष्ठ होते हैं, जो इसही आत्मा वैश्वानर को उप
है यह पृथिवी पाद है आत्मा वैश्वानर को इति, पुनः राजा कहता
पाद तेरे शिथिल होजाते तू मेरे निकट न आवता ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! वो राजा अश्वपति उद्दालक से पुनः कहता हुआ
इस पृथिवीरूप वैश्वानर की उपासना से तू ही प्रजा अरु पशु
प्रतिष्ठित होवे ऐसा नहीं किन्तु और भी जो कोई इस सर्व अ
भोक्ता वैश्वानर को उपासता है सो भी अतिप्रिय अन्न (भोग्य प
को देखता कहिये प्राप्त होता है। अरु उसका सर्वप्रिय (अभीष्ट
होता है। अरु इसके कुल में सर्वतत्त्ववेत्ता परमकर्मिष्ठ होते
इसही पृथिवीरूप आत्मा वैश्वानर को उपासता है, अरु यह पृ
आत्मा वैश्वानर के पाद हैं। इतना कहके पुनः राजा कहता हु
हे गौतम ! यह तेरे पाद शिथिल होजाते जो तू मेरे पास न अ
अर्थात् यह पृथिवी समस्त वैश्वानर नहीं किन्तु वैश्वानर के

अवयव है तिसको तैंने समस्त वैश्वानर से पृथक् कर उस एक पादरूप अवयव को समस्त वैश्वानर का रूप जान उपासना किया है ताते तैंने समस्त वैश्वानर के एक अङ्ग को पृथक् कर उपासना किया तिस अज्ञान करके तेरा पादरूप अङ्ग नष्ट होजाता जो मेरे निकट न आवता ताते तैंने अतिश्रेष्ठ किया जो मेरे निकट आया ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां सप्तमप्रपाठके सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायामष्टमप्रपाठकेऽष्टादशः खण्डः।

तान् होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानंवैश्वानरंविद्वाछंसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

अब वैश्वानरविद्याके सप्तमप्रपाठक में अष्टादश खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

तिन सर्व ऋषियों के प्रति राजा कहताहुआ एते तुम सर्वही निश्चय करके पृथक् इव आत्मा वैश्वानर को (जो अपृथक् है) परिच्छिन्न बुद्धिसे उपासते हो। अरु इस उक्त प्रकार अवयवों युक्त एक प्रादेशमात्र (सर्व अवयवों में एक अवयवी) अपने से अभिन्न जानके आत्मा वैश्वानर को जो उपासता है सो सर्वलोकों बिषे सर्वभूतों बिषे सर्व आत्मों बिषे अन्न को भोक्ता है ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्त प्रकार राजा जैवलि ने प्राचीनशाल आदि छओं ऋषि 'जो वैश्वानर आत्मा के सम्यक् ज्ञानार्थ उक्त राजा के समीप विधिवत् प्राप्तहुए हैं, तिनसे एक २ करके क्रमसाध्य वैश्वानर की उपासनासम्बन्धी उनकी परीक्षा के लिये प्रश्नकिये, तब उन प्रत्येक के उत्तर में उनको वैश्वानर के पृथक् २ एक २ अङ्ग के उपासकजान उनकी उपासना के अनुसार उनको प्राप्त फल देखाया, अरु उन सर्वको समस्त

वैश्वानर के स्वरूप का ज्ञान न होनेसे अरु वैश्वानर के एक २ अवयवको समस्त वैश्वानर जानके उपासना करने से। अर्थात् समस्त वैश्वानर के स्वरूपको न जानके उसके जिस २ अवयवों को पृथक् २ करके जिस उन २ अवयव को समस्त वैश्वानर मानके उपासना किया तिस उस २ अवयव का अभाव होना, अपने समीप न आवने से कहा। अब उन छओं ऋषियोंसे जो उक्तप्रकारके वैश्वानर के उपासक हैं वैश्वानर के सम्यक्ज्ञानार्थ राजा के निकट प्राप्तहुए हैं, तिनके प्रसिद्ध वो वैश्वानर का सम्यक् उपासक राजा कहताहुआ कि यह तुम्हारे सर्व की उपासना है सो निश्चय करके (मिथ्या ज्ञानवान् से) अनर्थकारी है (क्योंकि तुमने समस्त वैश्वानर के स्वरूप जानके उसके एक २ अवयव को उस से पृथक्कर उसही को वैश्वानर मानके उपासना किया है, अतएव उस अज्ञान के प्रभाव तुम्हारा सोई सो अवयव, कि वैश्वानर के जिस २ अवयव को पृथक्कर उपासना किया है, नष्ट होजाता, जो समस्त वैश्वानर के सम्यक् ज्ञानार्थ मेरे निकट न आवते—: ॥ क्योंकि तुमने वैश्वानर को अपृथक् होते सन्ते भी पृथक् मानके उपासना किया सो (अविद्वानोंवत्) वैश्वानर में परिच्छिन्न बुद्धि से किया है जैसे जन्म के अन्धे पुरुष एक अपरिच्छिन्न हस्तीबिषे परिच्छिन्न करके उसके एक २ अवयव को समस्त हस्तीमाने तैसे॥:—अर्थात् किसी ग्राम में बहुत से जन्म के अन्धपुरुष रहते रहैं उस ग्राम में हस्ती आय प्राप्तहुआ तब उस हस्ती को देखने को सर्व अन्ध एकत्र होय उसके समीप जाय अपने नेत्रों के अभाव से अपने हाथ से उसको स्पर्शकर उस हस्ती को अयथार्थ अनुभव करतेहुए, तहां जिसने उसकी सूंड़ को स्पर्श करके देखा उसने कहा यह हस्ती तो मूसल के समान है, अरु जिसने उसके पैर को स्पर्श करके देखा कहा हस्ती स्तम्भ के आकार है, जिसने उसके मध्यशरीर को स्पर्श देखा तिसने कहा यह हस्ती भीत वा पर्वत के आकार है, उसकी पुच्छ को स्पर्श करके देखा तिसने कहा हस्ती पुष्ट रज्जु

जिसने उसके कान को स्पर्श करके देखा उसने कहा यह हस्ती तो सूप के आकारवाला है। इस प्रकार एक अभिन्न हस्ती को अन्धों ने अपनी २ कल्पना के अनुसार अनेकरूप से भिन्न २ जाना अरु उसके एक २ अवयव को पूर्ण हस्ती करके माना॥ तैसेही तुम सर्व ने ज्ञानरूप चक्षु के अभाव से एक अभिन्न परिपूर्ण वैश्वानर आत्मा के एक२ अवयव को समस्त वैश्वानर का स्वरूप मानके पृथक् २ उपासना किया है-:॥ अरु यह वैश्वानर आत्मा तो यथोक्त द्युलोकादिरूप मूर्द्धादि अवयव विशिष्ट एक प्रादेशमात्र है, अर्थात् द्युलोक मूर्द्धादि लेके पृथिवीरूप पादपर्यन्त आत्मरूप से जो जानेगा जानाजाय तिसको प्रादेशमात्र कहते हैं। अथवा मुखादि करणों बिषे वा करणों से अकर्त्तारूप से जानाजाय वा अनुभव कियाजाय सो प्रादेशमात्र है। अथवा द्युलोक से पृथिवीपर्यन्त प्रदेश परिमाण जो व्याप्त होवे सो कहिये प्रादेशमात्र। अथवा जो प्रकर्ष करके शास्त्रद्वारा आदेश किया जो द्युलोकादि तावत् परिमाण जो होय सो कहिये प्रादेशमात्र॥ :-अर्थात् द्युलोक कहिये ब्रह्मलोक से पृथिवी वा पातालपर्यन्त सर्वविराट्रूप शरीर के अन्तर आकाशवत् पूर्णतासे व्याप्त जो विराट्का चैतन्य आत्मा सोई वैश्वानर आत्मा है। अरु तिसको समस्त विराट्रूप वपु में व्याप्त होने से अरु वेद करके प्रतिपाद्य होने से प्रादेशमात्र कहते हैं-:॥ अरु शाखान्तर में "मूर्द्धादिचिबुकप्रतिष्ठ" मस्तक के अग्रभाग से चिबुक (ठोड़ी) पर्यन्त को प्रादेशमात्र कहते हैं, सो अस्तु, परन्तु यहां सो ग्रहण नहीं, क्योंकि आगे "तस्य हवा एतस्य आत्मनः" इस वाक्य से उपसंहार है ताते। अरु (उस विराट्विशिष्ट चैतन्य वैश्वानर आत्मा को) प्रत्यगात्मा करके जानना। इस को अभिमान। कहते हैं॥:- अर्थात् जो द्युलोक से पातालपर्यन्त समस्त विराट्रूप समष्टि शरीर में एक भोक्ता वैश्वानर आत्मा है, सो आत्मा वैश्वानर मैं हूं इसप्रकार-:॥ जैस इस आत्मा वैश्वानर को। अर्थात् विश्व के समस्त नरों (जीवों) को उनके पुण्य पापरूप कर्मों के अनुसार गति को प्राप्त करे उसको कहिये वैश्वानर। यह सर्वात्मा ईश्वर वैश्वानर है। अथवा सर्वात्मत्व

होने से वैश्वानर है। अथवा जो आत्मरूप करके समस्त विश्व के नरों (जीवों) का विभागकर तिनके प्रत्यगात्मरूप से स्थित है, सो कहिये वैश्वानर। ऐसे समस्त विश्व के एक अभिन्न प्रत्यक् वैश्वानर को अभेदभाव से कि सो वैश्वानर आत्मा मैं हौं। इस अहमग्रे भाव से जो उपासना करता है सो द्युलोकादि सर्वलोकों अरु चराचर सर्वभूतों बिषे अरु शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदिकों बिषे, अर्थात् ॥ :—शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिक को पाँच विभाग से पाँच कोश करके जहां वर्णन किया है तहां कोशों को आत्मा करकेही कहा है क्योंकि जो जिसके अन्तर उसका आत्मा है, तहां बाह्यगृह के अन्तर अरु धारक होने का आत्मा शरीर है, शरीर के अन्तर प्राण है ताते सो शरीर का आत्मा है, प्राण के अन्तर मन है ताते सो प्राण का आत्मा है, मनके अन्तर बुद्धि है ताते सो मन का आत्मा है, इस प्रकार शरीर से बुद्धि पर्यन्त सर्व को आत्मत्व कहा—: ॥ इस प्रकार एक सर्वात्मा वैश्वानर का उपासक सर्वात्माहुआ सर्वमें स्थितहोय सर्व अन्नका भोक्ता है॥ द्युलोक से पाताल पर्यन्त के प्राणीमात्र जो अन्न भोक्ते हैं, वैश्वानर आत्मा का अभेद उपासकही सर्वात्माहुआ भोक्ता है, जो सर्वात्मा वैश्वानर के न जाननेवाला अज्ञ केवल शरीर ही परिच्छिन्न अभिमानी है सो नहीं ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा श्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ, उदरएव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचनआस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायामष्टमप्रपाठकेऽष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

अक्षरार्थ।

उस प्रसिद्ध वा इस प्रकृत आत्मा वैश्वानर का सुतेजा (द्युलोक) मस्तकही है, आदित्य चक्षु है, वायु प्राण है, आकाश मध्य

है, जल मूत्र का स्थान है, पृथिवी पाद है (ऐसे वैश्वानर के अभेद उपासक का भोजनकाल का अन्तर अग्निहोत्र कहते हैं, तहां) उसका उदर वेदी है उदर के रोम दर्भ (कुशा) हैं हृदय गार्हपत्य अग्नि है मन दक्षिणाग्नि है, मुख आहवनीय अग्नि है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! :– पुनः वो राजा अश्वपति प्राचीनशालआदिक ऋषियों के प्रति समस्त वैश्वानर का स्वरूप कहता हुआ कि जिसकी जिज्ञासा से वो ऋषि विधिवत् उसके पास प्राप्त हुए हैं –: ॥ हे ब्राह्मणो ! उस प्रसिद्ध सर्वात्मा वैश्वानर का सुतेजा नामवाला द्युलोक (सत्यलोक) मस्तकही है, अरु विश्वरूपनामवाला आदित्य उसका चक्षु है, अरु 'पृथग्वर्त्मात्मा' इस नामवाला वायु उसका प्राण है, अरु बहुलनामवाला आकाश उसका मध्य का शरीर है, अरु रयिनामवाला जल उसका मूत्रसंग्रह का स्थान (उपस्थ) है, अरु पृथिवी उसके पाद हैं ॥ इस प्रकार विराट्रूप शरीर के छओं अङ्गों में व्याप्त जो एक चैतन्यआत्मा तिसकी । उसकी उपासना के लिये उपासकों प्रति विधि के अर्थही राजाका यह वचन है [अर्थात् राजा ने उन ऋषियों के प्रति प्रधान वैश्वानरविद्या कही, अब आगे तिसका अङ्गभूत प्राणाग्निहोत्रविद्याविधि, अरु तिसका फल, देखावने की कामना से भूमिका करते (कहते) हैं] ॥:–अर्थात् जो समष्टि विराट्शरीर के उक्त सर्वअवयवों में व्याप्त जो एक चैतन्य आत्मा वैश्वानर है । सोई व्यष्टि शरीर के मस्तकादि पादपर्यन्त व्याप्त भी सोई चैतन्य आत्मा वैश्वानरहै, ताते व्यष्टि, समष्टि उभय उपाधि में व्याप्त एकचैतन्य आत्माहै, ताते वैश्वानर के उपासक को अभेद उपासना कर्त्तव्य है, कि जिसको अहमग्रे उपासना कहते हैं । अर्थात् जैसे वैश्वानर आत्मा समष्टि विराट्का है सोई मैं व्याष्टि विराट् का आत्मा मैं हौं, इसप्रकार के अभेद अनन्य उपासकके लिये प्राणाग्निहोत्रविधि कहते हैं–: ॥ राजा अश्वपति उन ऋषियों प्रति कहताहुआ कि उक्तप्रकार के वैश्वानर के भोजनकाल में प्राणाग्निहोत्र की विधि श्रवणकरो । उक्त प्रकार के उपासक का जो उदर है सोई वेदी है

आकार की सामान्यता होने से अरु उदर के ऊपर के जो रोम हैं
(कुशा) हैं, जैसे वेदी (हवन की सामग्री के रखने का स्थान
कुशास्तरण (बिछी) होती है तैसे, अरु उस उपासक का हृदय
पत्य अग्नि है, अरु मन प्रजापति नामवाला वा दक्षिणाग्नि ना
अग्नि है ॥:— अर्थात् "गार्हपत्यात्प्रणीयते"। इस श्रुति के प्र
दक्षिणाग्नि जो है सो गार्हपत्याग्नि से निकला होता है। तैसे
रूप दक्षिणाग्नि हृदयरूप गार्हपत्याग्नि से निकला होने से मन
णाग्नि है—:॥ अरु उस उपासक का मुख आहवनीय अग्नि है॥
वनीय उसको कहते हैं कि जिस बिषे हवन कियाजाय। अग्नि
हवन की आहवनीय अग्नि है ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायामष्टमप्रपाठकेऽष्टादशः खण्डः ॥ १८॥

अथ वैश्वानरविद्यायां नवमप्रपाठके एकोनविंशः खण्डः।

**तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳ स यां प्रथ
हुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राण
ति ॥ १ ॥ प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृ
दित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृ
यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति
नुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्र
सेनेति ॥ २ ॥**

इति वैश्वानर विद्यायां नवमप्रपाठके एकोनविंशः खण्डः ॥ १

अब वैश्वानर विद्याके नवमप्रपाठक में उन्नीसवें खण्ड का आरम्भ

भावार्थ ।

हे सौम्य! (अब राजा अश्वपति प्राचीनशालादि ऋषियों
प्रकार के वैश्वानरविद्या के उपासकों के लिये भोजनकाल में
ग्निहोत्र कहता है) हे ब्राह्मणो! तहां इस (उक्त) प्रकार
जो उस विद्वान् के भोजनकाल में भोजनार्थ भोजनपात्र में प्रथ

होवे सो होम के लिये है ॥ :—अर्थात् सामान्यरीति से वर्णत्रयी के पुरुषों के अरु अर्थविशेष करके अग्निहोत्र के कर्त्ता वैश्वानर के उपासक के लिये उनके भोजनकाल में भोजन के पात्र में प्रथम वो अन्न आवना चाहिये जिसमें लवण का योग संस्कार न होय, तहां विशेष करके प्रायः घृतयुक्त ओदन (भात) भोजनपात्र में प्रथम आवना चाहिये क्योंकि सो हवन का मुख्य द्रव्य है —: ॥ तिसका हवनकरना। यह जो कथन है सो अग्निहोत्रसम्पन्न के लिये विवक्षित होनेसे अग्निहोत्राङ्ग बिषे कर्त्तव्यता की प्राप्ति नहीं। इस भोजनकाल में प्रथम प्राप्त हुए अन्न को सो भोक्ता इस प्रथम आहुतिको हवनकरे॥ प्र० ॥ तिस आहुति को कैसे हवन करे ॥ उ० ॥ "प्राणाय स्वाहा" इस मन्त्र करके आहुति करे। अर्थ यह जो आहुतिशब्द करके अवदानमात्र अन्न को मुख में डाले ॥:—अर्थात् वो विद्वान् भोजनार्थ प्रथम प्राप्त हुए उक्तप्रकार के अन्नको अंगुष्ठ मध्यमा अरु अनामिका, इन तीन अंगुली की पूर्ण चुटकी से ग्रासमात्र ग्रहण कर उक्त मन्त्रपद मुखमें डाले, अरु उसको दांतों से चबाये विना कण्ठ में उतारलेवे—: ॥ तब तिस आहुति से प्राण तृप्त होताहै ॥ १ ॥ प्राण के तृप्तहुए चक्षु तृप्त होताहै। चक्षुके तृप्तहोने से आदित्य तृप्त होता है, आदित्य के तृप्तहुए द्युलोक तृप्त होताहै। द्युलोक के तृप्त हुए जो कुछ द्यौ अरु आदित्यबिषे तिसके अधिष्ठातादि अधिष्ठित हैं सो तृप्त होते हैं तिनके तृप्त होने से उस हवनकर्त्ता की (बाधितानुवृत्तिप्रमाण) अनुतृप्ति होती है, इस प्रकार प्रत्यक्ष है। प्रजा करके पशु करके अन्नादि पुनः शारीरिक तेज करके अरु अपने वेदशाखा के स्वाध्याय करने से बुद्धि के तेज करके इस उक्तप्रकार के प्राणाग्निहोत्र के कर्त्ता की तृप्ति होती है ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां नवमप्रपाठके एकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां दशमप्रपाठके विंशः खण्डः प्रारभ्यते।

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥ व्याने तृप्यतिश्रोत्रंतृप्यति श्रोत्रे

तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसितृप्यति दिश
न्ति दिक्षुतृप्यतीषु यत्किञ्च दिशश्चचन्द्रमाश्चाधि
न्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि
द्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां दशमप्रपाठके विंशः खण्डः ॥ २० ॥

अब वैश्वानरविद्या के दशमप्रपाठक में बीसवें खण्ड का आरम्भ क

भावार्थ ।

हे सौम्य! (पुनः वो राजा अश्वपति कहताहुआ है ब्राह्म तिस प्रथम आहुति के अनन्तर द्वितीय आहुति को हवनकरे ॥ कैसे आहुतिकरे ॥ उ० ॥ "व्यानाय स्वाहा" इस मन्त्र से आहु उस आहुति से व्याननाम प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥ व्यान के श्रोत्र तृप्तहोता है, श्रोत्र के तृप्तहुए चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा हुए दिशायें तृप्त होतीं हैं ॥:—अर्थात् व्यान के तृप्त हुए श्रोत्र तृ है श्रोत्र के तृप्तहुए तदभिमानी दिशायें तृप्त होती हैं, दिशाओं के तत्सम्बन्धी चन्द्रमा तृप्तहोताहै—:॥ दिशाओं के तृप्तहोनेसे जो दिशाओं बिषे अरुचन्द्रमा बिषे उनके स्वामित्वभावसे (अरुप्रजासे) ष्ठित हैं उनकी तृप्ति होती है। उनकी तृप्तिसे (बाधितानुवृत्तिप्रमाण भोक्ता विद्वान् की तृप्तिहोती है। प्रजा करके पशु करके अन्नादि दार्थों करके, अरु शारीरिक तेज करके अरु अपने वेदशाखा के स्वा निमित्तिक बुद्धि के प्रकाश करके (उस विद्वान् की तृप्ति होतीहै)॥

इति वैश्वानरविद्यायां दशमप्रपाठके विंशःखण्डः ॥ २० ॥

अथ वैश्वानरविद्यायामेकादशप्रपाठके एकविंशः खण्डः।

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहे
नस्तृप्यति॥१॥अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि
त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथि
तृप्यत्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्त

ति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायामेकादशप्रपाठके एकविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

अब वैश्वानरविद्या के एकादशप्रपाठक में इक्कीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (पुनः वो राजाअश्वपति प्राचीनशालादि ऋषियों के प्रति कहता हुआ कि हे ब्राह्मणो !) द्वितीय आहुति के अनन्तर, इस तृतीय आहुति को हवनकरे ॥ प्र० ॥ किसप्रकार हवन करे ॥ उ० ॥ "अपानाय स्वाहा" इस मन्त्र करके आहुति करे, तिस आहुति से अपान नाम प्राण तृप्तहोता है ॥ १ ॥ अपान के तृप्तहुए वाक् तृप्तहोती है, वाक् के तृप्तहुए अग्नि तृप्तहोता है, अग्नि के तृप्तहुए पृथिवी तृप्तहोती है, । पृथिवी के तृप्तहुए जो कुछ पृथिवी अरु अग्नि बिषे अधिष्ठातादिरूप से अधिष्ठित है सो तृप्त होताहै । तिनके अनुतृप्त होने से (बाधितानुवृत्ति प्रमाण) वो भोक्ता विद्वान् तृप्त होता है, प्रजा करके पशुकरके अन्नादि भोग्य पदार्थों करके अरु शारीरिक तेज करके अरु अपने वेदशाखा के स्वाध्यायनिमित्तिक विद्या के तेज करके (वो विद्वान्) तृप्तहोता है ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायामेकादशप्रपाठके एकविंशःखण्डः ॥ २१ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां द्वादशप्रपाठके द्वाविंशः खण्डः प्रारभ्यते ।

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥ समानेतृप्यति मनस्तृप्यति, मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति, पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यत्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति, प्रजयापशुभिरन्नाद्येनतेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां द्वादशप्रपाठके द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

अब वैश्वानरविद्या के द्वादशप्रपाठक में बाईसवें खण्ड
आरम्भ करते हैं ।

भावार्थ ।

हे सौम्य! (पुनः वो राजा अश्वपति प्राचीनशालादि
प्रति कहता हुआ कि हे ब्राह्मणो !) तृतीय आहुति के अन
चतुर्थ आहुति को हवन करे ॥ प्र० ॥ तिसको कैसे हवनको
"समानाय स्वाहा" इस मन्त्र से आहुति करे, तिस करके सम
वाला प्राण तृप्तहोता है ॥ १ ॥ तिस समान के तृप्तहुए मन
है, मनके तृप्तहुए पर्जन्य तृप्तहोता है, पर्जन्य के तृप्तहुए वि
होता है, विद्युत् के तृप्तहुए जो कुछ पर्जन्य अरु विद्युत् बिषे
अरु प्रजाभाव से अधिष्ठित है सो तृप्तहोता है, उनकी अनुतृ
भोक्ता विद्वान् तृप्तहोता है, प्रजा करके पशु करके अन्नादि भो
करके अरु शारीरिक तेजकरके अरु अपने वेद शाखाके स्वाध्या
के प्रभावसे तज्जन्य अर्थ प्रकाश करके (वो विद्वान् तृप्तहोता है)

इति वैश्वानरविद्यायां द्वादशप्रपाठके द्वाविंशःखण्डः ॥ २२

अथ वैश्वानरविद्यायांत्रयोदशप्रपाठकेत्रयोविंशःखण्डः।

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वा
दानस्तृप्यति ॥१॥ उदाने तृप्यति वायुस्तृप्यति,
तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किञ्च वा
काशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्य
जया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २

इति वैश्वानरविद्यायां त्रयोदशप्रपाठके त्रयोविंशः खण्डः ॥

अब वैश्वानरविद्या के तेरहवें प्रपाठक में तेईसवें खण्डका आरम्भ कर

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (उक्त प्रकार कहके पुनः वो राजा अश्वपति उन

शालादि ऋषियों से कहता हुआ कि हे ब्राह्मणो!) चतुर्थी आहुति के नन्तर पांचवीं आहुति को हवनकरे ॥ प्र० ॥ कैसे हवनकरे ॥ उ० ॥ उदानाय स्वाहा" इस मन्त्र करके आहुति करे उस आहुति से उदान त होता है ॥ १ ॥ उदान के तृप्त हुए वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त ए आकाश तृप्त होता है, आकाश के तृप्तहुए जो कुछ आकाश अरु ायु बिषे अधिष्ठाता अरु प्रजारूप से अधिष्ठित हैं सो सर्व तृप्तहोते हैं; रु तिसकी अनुतृप्ति से वो प्राणाग्निहोत्र का कर्त्ता सर्वत्र अन्न का ोक्ता विद्वान् तृप्त होता है ॥ प्र० ॥ किस करके तृप्तहोता है ॥ उ० ॥ त्रादि प्रजाकरके, गौ आदि पशुओं करके अन्न अरु सुवर्णादि द्रव्य ोग्यपदार्थों करके अरु नीरोगतादिनिमित्तिक शारीरिक तेजकरके अरु अपने वेदशाखा के स्वाध्यायजन्य वैश्वानरादि विद्या के सम्यक् ज्ञान-निमित्तिक बुद्धि के तेजकरके (वो उक्त प्रकार वैश्वानर आत्मा के सम्यक्ज्ञानपूर्वक प्राणाग्निहोत्र का कर्त्ता विद्वान् तृप्तहोताहै) ॥ २ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां त्रयोदशप्रपाठके त्रयोविंशःखण्डः ॥ २३ ॥

अथ वैश्वानरविद्यायां चतुर्दशप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः ॥

सयइदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्यभस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥

अब वैश्वानरविद्या के चौदहवेंप्रपाठक में चौबीसवें खण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

सो जो इस वैश्वानरविद्या वा प्राणाग्निहोत्र का न जाननेवाला अग्निहोत्र को करता है सो जैसे आहुति करने के योग्य अङ्गार तिनको त्यागके राख में आहुति करता होय तादृश तिसका होता है ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! (पुनः वो वैश्वानरविद्या का सम्यक्ज्ञाता राजा अश्वपति उन प्राचीनशालादि ऋषि, जो वैश्वानरविद्या की सत्य जिज्ञासा धारके उस राजा के समीप प्राप्तहुए, उनके प्रति कहताहुआ कि हे

ब्राह्मणो!) सो जो कोई इस उक्तप्रकार की वैश्वानरविद्याकी अ
पूर्वक प्राणाग्निहोत्र को न जानता हुआ इस केवल कर्मरूप अ
को करता है, सो जैसे आहुति करने के योग्य प्रज्वलित अग्नि
त्याग के भस्म में आहुति करनेवत् उसका सो अग्निहोत्र होता
अर्थात् वैश्वानरविद्या के सम्यक् ज्ञान विनाका अरु उक्तप्रका
णाग्निहोत्र के किये विना का जो केवल प्रसिद्ध अग्निहोत्र है
में आहुति करनेवत् निष्फल है अरु इस न्याय करके यह सिद्ध
जो पुरुष इस प्रसिद्ध अग्निहोत्र को न करके वैश्वानरविद्या
पूर्वक प्राणाग्निहोत्र को उक्तप्रकार करता है तिसको प्रसिद्ध अ
कि जिसके न करनेमें प्रत्यवाय है, न करने का प्रत्यवाय न होके
प्राप्ति सिद्ध है ॥ यहां जो प्रसिद्ध अग्निहोत्र की निन्दा किया
वैश्वानरविद्याके जाननेवाले विद्वान् के अग्निहोत्रकी अपेक्षासे है

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति॥ २

अक्षरार्थ।

जो उक्त प्रकार के अविद्वान् से इतर, इस उक्तप्रकार अग्निहोत्र को हवन करता है उसका सर्वलोकबिषे, सर्वभूतों बिषे आत्मों बिषे हवन कियाहुआ होता है ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्तप्रकार कहके पुनः राजा अश्वपति वैश्वानर के ज्ञाता विद्वान् के प्राणाग्निहोत्र की प्रशंसा करता है कि हे ब्रा इस वैश्वानरविद्या के न जाननेवाले अविद्वान् से इतर जो उक्त वैश्वानरविद्या के सम्यक्ज्ञानपूर्वक प्राणाग्निहोत्र के करनेवाले लोकोंबिषे सर्वभूतोंबिषे सर्वआत्मोंबिषे हवन किया होताहै॥ उक्त प्रकारका जो वैश्वानर आत्मा का अभेद उपासक है सो होने से सत्यादि सर्वलोकोंबिषे ब्रह्मादि सर्वभूतोंबिषे अर्थात् रियों बिषे अरु शरीर इन्द्रिय मन बुद्ध्यादि (अनात्मरूप) आत्मा

अर्थात् अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्म तीनोंप्रकार का जगत् जहां पर्यन्त सूत्रात्माबिषे प्रोत है वा जिन २ बिषे प्राणरूप सूत्रात्मा की व्याप्तिहै, तिन २ बिषे वो सर्वत्र हवन करनेवाला होनेसे सर्वत्र उसही का किया हवन होता है ॥ :—अर्थात् यावत् नामरूपक्रियात्मक जगत् है सो सर्व प्राणरूप सूत्र आत्मा में माला को मणियोंवत् पिरोयाहुआ है अरु उस सूत्रविशिष्ट चैतन्य साक्षी आत्मा सर्वका भोक्ता वैश्वानरनाम से व्याप्तहै उसका जो सम्यक् अभेद उपासक है उसको सर्वात्मा होने से वो सर्वत्र प्राणाग्निहोत्र का कर्त्ता अरु सर्वत्र सर्व अन्न का भोक्ता होता है ॥ अरु इस वैश्वानरविद्या को कृष्ण भगवान् ने भी प्रकाशित किया है, " अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तो पचाम्यन्नं चतुर्विधम् " इस वाक्य से । अरु राजा युधिष्ठिर के वनवास में साठ हज़ार ऋषियों सहित दुर्वासा के भोजनार्थ आगमन समय श्रीकृष्णने शाक का एकपत्र भोजनकर उक्त सर्वऋषियों को पूर्णता से तृप्तकिया, सो अपना ईश्वरपना और प्राणाग्निहोत्र की महिमा देखाया है ॥ २ ॥

तद्यथेषीका तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवथं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

सो जैसे इषीका (सेंठा) रुई अग्नि के डालने से अतिशीघ्र भस्म होती है तैसेही जो विद्वान् इस उक्तप्रकार अग्निहोत्र को करता है उसके सर्व पाप अतिशीघ्र भस्म होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (उक्त प्रकार वैश्वानरविद्या के सम्यक् ज्ञाता विद्वान् के प्राणाग्निहोत्र की प्रशंसा स्तुति कह पुनः वो राजा कहताहुआ कि हे ब्राह्मणो !) सो जैसे इषीका कहिये ' सिरकी वा सेंठा वा सरकण्डा ' नामक तृणविशेष की रुई (अर्थात् सिरकी नाम तृणविशेष शरदऋतु में जब फूलता है सो उसका पुष्प रुई के सदृश होता है) तिसबिषे

जब अग्नि लगावते हैं तब वो अतिही शीघ्र भस्म होजाता है। इस सर्वात्मभाव को प्राप्तहुए उक्त प्रकार वैश्वानर आत्मा के उपासक विद्वान् के ' जो उक्त प्रकार के प्राणाग्निहोत्र का कर्त्ता सर्व अन्न का भोक्ता है उसके अनेक जन्मों के संचित धर्माधर्म रूप निर्विशेष पाप, अरु पुनः इस जन्म में ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व इस से किये जे धर्म्माधर्म्म लक्षणरूप कर्म, अरु पुनः ज्ञानोत्पत्ति के ज्ञानके सहित होनेवाले कर्म्म, सो सर्व कथित दृष्टान्त प्रमाण आत्मा के सम्यक् ज्ञान होनेमात्र से ही अतिशीघ्र भस्म हो "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा "। परन्तु जिन कर्मों वर्त्तमान शरीर का आरम्भ किया है अरु जिन कर्मों ने इस शरीर से अपना फल भोग देनाहै सो कर्म भस्म होते नहीं, वो फल देके निवृत्त होते हैं ॥ :—अर्थात् उक्त प्रकार सम्यक् सर्वा को प्राप्तहुए ज्ञानी के अनेक जन्मों के किये अरु ज्ञानोत्पत्तिसे जन्म के किये सर्व संचित कर्मोंका नाश उक्तज्ञान उत्पन्न होनेमा नष्ट होते हैं। अरु सम्यक् ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् कर्त्तव्य अव नहीं, अरु यावत् शरीर तावत् जे ज्ञानोत्पत्ति के उत्तर कर्म होते अभिमान से अरु फल की इच्छा से रहित होने से वो कर्म न होते हैं। अरु विद्वान् के प्रारब्धकर्म * अपना फल भोगाय समा हैं। अतएव ज्ञानी के जन्मारम्भक संचितादि सर्व कर्मों के भस्म पुनः जन्म पावता नहीं—: ॥ ३ ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चाण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छे निहैवास्य तद्वैश्वानरेहुतᳬस्यादितितदेषश्लोकः ॥

अक्षरार्थ ।

तिसकारणसे ही प्रसिद्ध इस प्रकारका विद्वान् यद्यपि (उच्छिष्ट देने के योग्य चाण्डाल) उस चाण्डाल को उच्छिष्ट

* प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति श्रुतेः ।

सो प्रसिद्ध ही इसका आत्मा वैश्वानरबिषे हवन किया होता है इति तहां यह श्लोक ' मन्त्र ' प्रमाण है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (वो राजा अश्वपति उक्त प्रकार सर्व कहके पुनः उक्त प्रकार के विद्वान् के उस उक्त अग्निहोत्र का असाधारण माहात्म्य कहताहुआ) हे ब्राह्मणो ! जो इस कथित प्रकार वैश्वानर विद्या का ज्ञाता विद्वान् उक्त प्रकार प्राणाग्निहोत्र करता है, अर्थात् उक्त प्रकार अन्न को भोगता है, सो जो कदापि चाण्डाल को ' जो कि उस विद्वान् के उच्छिष्ट का अधिकारी नहीं, यदि उसको भी वो विद्वान् अपना उच्छिष्ट देवे ' जो कि उस चाण्डाल को देना प्रतिषिद्ध है तो भी उस विद्वान् करके दिया उच्छिष्ट अन्न सो प्रसिद्धही इस चाण्डाल देहस्थ आत्मा वैश्वानरबिषे सो अन्न आहुति किया होता है, अधर्म का निमित्त होता नहीं ॥ः—अर्थात् कर्मिष्ठ ब्राह्मण का उच्छिष्ट अन्न चाण्डाल को देना दोष है परन्तु उक्त वैश्वानरविद्या का ज्ञाता प्राणाग्निहोत्र का कर्त्ता विद्वान् जो कदापि अपना उच्छिष्ट अन्न अनधिकारी चाण्डाल को देवे तो वो उसका दिया अन्न अधर्म का निमित्त न होके चाण्डाल देहस्थ वैश्वानर बिषे आहुति किया होताहै—ः ॥ यह श्रुति का कथन वैश्वानरविद्या की स्तुति के लिये है । अरु इस स्तुतिवाक्य बिषे अग्रिम कहने का मन्त्र प्रमाण है ॥ ४ ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

इति वैश्वानरविद्यायां चतुर्दशप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषादि पञ्चमः प्रपाठकः ॥ ५ ॥

———o———

अक्षरार्थ ।

जैसे इस लोकबिषे क्षुधावन्त बालक अपनी माता को उपासते हैं ।

तैसेही इस प्रकार सर्वभूत (प्राणधारी) अग्निहोत्र को उपासे
यहां जो द्वोबार कथनहै सो विद्याकी वा प्रपाठक (अध्याय) की
के लिये है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (उक्त प्रकार राजा अश्वपति प्राचीनशाल आदि
ऋषियों प्रति समस्त वैश्वानरविद्या ' कि जिसके ज्ञानार्थ उक्त
उस राजा के समीप प्राप्तहुए, अरु प्राणाग्निहोत्र ' कि जिसके क
समस्त जगत् की तृप्ति होती है, उसकी स्तुति कहके पुनः कहत
कि हे ब्राह्मणो !) जैसे इस लोक बिषे क्षुधित (भूखे) बालक
माता की उपासना करते हैं कि कब हम सर्वकी माता हमको
अन्न देवेगी। इसही प्रकार सर्व प्राणधारी, अपने को अन्नके
उक्त प्रकार के विद्वान् के अग्निहोत्र को अर्थात् उक्तप्रकार के वै
के उपासक ज्ञानवान् के प्राणाग्निहोत्रपूर्वक भोजन को, उपासते
किस समय वो विद्वान् भोजन करेगा कि जिस करके हम तृप्त हों
अर्थ यह है कि समस्त वैश्वानर आत्मा के ज्ञानपूर्वक अभेद उपा
प्राणाग्निहोत्रपूर्वक भोजन से समस्त जगत् तृप्त होता है ॥ अरु
दोबार कथन है सो विद्या अरु प्रपाठक की समाप्ति का बोधक है॥

इति छान्दोग्ये चतुर्दशप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४॥

इति वैश्वानरविद्या समाप्ता ॥

इति श्रीछान्दोग्योपनिषदः पञ्चमः, उत्तरार्द्धस्य प्रथमः
प्रपाठकः समाप्तिमगात्। हरिः ॐ तत्सत् ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदुत्तरार्द्धे षष्ठप्रपाठके प्रथमः खण्डः प्रारभ्य

ॐ ॥ श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पिता
श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्याऽस्मत्कुलीनो
च्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

अब षष्ठप्रपाठक में प्रथम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

श्वेतकेतु इस प्रसिद्ध नामवाला अरु आरुणि का पुत्र अरु अरुण का पौत्र ताते आरुणेय इस द्वितीय नामवाला होताभया । उसके प्रति आरुणि पिता कहता हुआ, हे श्वेतकेतो ! यज्ञोपवीत धारण कर ब्रह्मचर्यधार विद्या अध्ययनको नहीं गया, हे सौम्य ! निश्चयकरके हमारे कुलमें 'अननूच्य' विद्या अध्ययन न करनेवाला कोई भी हुआ नहीं क्योंकि जो विद्याऽध्ययन नहीं करता सो ब्राह्मणों में नीचवत् होता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

श्रीगुरुरुवाच ॥ हे शिष्य ! इस छान्दोग्यउपनिषद् के पञ्चम अरु उत्तरार्द्ध के प्रथम प्रपाठक के श्रवण करने के अनन्तर अब उक्त उपनिषद् के षष्ठ अरु उत्तरार्द्ध के द्वितीय प्रपाठक को श्रवणकरो ॥ हे शिष्य ! पूर्व इस उपनिषद् के पूर्वार्द्ध तृतीय प्रपाठक के चतुर्दशवें खण्डके प्रथम मन्त्र करके कहा है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" यह सर्व निश्चयकरके ब्रह्मही है, क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है अरु ब्रह्ममें ही लय होता है ताते । अरु इसही उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक की वैश्वानरविद्या बिषे ऐसा कहाहै कि वैश्वानरविद्या के जाननेवाले एक विद्वान् के प्राणाग्निहोत्रपूर्वक भोजन करने से समस्त जगत् तृप्त होता है, सो ऐसा कहने से सर्वभूतोंबिषे सत् आत्मा एकही उपपाद्य होता है, क्योंकि आत्मा के भेद होनेसे एकके भोजन से सर्वकी तृप्ति बने नहीं ताते सो सत् आत्मा एकही है । परन्तु इन सर्वका पूर्व सम्यक् प्रकार निर्णय हुआ नहीं । अतएव उक्त दोनों श्रुति वाक्यों के सम्यक् निर्णयार्थ इस षष्ठप्रपाठक (अध्याय) का आरम्भ करते हैं ॥ अरु इस षष्ठ अध्याय में जो पिता पुत्र के संवादरूप आख्यायिका है सो विद्या की सर्वोत्तमता के प्रदर्शनार्थ है ॥ इति प्रस्तावना ॥

हे सौम्य ! पूर्व समय एक अरुणनाम ऋषीश्वर का पुत्र आरुणि उसका प्रसिद्ध नाम उद्दालक था उस उद्दालक ऋषि का पुत्र अरु अरुण का पौत्र आरुणेय सो श्वेतकेतु इस प्रसिद्ध नामवाला होताहुआ,

सो अपनी बाल्यावस्था में सुन्दर अरु चञ्चल स्वभाव होने से अपने माता पिता को अतिप्यारा था, अरु उस श्वेतकेतु में माता पिता का स्नेह अधिक होने से वो अशिक्षित रहा। अरु के माता पिता उस बालक श्वेतकेतु के मोहवश हुए उसको कुछ भी न करते थे। इस प्रकार वो अशिक्षित श्वेतकेतु द्वादश वर्ष अवस्था को प्राप्तहुआ तब उसके पिता ने उसका यज्ञोपवीत धारण विद्याऽध्ययन करने का काल व्यतीत होता देख एक दिवस पिता उद्दालक कहताहुआ कि हे श्वेतकेतो! तू अपने अनुरूप गुरुके गृहको विद्या अध्ययनार्थ नहीं गया [यहां जो गुरुको अनुरूप विशेषण कहा है सो श्रेष्ठकुल के विद्वान् पुरुषको ही गुरु अधम कुल के पुरुष को नहीं, इस वार्त्ता के लखावने के लिये] अब तू यज्ञोपवीत धार ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या अध्ययनकर। हे हमारे कुल में उत्पन्नहोय ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या का अध्ययन न करना योग्य नहीं, क्योंकि जो पुरुष ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याऽध्ययन नहीं करता सो ब्रह्मबन्धुवत् होता है। अर्थात् विना विधिवत् विद्या के अध्ययन किये किसी अनाचारी निकृष्ट ब्राह्मणवत् तू मेरे कुल विषे अनुरूप वत् प्रतीत होता है। हे श्वेतकेतो! पूर्व हमारे कुल विषे ऐसा कोई नहीं हुआ कि जिसने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या अध्ययन न किया हो हमारे कुलके सबही पुरुष विद्या अध्ययनकर ब्राह्मणभाव को प्राप्त हैं। अतएव हे पुत्र! अब तू किसी कुलवान् आचार्य के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या अध्ययन कर अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठोंवत् ब्राह्मणभाव को प्राप्तहोवो। हमारे कुल में उत्पन्न होय विद्या न अध्ययन करि इस प्रकार के ब्रह्मबन्धुवत् होना योग्य नहीं ॥ १ ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंश्छंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामनाऽनूचानमानीस्तब्ध एयाय तं ह पितोवाच ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

सो प्रसिद्ध श्वेतकेतु द्वादशवर्ष की अवस्था होने के उपरान्त आचार्य के गृह जाय यावत् चौबीस वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ तावत् सर्व वेदों को अध्ययनकर महाअहंकारी अपने को अनूच्य (सर्व से अधिक विद्वान्) मानस्तब्ध (अप्रणतस्वभाव) हो पिता के गृह आता हुआ उससे पिता कहता हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार वो उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु सें कहके उसके अनन्तर उसका प्रवास होना (आचार्य के गृह जाना) अनुमान करता हुआ वा निश्चयकरता हुआ ॥ प्रश्न ॥ हे गुरो ! वो उद्दालक आप सर्वविद्यासम्पन्न परमगुणवान् होयके भी जो उसने अपने पुत्र को आप विद्या न अध्ययन करायके अन्य आचार्यके यहां विद्या अध्ययनार्थ क्यों भेजा ? ॥ उत्तर ॥ :—हे सौम्य ! उस उद्दालक ऋषि का अपने पुत्र श्वेतकेतु के साथ स्नेह अधिक था अरु जिसपर स्नेह अधिक होताहै उसको ताड़ना कीजाती नहीं अरु बालक को स्नेहवान् माता पिता की भय होती नहीं । ऐसा विचार उस उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अन्य आचार्य के पास जाय विद्या अध्ययन करने की आज्ञा किया—: ॥ तब वो प्रसिद्ध श्वेतकेतु अपनी द्वादशवर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत धारणकर किसी उत्तमकुल में विद्वान् आचार्य के गृह जाय ब्रह्मचर्य धारणकर यथाविधि विद्या अध्ययन करने लगा सो जबतक चौबीस वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ तबतक चारोंवेद अरु तिनके छओं अङ्ग । अर्थात् 'ऋक्, यजुः, साम, अथर्वण, यह चार वेद अरु शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, यह छह वेद के अङ्ग । इन सर्व को अध्ययन कर तिनके अर्थ को सम्यक् प्रकार जान महामनाः होता हुआ ' अर्थात् महत् गम्भीर है मन जिसका सो कहिये "महामनाः" अथवा अन्यों से अपने को श्रेष्ठ मानने के स्वभाववाला है मन जिसका सो कहिये "महामनाः" "अनूचानमानी" अपने आपको अनूच्य (सर्व विद्यासम्पन्न) स्वभाव होवे जिसका उसको कहिये अनूचानमानी ।

अर्थात् वो श्वेतकेतु आचार्यसे वेद, वेदाङ्ग को पढ़ उसके अर्थको
प्रकार जानके महामनाः हुआ अपने को सर्वविद्यासम्पन्न आदि
अरु अपनी अपेक्षा अन्यों को तुच्छ अल्पविद्वान् जान बड़ा
'स्तब्ध' अप्रणतस्वभाव होय॥ :—सर्व दिशा, देश, देशान्तर में
करता अन्यब्राह्मणों से विवाद शास्त्रार्थपूर्वक सर्व को जय करता—
गृह को आवता हुआ। अरु अपने को विद्या में सर्व से श्रेष्ठ मान
अहंकारी होनेसे अपने पिता को भी प्रणाम न करके सूखे काष्ठवत्
हुआ खड़ा विचारनेलगा ॥:—पिता मुझसे अधिक विद्वान् नहीं
जो यह पिता आप सम्यक् विद्वान् होता तो मुझको अन्य आ
यहां विद्या अध्ययन करने को न भेजता। अरु ब्राह्मणों में सोई
है जो विद्या में अधिक होता है, सो मैं उक्त हेतु करके पिता
धिक विद्वान् हूं। अरु जो कदापि कोई ऐसा कहे कि पिता से
धिक विद्वान् होवे नहीं सो नियम नहीं क्योंकि देवगुरु बृहस्
अज वा शंयु नाम पुत्र अपने पिता से अधिक विद्वान् हुआहै, यह
यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण अरु मनुस्मृति में विख्यात है। ऐसे
तर्कों को विचार वो महामना अनूचानमानी अप्रणतस्वभाव महा
श्वेतकेतु अपने पिता को, जो "पितृदेवो भव" इत्यादि श्रुति
माण से देवतावत् माननीय पूजनीय है, प्रणाम दण्डवत् न क
के आगे सूखे काष्ठवत् खड़ा रहा—:॥ उस अपने पुत्र श्वेतकेतु
दश वर्ष उपरान्त गुरु के गृह से विद्या अध्ययन कर महा
अप्रणतस्वभाव हुआ आया अपने सम्मुख खड़ादेख ॥:— वो
प्रथम अपने चित्त में खेदित हो विचारता हुआ कि यह श्वेतके
अध्ययन कर ऐसा अहंकारी हुआ है कि अपने पूज्य ज्येष्ठों के
नम्रभाव से प्रणाम करता नहीं, अरु ऐसे अहंकारी पुरुष का
में होना श्रेष्ठ नहीं, यह एक प्रकार का अपने कुलको कलङ्क
एव इसके अहंकार से अपने कुल में होता जो कलङ्क
निवृत्त करनाही उचित है ऐसा विचार निश्चयकर उसकी
अहंकार की निवृत्ति के लिये वो पिता उद्दालक कहता हुआ॥

श्वेतकेतो यन्नु सौम्येदं महामनाऽअनूचानमानीस्त ब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्षीर्येनाश्रुतछं श्रुतं भवत्यम तं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथंनु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ।

हे श्वेतकेतो! हे प्रियदर्शन! जिस करके तू इस प्रकार अपने को महामना अनूचानमानी (सर्वविद्यासम्पन्न) मानके सूखे काष्ठवत् अप्रणतस्वभाव हुआ है सो उस विद्या को भी आचार्य से पूछा है वा नहीं कि जिसके श्रवण से अश्रुत भी श्रुत होता हैं अमनन किया भी मनन किया होता हैं अरु जिसके जानने से अज्ञानी भी ज्ञानी होता है। हे भगवन्! सो आदेश कैसे होता है इति ॥ ३ ॥

भावार्थ।

उद्दालक उवाच ॥ हे श्वेतकेतो! हे प्रियदर्शन! तू जो इस प्रकार का महामनाहुआ अपने को अनूचान, (सर्वविद्यासम्पन्न) मान महा-अहंकारी अप्रणतस्वभाव हुआ किसी के भी आगे नम्र होय नमस्कार करता नहीं, इस प्रकार का महा अहंकारी हुआ है सो तैंने अपने आचार्य से अपने बिषे क्या अतिशय प्राप्तकिया है। हे पुत्र! तैंने अपने आचार्य से सो आदेश 'अर्थात् जिस उपदेश से सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म साक्षात् जानाजाय सो कहिये आदेश, (विद्या) तैंने प्रश्न किया है वा उस तेरे आचार्य ने तुझ से कहा है कि जिस आदेश के श्रवण करने से अश्रुत पदार्थ भी श्रवण किया होता है, अरु जिस आदेश के मनन करने से अमननकिया भी मननकिया होता है अरु जिस आदेश के जानने से अविज्ञात वस्तु भी विज्ञात होती है, अर्थात् जो वस्तु निश्चय नहीं कीजाती है सो भी उस आदेश के जानने से निश्चित की होती है ॥:— हे सौम्य! जिन विद्याओं करके श्रोत्रादि बुद्धिपर्यन्त सर्व करणों का अविषय अरु सर्व में अनुगत विद्यमान जो परमात्मा सो नहीं जानाजाता तिनहीं विद्याओं को तू पढ़ा है वा जिस विद्या के श्रवण

मननआदि करने से सर्वकरणों का अविषय जे परमात्मा सो भी श्रवण मननादि किया होता है-:॥ सो आदेश तूने अपने आचार्य से प्रश्न किया वा उसने तुझसे कहा है या नहीं। हे पुत्र! जो तू उक्त प्रकार के आदेश (विद्या) के जाने विनाही अपने बिषे विद्वान्पने का अहंकार करता है तो व्यर्थही करता है। देखो जिस असत्य विद्याको पढ़के तूने इतना अहंकार किया है, कि ज्येष्ठ श्रेष्ठों के आगे नमता भी नहीं, सो विद्या तो तेरा गुरु आचार्य भी पढ़ा है अरु मैं भी पढ़ाहौं अरु अन्य ब्राह्मण भी पढ़ेहैं परन्तु तेरे ऐसा अभिमान तो किसी ने भी किया नहीं। हे पुत्र! जिस विद्या के जानेविनाही तू अपनेबिषे विद्वत्पने का इतना अभिमान करता है सो विद्या तबहीं प्राप्त होती है जब सर्व अहंकारका अभाव होता है "विद्यागताहंकृतिनः प्रसिध्यति" अतएव जो तू उस विद्या के जाने विनाही अपनेबिषे विद्वान्पने का अहंकार धारता है सो व्यर्थहै। हे सौम्य! यह तेरा असत्य अहंकार ही लखावता है जो तू उस विद्या से अज्ञात मूर्ख है क्योंकि वो विद्या अहंकारियों को प्राप्त होती नहीं। अरु जिन पुरुषों को वो विद्या प्राप्तहोती है उनका अहंकार रहता नहीं, अतएव हम जानते हैं जो उस विद्या के अज्ञानवश हुआही तू यह असत्य अहंकार करता है। हे पुत्र! इस हमारे निष्कलङ्क कुल में असत्य अभिमानी होय कलङ्करूप होना तुझको योग्य नहीं, तातें अपने इस निर्दोष निष्कलङ्करूप कुल को विचार इस अपने असत्य अहंकाररूप कलङ्क का त्याग करो-:॥ हे सौम्य! यहाँ भाष्यकार स्वामी प्रकट करते हैं कि जो कदापि सर्ववेद अरु वेदाङ्ग को अध्ययन कर पुनः तिसकरके अन्य सर्व जाननेयोग्य जाना भी परन्तु यह मुझकरके प्रश्नकी आत्मविद्या अरु तिसकरके जानने योग्य आत्मतत्त्व कि जिस के जानने से सर्व जानाजाता है, न जाना तो उस पुरुष ने कुछ भी न जाना। अर्थात् जो पुरुष यावत् पर्यन्त आत्मतत्त्वको सम्यक् प्रकार जानता नहीं तावत् पर्यन्त सो कृतार्थ भी होता नहीं। एतदर्थ आत्मतत्त्व के ज्ञानार्थ यह श्रुति आख्यायिका का आरम्भ करे है॥ हे सौम्य! इस प्रकार जब उद्दालक ऋषिने अपने पुत्र श्वेतकेतु के असत्य अभिमान

के निवारणार्थं प्रश्न किया तब सो इस अद्भुतवाक्य को श्रवणकर विचारने लगा कि यह जो पिता कहता है कि अन्य एकके विज्ञान से अन्य सर्व अप्रसिद्धों का विज्ञान होता है सो कैसे होता है ? इसको सम्यक् प्रकार जानना चाहिये, क्योंकि यह विद्या तो आचार्य ने भी मुझसे कही नहीं। इस प्रकार अपने चित्त में विचार वो श्वेतकेतु अपने पिता उद्दालक से प्रश्न करताहुआ कि हे भगवन्, हे सर्व करके नमस्कार करने योग्य ! निश्चयकरके वो आदेश क्या है ? कि जिस एकके श्रवण मनन निश्चित होनेकरके अन्य भी सर्व श्रवण मनन निश्चित किया होता है सो आप कृपाकरके कहिये ॥ ३ ॥

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वा चारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम् ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के जानने से उस मृत्पिण्ड से हुए जे घट शरावादि सर्व कार्य जानाजाता है जो मृत्तिका से उत्पन्नहुआ जे घट शरावादि कार्यरूप विकार सो वाणी से आरम्भ किया कहनेमात्र ही है किन्तु उन घट शरावादिकों बिषे एक मृत्तिकाही सत्यहै ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब उद्दालक ऋषि ने अपने श्वेतकेतु नाम अहंकारी पुत्र के असत्य अहंकाररूप कलङ्क को 'जो उस श्वेतकेतु को अश्वेतकेतु करनेवाला था, दूर करने के लिये प्रश्न किया कि हे प्रियदर्शन ! तू सर्व विद्या तो पढ़ा है परन्तु वो विद्याभी जानता है या नहीं किजिस एक के श्रवण करने से अश्रुत भी श्रुत होताहै, अरु जिस एक के मनन करने से सर्व का मनन किया होता है, अरु जिस एक के निश्चय से सर्व का निश्चय होता है। अरु जो उस विद्या के जाने विनाही तू अपनेको अन्य विद्याओं के आश्रय विद्वान् मानके अहंकार करता है तो केवल अविद्या का ही अभिमान करताहै। इस प्रकार जब उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से प्रश्न किया तब तिसको श्रवणकरके

वो श्वेतकेतु अपने पिता करके पूछी हुई विद्या का अपने बिषे अभाव देख तिसकी जिज्ञासा धार पितासे प्रश्न करता हुआ कि हे भगवन्! जिस विद्याविषयक आप मुझसे प्रश्न करते हौ तिस विद्या को मैं जानता नहीं अतएव उस विद्या को आप कृपाकर कहिये ॥ः—हे शिष्य! यह आत्मवेत्ता महात्माओं के वाक्य का प्रभाव है कि जिसके श्रोत्रद्वारा हृद्गत होते हैं तिसके अहंकारादि दोषों का अभाव करते हैं, देखो पूर्व श्वेतकेतुके अन्तःकरण में इतना बड़ा अहंकार था कि उसने अपने पिता को भी नमस्कार न किया, अरु उस श्वेतकेतु के श्रोत्रद्वार से उस के पिता के उपदेशात्मक प्रश्नरूप वाक्यों ने जब प्रवेशकिया तब उस वाक्य के प्रभाव से उसके अन्तःकरण से अहंकार दूर हुआ, तबहीं उस ने अपने उसही पिता को (कि जिसको अविद्वान् मानके नमस्कार भी न किया था) भगवन्, पूजाकरने के योग्य ! इस विशेषणपूर्वक प्रश्न किया। अतएव अभिप्राय यह है कि आत्मवेत्ता सन्त महात्मा पुरुषों के वाक्य श्रवण करने से अहंकारादि सर्वदोषों की निवृत्ति होती है—:॥ हे सौम्य! उक्त प्रकार जब श्वेतकेतु ने अपने असत्य अभिमान को त्याग 'भगवन्' इस विशेषणपूर्वक अपने पितासे प्रश्न किया तब वो उद्दालक ऋषि कहताहुआ कि हे पुत्र! जिस प्रकार वो आदेश होता है तिसको दृष्टान्तपूर्वक श्रवणकरो । हे प्रियदर्शन! जैसे लोकबिषे घट शरावादि कार्यों के कारणभूत एक मृत्पिण्ड के जानने से उस मृत्पिण्ड से उत्पन्न हुआ घट शरावादि मृन्मय विकार जाना जाता है, अरु जैसे कारणरूप मृत्पिण्ड के जानने से उसका घटादि सर्वकार्य जाना जाता है, तैसेही अन्य कारण के जानने से उससे उत्पन्न हुआ कार्यरूप विकार भी जाना जाता है जो यह अपने कारण से पृथक् नहीं ॥ प्रश्न॥ एक कारणरूप मृत्पिण्ड के जानने से अन्य कार्यभूत कैसे जाना जाता है ? ॥ उत्तर ॥ यह दोष नहीं, क्योंकि कारण से कार्यकी पृथक् सत्ता का अभाव है ताते ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन्! लोकबिषे ऐसा प्रसिद्ध है कि अन्य के जानने से अन्य नहीं जाना जाता, तब एकके जानने से सर्व जाना जाता है, यह कहना कैसे बनेगा ? ॥ उत्तर ॥ हे प्रियदर्शन!

हे जो तूने कहा सो सत्यही है क्योंकि अन्य कारण के जानने से अन्य का कार्य जाना जाता नहीं । जैसे कारणरूप मृत्तिका के जानने से सुवर्ण का कार्य कटक कुण्डलादि जाना जावे नहीं । परन्तु यहां तो कारण से कार्य पृथक् नहीं । जैसे मृत्पिण्डरूप कारण से (उसका घटादि कार्य पृथक् नहीं तैसे ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! जब ऐसा ही है तब लोकबिषे यह कैसे प्रसिद्ध है जो यह कारण है यह कार्य है, ऐसा भेद न होना चाहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! अब इसको भी श्रवण करो लोक बिषे जो यह कारण है यह कार्य है ऐसा भेद भाव कथन है सो केवल वाचारम्भणमात्रही है । अर्थात् वाणी से आरम्भ (उच्चार) किया वाचारम्भणमात्र ही होता है ॥ प्रश्न ॥ ऐसा वाचारम्भणमात्र विकार क्या है ? ॥ उत्तर ॥ नामही वाणी से आरम्भ किया विकार है (जैसे मृत्तिका बिषे घट सो मृत्तिका से इतर करके केवल कहनेमात्रही है, उस घट बिषे मृत्तिका से इतर घटसत्ता रञ्चकमात्रभी नहीं) अन्य कुछ भी नहीं क्योंकि कारण से कार्य की पृथक् सत्ता का अभाव होता है ताते। तदर्थ नामही वाणी से आरम्भ किया विकार केवल कहनेमात्रही है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! घटादि कार्यों बिषे कार्य तो घटादि विकार नाममात्र ही है तब परमार्थ से सत्य क्या है ? ॥ उत्तर ॥ हे प्रियदर्शन ! उन घट शरावादि कार्यों बिषे परमार्थ से एककारणरूप मृत्तिकाही सत्यहै ॥:-हे गुरो ! इस श्रुति में पूर्व तो यह कहा है कि एक मृत्पिण्ड के जानने से सर्वमृन्मय जानाजाता है अरु अन्त में कहा कि मृत्तिकाही सत्य है, सो इन आदि अन्त के वाक्यों में सविकारता अरु निर्विकारता होने से उपक्रम उपसंहार में विरुद्ध होता है सो न होनाचाहिये, ताते इस मेरे संशय को आप कृपा करके निवारण करिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! जो कार्यारम्भके अन्त में कार्यबिषे अनुगत पाइये सो उपादान कारण सत्य जानिये, ताते श्रुति ने कहाहै कि घटादि कार्यों बिषे मृत्तिकाही सत्य है । हे सौम्य ! मृत्तिका का चूर्णत्वभाव, जल, दण्ड, चक्र, कुलाल का संकल्प, अरु हस्तपादादि अवयव, इत्यादि सर्व घट की उत्पत्ति में निमित्तकारण है ताते मृच्चूर्णादि वा मृत्पिण्डादि घटादिरूप

कार्य में अनुगत नहीं, क्योंकि मृत्पिण्ड परिणाम होके घटादि कार्य रूप होता है, अरु शुद्ध जो मृत्तिका है सो चूर्णत्वभाव से लेके घटादि कार्य भाव पर्यन्त अपरिणामी सर्व कार्यकारणभाव में अनुगत एक सत्य रूप है। ताते मृत्तिका का चूर्णभाव वा मृत्पिण्ड ये घटादि कार्यों में अनुगत न होयके एक शुद्ध मृत्तिकाही अनुगत है ताते सोई सत्य है, एतदर्थ इस श्रुति के आदि अन्त वाक्यों में यदि कुछ अन्तर प्रतीत भी होता है तथापि उभय स्थान में एक शुद्ध मृत्तिका को ही सत्य निश्चयकर उपक्रम उपसंहार में भासमान जे अन्तर उस निमित्त संशय को त्यागकरो ॥ ४ ॥

हे सौम्य! उक्त श्रुत्यर्थ को अन्यप्रकार से भी श्रवणकरो क्योंकि दृष्टान्त का सम्यक् प्रकार निर्णय होनेसे दार्ष्टान्तभूत वस्तु का अतिसुगमता से निर्णय होता है॥ हे सौम्य! अरुण का पुत्र उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु प्रति ‘ सर्व ठिकाने कारण से भिन्न रूप करके जो कार्य का असत्यपना सोई तिसकारण के अद्वैतपने का साधक है। अर्थात् कारण से जो कार्य की पृथक् सत्ता का अभाव सोई कारण के अद्वैतपने को सिद्ध करता है इस तात्पर्य के स्पष्ट करने के लिये अग्रिम कहने की युक्ति को कहता हुआ कि हे प्रियदर्शन! यह घट शरावादिक कार्य केवल वाणी (कहने) मात्र करके ही प्रतीतहोता है कहने बिना वास्तव वा स्वरूपसेही प्रतीत होवे नहीं। एतदर्थ सो घट शरावादि कार्य ‘ यह घट, यह शराव ’ इस प्रकार नाममात्रही हैं। उन घट शराव आदि नामों से भिन्न उन घट शरावादि कार्यों का वास्तव स्वरूप कुछ भी है नहीं, अरु सो घट शरावादिक मृत्तिकामात्रही एतदर्थ उस मृत्तिका ने इन घट शरावादिकों का आरम्भ किया है इसप्रकार का कथन भी बने नहीं क्योंकि मृत्तिका मृत्तिका का आरम्भ करे नहीं, आरम्भ जो होता है सो कार्य कारण के भेद को अङ्गीकार करके ही होता है। अरु एक मृत्तिका में कार्य कारण का भेद होता नहीं जैसे नैयायिक कपालरूप कारण से भिन्न उन कपालों करके आरम्भ वा आरम्भक्रिया घट को अङ्गीकार करते हैं। अर्थ यह है कि घट

शरावादिक कार्यों बिषे मृत्तिकादिक कारणों से भेद प्रतीत होता है सो वास्तव से है नहीं, किन्तु घट शराव इत्यादि नामविशिष्ट उन घटादि कार्यों बिषे मृत्तिका का भेद प्रतीत होताहै, अरु विशिष्ट पदार्थों बिषे प्रतीत हुआ जो धर्म सो जो कदापि विशेष्य पदार्थों बिषे संभवता नहीं, तो सो धर्म केवल विशेषण बिषेही प्राप्त होता है, इस प्रकार का सर्व शास्त्रकारों का नियम है। तैसे यहां घट, शराव इत्यादि नामविशिष्ट घट शरावादिक कार्यों बिषे प्रतीत हुआ जो मृत्तिकारूप कारण का भेद सो घट शरावादिक विशेष्य पदार्थों बिषे तो संभवे नहीं। एतदर्थ परिशेष ते सो मृत्तिका का भेद ‘घट, शराव’ इत्यादि नामरूप विशेषणों बिषेही प्राप्त होवेगा। हे सौम्य! यह रीति सर्व कार्य कारण भाव बिषे जानलेनी। हे प्रियदर्शन! अब उक्त अर्थको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। हे सौम्य! जैसे इसलोक बिषे पट (वस्त्र) भाव को प्राप्तहुए जे तन्तु तिन तन्तुओं को उस पटसे पृथक् करके पुनः उस पटरूप कार्य को कोई विवेकी पुरुष देखने की इच्छा करे तो वो किसी प्रकार भी देखने को समर्थ होवे नहीं। तैसेही ‘घट, कुण्डलादि भाव को प्राप्त हुए जे मृत्तिका, सुवर्णादिरूप कारण तिन कारणों को उक्त कार्य से पृथक् करके पुनः उन घट कुण्डलादि कार्यों के देखने की यदि कोई इच्छाकरे तो वो उनको देखनेको किसी प्रकार भी समर्थ होवे नहीं। हे श्वेतकेतो! एतदर्थ ही इस लोक बिषे मृत्तिकादि कारण ही सत्य है, अरु घटादिक कार्य तो वाणी से आरम्भ किया विकार कहनेमात्रही है, स्वरूप से तो नहीं॥ यह आत्मपुराणसम्बन्धी अर्थ है॥

यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥५॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! जैसे एक सुवर्ण मणि के जानने से यावत् उसका कटक कुण्डलादि कार्य है सो सर्व जानाजाता है। अरु तिस सुवर्ण से उत्पन्न

हुए कुण्डलादि कार्यरूप विकार हैं सो वाणी से आरम्भ किये नाममात्र ही हैं उन सर्व बिषे एक सुवर्णही सत्य है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से एक के जानने से सर्व जाना जाता है इस आदेश के कहने के पूर्व लि विषयक एक मृत्पिण्डका दृष्टान्त कहके अब द्वितीय सुवर्ण का दृष्टान्त कहता है ॥ उद्दालक उवाच ॥ हे प्रियदर्शन ! हे श्वेतकेतो ! जैसे एक सुवर्ण के जानेहुए तिस सुवर्ण के यावत् किरीट कुण्डल कटककुण्डलादि कार्य हैं सो सर्व जानेजाते हैं जो यह कटक कुण्डलादि सर्व सुवर्ण के हैं। अरु उस कारणरूप सुवर्ण बिषे कटक कुण्डलादि कार्यों की पृथक् सत्ता के अभावसे वो कटक कुण्डलादि वाणी से उच्चारित विकार केवल नाममात्र कहिये कहनेमात्रही है। अर्थात् उन सुवर्ण के कार्य कटक कुण्डलादिकों से कारणरूप सुवर्ण को पृथक् करके देखिये तो वो कटक कङ्कणादिक रञ्चकमात्र भी नहीं, अतएव उन कारणभूत सुवर्ण बिषे कटक कुण्डलादि केवल कल्पित होने से कहनेमात्रही हैं परमार्थ से उन वाचारम्भणमात्र कटक कुण्डलादिकों बिषे एक सुवर्ण ही सत्य है ॥ घट शरावादिकों में मृत्तिकावत् ॥ ५ ॥

यथा सौम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कार्ष्णायसमित्येवसत्यं, एतꣳ सौम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! एक नखनिकृन्तन करके उपलक्षित लोहपिण्ड के जाने हुए तिसका खड्गादि यावत् कार्य रूप विकार है सो सर्व जानाजाता है जो यह सर्व लोहके हैं। तिस कारणभूत लोहबिषे खड्गादि विकार केवल कहनेमात्रही हैं अरु उन नाममात्र विकारों बिषे एक लोहही सत्य है ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार उद्दालक ऋषि उक्तआदेश के कहने के विषय में द्वितीय दृष्टान्त सुवर्ण का कहके अब उसकी दृढ़ दृढ़ताके लिये तृतीय लोहमणि का दृष्टान्त कहता है ॥ उद्दालक उवाच ॥ हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! और श्रवणकरो हे पुत्र ! जैसे एक नखनिकृन्तन (नख काटनेका नहन्नीनामक शस्त्रविशेष) उपलक्षण करके लक्षित लोहपिण्ड को जानना । उस एक कारणभूत लोहपिण्ड के जानेहुए उसके खड्गादि यावत् कार्य हैं सो सर्व जानेजाते हैं जो यह सर्व लोह के हैं, अरु उस कारणभूत लोह बिषे जो खड्गादिक कार्यरूप विकार हैं उनकी कारणरूप लोहसे पृथक् सत्ताके अभावसे सो रुवे वाणी से उच्चार किया विकार नाममात्र कहिये कहनेमात्रही है, अरु उन नाममात्र खड्गादि कार्यरूप विकारों बिषे परमार्थ से एक कारणभूत लोहही सत्य है ॥ हे प्रियदर्शन ! इन उक्त तीनों दृष्टान्तों से एक उपादान कारण सत्य के जानने से उसका सर्वकार्य जानाजाता है, अरु यह जो तुझको तीन दृष्टान्त कहे हैं सो दार्ष्टान्तबिषे तेरी दृढ़ प्रतीत के होने के अर्थ कहे हैं । हे सौम्य ! जैसे यह दृष्टान्त कहे हैं तैसेही सो आदेश (जो मैंने तेरे प्रति कहा है कि जिस एकके जानने से सर्व जाना जाता है उस आदेश को तू जानता है या नहीं) होता है ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! उक्त प्रकार उद्दालक ऋषिने 'एक के जानने से सर्व जानाजाता है' इस आदेश के कहने के पूर्व तिसके समझने अरु दृढ़ताके लिये तीन दृष्टान्त कहे तब तिसको श्रवण कर तिसके यथार्थ निश्चय के अर्थ सो श्वेतकेतु अन्यवादियों के मत को आश्रयकर विकल्प करत सन्ते कहता हुआ ॥ हे भगवन् ! आपने आज्ञा किया कि "येन अविज्ञातं विज्ञातं भवति" जिस एक के जानने से अविज्ञात भी सर्व विज्ञात होता है । इस प्रकार कहनेवाली श्रुति के अर्थ बिषे वैशेषकादि भेदवादी पुरुष स्थालीपुलाकन्याय को अङ्गीकार करके उस श्रुति बिषे गौणता मानते हैं ॥ अर्थात् जिस पात्रविशेष में चावल रांधते (पकावते) हैं उसका नाम स्थाली है अरु उस बिषे रँधते चावल का

नाम पुलाक है। तहां अग्नि के ऊपर जलयुक्त स्थाली में पकते जे चावल सो सब पकने पर आवते हैं तब उनको पचावने वाला पाचक पुरुष उस पात्र में से एक दाना चावल का निकालके देखताहै तहां जो वो उस एक दाने को रँधा देखताहै तो अन्य सर्वकों रँधगये जानता है अरु जो वो एक दाना काचा देखताहै तो अन्य सर्व चावलों को काचा जानता है। इस प्रकार तण्डुलों के काचे पाके की परीक्षा का नाम स्थालीपुलाकन्याय कहते हैं हे भगवन्! इस प्रकार स्थालीपुलाक न्याय को अङ्गीकार करके वो भेदवादी पुरुष एक आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान कहते मानते हैं॥ इस प्रकार जब उस श्वेतकेतु ने भेदवादियों के न्याय को लेके विकल्प किया तब वो उद्दालक पिता कहता हुआ॥ उद्दालक उवाच॥ हे प्रियदर्शन! उन भेदवादियों का कथन समीचीन नहीं, क्योंकि वो एक दाना चावलका कि जिसकों वो पाचक देखताहै सो, अन्य सर्व चावलों का कारण नहीं, अरु जो उस तण्डुल के एक दाने का काचा पाकापना है सो भी अन्य तण्डुलोंके काचे पाकेपने का कारण नहीं। अरु श्रुति का कहना एक कारण के जानने से सर्व का कार्य जाना जाताहै उक्त दृष्टान्तोंवत्, ताते जो उन भेदवादियों का उक्त न्याय प्रमाण का कथन जो केवल स्वबुद्धिकी कल्पना के आश्रय है सो समीचीन नहीं, श्रुतिबाह्य होने से॥ हे सौम्य! उन श्रुतिबाह्य कहनेवाले भेदवादियों से श्रुति प्रमाण अद्वैतवादियों को इस प्रकार प्रश्न करना चाहिये कि हे भेदवादियो! "येन अविज्ञातं विज्ञातं भवति" इसप्रकार कहनेवाली इस एक सत्परमात्मा के जानने से सर्व जगत् जाना जाता है, श्रुति के अर्थ बिषे तुमने जो स्थालीपुलाकन्याय प्रमाण की कल्पना किया है सो केवल अपनी बुद्धि करकेही किया है, किंवा श्रुतिप्रमाणजन्य बुद्धि करके किया है, अथवा ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुषों की परम्परा रूप सम्प्रदायलेके किया है॥ हे सौम्य! इसप्रकार प्रश्न करने से जो कदापि वादी कहे कि उस श्रुत्यर्थ बिषे हमने अपनी बुद्धिसे उक्त न्याय की कल्पना प्रमाण से कहा है, तो उसके प्रति कहना चाहिये कि यह तेरा प्रथम पक्ष असंभवहै क्योंकि श्रुतिप्रमाण से रहित जो केवल पुरुषकी

बुद्धि है सो बहुत से स्थलों बिषे अपने अर्थ से व्यभिचार को देखती है, अर्थात् अन्य वस्तु बिषे अन्यकी कल्पना करती है, जैसे रज्जुबिषे सर्पबुद्धि वा सीपी बिषे रजतबुद्धि, इसप्रकार आप करके कल्पित सर्प रजतरूप अर्थ बिषे व्यभिचार कोही देखती है। अर्थात् जो प्रमाण से रहित केवल पुरुष बुद्धि है सो रज्जु सीपी बिषे अपनी कल्पना से सर्प रजत अर्थ को करती है परन्तु परिणाममें जब प्रमाणवती होती है तब अपने कल्पित अर्थ बिषे व्यभिचार कोही देखती है। एतदर्थ वेदवेत्ता पुरुष केवल पुरुषबुद्धि को किसी भी अर्थ की सिद्धि बिषे प्रमाणरूपता करके मानते नहीं॥ हे सौम्य! सर्व भेदवादी तार्किकों बिषे कपिल, बौद्ध, कणाद, गौतम इत्यादि महान् पुरुष हुए हैं, सो भी श्रुति प्रमाण से रहित जिस २ केवल अपनी बुद्धि करके जिस २ अर्थकी सिद्धि करते हैं सो २ उनकी बुद्धियां अपने कल्पित अर्थ सहित अप्रमाणता को ही प्राप्तहोती हैं। तिसबिषे हेतु यहहै कि वो कपिलादिक भेदवादी श्रुतिवाक्य प्रमाण से विरुद्ध केवल स्वबुद्धि की कल्पनासे ही जगत् के कारण को तथा आत्मा के स्वरूप को तथा बन्ध मोक्ष को भिन्न २ रीति से कथन करते हैं। अर्थात् कपिलादिक भेदवादी श्रुति प्रमाण से बाह्य स्वबुद्धि की कल्पनासे जो २ कुछ कहते हैं सो २ परस्पर में विरुद्ध पृथक् २ ही कहते हैं, अतएव उन पुरुषों की युक्तियां परस्पर में खण्डन को पावती हैं। हे सौम्य! जब कि कपिल कणाद आदिक महत् बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धियों के बिषे भी स्वतन्त्र प्रमाणपना सिद्ध नहीं तब इतर अल्पपुरुषों की बुद्धियों बिषे स्वतन्त्र प्रमाणपना न होवे तिसमें क्या आश्चर्य है? किन्तु कुछ भी नहीं। एतदर्थ श्रुति वाक्य प्रमाण से रहित केवल पुरुष की बुद्धि बिषे प्रमाणत्वपना संभवे नहीं। हे सौम्य! इसप्रकार भेदवादियों का प्रथम पक्ष जो उक्त श्रुति के अर्थ बिषे ' स्थालीपुलाकन्याय प्रमाण हम स्वबुद्धि की कल्पना से अर्थ सिद्ध करते हैं, तिसका निराकरण हुआ जानना॥ हे सौम्य! जो कदापि वो भेदवादी ऐसा कहैं कि उक्त श्रुतिके अर्थ बिषे हम श्रुतिप्रमाणजन्य बुद्धि के बल से स्थालीपुलाकन्याय की कल्पना करते हैं। इसप्रकार जो वो भेदवादी इस द्वितीय पक्षको अङ्गीकार करे

तो ऐसा कहना कि तुम्हारा यह भी पक्ष बने नहीं ' क्योंकि श्रुतिवाक्य प्रमाण बिषे अविश्वासके करनेवाले जे तुम भेदवादी हौ तिन तुमको तिस श्रुति प्रमाणजन्य बुद्धि करके तुम्हारे तिस वाञ्छित अर्थ की सिद्धि होनी अतिदुर्घट है, ताते तुम वादियों का द्वितीय पक्ष भी संभवे नहीं है सौम्य ! जो कदापि वो वादी ऐसा कहे कि हम तिस उक्त श्रुति के अर्थ बिषे ज्येष्ठ श्रेष्ठों की सम्प्रदायरूप बलकरके उस स्थालीपुलाकन्याय की कल्पना करते हैं । इस प्रकार यह तीसरा पक्षवादी अङ्गीकार करे तो सो भी संभवे नहीं, तहां इस प्रकार विचार है कि उन ' कपिल, बौद्ध, कणाद' आदिक भेदवादी महान् पुरुषों के शिष्यों ने अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ आचार्यों की सम्प्रदायको अङ्गीकार करके भी श्रुत्यर्थ के निर्णय बिषे किसी भी निमित्त को पाया नहीं । इस हेतु करके यह सिद्ध होता है कि अपने श्रेष्ठ वृद्धों की सम्प्रदाय के अङ्गीकार करने से भी केवल पुरुष की बुद्धिही अङ्गीकार होती है तिस पुरुष की बुद्धिसे इतर कोई भी श्रुति का प्रमाण अङ्गीकार होता नहीं, क्योंकि वो कपिलादिक सम्प्रदायी पुरुष जो कदाचित् तिस श्रुति के अर्थ बिषे, अर्थात् उक्त श्रुति के स्वकल्पित अर्थ बिषे उपयोगी अन्यश्रुति के प्रमाण को प्राप्त होवें तो उस श्रुत्यर्थ बिषे परस्पर विवाद न करते ' क्योंकि श्रुतिप्रमाण अर्थ बिषे विवाद होवे नहीं, अरु श्रुति के अर्थ बिषे उन्हों का परस्पर में विवाद प्रत्यक्ष देखने बिषे आवता है, क्योंकि वो सर्व भेदवादी परस्पर में एककी युक्ति को दूसरा, दूसरे की युक्ति को तीसरा, तीसरे की युक्ति को चौथा, इस प्रकार परस्पर की युक्तियों को परस्पर में खण्डन करते हैं । अरु केवल ज्येष्ठ श्रेष्ठों की सम्प्रदाय के अङ्गीकार करने से भी केवल पुरुष की बुद्धिही अङ्गीकार होती हैं ॥ हे सौम्य ! एतदर्थ कपिलादिक भेदवादी जे उक्त श्रुति का अर्थ स्थालीपुलाकन्याय प्रमाण सिद्ध करते हैं सो श्रुति प्रमाण से रहित होने से अप्रमाणही है । अरु तिसही कारण से सम्प्रदायिकों का मत श्रुतिबाह्य होने से प्रमाण करने को योग्य नहीं । अरु उन भेदवादियों करके उक्त श्रुति का अर्थ स्थालीपुलाकन्याय प्रमाण करने से वो अपना २ मत इस प्रकार सिद्ध करते

है कि जैसे वो तण्डुल का पचावनेवाला पाचक उस पात्र में से तण्डुल का एक दाना निकाल तिसको काचा पाका देख अन्योंको भी काचा पाका जान लेता है, इस न्याय प्रमाण जब एक ब्रह्म को सत्य जान लिया तब 'प्रकृति को' वा माया को, वा द्रव्यादि परमाणुओं को आदि लेके (कि जिस जिस मतवादियोंने जगत्की उत्पत्ति में ब्रह्मके सहकारी माने हैं) तिनको भी सो सत्य मानते हैं। इस प्रकार वो सर्व भेदवादी अद्वैत प्रतिपादक उक्त श्रुति आदिक श्रुतियों का अर्थ उक्त न्यायप्रमाण स्वबुद्धि की कल्पना से कर अपने मत को सिद्ध करते हैं परन्तु उनके कल्पित अर्थ बिषे कोई भी श्रुति प्रमाण न होने से उन करके कल्पित अर्थ मानने योग्य नहीं ॥ ६ ॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवꣳस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अक्षरार्थ ।

हे भगवन्! निश्चय करके जो मेरा गुरुहै सो 'यह जो आपने आदेश कहा सो जानता नहीं, यदि इस आदेश को जानता होता तो क्यों न कहता, हे भगवन्! आपही मुझको सो आदेश कहिये, इस प्रकार जब पुत्र ने कहा तब पिता कहताहुआ हे सौम्य! तथास्तु मैं हीं कहता हौं ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य! उक्तप्रकार उद्दालकऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु प्रति 'एक के जानने से सर्व जाना जाताहै' इस आदेश के सम्यक् प्रकार समझावने के लिये मृत्तिकादि उपादान के जानने से घटादि कार्य सर्व मृत्तिकादिरूप ही जानाजाता है, इस प्रकार के तीन दृष्टान्त कहे, अरु उक्त श्रुति के अर्थ बिषे भेदवादियों का पक्ष निराकरण किया। तब

तिसको श्रवण करके वो श्वेतकेतु कहता हुआ कि। हे भगवन्! नि-श्चय करके जो मेरा गुरु है, कि जिससे मैंने विद्याध्ययन किया है, सो यह जो आपने कहा कि जिस एकके जानने से सर्व जाना जाता है तिसको तू जानता है या नहीं, तिस वस्तु को जानता नहीं यह मुझको निश्चयहुआ है, क्योंकि यदि वो उस वस्तु को जानता होता तो मुझ गुरुभक्त गुणवान् शिष्य को क्यों न कहता जो वो जानता होता तो अवश्य कहता ॥:—हे भगवन्! विद्याध्ययन की समाप्ति समावर्तन काल में मुझ से यह कहा कि जितनी विद्या मैं जानता हौं सो सर्व मैंने तुझको अध्ययन कराया अब तेरे अध्ययन करने योग्य अन्य अवशेष विद्या कोई नहीं, अतएव भी निश्चय होताहै वो मेरा गुरु आप करके लखाये आदेश को जानता नहीं—: ॥ इस प्रकार जब श्वेतकेतु ने अपने गुरु की अज्ञता निश्चय कर कहा तब वो उद्दालक पुनः कहता हुआ कि हे पुत्र! यद्यपि तेरे गुरु ने तुझको मुझ करके कही विद्या नहीं कही, तथापि गुरु के बिषे अज्ञता का भाव ल्याय उसकी निन्दा न करनी गुरु की निन्दा करने से पाप होता है ॥:—इस प्रकार जब उद्दालक ने कहा तब पुनः श्वेतकेतु कहता हुआ कि हे भगवन्! मैंने सत्य कहा है, ताते मुझ को पाप न होगा क्योंकि सत्य कहने से पाप होता नहीं, तब पुनः उद्दालक ने कहा कि हे पुत्र! सत्यभाषण में पाप नहीं सो सत्य परन्तु निन्दात्मक सत्यभाषण से गुरुनिन्दा का पाप बलवान् है ताते यदि गुरु कोई एक विद्या को न भी जानताहोय तथापि उसको अज्ञ कहना नहीं, अरु गुरु तेरा इस विद्या को जानताहै परन्तु तुझको अहंकारी देख उस विद्या का अनधिकारी जान उसने कही नहीं—:॥ इस प्रकार जब उद्दालक ने कहा तब वो श्वेतकेतु पुनः अपने को मत कही पिता गुरु के गृह भेजे, इस भयसे पितासे कहताहुआ कि हे भगवन्! वो वस्तु कि जिस एकके जानने से सर्वज्ञता प्राप्तहोती है (अरु जिस विषय में आपने तीन दृष्टान्त कहे हैं) तिस वस्तु को मेरे प्रति आप कृपाकर कहिये। इस प्रकार जब सत्य जिज्ञासापूर्वक श्वेतकेतु ने अपने पिता से विनयपूर्वक कहा तब वो पिता उद्दालक

कहताहुआ कि हे सौम्य! तैसेंही हो उस वस्तुको मैं तेरे प्रति कहता हूं सावधान होके श्रवणकर ॥ ७ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते।

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् तद्धै क आहुरसदेवेदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत ॥ १ ॥

अब षष्ठप्रपाठक में द्वितीयखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! यह 'जगत, पूर्व एक अद्वितीय सत्ही था। तहां प्र-सिद्ध कोई एक (वैनाशिक मतवादी) कहते हैं कि यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् ही था सो एक अद्वैत ही था तिस असत्से सत् होता हुआ ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्त प्रकार अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह उसकी उस वस्तु के 'कि जिस एक के जानने से सर्व जानाजाता है, जानने विष-यक दृढ जिज्ञासा देख वो उद्दालकऋषि पुनः कहताहुआ, हे प्रियदर्शन! जो केवल अस्तिमात्र अतिसूक्ष्म निर्विशेष सर्वगत एक निरञ्जन निर-वयव निराकार विज्ञानघन जो वेदान्त (उपनिषदों) के महावाक्यार्थ के ज्ञान से साक्षात् अनुभव कियाजाता है ऐसा जो सत् शब्द का सामान्य विषय तिसको सत् कहते हैं [अर्थात् सत् शब्द का सा-मान्य विषय अस्तिमात्र सत्तासमान वस्तु को पृथिव्यादि अग्नि पर्यन्त पञ्चभूतों से विशेष देखावने के लिये 'सूक्ष्म, इस विशेषण से कहा है। अरु वायु आकाश इन दोनों अमूर्त्त भूतों से विशेष देखावने के लिये 'निर्विशेष, कहा है। अरु अन्य विशेष की व्यावृत्तिके लिये उसको 'सर्वगत, इस विशेषण से कहाहै। अरु तिसकी तटस्थता की व्यावृत्ति

के लिये इस विशेषण से कहा है, अरु तिसको प्रत्यग् से अभिन्न होने
से उसका संसारित्वपना निवारण करने के लिये उसको ' निरञ्जन, इस
विशेषण से कहा है। अरु वो निष्क्रियत्व से कूटस्थ है ऐसा लखाने
के लिये ' निरवयव, इस विशेषण से कहाहै। अरु यथोक्त वस्तु
अवश्य होनेके विषय में अवगम्यते, जाना जाताहै इस विशेषण
कहाहै] अरु निश्चय आत्मक जो एव शब्द है सो उसके ' अव
रणार्थ है, अर्थात् वोही है, इस प्रकार के निश्चय के धारणार्थ है
प्रश्न ॥ हे भगवन् ! इस आपके कहने से क्या जानना चाहिये,
इस प्रकार का प्रश्न है तहां कहते हैं ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! यह जानो
यह नामरूप क्रियात्मक कार्यरूप जगत् जो तुम्हारे देखने सुनने
आवता है सो सर्वसत् ही है (क्योंकि वो सत्ही अपनी इच्छा से
नानानामरूपात्मक जगत्रूप से सुशोभित हुआ है, इस प्रकार आ
शब्द करके सम्बन्ध होता है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! यह जगत्
सत् था, तहां कहते हैं ॥ उत्तर ॥ यह जगत् अपनी उत्पत्ति से
एक सत्ही था ॥

हे सौम्य ! अब विशेषण के अनुसार शङ्का करते हैं ॥ शङ्का
हे भगवन् ! आपने आज्ञा किया कि यह नामरूपात्मक जगत् उत्
से पूर्व एक अद्वितीय महासूक्ष्म निर्विशेष सत्ही था, हे भगवन्
क्या इस वर्त्तमान दशा बिषे असत् हुआ जगत् नहीं है जो ' अ
इस शब्दार्थ से विशेषणदिया है, वा विशेष किया है ॥ समाधान
सौम्य ! शङ्का करके कहा कि जो यह उत्पत्ति से पूर्व सत्ही था
क्या वर्त्तमान दशा बिषे नहीं है जो जिस करके आगे सत् था
सौम्य ! तब सो क्या इस वर्त्तमान दशाबिषे विशेषण सामर्थ्य होने
जगत् को असत् कहते हो वा विशेष्य का अर्थवत्त्व पूछते हो
जो प्रथम पक्ष कहो कि विशेषण के सामर्थ्य से असत् है (अर्थात्
जगत् को " सदेवेदमग्र आसीत् " आगे सत् था इसप्रकार ' अ
इस विशेषण युक्त कहा है, परन्तु यह जगत् वर्तमान दशा बिषे सत्
है ऐसा विशेषण नहीं, अतएव 'अग्रे, इस विशेषण के होने के सा

से यह जगत् वर्त्तमान में असत् है, तो सो बने नहीं क्योंकि यह वर्त्तमान दशाबिषेभी यह जगत् सत्ही है, जो इस वर्त्तमान दशा बिषे जगत् को असत् कहोगे तो प्रत्यक्ष विरोध होवेगा, जो वस्तु प्रत्यक्ष होवे सो असत् कैसे होवेगा। एतदर्थं जो कदापि वर्त्तमानकाल में यह जगत् एक सत्ही है ऐसा विशेषण नहीं तथापि वर्त्तमानदशा बिषे भी प्रत्यक्ष प्रमाण के बल से सत्य ही है। किन्तु नामरूप विशेषणवत् इदं शब्द अरु इदं बुद्धि का विषय होने से 'इदं, ऐसा विशेषण होता है। हे सौम्य! इस विचार से जगत्त्व की असिद्धि ही हुई ॥ अरु द्वितीयपक्ष जो विशेषण का अर्थवत्त्वपना पूछते हौ तो श्रवण करो, तहां कहते हैं। हे सौम्य! (यह नामरूपात्मक जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व इदंप्रत्यय का विषय होवे नहीं, हे सौम्य! जो यह नामरूपात्मक जगत् देखते हो सो इदं शब्द अरु इदं बुद्धि का विषयभाव से स्थित हुआ वर्त्तमान में ' इदं, ऐसे व्यवहार को प्राप्त हुआ है। सोई जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व केवल सत्शब्द अरु सत् बुद्धिमात्र ही होता है ताते "सदेवेदमग्रआसीत्" इस प्रकार अवधारण करते हैं। क्योंकि यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व नामरूपवान् (जैसा कि वर्त्तमान में है) इदं प्रत्यय का विषयवत् ग्रहण करने को शक्य नहीं। सुषुप्तिकालवत् [अर्थात् जैसे सुषुप्तिकाल में सत् शब्द का वाच्य आत्मवस्तु निर्विशेष होनेसे इदं शब्द अरु इदं बुद्धि का विषय होवे नहीं तैसेही उत्पत्ति से पूर्व सत्रूप हुआ जगत् निर्विशेष होने से नामरूपवान् हुआ इदंप्रत्यय का अरु इदं बुद्धि का विषय हुआ श्रवण कथन के व्यापार में आवे नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में अरु जगदुत्पत्ति के पूर्व बुद्ध्यादि करणों की उपसंहारता तुल्यही है] ताते यह जगत् जैसे पूर्व सत् था तैसाही वर्त्तमान में भी सत्ही है। परन्तु पूर्व नामरूप की विशेषता से रहित होने से इदं शब्द का विषय न था, अरु वर्त्तमान में नामरूपात्मक हुआ इदं प्रत्यय का विषयहै ताते वर्त्तमान में इस इदं शब्द के विषय को पूर्व सत् था ऐसा कहा है। ताते जैसा यह पूर्व सत् था तैसाही, वर्त्तमान में भी सत्ही है, परन्तु वर्त्तमान में इसको नामरूप की

विशेषता होने से इदं प्रत्यय से ग्रहणकरके कहा है कि यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व एक सतही था परन्तु वास्तवकरके सर्वकाल सतही है ॥ प्रश्न ॥

हे भगवन्! यह नामरूपक्रियात्मक सर्व जगत् उस एक अद्वितीय सत्से कैसे हुआ है ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य! इसपर एक दृष्टान्त कहते हैं सो श्रवणकरो। हे प्रियदर्शन! जैसे लोकबिषे कोई एक पुरुष प्रातःकाल को अपने ग्राम से ग्रामान्तर को जातारहा उसने ग्रामके निकट द्वारपर घटशरावादिक रचने की इच्छावाले कुलाल ने एक मृत्तिका का पिण्ड रचाथा, तिसको देखताहुआ वो पुरुष ग्रामान्तर को जाताहुआ, तिसके गये पश्चात् उस कुलाल ने उस मृत्पिण्ड के अनेक घट शरावादि कार्यको रचके फैलायदिया, अरु वो ग्रामान्तर को गया पुरुष सायंकाल को जब अपने ग्राम के द्वार पर आया तब उसही कुलाल के द्वारपर अनेक घट शरावादि भिन्न भिन्न नाना नामरूपवाले कार्यों को देख आश्चर्य को प्राप्तहुआ तब उससे कुलाल ने कहा कि हे भाई! तुम इन सर्व को क्या देखते हो यह सर्व भिन्न २ नाम रूपात्मक कार्य अपनी उत्पत्तिसे पूर्व केवल एक मृत्पिण्डही रहा, सोई यह सर्वहुआ है। हे सौम्य! इस दृष्टान्त प्रमाण ही यहां कहा है कि "। सदेवेदमग्र आसीदिति।" यह सर्व नानानामरूपात्मक जगत् अपनी उत्पत्तिसे पूर्व एक सतही था सो एकही था 'सो कुलालवत् दण्ड चक्रादि सामग्री सहित एक न था, किन्तु दण्ड चक्रादिवत् अन्य निमित्त सामग्री के अशेष अभाव से एक अद्वितीय था अर्थात् जैसे मृत्तिका को घटादि आकार से परिणाम होने में मृत्तिका से भिन्न कुलाल दण्डचक्रादि निमित्त सामग्री देखते हैं, तैसे एक सत्से व्यतिरिक्त (भिन्न) करके उस सत् का सहकारी अन्य द्वितीय निमित्त कारणकी प्राप्ति के निषेधार्थ उस सत् को अद्वितीय विशेषण से कहा है। अर्थात् जिससे अन्य कोई भी वस्तु विद्यमान न होवे सो कहिये अद्वितीय ॥:—"। आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चित्।" इति श्रुत्यन्तरे ॥ अथवा हे सौम्य! वो सत् कैसा एकहै कि एक संख्यातीत है अर्थात् दो संख्या की आपेक्षिक जो एक संख्या तिस आपेक्षिक एक संख्या से रहित संख्यातीतहै, अर्थात् उस

वचनातीत सत्‌बिषे एक कहना भी वास्तव से बने नहीं क्योंकि संख्यादि सर्व विशेषता से रहित निर्विशेष है वा संख्याबद्ध नहीं ताते। तिस निर्विशेष अस्तिमात्र वस्तु का जिज्ञासुप्रति उपदेशरूप व्यवहार साधने के लिये सत शब्द अरु एकसंख्या करके कहा है, अरु तिससे इतर वस्तु का अत्यन्ताभाव लखावने के लिये उसको अद्वितीय विशेषण से कहा है, न तु वास्तव से उस वचनातीत केवल अस्तिमात्र सत्ता समानबिषे 'सत् असत्, एक, दो, इत्यादि कुछ भी कहना बने नहीं। हे सौम्य! सोई सत् ईक्षण पूर्वक यह इदं प्रत्यय का विषय नामरूप क्रियात्मक जगदाकार से आपही सुशोभित है—:॥

शङ्का॥ ननु, हे भगवन्! वैशेषिक मतवादियों के पक्षकरके भी सत को सर्वका सामानाधिकरण करके प्रतिपादन किया है "सद्‌द्रव्यं, सद्‌गुणः सत्कर्मेति" इत्यादि देखने से॥ समाधान॥ हे सौम्य! इस वर्तमान कालबिषे (अर्थात् जगदुत्पत्ति के पश्चात्) जैसा वो कहते हैं सो सत्यही है, परन्तु जगत् की उत्पत्तिसे पूर्व इस कार्यको सत् रूप ही है ऐसा ग्रहण करते वा होता नहीं, क्योंकि जगदुत्पत्ति से पूर्व नाम रूप कुछ भी न था अरु द्रव्य गुण कर्मादिक सर्व नाम रूपात्मक है ताते अरु वैशेषिक मतवादियों करके उत्पत्ति से पूर्व कार्य का असत्पना अङ्गीकार किया नहीं (क्योंकि वैशेषिक मतवादी आठ किंवा नव द्रव्यों को नित्य मानते हैं—ताते) अरु पुनः जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एक अद्वितीय सत् को इच्छते नहीं। एतदर्थ हे सौम्य! वैशेषिकमतवादियों करके परिकल्पित जे द्रव्यादिक सत् तिनसे यह श्रुति प्रतिपादित जगत् का कारण सत् अन्यही है॥ हे सौम्य! वैशेषिकादि परमाणुवादी आठ वा नव द्रव्यों को परमाणु रूप से नित्य मानते हैं अरु परमाणु का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि झरोखादि रन्ध्रके मार्ग से सूर्य का प्रकाश जब गृहादिकों में आवता है तब तिसप्रकाश में बहुत से रजकण उड़ते भासते हैं तिन प्रत्येक का नाम त्रसरेणु है तिस एक त्रसरेणु के षष्ठ भाग को परमाणु मानते कहते हैं अरु ऐसे अनन्त परमाणुरूप से सर्वद्रव्य नित्य रहते हैं तिस परमाणुओं से ईश्वर की

इच्छानुसार यह पृथिव्यादि कार्यरूप जगत् होता है। हे सौम्य! अब उन परमाणुवादियों करके परिकल्पित परमाणुओं का विचार श्रवण करो, हे सौम्य! परमाणु अतिसूक्ष्म होने से नेत्र का विषय नहीं परन्तु एक साकारवस्तु का भाग (खण्ड) होने से वो भी साकार है अरु यावत् वो परमाणु निराकार स्थिति को प्राप्त होवे नहीं तावत् उसका साकारत्वपना दूर होवे नहीं अरु यावत् उसका साकारत्वपना मिटे नहीं तावत् उसका भी खण्ड होना मिटे नहीं यदि वो परमाणु सूक्ष्म अरु नेत्र का अविषय होने से उसका बाह्य खड्गादि करणों से उसका विभाग होना असंभव है तथापि उसको बुद्धि का विषय होने से बुद्धिरूप करण से उस का खण्ड होना संभवे है आकारवान् होने से 'अरु जो वस्तु आकारवान् होती है सो आकृति परिमेयता नाम अरु रूप इन चार धर्म, लक्षण करके युक्तही होती है अरु यही चार कार्य के धर्म लक्षण हैं अरु साकार त्रसरेणुका षष्ठभाग परमाणुओं के माननेवाले परमाणु में से उक्त चार गुण जो कार्य के साधारण गुण हैं, दूर करने को कदापि समर्थ होवें नहीं। ताते हे सौम्य! परमाणुवादी कहते हैं कि परमाणु नित्य अरु कारणही है कार्य किसी का भी नहीं सो उनका कथन अयुक्त है अरु उनके कथन में कोई भी श्रुति का प्रमाण नहीं ताते अप्रमाण है हे सौम्य! वो परमाणु सूक्ष्म होने से यदि पृथिव्यादि स्थूल कार्यों का कारण हो तो अस्तु परन्तु वो कारणही हैं वो कार्य किसी का भी नहीं सो कहना बने नहीं क्योंकि परमाणुओं को कार्य के उक्त चार लक्षण वा गुण वा धर्म करके युक्त होनेसे॥ ताते परमाणुवादियों का कथन युक्त नहीं, अरु उनके स्वबुद्धिकल्पित मत में कोई भी श्रुतिप्रमाण नहीं ताते उनका मत आदर करने के योग्य भी नहीं, हे सौम्य! उक्त हेतुओं करके वैशेषिकादि परमाणुवादियों करके परिकल्पित सत् से इतरही यह श्रुतिप्रतिपादित सर्वजगत् का कारण महासूक्ष्म एक अद्वैत द्रव्य के धर्मोंसे रहित निर्विशेष अस्तिमात्र सत है॥

शङ्का॥ ननु, हे भगवन्! मृदादि दृष्टान्तों से वैशेषिक मतवादियों का पक्ष असंभव होनेसे भी, तहां हम जगत् की उत्पत्तिसे पूर्ववस्तु नि-

[illegible] करने के विषय में कोई एक वैनाशिकमतवादी वस्तु निरूपण
[illegible]ते सन्ते ऐसा कहते हैं कि यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व अभाव-
[मा]त्रही एक अद्वैत था, तिस असत् से सत् उत्पन्न होताहुआ ॥ अरु
[ए]कमतवादी सत् शब्द से भावमात्रको ही अङ्गीकारकरके कहते हैं
[कि] यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व भावमात्रही तत्त्व था, ऐसी कल्पना
[कर]ते हैं वो सत् शब्द करके सत्प्रतिद्वन्द्विवस्त्वन्तर को इच्छते
[न]हीं ॥ः—हे भगवन् ! इत्यादिप्रकार अनेकमतवादी अपनी कल्पना से
[क]हते हैं सो उनके कहने को कैसा जानना चाहिये ॥ हे सौम्य ! वो
[स]र्ववेद से बाह्य स्वबुद्धि की कल्पना से कहते हैं क्योंकि उनके वाक्यों
[में] कोई भी श्रुति का प्रमाण नहीं, अरु वो सर्ववादी परस्पर में एक दू-
[स]रे के मतको खण्डन करते हैं ताते भी उनके वाक्य आस्था करनेयोग्य
नहीं ॥ हे सौम्य ! वैनाशिकमतवादी इस जगत् को उत्पत्ति से पूर्व
अभावमात्र ही मानते हैं, तब यह उत्पत्ति से पूर्व एक अद्वैत असत् ही
रहा ऐसा कथन बने नहीं, क्योंकि अभाव असत् का अस्तित्व अरु
काल से और संख्या से सम्बन्ध अरु अद्वितीयत्व उन असद्वादियों
करके कहना बने नहीं, क्योंकि जो केवल अभावही है तिसको, एक
अद्वितीय, आगे रहा ऐसा कथन असंगत है। अरु पुनः कहते हैं कि
तिस असत् से सत् होता हुआ सो अत्यन्तही विरुद्ध असंभव अप्रमाण
है। हे सौम्य ! जैसे शशेके शृङ्ग अद्यावधि सिद्ध हुए नहीं क्योंकि वो
अभावरूप हैं तिस अभावरूप शशशृङ्ग से भावरूप धनुष् कैसे सिद्ध
होगा किन्तु कदापि न होगा, क्योंकि वो अभाव आप असत्रूप है उस
असत्रूप अभाव से सत्रूप भाव कदापि सिद्ध होना नहीं, ताते उन
अभाववादी वैनाशिकों का वाक्य अत्यन्तविनाशकारी असंगत अप्र-
माण होने से किसी भी प्रकार से मन्तव्य नहीं ॥ हे सौम्य ! केवल
भावमात्र से ही जगदुत्पत्ति के माननेवाले जे बौद्ध सो ऐसा कहते हैं
कि जैसे कोई पुरुष जैसा पदार्थ देखता है तैसी ही उसकी प्रतिमा
(नकल) उतार लेता है तैसेही परम्पराभाव द्वारा सृष्टि चली आवती
है। हे सौम्य ! सो यह बौद्ध का कहना भी समीचीन नहीं क्योंकि जो

भावरूप वस्तु है सो एकरोज अभाव भी होती है अरु जो अभाव है
है सो वस्तु सत् न होके असत् होती है। ताते बौद्धों करके परिकल्पित
जे भाव सो असत् अभावरूप सिद्ध होताहै, अतएव तिस भावनाश
असत् अभाव से सत्रूप भाव का होना असंभवहै। ताते भाववादी
आचार्यों का कहना भी अप्रमाण होनेसे मन्तव्य नहीं॥

हे सौम्य! अब श्रुतिप्रमाण से रहित बोलनेवाले जे भाववादी तथा
अभाववादी आदिक भेदवादी हैं तिनके मतका निराकरण सम्यक् प्रकार
सविस्तर श्रवणकरो। हे प्रियदर्शन! अभावादिक कारणों के अभावसे
यह संसार बन्ध्यासुतवत् तुच्छ (कहनेमात्र) ही है यह वेदान्त उप-
निषद् श्रुति का सिद्धान्त है। ताते सम्यक् प्रकार सावधान होय श्रवण
कर अपने चित्त में निश्चय धारणाकरो। हे सौम्य! यह जगत् अका-
रणीक है वा सकारणीक है, इसका विचार करना मुख्य है, तहां कारण
विनाही जिसकी उत्पत्ति होवे सो कहिये अकारणीक, अरु कारण से
जिसकी उत्पत्ति होवे सो कहिये सकारणीक। हे प्रियदर्शन! अब इस
का विचार सावधान होके श्रवण करो। हे सौम्य! उक्त दोनों पक्षों में
प्रथम पक्ष जो 'अकारणीक संसारहै सो बने नहीं, क्योंकि तन्तु आदिक
कारणों विना पटादि कार्योत्पत्ति के असंभववत् कारण विना संसार
रूप कार्यका होना भी संभवे नहीं ताते। अरु तैसेही कारण विना कार्य
होवे नहीं, इस न्यायसे भी विरोध होनेसे प्रथम पक्ष समीचीन नहीं॥
अरु द्वितीय 'सकारणीक संसार, पक्ष है, तिसमें भी विचार कर्तव्य है
कि अभावकारणीक संसार है वा भावकारणीक संसार है। हे सौम्य!
तहां जो वैनाशिकमतवादी तुमसे कहते हैं कि ("असदेवेदमग्रआसी-
देकमेवाद्वितीयं तस्मादसतःसज्जायेत" अभावकारणीक संसार है, तहां
उनसे प्रश्न करना चाहिये कि, हे वादिन्! तुम जो अभावकारणीक
संसार कहते हो तो, क्या 'प्रागभावकारणीक संसार है, १। वा प्रध्वं-
साभावकारणीक संसार है २। वा अत्यन्ताभावकारणीक संसार है ३।
वा अन्योन्याभावकारणीक संसार है ४। (इन अभावचतुष्टयमें से किस
अभावको तुम जगत् का कारण मानते हो। तहां जो कदापि वादी कहे

हम प्रथम पक्ष प्रागभावकारणीक संसार को मानते हैं, तो वहां भी
से प्रष्टव्य है कि, कारण का प्रागभाव जगत् का कारण है, वा कार्य
प्रागभाव जगत् का कारण है, वा उभय का प्रागभाव जगत् का
रण है (हे सौम्य ! इस प्रागभावान्तर तीनोंपक्षों में से यदि वादी कहे
) कारण का प्रागभाव संसार का कारण है, तहां उससे पुनः प्रष्टव्य
कि कारण का प्रागभाव विनाशी है वा अविनाशी है, तहां जो वादी
है कि कारण का प्रागभाव विनाशी है, तो पुनः उससे प्रष्टव्य है कि
कार्योत्पत्ति के पूर्वही प्रागभाव नाश होवे है वा कार्योत्पत्ति के अनन्तर
उसका नाशहोवे है । तहां जो कदापि वादी प्रथमपक्ष कहै कि कार्यो-
त्पत्ति के पूर्वही कारण के प्रागभाव का नाशहोवे है, तो अकारणीक
संसार पक्ष में कहे जे दोष तिन दोषों का इसमें सद्भाव होनेसे समीचीन
नहीं। अरु जो कदापि वादी द्वितीयपक्ष कहै कि कार्योत्पत्ति के अनन्तर
कारण के प्रागभाव का नाशहोवे है, तो उस पक्षमें भी प्रष्टव्य है कि
कारण का प्रागभाव एक है वा नानाहै, तहां जो वादी कहे कि कारण
का प्रागभाव एक है, तो इस पक्षमें भी पुनः प्रष्टव्य है कि अब कारण
के प्रागभाव का नाश हुआ है या नहीं, । हे सौम्य ! तहां नाश पक्ष तो
नष्ट तन्तुआदिक कारणों से पटादिक कार्य की उत्पत्तिवत् नष्ट प्रागभाव-
रूप कारण से जगत्‌रूप कार्य की उत्पत्ति का असंभवहोने से सो बने
नहीं । अरु नाशाभाव द्वितीयपक्ष में भी पुनः प्रष्टव्यहै कि जब प्रागभाव
का नाश होगा उसके अनन्तर कार्य होगा वा नहीं, तहां जो वादी
प्रथम पक्ष कहै कि प्रागभाव के नाशके अनन्तर कार्य होवेगा । तो उस
पक्षमें भी अकारण जगत् वाद की प्राप्ति होने से अयुक्त है । अरु जो
द्वितीयपक्ष कहै कि प्रागभाव के नाश होने के अनन्तर कार्योत्पत्ति होवे
नहीं, तो इसपक्ष करके सर्वजीवों को अनायास ते मोक्षप्राप्ति का सम्भव
होने से बने नहीं, क्योंकि रागद्वेषादिक संसारही बन्धहै अरु प्रागभाव-
रूप कारण का अभाव होनेसे कारण विना रागद्वेष आदिक संसार की
अनुत्पत्ति के हुए जीवों को संसार का अभावरूप मोक्ष अतिही स्पष्टहै ।
हे सौम्य ! इसरीति से कारण का प्रागभाव विनाशी अरु एकहै इस पक्ष

का खण्डन हुआ॥—॥हे सौम्य ! अब कारण का प्रागभाव विनाशी अरु नाना है, इस पक्ष में भी वादी से प्रष्टव्य है कि प्रागभावों का स्वरूप से ही भेदहै वा प्रतियोगी के भेद से भेद है तहां जो कदापि वादी ऐसा कहै कि उन विनाशी नाना प्रागभावों का स्वरूप स्वरूप से ही भेदहै, तो सो पक्ष सम्भवे नहीं, क्योंकि घटपटादिकनको प्रतियोगी निरपेक्ष होने से उनका परस्पर स्वरूप से भेदहै, तैसे प्रागभाव भी प्रतियोगी निरपेक्ष होवे तो उनका स्वरूप से भेद सम्भवे, परन्तु प्रतियोगी निरपेक्ष प्रागभाव है नहीं ताते स्वरूप से ही तिनका भेद सम्भवे नहीं अरु स्वरूपसे प्रागभावों का भेद किसी ग्रन्थकार ने माना भी नहीं है। हे सौम्य ! जो कदापि वादी कहे कि प्रागभावों का प्रतियोगी भेद से भेदहै, तो इस द्वितीयपक्ष में भी वादी से प्रष्टव्य है कि प्रागभावत्वरूप से प्रागभाव संसार का कारण है वा स्ववृत्तिप्रतियोगिता निरूपकत्व सम्बन्धद्वारा प्रतियोगी विशिष्टरूप से प्रागभाव संसार का कारण है तहां वादी प्रथमपक्ष कहे तो तन्तुओं में घट की औ कपाल में पट की उत्पत्ति के असम्भव से अनादरणीय है। अरु जो कदापि वादी द्वितीय पक्ष कहै तो तहां भी यह प्रष्टव्य है कि असिद्धप्रतियोगी विशेषण है वा सिद्धप्रतियोगी विशेषण है वहां जो वादी प्रथमपक्ष कहै तो असिद्धदण्ड विशिष्ट कुलाल में घटकारणता के असंभववत् असिद्ध प्रतियोगी विशिष्ट प्रागभाव में संसार की कारणता का असंभव होने से संभवे नहीं, अरु जो कदापि वादी सिद्धप्रतियोगी विशेषण है यह द्वितीयपक्ष कहै तो भी प्रतियोगी की सत्ताकाल में प्रागभाव का अरु प्रागभावकाल में प्रतियोगी की सत्ता का अभाव होनेसे प्रतियोगीविशिष्ट प्रागभाव के असम्भव से समीचीन नहीं। हे सौम्य ! इसरीति से कारण का प्रागभाव विनाशी अरु नाना है यह पक्ष भी वादी का असंगत है॥ हे सौम्य! अब द्वितीयपक्ष कारण का प्रागभाव अविनाशी अरु संसार का कारण है, यह पक्ष तो प्रागभाव के असम्भव से तथा प्रध्वंसाभावादिकरूप की प्राप्ति से संभवे नहीं॥ अर्थात् अनादिशान्त जो अभाव सो कहिये प्रागभाव यह प्रागभाव का लक्षणहै॥ ताते प्रागभाव को अविनाशी माने

तो लक्षण को लक्षणमात्र में वृत्तित्वाभावरूप असंभव दोषयुक्त होने से प्रागभाव की साधकता तिसमें संभवे नहीं, अरु प्रागभाव के लक्षणान्तरका संभव नहीं, कि जिससे प्रागभाव सिद्ध होवे। अरु प्रागभाव को सादि अनन्तमाने तो प्रध्वंसाभाव का नामान्तर प्रागभाव होवेगा, अरु जो प्रागभाव को अनादि अनन्त माने तो अत्यन्ताभाव तथा अन्योऽन्याभाव के रूप में प्रागभाव का अन्तरभाव होने से तिनसे भिन्न प्रागभाव अलीक होवेगा। हे सौम्य! इस रीति से कारण का प्रागभाव अविनाशी अरु संसार का कारण है, यह पक्षभी समीचीन नहीं॥ हे प्रियदर्शन! कारण का प्रागभाव कार्य का जनक है, वा कारण का जनक है यह वादी से प्रष्टव्य है तहां जो वादी प्रथम पक्ष कहै कि कारण का प्रागभाव कार्य का जनकहै तो सो संभवे नहीं क्योंकि कार्य का प्रागभाव कार्य का जनक है अरु कारण का प्रागभाव कारण का जनक है, यह नियम है, ताते कारण के प्रागभाव को कार्य का जनक माने तो कारण के प्रागभाव से संसाररूप कार्य की उत्पत्तिवत् कपालवृत्ति घटके प्रागभाव से पटकी अरु तन्तुवृत्ति पट के प्रागभाव से घटकी उत्पत्ति होने चाहिये सो होवे नहीं॥:-अथवा कारण के प्रागभाव को कार्य का जनक माने तो कारण के प्रागभाव से संसाररूप कार्य की उत्पात्तिवत् कपालवृत्ति के प्रागभाव से घट की अरु तन्तुवृत्ति पट के प्रागभाव से पटकी उत्पत्ति होनी चाहिये सो होवे नहीं-:॥ ताते कारण का प्रागभाव कार्य का हेतु नहीं। अरु जो कदापि वादी द्वितीयपक्ष कहे कि कारणका प्रागभाव कारण का जनक है तो इस द्वितीयपक्ष में भी प्रष्टव्यहै कि हे वादिन्! तेरे यहां कारणपद से ब्रह्म का ग्रहण है वा अज्ञान का ग्रहणहै वा संसार का ग्रहण है, वहां जो कदापि वादी प्रथम अरु द्वितीय दोनों पक्ष कहै तो अनादि परमाणु आदिकों के प्रागभाव के असंभववत् अनादि स्वभाव ब्रह्म अरु अज्ञान के प्रागभाव के असंभव होने से मानने योग्य नहीं, क्योंकि ब्रह्म अरु अज्ञान की श्रुति स्मृति तथा युक्तियों से प्रसिद्ध तहां "अजामेकाम्" "अजोह्येकः" यह श्रुति अरु "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" यह स्मृति, अरु युक्ति आगे कहैंगे॥ हे सौम्य! तैसेही कारणपद से

संसार कारण ग्रहणरूप तृतीयपक्ष वादी कहै तो सो भी कार्यरूप संसार में कारणपद प्रयोग के असंभव से तथा कारण का प्रागभाव कार्य का हेतु है इस प्रतिज्ञा की हानि से भी बने नहीं। हे सौम्य! इस रीति से कारण का प्रागभाव कार्य का जनक है इस पक्ष का खण्डन हुआ ॥ हे सौम्य! तैसे कार्य का प्रागभाव कार्य का हेतु है, यह प्रागभावकारणोक्त संसार पक्षान्तर द्वितीयपक्ष है, उसमें भी वादी से यह प्रष्टव्य अरु विचारणीय है कि कार्य का प्रागभाव कार्य का उपादानकारण है वा निमित्त कारण है, तहां जो वादी कार्य के प्रागभाव को कार्य का उपादानकारण कहै तो यह प्रथमपक्ष भी संभवे नहीं, क्योंकि जिसके स्वरूप में कार्यकी स्थिति होवे उसको उपादानकारण कहते हैं, अरु कार्य के प्रागभाव में कार्यकी स्थितिके असंभव से अरु कार्य में सद्बुद्धिते कार्य में उपादानता की उक्ति अयुक्त है। अरु कार्य का प्रागभाव कार्य का निमित्तकारण है, यह द्वितीयपक्ष जो वादी कहै तो तिस बिषेभी उसे प्रष्टव्यहै कि कार्य का प्रागभाव सादि है वा अनादि है। तहां जो कदापि वादी प्रथमपक्ष कहे कि कार्य का प्रागभाव सादि है तो वहां भी पुनः प्रष्टव्यहै कि कार्य के प्रागभाव का कारण प्रागभाव है वा प्रतियोगी है। तहां जो वादी प्रथम पक्ष कहे तो सो आत्माश्रयदोषसे संभवे नहीं, अरु द्वितीयपक्ष भी कार्य के प्रागभाव अरु प्रतियोगी को परस्पर सापेक्षरूप होने से अन्योन्याश्रय दोषते संभवे नहीं, अरु प्रागभाव के लक्षण का असंभव होने से समीचीन नहीं। अरु जो कदापि वादी द्वितीय पक्ष कहै कि कार्य का प्रागभाव अनादि है, तो इस पक्ष में भी प्रष्टव्य है कि (कार्य का प्रागभाव जो अनादि है) सो निराश्रय है वा साश्रय है। तहां जो कदापि वादी कार्य का प्रागभाव अनादि निराश्रय है यह प्रथमपक्ष है, तो सो धर्मी निरपेक्ष प्रागभाव के स्वरूपकी असिद्धि होनेसे संभवे नहीं, अरु जो कदापि वादी कहे कि कार्य का प्रागभाव अनादि साश्रय है तो इस द्वितीयपक्ष में भी प्रष्टव्य है कि कार्य के प्रागभाव अनादि साश्रय का अधिकरण प्रतियोगी है १। वा ब्रह्म है २। वा अज्ञान है ३। वहां जो वादी प्रथम पक्षको अङ्गीकार करे तो सो बने नहीं, क्योंकि परस्पर

विरोधी प्रकाश अरु तम का आधाराधेयभाव के असंभववत् विरोधी प्रतियोगी में प्रागभाव की अधिकरणता का अभाव होने से असंगत है। अरु द्वितीयपक्ष भी असंगस्वभाव ब्रह्म अधिकरणिक प्रागभाव के असंभव से समीचीन नहीं। अरु जो कदापि वादी तृतीयपक्ष कहे तो यद्यपि अज्ञान अधिकरणिक प्रागभाव संभवे है तथापि अज्ञान को अचिन्त्यशक्तिरूप होने से अरु दुर्घट कार्यकारित्व स्वभाव से उसमें कार्यनिर्वाहार्थ प्रागभाव की अधिकरणता की कल्पना व्यर्थ है अरु अन्य कोई पदार्थ कार्यमात्र प्रतियोगिक प्रागभाव का आश्रय संभवे नहीं। इस रीति से आश्रय पक्ष को असंगत होनेसे कार्य का प्रागभाव कार्य का हेतु है यह पक्षभी अयुक्त है। अरु कार्य कारण उभय के प्रागभाव को संसार का कारण पक्ष जो उभय पक्षगत उक्त दोषन के सद्भाव से बने नहीं। हे सौम्य! इस प्रकार प्रागभावकारणीक संसार है, वादी के इस प्रथम पक्ष का खण्डन हुआ जानना॥ १॥

हे सौम्य! अब अभाववादी का द्वितीयपक्ष जो प्रध्वंसाभावकारणीक संसार है तिसका विचार श्रवणकरो। हे प्रियदर्शन! उस वादी से पूछना चाहिये कि हे वादिन्! तेरा प्रथमपक्ष 'प्रागभावकारणीक संसार है,' सो तो उक्त प्रकार बने नहीं। अरु जो तू अपना द्वितीयपक्ष कहे कि प्रध्वंसाभावकारणीक संसार है, वहां हम तुमसे यह पूछते हैं कि कारण का प्रध्वंसाभाव संसार का कारण है वा कार्य का प्रध्वंसाभाव संसार का कारण है, वा उभय का प्रध्वंसाभाव संसार का कारण है॥ वहां जो कदापि प्रथमपक्ष कहे कि कारण का प्रध्वंसाभाव संसार का कारण है, तो सो नष्टकपाल कुलालादिकन से घटरूप कार्य की उत्पत्ति के असंभववत् नष्टहुए कारण से संसाररूप कार्य की उत्पत्ति का असंभव होने से अयुक्त है (हे सौम्य! सूक्ष्मविचार से तो कारण का प्रध्वंसाभावही अलीक है) हे वादिन्! तूने जो कारण का प्रध्वंसाभाव संसार का कारण कहा तहां कारण शब्द करके अज्ञानका ग्रहण है वा ब्रह्मका ग्रहण है। हे सौम्य! इस प्रकार प्रश्न करने से वादी (अज्ञान का ग्रहणरूप) प्रथमपक्ष कहे, तो तहां यह प्रष्टव्य है कि ध्वंसाभाव का अपर पर्याय जो अज्ञान का

नाश सो अधिष्ठान के ज्ञानसे होवे है १ वा क्रिया से होवे है २ वा कारण के नाश से होवे है ३ वा कार्य के नाशसे होवे है ४ वा आश्रय के नाशसे होवे है ५। तहां इन पांचों पक्षों में प्रथम पक्ष कहै कि अधिष्ठान के ज्ञानसे कारण का नाशहोवे है, तो जैसे अध्यस्त सर्पकी अधिष्ठान रज्जुके साक्षात्कार के हुए बाधात्मकनिवृत्ति विना ध्वंसरूपनिवृत्ति संभवे नहीं, तैसेही अध्यस्त अज्ञानकी अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार से बाधात्मकनिवृत्ति विना ध्वंसरूपनिवृत्ति के असंभव से संभवे नहीं। अरु जो द्वितीयपक्ष कहै कि क्रिया से अज्ञानरूप कारण का नाश होवे है; तो सो भी दण्डादिकन की घातरूप क्रिया से घटकी निवृत्तिवत् अध्यस्त सर्प की निवृत्ति नहीं (अर्थात् रज्जुबिषे अध्यस्त सर्पकी निवृत्ति अधिष्ठान रज्जु के ज्ञान विना दण्डादिकन की घातजन्यक्रिया से कदापि संभवे नहीं) तैसेही शरीरादिकों की क्रिया से पुण्यकर्मजन्य पाप की निवृत्ति के सम अध्यस्त अज्ञानकी निवृत्ति का अभाव होने से संभवे नहीं २। अरु जो तृतीय पक्ष कहै कि कारण के नाश से अज्ञान कारण का नाशहोवे है, तो सो भी "अजामेकां" इस अज्ञानकी अनादिता प्रतिपादक श्रुतिवाक्य से विरोध के कारण बने नहीं ३। अरु जो चतुर्थपक्ष कहै कि कार्यके नाश से कारण अज्ञान का नाश होवे है तो सो भी बने नहीं क्योंकि जैसे घटरूप कार्य के नाश से घट के उपादान मृत्तिका का नाशहोवे नहीं, तैसेही संसाररूप कार्य के नाशसे जगत्के उपादान अज्ञानका नाश संभवे नहीं, अन्यथा (अर्थात् संसाररूप कार्य के नाश से कारण अज्ञान का नाशहोवे तो) उपादान कारण अज्ञान के अभाव से कल्पान्तरमें संसारकी उत्पत्ति न होनी चाहिये, अरु जो तथास्तु (अर्थात् ऐसा कहै कि कल्पान्तर में संसार की उत्पत्ति मत हो) तो सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध होवेगा। तातें चतुर्थपक्ष भी संभवे नहीं ४। अरु जो कदापि पञ्चम पक्ष कहै कि आश्रय के नाश से कारण अज्ञान का नाशहोवेहै। तो तहां हम यह पूछते हैं कि अज्ञान का आश्रय, संसारहै, वा अज्ञान है, वा ब्रह्म है, तहां अज्ञान का आश्रय संसार है यह प्रथमपक्ष तो, अज्ञान के अन्त

भावी संसार में अज्ञान की आश्रयता के असंभववते बने नहीं । अरु जो कदापि द्वितीयपक्ष कहै कि अज्ञान का आश्रय अज्ञान है तो सो अनवस्थादि दोष करके युक्त होनेसे बने नहीं । अरु जो तृतीयपक्ष कहे कि अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है उसके नाश से कारण अज्ञान का नाश होवे है, तो अज्ञान के अधिष्ठान अविनाशीस्वरूप ब्रह्म के नाश का असंभव होने से अनादरणीय है ॥ (हे वादिन् ! तैंने कारण अज्ञान का ध्वंस जगत् का कारण कहा है तहां हम पूछते हैं कि) कार्य के आकार परिणत अज्ञान की अवस्था का नाम (अर्थात् कारण अज्ञान का कार्यरूप परिणाम होनेरूप अवस्था का नाम) ध्वंस है, वा अज्ञान के अभावका नाम ध्वंस है, तहां जो प्रथमपक्ष कहै तो कार्यात्मक अवस्था को कार्य की हेतुता होनेसे आत्माश्रय दोष होवेगा, अरु द्वितीयपक्ष में अज्ञान के नाश को अनादि माने तो प्रागभावादिकन के नामान्तर की प्राप्ति होवेगी, अरु जो अज्ञान के नाशको सादि मानके कार्यमात्रकी कारणता वाञ्छित होवे तो कार्यमात्र के अन्तःपाति ध्वंस को अपने में अपनी कारणता होने से आत्माश्रय दोष, तथा कार्य में असद्बुद्धिकी प्राप्ति होवेगी, अरु कार्यविशेष में ध्वंसको कारण कहै तो कारण का ध्वंसभाव कार्यमात्र का हेतु है इस प्रतिज्ञा की हानि होवेगी । इसरीति से अज्ञान के ध्वंस का असंभव होनेसे कारण पद वाच्य अज्ञान का ध्वंस संसार का कारण है यह पक्ष असंगत है ॥ (हे सौम्य ! पूर्व प्रश्न के उत्तर में वादीने कहा कि कारणपद वाच्य अज्ञान का प्रध्वंसाभाव जगत् का कारण है उस पक्ष का निराकरण हुआ) हे प्रियदर्शन ! (जो कदापि वादी ऐसा कहै कि कारणपद वाच्य ब्रह्म का प्रध्वंसाभाव जगत् का कारण है, तो अज्ञान के प्रध्वंसाभाववत् ब्रह्म का प्रध्वंसाभावभी संभवे नहीं, क्योंकि जैसे व्यापक अरु निरवयव आकाश का दण्डादिकन के घातरूप कर्मों से नाश संभवे नहीं तैसेही "महतो महीयान्" "निष्कलं" इत्यादि श्रुतिप्रमाण से (अरु यथार्थ अनुभव युक्ति से) व्यापक अरु निरवयव निराकार ब्रह्म का शस्त्रादिकन के घातरूप कर्म से नाश संभवे नहीं, "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि"

किंच उपादान कारण के नाश से वा निमित्त कारण के नाश से कार्य द्रव्य का नाश होवे है। जैसे तन्तु वा तन्तु के संयोग के नाश से पट का नाश होवे है। अरु अनादि स्वभाव ब्रह्म का उभय प्रकारके कारण के असम्भव से, प्रध्वंसाभाव बने नहीं। हे सौम्य! जो कदापि कोई वादी ब्रह्म को कार्य कहै तो उससे यह प्रष्टव्य है कि ब्रह्म का कारण अज्ञान है वा ब्रह्म है, वहां जो वादी प्रथमपक्ष कहै कि ब्रह्म का कारण अज्ञान है, तो सर्प के अधिष्ठान रज्जु की सर्पसे जनिता (उत्पत्ति) के असंभववत् अज्ञान के अधिष्ठान ब्रह्म की अपने में अध्यस्त अज्ञान से उत्पत्ति का अभाव होनेसे समीचीन नहीं॥ किंच वादी से यह भी प्रष्टव्य है कि अज्ञान स्वतन्त्र है वा परतन्त्र है, तहां जो वादी प्रथमपक्ष कहै कि अज्ञान स्वतन्त्र है, तो उससे पुनः प्रष्टव्य है कि अज्ञान में स्वतन्त्रत्व आश्रय विषय निरपेक्षत्वरूप है वा कार्यजन्य कर्तृत्वरूप है, वा चेतनस्वरूप प्रकाशकत्वहै। तहां जो वादी प्रथमपक्ष कहै तो "कस्य कुत्राज्ञानं" किस पुरुष को किसविषय में अज्ञान है इस प्रतीति विरोधसे संभवे नहीं। अरु जो वादी द्वितीयपक्ष कहै कार्यजन्य कर्तृत्वरूप स्वतन्त्रता है, तो सो भी वक्ष्यमाण अज्ञान कारणीक संसारके निराकरण का साधक युक्ति समुदायरूप दोषोंसे संभवे नहीं। अरु कदापि वादी तृतीयपक्ष कहै, कि अज्ञान चेतनस्वरूप प्रकाशकत्वरूप स्वतन्त्र है, तो सो भी जड़स्वभाव अज्ञान में स्वप्रकाशयुक्ति के विरोध से बने नहीं। अरु जो अज्ञान को चेतन माने तो अज्ञान के स्वरूप की क्षिति ते वा ब्रह्मरूप की प्राप्ति ते संभवे नहीं॥ अरु जो कदापि वादी अज्ञान को परतन्त्र माने तो सो पक्ष भी ब्रह्मसत्ता के अधीन सत्ता के (सत्तावाले) ज्ञान में स्वसत्ताप्रदाता ब्रह्म की जनकता का असंभव होनेसे समीचीन नहीं॥ अरु ब्रह्म का कारण ब्रह्म है, ऐसा कहै तो इस पक्षविषे अन्योन्याश्रयदोष होने से सो बने नहीं। हे सौम्य! इस प्रकार ब्रह्म की सामग्री का अभाव होनेसे ब्रह्म प्रतियोगिक प्रध्वंसाभाव बने नहीं। ताते कारण शब्द से अज्ञान वा ब्रह्म के ग्रहण का अभाव होने से उभय प्रतियोगिक ध्वंसाभाव अलीक है।

तातें कारण का प्रध्वंसाभाव कारणीक संसार है-यह पक्ष असंगत है॥ हे सौम्य ! प्रध्वंसाभाव कारणीक संसारहै इस प्रकार के वादीके पक्ष के अवान्तर प्रध्वंसाभाव कारणीक संसार द्वितीय पक्ष है तिसके अवान्तर तीन पक्ष हैं तिन में प्रथमपक्ष कारण का प्रध्वंसाभाव कारणीक संसार है इस पक्ष का निराकरण हुआ। अरु द्वितीयपक्ष जो कार्य का प्रध्वंसाभाव जगत् का कारण है, सो इस पक्षका भी निराकरण श्रवणकरो। हे सौम्य! जो कदापि वादी ऐसा कहै कि कार्यका प्रध्वंसाभाव जगत्का कारणहै तो सो अन्योन्याश्रयदोष युक्त होने से संभव नहीं, अरु जो कदापि वादी तृतीयपक्ष कहै कि कारण अरु कार्य दोनोंका प्रध्वंसाभाव कारणीक संसार है, तो इस पक्षबिषे भी उभय पक्षोंगत दोषों के सद्भाव से यह तृतीयपक्ष भी बने नहीं ॥ अरु प्रागभाव पक्षबिषे कहे जे शेष दोष सो तो इस प्रध्वंसाभाव पक्ष बिषे भी अनुगत है ताते यहां लिखे नहीं ॥ हे सौम्य ! उक्त रीति प्रमाण से वादी के अभावकारणीक संसार पक्ष के अवान्तर प्रध्वंसाभाव कारणीक संसार है, इस द्वितीयपक्ष का भी खण्डनहुआ ॥ २ ॥

हे प्रियदर्शन ! अभाववादी के अभावकारणीक संसारपक्ष के अन्तर्गत पूर्व चारपक्ष कहे हैं उनमें से प्रागभाव कारणीक संसार पक्ष अरु प्रध्वंसाभाव कारणीक संसारपक्ष इन दोनों पक्षों का खण्डनहुआ। अब शेषरहे दोनों पक्षों में से अत्यन्ताभाव कारणीक संसारपक्ष का खण्डन श्रवण करो हे सौम्य ! हे प्रियदर्शन ! अभाववादी अपने उक्त दोनों पक्षों के खण्डन को श्रवण यदि अपना तृतीयपक्ष कहै कि अत्यन्ताभाव कारणीक संसार है, तो उसपक्ष बिषे भी उससे प्रष्टव्य है कि हे वादिन्! कारण का अत्यन्ताभाव संसार का कारण है वा कार्य का अत्यन्ताभाव संसार का कारण है, वा उभय का अत्यन्ताभाव संसार का कारण है। अरु कारणपक्ष में भी प्रष्टव्य है कि हे वादिन् ! कारण शब्द करके तेरे यहां ब्रह्म का ग्रहण है वा अज्ञान का ग्रहण है वहां जो कदापि वादी प्रथमपक्ष कहै कि कारण शब्द से ब्रह्म का ग्रहणहै तो अबाध्यस्वभाव ब्रह्मप्रतिपादक "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने

से अथवा निरधिष्ठान संसार के अभाव से बने नहीं। अरु जो कदापि वादी द्वितीयपक्ष कहै कारणपक्ष से अज्ञान का ग्रहण है तो कल्पित अज्ञान का ब्रह्मज्ञान से निवृत्तिरूप अत्यन्ताभाव को 'कल्पित सर्प के अत्यन्ताभाव को रज्जुरूप की प्राप्तिवत्; ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मकारणीक संसार वाद की आपत्ति से संभवे नहीं। हे सौम्य ! इस प्रकार वादी के कारण शब्द से गृहीत जे प्रथम ब्रह्मपक्ष अरु द्वितीय अज्ञानपक्ष तिन दोनों का निराकरण हुआ अरु तैसेही वादी के अत्यन्ताभाव कारणीक संसारपक्ष के अवान्तर तीन पक्ष हैं वहां प्रथम कारण का अत्यन्ताभाव संसार का कारण है, वा कार्य का अत्यन्ताभाव संसार का कारण है 'वा दोनों का अत्यन्ताभाव संसार का कारणहै, सो तीनोंपक्ष बने नहीं, तहां आद्य द्वितीयपक्ष भी तन्तुवृत्ति घट के अत्यन्ताभाव में घट जनकता के असंभववत् ब्रह्मवृत्ति संसार के अत्यन्ताभाव में संसारकारणता के अभाव से असंगत है। अरु उभय पक्षोंगत दोषों के सद्भावसेही प्रथम द्वितीयपक्ष संभवे नहीं॥ किंच वादी से यह प्रष्टव्यहै कि 'अत्यन्ताभाव शक्तिसहित कारण है वा अशक्ति कारण है, तहां जो वादी प्रथमपक्ष कहै तो शक्तिरहित बन्ध्यासुत कुलाल से घटोत्पत्ति के असंभववत् शक्तिशून्य अत्यन्ताभाव से संसारोत्पत्ति का अभाव होने से संभवे नहीं अथवा अत्यन्ताभाव को केवलअन्वयी होने से सर्वत्र उसका लाभ संभवे है, ताते कारणरूप अत्यन्ताभाव से भिन्न घट पटादिकों के लिये पुरुषों का अकारण कपाल तन्तु आदिकों के ग्रहण में प्रवृत्ति नहीं हुई चाहिये सो होवेहै, एतदर्थ उन पुरुषों की घट पटादि कार्य के निमित्त कपाल तन्तु आदिक कारण के ग्रहण में प्रवृत्ति होती है सोई अत्यन्ताभाव में संसार कारणता के अभाव बोधनद्वारा भावकारणीक संसार को बोधन करे है। एतदर्थ शक्तिरहित अत्यन्ताभाव कारणीक संसारपक्ष असंगत है॥ अरु जो कदापि वादी द्वितीयपक्ष शक्तिसहित अत्यन्ताभाव को जगत् का कारण अङ्गीकार करे तो वहां भी प्रष्टव्य है कि सो शक्ति असत् है वा सत् है, वहां जो कदापि वादी प्रथमपक्ष कहै कि शक्ति असत् है तो समान स्वभाव उभय प्रकाशों का धर्म धर्मीभाव के असंभववत्

शांत स्वभाव असत् शक्ति अरु अत्यन्ताभाव के धर्म धर्मीभाव के असंभव से बने नहीं, अरु जो कदापि वादी द्वितीयपक्ष कहै कि शक्ति सत् है तो भी बने नहीं क्योंकि सत्य जे गन्धादिक सो असत्य जो पुष्प तिनका धर्म होवे नहीं, तैसेही सत् शक्ति में अत्यन्ताभाव की धर्मताके अभावसे समीचीन नहीं ॥ अरु प्रागभाव अरु प्रध्वंसाभाव के दोनों पक्षों में कहे जे शेष दोष सो इस अत्यन्ताभाव में भी व्यापक (अनुगत) है एतदर्थ यहां लिखे नहीं ॥ अरु इस अत्यन्ताभाव के खण्डन का विस्तार आत्मपुराण के अष्टमाध्याय बिषे प्रसिद्ध है, एतदर्थ यहां खण्डन की रीतिमात्र लखाई है ॥ हे सौम्य! उक्त प्रकार अभाववादी के तृतीय अत्यन्ताभाव कारणीक संसारपक्ष का खण्डन हुआ जानना॥३॥

हे सौम्य! अभाववादी के अभाव कारणीक संसारपक्ष के अन्तर्गत प्रागभावादि चार अभावपक्ष हैं उनमें से तीन पक्षों का अखण्डन कहा। अब चतुर्थ अन्योन्याभाव कारणीक संसार पक्षके खण्डन को श्रवण करो। हे सौम्य! जो कदापि वादी अपने तीनों पक्षों का खण्डन श्रवण कर अपना चतुर्थपक्ष कहै कि हम अन्योन्याभाव कारणीक संसारपक्ष मानते कहते हैं, तो उस पक्ष में भी पूर्ववत् उससे प्रष्टव्य है कि हे वादिन्! तू जो अन्योन्याभावकारणीक संसार मानता है, वहां कारण का अन्योन्याभाव कारणीक संसार मानता है वा कार्य का अन्योन्याभाव कारणीक संसार मानता है वा उभय का अन्योन्याभाव कारणीक संसार पक्ष मानता है। अरु उसके साथ यह भी प्रष्टव्य है कि कारण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है वा अज्ञान का ग्रहण है ॥ हे सौम्य! इस प्रकार प्रश्न किये जो कदापि वादी कहे कि कारण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है, तो अधिष्ठानरूप ब्रह्मसे भिन्न असत् स्वभाव पदार्थों में ब्रह्म प्रतियोगिक भेद के अधिकरणता के असंभव से अरु निर्धर्मक भेद अलीक होने से ब्रह्म प्रतियोगिक भेद कारणीक संसारपक्ष संभवे नहीं। हे सौम्य! तैसेही कारण शब्द से अज्ञान के ग्रहणरूप द्वितीयपक्ष में भी पुनः वादी से प्रष्टव्य है कि अज्ञान प्रतियोगिक भेद का धर्मी ब्रह्म है वा अज्ञान है वा संसार है। वहां जो वादी प्रथमपक्ष कहै तो असंगरूप ब्रह्म में अज्ञान

प्रतियोगिक भेद धर्मी ताके अभावसे समीचीन नहीं अन्यथा "। असंगो ह्ययं पुरुषः" इत्यादि, ब्रह्म की असंगताप्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होवेगा। अरु तैसेही द्वितीय पक्ष भी अभाव अरु प्रतियोगी का परस्पर विरोध होनेसे भेद अरु अज्ञान का धर्म धर्मीभाव के अभाव से असंगत है, अन्यथा अभाव अरु प्रतियोगी का विरोध न होगा। अरु तृतीयपक्ष भी परिणामी उपादान कारण दुग्धसे भिन्न असत् दधि में दुग्ध प्रतियोगिक भेद की अधिकरणता जैसे संभवे नहीं, तैसे परिणामी उपादान कारण अज्ञान से भिन्न असत् संसार में अज्ञान प्रतियोगिक भेद अधिकरणता के असंभव से बने नहीं। तैसेही आद्य द्वितीय पक्ष भी घटके भेद में घटजनकताके अभाववत् संसार के भेद में संसार की हेतुता का अभाव होनेसे अनादरणीय है॥ अरु वादी के अन्योन्याभाव कारणीक संसारपक्ष के अन्तर कारण अरु कार्य इन दोनों का अन्योन्याभाव संसार का कारण है, यह तृतीयपक्ष है उस तृतीयपक्ष को जो कदापि वादी कहै तो उभयपक्षगत उक्त प्रकार के दोषों के सद्भाव से सो भी अयुक्त है॥ किंच हे सौम्य! जो कदापि अन्योन्याभाव को संसार का कारण मानैं तो एक २ पदार्थ में समस्त पदार्थ की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि भेद को ही अन्योन्याभाव कहते हैं। हे प्रियदर्शन! एक घट में अपने से भिन्न समस्त पदार्थों का भेद होने से घट से समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होनी चाहिये, अरु जो "तथास्तु" कहै तो समस्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहारका अभाव होवेगा, क्योंकि अग्नि शीतका निवारक है जलशीत का निवारक नहीं, तैसेही जलताप का निवारक है अग्निताप का निवारक नहीं। एतदर्थ शीत के नाशार्थ पुरुष की अग्निके ग्रहण में प्रवृत्ति होवे है, जल के ग्रहण में प्रवृत्ति नहीं, अरु तापके वा दाहके नाश निमित्त पुरुष की जलके ग्रहण में प्रवृत्ति होवे, अग्नि के ग्रहण में प्रवृत्ति होवे नहीं। यह लौकिक व्यवहार है, उसका एक अग्नि में वा जल में अपने से भिन्न समस्त प्रतियोगिक अरु समस्त कार्य के जनक अन्योन्याभाव के सद्भाव से, अभाव होवेगा। हे सौम्य! तैसेही स्वर्गसाधक यज्ञादि धर्म हिंसादि

पाप नहीं, अरु नरकसाधक हिंसादि पाप है यज्ञादिक धर्म नहीं, इस कारण से स्वर्गार्थी पुरुष यज्ञादिक धर्म करे है हिंसादिक पापकरे नहीं, अरु अधर्मी पुरुष नरक का साधन हिंसादि पापकरे है यज्ञादिक धर्म करे नहीं, यह वैदिक व्यवहार है, उसका भी 'एक धर्म में वा पाप में अपनेसे भिन्न समस्त प्रतियोगिक अरु समस्त कार्य का जनक अन्योन्याभाव के सद्भाव से' अभाव होवेगा। हे सौम्य! इसरीति से लौकिक अरु वैदिक समस्त व्यवहार का विरोध एक पदार्थ में समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का हेतु जो अन्योन्याभाव कारणीक संसार वाद सो असंगत है॥ अरु प्रागभावादि पक्ष में कहे जे शेष दोष सो इसपक्ष में भी अनुगत हैं अतएव यहां लिखे नहीं॥ ४॥ हे प्रियदर्शन! उक्त रीति से अभाव कारणीक संसारपक्ष के माननेवाले (अर्थात् आगे एक असत् था तिस असत् से यह सत् जगत् होता हुआ ऐसे माननेवाले) जे वैनाशिकादिक अभाववादी तिनका मत चारों प्रकारके अभाववाद सहित खण्डन हुआ॥ हे सौम्य! अब भाव से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले जे भाववादी उन भाववादियों ने परस्पर में खण्डन किया है, उसको भी सावधान होय संक्षेपमात्र श्रवण करो॥ इति अभावकारणीक संसारवाद खण्डनम्॥

अथ भाववादकारणीकसंसारपक्षखण्डनम्॥

हे सौम्य! जैसे अभावकारणीक संसारवादपक्ष 'असंगत, असंभव, अप्रमाण है, तैसेही भाववादकारणीक संसारपक्ष भी संभवे नहीं, क्योंकि इस भाववाद में नाना मत हैं। तहां कोई तो काल को संसार का कारण माने है, कोई स्वभाव को संसार का कारण माने है कोई नियतिको संसार का कारण माने है, कोई इच्छाको संसार का कारण माने है, कोई पञ्चभूतों को संसार का कारण माने है, कोई अज्ञान को संसार का कारण माने है, कोई ब्रह्म को संसार का कारण माने है॥ इस प्रकार भावकारणीक संसारपक्ष में अनेकवाद हैं, उनमें प्रथम कालवादी का यह कथन है कि प्रथम स्त्रीके गर्भस्थान में शुक्र शोणित का संयोग होता है, उसके अनन्तर कलिलादिक्रम से गर्भ पुष्ट होताहै, उसके अनन्तर पुत्रादि उत्पन्न होते हैं, उसके अनन्तर (पूर्वकृत) धर्म अधर्म के

निमित्तसे होनेवाले सुख दुःख भोगपूर्वक बाल, तरुण, यौवन आदि अवस्था काल के अधीन होती हैं। और विशेष क्या कहिये देखो समस्त संसार की उत्पत्ति तथा स्थिति तथा विनाश, यह सर्वभूत, वर्तमान अरु भविष्यत् कालमेंही होवै है अर्थात् काल से बाह्य कुछभी होता नहीं, अतएव काल के अधीन संसार है ॥ १ ॥

हे सौम्य! इस कालवादी के मतमें स्वभाववादी दूषण कहे हैं, सो कालवादी से यह कहे हैं कि हे कालवादिन्! तेरा काल 'स्वभाव निरपेक्ष है वा स्वभाव सापेक्ष है, वहां जो प्रथमपक्ष कहै तो अनियत स्वभाव कालजन्य संसार को भी अनियत स्वभाव होने से 'वीर्यविना गर्भ, चक्षुविना रूपदर्शन, तथा वाणी विना भाषण, इत्यादि हुआ चाहिये, परन्तु वीर्यादिक विना गर्भादिक होते नहीं। अरु जो द्वितीयपक्ष कहै तो दोष नहीं क्योंकि 'वीर्यका गर्भजनक, चक्षुका रूपदर्शन, वाणी का शब्दालाप, स्वभाव है। एतदर्थ अनियत स्वभाव संसार होवे नहीं॥ इसरीति से कालके जनक स्वभाव को संसार का कारण होने से काल कारणीक संसारपक्ष असंगत है ॥ इस प्रकार स्वभाववादी कालवादीके मतका खण्डन करे है ॥ २ ॥

हे सौम्य! उक्त प्रकार के स्वभाववादी के मतविषे नियतिवादी दोष कहेहैं, सो इस प्रकार कहेहैं कि हे स्वभाववादिन्! तेरा स्वभाव नियति निरपेक्ष है, वा नियति सापेक्ष है, तहां जो तू प्रथमपक्ष कहै तो स्वभाव को अदृष्ट निरपक्ष होने से पुण्यकर्ताको दुःख अरु पापकारी को सुख हुआ चाहिये, सो होवे नहीं, किन्तु, पुण्यकारी पुरुष को स्वर्गादि सुख लोक होवे है अरु पापकारी पुरुष को नरकादिक दुःखलोक होवे है। अरु जो कदापि द्वितीयपक्ष अङ्गीकार करे कि स्वभाव नियति सापेक्ष है तो पुण्य का फल सुख अरु पाप का फल दुःख होने से उक्त दोष नहीं। इस रीति से स्वभाव की जनक नियति को संसार का कारण होने से स्वभाव कारणीक संसारपक्ष असंगत है ॥ ३ ॥

हे सौम्य! अब उक्त प्रकार के नियतिवाद पक्ष में इच्छाकारणीक संसारपक्ष के माननेवाले, सो इस प्रकार कहे हैं कि हे नियतिवादिन्!

तेरी नियति इच्छा निरपेक्ष है वा इच्छा सापेक्ष है, वहां जो प्रथमपक्ष कहे तो नियति व्यभिचारी होनेसे संभवे नहीं, तथाहि धर्मी पुरुष को दरिद्रताजन्य दुःख, अधर्मी पुरुष को सम्पदाजन्य सुख प्रतीति होवे है, तैसेही मुष्टिप्रहाररूप ताड़ना में दुःखकी जनकता लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु मार्ग चलने के श्रमयुक्त पुरुष को वह मुष्टिप्रहाररूप ताड़ना सुख का साधन होवे है, इस रीति से व्यभिचारी नियति में संसार की कारणता संभवे नहीं। अरु जो द्वितीय इच्छासापेक्ष माने तो दोष नहीं, क्योंकि पूर्वजन्म में धर्माधर्मविषयिणी इच्छा हेतुक शुभाशुभ क्रिया से अदृष्ट अरु वासनारूप दो अङ्कुर उपजते हैं, अरु वर्त्तमान शरीर में अधर्मी पुरुष को शुभक्रियाजन्य अदृष्टरूप अङ्कुर सम्पदा द्वारा सुख का हेतु होवे है, अरु अशुभक्रियाजन्य वासनारूप अङ्कुर अधर्म में प्रवृत्ति करावे है। तैसेही धर्मी पुरुषों को वर्त्तमान शरीर में अशुभ क्रियाजन्य अदृष्टरूप अङ्कुर दरिद्रतादि द्वारा दुःख का हेतु होवे है अरु शुभक्रिया जन्य वासनारूप अङ्कुर धर्म में प्रवृत्ति करावे है। इस रीति से स्वजन्य शुभाशुभ क्रिया हेतुक धर्माधर्म वासनाद्वारा सुख दुःख प्रवृत्ति का हेतु इच्छा को होनेसें व्यभिचार नहीं। तैसेही मुष्टिप्रहाररूप ताड़ना यद्यपि दुःख का हेतुहै तथापि मार्गके चलने से परिश्रम युक्त पुरुष को उसमें इच्छा होनेसे उन पुरुषों को वो ताड़ना दुःख का हेतु नहीं किन्तु सुख का साधन है। इसरीति से नियति को इच्छासापेक्ष माने तो उक्त उदाहरणों में व्यभिचार का असंभव है अरु इच्छा निरपेक्षमाने तो व्यभिचार का संभवहोने से नियतिजनक इच्छाही संसार का कारण है नियति नहीं, एतदर्थ नियति कारणीक संसारपक्ष भी असंगत है ॥ ४ ॥

हे सौम्य! उक्तप्रकार नियतिवादी के मतको खण्डनकर्त्ता जे इच्छावादी उनके मतमें पञ्चभूत कारणीक संसारवादी दूषण कहताहै ॥ सो इस प्रकार कहताहै कि हे इच्छावादिन्! तेरी इच्छा पञ्चभूत धर्मी निरपेक्ष है वा सापेक्ष है, वहां जो प्रथमपक्ष कहे तो जैसे रूप आदिक धर्म घटादिक धर्मी निरपेक्ष संभवे नहीं, तैसेही इच्छारूप धर्मको पञ्चभूतरूप धर्मी निरपेक्षता का असंभव होने से बने नहीं। अरु जो सापेक्षतारूप

द्वितीयपक्ष माने तो इच्छा के जनक पञ्चभूतों कोही संसार जनकता के संभव से इच्छा कारणीक संसारपक्ष असंगतहै। अरु यद्यपि इच्छा अन्तःकरण का धर्म है पञ्चभूतों का धर्म नहीं, तथापि अन्तःकरण द्वारा पञ्चभूतों का धर्म संभवे है, क्योंकि घटका कारण साक्षात् मृत्तिका है अविद्या नहीं, तथापि मृत्तिका द्वारा अविद्या को कारण होने से "मृन्मयो घटः" इस व्यवहारवत् भौतिक इच्छा है यह व्यवहार भी होवे है (अर्थात् अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सत्त्वगुण भाग का अन्तःकरण है तिस अन्तःकरण का धर्म इच्छा है, ताते इच्छा भौतिक है ऐसा व्यवहार बने है) इसरीति से इच्छा के जनक पञ्चभूतों को संसार का कारण होने से इच्छाकारणीक संसारपक्ष भी समीचीन नहीं॥ इसप्रकार पञ्चभूतवादी इच्छा वाद का खण्डन करे हैं॥ ५॥

हे सौम्य! उक्तप्रकार पञ्चभूतवादियों ने इच्छावादी का खण्डन किया, तब तिस पञ्चभूतवादी के मतमें अज्ञानवादी दूषण कहे है हे पञ्चभूतवादिन्! तेरे पञ्चभूत अकार्य है वा कार्य है, वहां जो कदापि प्रथमपक्ष कहे तो पञ्चभूतों की उत्पत्ति का प्रतिपादक "एतस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है। उस वाक्य से विरोध होवेगा ताते सो बने नहीं॥ अर्थात् उक्त श्रुति का अर्थ इस प्रकार है "एतस्मात्" कहिये ("ब्रह्मविदाप्नोति परम्") यह श्रुति "वा" सूत्र, करके प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मा अरु पुनः "एतस्मात् आत्मनः" कहिये "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मा से "आकाशःसंभूतः" आकाश उपजताहै। यह श्रुत्यर्थ है॥ हे वादिन्! जो तू द्वितीयपक्ष कहै कि पञ्चभूत कार्य हैं, तो तिस पक्षमें भी कार्यरूप पञ्चभूतों में समस्त वस्तु की जनकता का अभाव होने से, अरु भूतों का जनक अज्ञान को होने से पञ्चभूत का कारणीक संसारपक्ष भी असंगत है॥ ६॥

हे सौम्य! उक्त प्रकार अज्ञानवादीने पञ्चभूत वादी का मत खण्डन किया, तब ब्रह्मवादी उसको यह कहता हुआ कि उक्त श्रुतितो उक्त अर्थ प्रमाण ब्रह्म आत्मा को पञ्चभूतों का कारण कहे है अज्ञान में पञ्चभूतन

की कारणता कहें नहीं, ताते अज्ञान कारणीक संसारपक्ष संभवे नहीं ॥ हे सौम्य ! यद्यपि वेदान्तशास्त्र में अज्ञान को जगत् का कारण माना है सो अज्ञात जिज्ञासु की दृष्टि से माना है वास्तव से नहीं। इस प्रकार ब्रह्मकारणीक संसारवादी अज्ञानवादी का खण्डनकरे है ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! इन कालादिक भाववादियों के पक्ष में ब्रह्म कारणीक संसार वाद सप्तमपक्ष है सो सर्व श्रुतियों के प्रमाण से है । परन्तु उन सर्व श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टि के कहने का नहीं, किन्तु सर्व श्रुतियों का अद्वैत पर तात्पर्य है, जो कदापि श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टिके कहने पर होता तो श्रुतियां भिन्न २ रीति से न कहतीं, क्योंकि जो श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टिक्रम में होता तो सर्व की एकवाक्यता होती सो नहीं । देखो बृहदारण्यक उपनिषद् बिषे "। अव्याकृत वा इदमग्र आसीत् ।" इस श्रुति करके अव्याकृत पद वाच्य ब्रह्म से, अरु छान्दोग्यउपनिषद् बिषे "। सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ।" इस श्रुति करके सत्पदवाच्य ब्रह्म से । अरु तैत्तरेयउपनिषद् बिषे "। एतस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" इस श्रुति करके आत्मपदवाची ब्रह्म से । अरु ऐतरेयउपनिषद् बिषे "। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।" इस श्रुति करके आत्मपद वाची ब्रह्म से अरु मुण्डकउपनिषद् बिषे "। तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ।" इस श्रुति करके अक्षरपदवाची ब्रह्म से अरु श्वेताश्वतरउपनिषद् बिषे इस श्रुति करके मायिपदवाच्य से, इत्यादि प्रकार अनेक उपनिषदों की श्रुतियोंने अनेकनामों से नामी एक ब्रह्मसे ही जगदुत्पत्ति भिन्न २ रीति से कही है । सो उन सर्व श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टि के कथनपर नहीं किन्तु नैयायिक आदि भेदवादियों करके परिकल्पित परमाणु प्रधानादिक कारण वाद के निराकरणपूर्वक घटादि कार्य अरु मृत्तिकादि कारण के दृष्टान्त से ब्रह्म जगत् की अभेदता के लखावने में सर्व श्रुतियों का तात्पर्य है, सृष्टि के कहने में तात्पर्य नहीं । अरु जो कदापि आग्रह से उक्त श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टि के बोधन मेंही मानोगे तो "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध आवेगा । अरु "। सर्वंखल्विदंब्रह्म ।" इत्यादि एकब्रह्मबोधक श्रुतियों से भी विरोध आ-

वेगा एतदर्थ सर्व सृष्टिवाद की श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टि के कथन में न होके एक अद्वैत ब्रह्म आदिक पदवाच्य सत्तासमान के बोधनपरत्व है। अरु यही पक्ष निर्दोष समीचीन है ॥ अरु अन्य श्रुतियों ने ब्रह्म को जगत् कारणत्व का निषेध भी किया है, ताते ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं अरु निमित्तकारण भी नहीं। अरु जो माना है तो अधिष्ठान माना है सो भी सृष्टिभास के उत्तर जिज्ञासु की भ्रान्ति निवृत्त करने पूर्वक एक अद्वैत सत्ता उपदेशकरने को अध्यारोपमात्र कहा है। सृष्टिभास के पूर्वकल्पक कल्पनाकल्पित के अभाव से एक अद्वैत निराकार निर्विशेष परिपूर्ण शुद्ध बुद्ध सत्तासमान बिषे जगत् अध्यारोपमात्र भी नहीं, ताते भाववादान्तर ब्रह्म कारणीक संसारपक्ष भी समीचीन नहीं। हे सौम्य ! उक्त प्रकार सिद्धान्त विचार से संसार का कारण न प्रागभाव है, न प्रध्वंसाभाव है, न अत्यन्ताभाव है न अन्योन्याभाव है। अर्थात् उन चारों पक्षों रहित अभाव कारणीक भी संसार नहीं। अरु भाववाद बिषे जगत् का कारण न काल है, न स्वभाव है, न नियति है, न इच्छा है, न पञ्चभूत है, न अज्ञान है न ब्रह्म है। ताते कारण विना का समस्तद्वैत प्रपञ्चवन्ध्यासुत के समान केवल वाचारम्भणमात्र होनेसे अतिही तुच्छ है ॥ हे सौम्य ! यह जो भाव वाद बिषे कालवादादिक कहे हैं सो यहां उनकी रीति देखावनेमात्र संक्षेप से कही है॥

प्रकारान्तर अर्थ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुप्रति इस समस्त नामरूप क्रियात्मक जगत् का कारण एक अद्वैत सत्यरूप आत्मा कहा, तब उसको श्रवणकर वो श्वेतकेतु कहता हुआ ॥ हे भगवन् ! सो कोई एक वैनाशिक असत्वादी ऐसा कहते हैं कि यह सर्व अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत्ही था उस असत् से सत् उत्पन्न होता हुआ॥ ताते उस सत्रूप आत्मा बिषे कार्यपना है, इस प्रकार जब श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक से असत्वादी का पक्ष कहा तब वो उद्दालक कहता हुआ कि हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! ऐसा कहां प्रमाण है अरु कौन दृष्टान्त है जो इस प्रकार असत् से सत् की उत्पत्ति होती है।

हे सौम्य ! असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होवेगी ? किन्तु कदापि होवे नहीं, जैसे अभाव असत् रूप शशशृङ्ग उससे भावरूप सत् धनुष कैसे उत्पन्न होवेगा किन्तु कदापि होवे नहीं ॥ हे सौम्य ! इसलोक बिषे सत्यरूप करके प्रसिद्ध जे घट पटादि कार्य सो मृत्तिका तन्तु आदिक सत्यरूप कारणों से ही उत्पन्न होता है, असत् से तो सत्की उत्पत्ति कहीं भी देखने बिषे आई नहीं, तिसबिषे दृष्टान्त भी कोई नहीं। अरु यह आत्मदेव सर्वलोकों के अनुभव करके तथा श्रुति स्मृति आदिक शास्त्रकरके सत्यरूप करके ही प्रतीत होवे है अतएव उस सत्यरूप आत्मा की असत्रूप कारण से उत्पत्ति होवे नहीं। अरु जो कदापि सत्रूप आत्मा की असत्यरूप कारण से उत्पत्ति माने तो सो आत्मा भी कारणवत् असतही होवेगा, सो आत्मा को असत् कहना श्रुति अरु विद्वानों के अनुभव से अत्यन्तही विरुद्ध है ॥ अथवा ॥ "इस आत्माका कारण असत्रूपहै" इस वाक्य बिषे स्थित जो असत् शब्द है तिस शब्द का अर्थ सत् वस्तु का अभाव प्रतीत करावताहै, अरु इसलोक बिषे जोर अभाव होताहै सो २ अपने ज्ञानाबिषे प्रतियोगी की अपेक्षा अवश्य करता है क्योंकि प्रतियोगी ज्ञान से विना अभाव का ज्ञान होवे नहीं। एतदर्थ उस सत् का अभावरूप असत्भी अपनी सिद्धि के लिये सत्रूप प्रतियोगी की अपेक्षा अवश्यही करेगा, एतदर्थ उस सत् वस्तु बिषेही आत्मा की कारणता संभव होने योग्य है, तिस सत् वस्तु के अभावबिषे आत्मा की कारणता माननी असंभव अरु निष्फल है ॥ अथवा ॥ इस लोक बिषे कोई भी अभाव किसी भी कार्य के प्रति कारण होनेको शक्य नहीं। ताते सत् आत्मा का कारण असत् है यह कहना किसी प्रकार भी योग्य नहीं, क्योंकि इस विषय में कोई भी श्रुति का प्रमाण नहीं अरु दृष्टान्त भी नहीं ॥ हे सौम्य, हे प्रियदर्शन ! जो कोई वादी ऐसा कहै कि आत्मा का कारण असत् न होके उस आत्मा का कारण सत्य है। तो उस वादी से प्रष्टव्य है कि जो आत्मा का सत्यरूप कारण है सो परिच्छिन्न है, वा अपरिच्छिन्न है, वहां जो कदापि वादी प्रथम पक्षको अङ्गीकार करके कहै कि सो आत्मा का कारण परिच्छिन्न है सो सम्भवे

नहीं, क्योंकि इसलोक बिषे जो २ पदार्थ परिच्छिन्न होता है सो २ पदार्थ जड़ही होता है, अरु जो २ पदार्थ जड़ होताहै सो २ पदार्थ कार्यरूपही होता है, अरु जो पदार्थ कार्यरूप होता है सो पदार्थ अपनी उत्पत्ति बिषे अन्य कारण की अपेक्षावाला ही होता है। ताते सो आत्मा का सत्यरूप कारण भी परिच्छिन्न होने से जड़रूप होवेगा, जैसे घटादिक पदार्थ परिच्छिन्न होने से जड़रूप हैं, अरु जड़ होने से कार्यरूप हैं, अरु कार्य होने से कारण की अपेक्षावाले हैं। तैसेही आत्मा का सत्यरूप कारण भी परिच्छिन्न होने से जड़रूप होगा अरु जड़रूप होने से कार्यरूप भी होवेगा, अरु जब कार्यरूप होवेगा तो अपनी उत्पत्ति के लिये अन्य किसी कारण की अवश्य अपेक्षावाला होवेगा ॥ अरु सो कारण भी अपनी उत्पत्ति बिषे अन्य किसी कारण की अपेक्षावाला होवेगा, इसप्रकार कारणों की परम्परा मानने बिषे अनवस्थादोषकी प्राप्ति होवेगी, तब उस अनवस्था दोषके निवारणार्थ सो आत्मा का सत्यरूप कारण चैतन्यरूप तथा अपरिच्छिन्न है यह द्वितीयपक्ष ही वादीने अङ्गीकार करना होगा। अरु तिस द्वितीयपक्ष बिषे भी प्रष्टव्य है कि सो आत्मा का चैतन्य सत्तारूप अपरिच्छिन्न कारण आत्मा से भिन्न है वा अभिन्न है। वहां जो वादी यदि प्रथमपक्ष कहे तो सो बने नहीं, क्योंकि इसलोक बिषे जो २ पदार्थ आत्मा से भिन्न होता है सो २ सर्व अनात्मा होनेसे जड़ही होता है, अरु जो २ पदार्थ जड़ होताहै सो २ अनात्मा जड़ होनेसे कार्यरूप होता है, अरु जो पदार्थ कार्यरूप होता है सो किसी कारण करके जन्य होता है। अतएव सो आत्मा का कारण चैतन्य सत्ता आत्मा से भिन्न होने करके पूर्वोक्त परम्परा से कार्यरूप भी अवश्य होवेगा अरु कार्यरूप होने से किसी कारण करके जन्य भी अवश्य होवेगा, अरु वो जिसकारण करके जन्य होगा सो कारण भी किसी अन्य कारण करके जन्य होगा। क्योंकि जो पदार्थ चैतन्य आत्मा से भिन्न होगा सो ' अनात्मता, जड़ता, साकारता, परिच्छिन्नता, इत्यादि कार्यों के धर्म लक्षण करके युक्त होने से सो किसी कारण का कार्य अवश्यहोगा, कार्य के लक्षण युक्त होने से। अरु जो कदापि वो नैयायिकों के मत

प्रमाण परमाणुओंवत् अन्य वस्तु का कारण भी होवेगा 'जैसे परमाणु पृथिव्यादिकों के, तथापि वो कारण चैतन्य आत्मा से पृथक् हुआ अनात्म-आदि उक्त लक्षणों करके जो कार्यके हैं, युक्त होने से अपनी सिद्धि के लिये चैतन्यरूप कारणकी अपेक्षा अवश्यही करेगा। ताते चैतन्य आत्मा से भिन्न जो आत्मा का कारण मानाजायगा सो अनात्मा जड़ होने से उक्त कार्य के लक्षण करके युक्त हुआ किसी कारण करके जन्यही होगा इस प्रकार कारणों की परम्परामानने बिषे पुनः पूर्ववत् अनवस्थादोष होवेगा, उस अनवस्थादोष की निवृत्ति के लिये उस आत्मा के सत्ता-रूप कारण को वादी ने आत्म चैतन्यरूप करके ही मानना होगा ॥ अर्थात् आत्मा से पृथक् आत्मा का कारण जिस सत्ता को वादी ने माना है सो सत्ता आत्मा से भिन्न अनात्मा होनेसे 'क्योंकि जो चैतन्य आत्मा से भिन्न होगा सो जड़ अनात्मा अवश्यही होगा, उक्त कार्य के लक्षण करके युक्त हुआ वो अपनी सिद्धि के लिये अपनेसे इतर किसी चैतन्य आत्मरूप कारण की अपेक्षावाला अवश्यही होवेगा ॥ अरु जो अनात्मा से इतर चैतन्य आत्मा होगा सो अनात्मा के 'जड़त्व, साकारत्व, परिच्छिन्नत्वादि धर्मोंसे विपरीत 'चैतन्यत्व, निराकारत्व, अप-रिच्छिन्नत्व आदि आत्मा के लक्षण करके युक्तही होगा, अरु जो आत्मा सत्यत्व, चैतन्यत्व, आनन्दत्व, अद्वितीयत्व, आदि स्वरूप लक्षणों करके युक्त होगा सो कारण से रहितही होवेगा, क्योंकि जो कारण की अपेक्षावाला होगा सो सत्य कदापि न होगा। ताते हे सौम्य! वादीने जो आत्मा का कारण कोई सत्ता मानी है सो उस सत्ता को आत्मा से भिन्न अनात्मा होने से प्राप्त हुई जो जड़तादि धर्मवान् कार्यता, अरु अनवस्थादि दोष उसकी निवृत्ति के लिये उस सत्ता को चैतन्य आत्म-रूपही मानना होगा, आनन्दरूप मानना होगा, सर्व भेद भावसे रहित अपरिच्छिन्नही मानना होगा, अरु कारण से रहित अकारण मानना होगा ॥ हे सौम्य! "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" इत्यादि श्रुतिप्रमाण अरु उक्त युक्तियों के प्रमाण से जबही उस वादी ने आत्मरूप सत्ता को आत्मा का कारण माना तबहीं उस आत्मसत्तारूप कारणसे भिन्न किसी

भी कार्य बिषे तो आत्मरूपता संभवे नहीं। एतदर्थ वादीने आत्मा कारण जिस सत्तारूप को अङ्गीकार किया है, उस सत्तारूप कारण ही हम वेद सिद्धान्त के माननेवाले वेदान्ती आत्मरूपकरके ही माने हैं। एतदर्थ यहां यह अर्थ सिद्ध हुआ जो यह आत्मदेव सत् वा असत् भाव वा अभाव, किसी भी कारण करके उत्पन्न होता नहीं, एतदर्थ कार्यभावको कदापि पावता नहीं, अरु जब ऐसा है तबही वेद की श्रुति "अजो नित्यःशाश्वतोऽयंपुराणो" इत्यादि वाक्यों से, अज अविनाशी नित्य शाश्वत एकरस, अग्निआदि सर्व कारणों का अधिष्ठानरूप महा कारण सर्वका प्रकाशक ज्ञानस्वरूप सर्वभेदसे रहित एक अद्वितीय कहती है। अरु इस आत्मदेव को इस छान्दोग्यउपानिषद् की श्रुति "सदेव" सतही, कहके प्रतिपादन करे है। अतएव हे सौम्य! प्रियदर्शन! जो मतवादी कहते हैं कि असत्से सत् उत्पन्नहोता है उनको उक्त प्रकार असत् वादीही जानने वो भाव अभाववादी वेद बाह्य स्वबुद्धि की कल्पना से कहते हैं, ताते उन सर्व असत्वादियों के वाक्य तुमसारिखे वेदमतावलम्बियों को मानने योग्य नहीं। इति सिद्धम् ॥

इति आत्मकार्यतानिराकरणम् ॥

हे सौम्य! उक्त प्रकार कहने करके वेदसे बाह्य बोलनेवाले जे वैशेषिकादि परमाणुवादी अरु वैनाशिकादि अभाववादी अरु कालादि के कारण माननेवाले भाववादी, इत्यादि वादियों के मतका निराकरण हुआ जानना, अरु उनके वाक्यों को न मानना ॥ हे सौम्य! वैनाशिक जे अभाव कारणीक संसार मानते हैं उनसे प्रष्टव्य है कि तुम जो कहते हो कि असत् से सत् होता है उस तुम्हारे कहने बिषे ऐसा कौन प्रमाण है अरु कौन दृष्टान्त है कि इस प्रमाण से अरु इस प्रकार असत् से सत् उत्पन्न होताहै। अर्थात् उन असत्वादियों के वाक्यों में कोईभी श्रुतिका प्रमाण वा दृष्टान्त नहीं ॥ श्वेतकेतुरुवाच ॥ हे भगवन्! जो वादी अपने मत को प्रमाण होने के विषयमें बीजांकुर का दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे बीज के अभाव हुए अंकुर उपजता है तैसेही अभाव

कारण से भावरूप यह जगत् उपजताहै॥ उद्दालक उवाच॥ हे सौम्य! यह उनका दृष्टान्त कथन बने नहीं क्योंकि अंकुर की उत्पत्ति में बीज का कोई भी अवयव वा अंशका अभाव होता नहीं किन्तु बीज के सर्व अवयवों के होतेही अंकुर उपजताहै, यह सर्वको प्रत्यक्षहै, अतएव उक्त दृष्टान्त भी अभाववादी के मतमें अयुक्तही है। अरु इन अभाववादी अरु भाववादियों के वाक्यों का निराकरण पूर्व सम्यक् प्रकार कहचुके हैं अतएव यहां विशेष कहा नहीं। अरु बीज के अभावहुए अंकुर उपजता है सो उक्त प्रकार युक्त नहीं, अरु पूर्व जहां प्रध्वंसाभाव कारणीक संसारपक्ष का खण्डन हुआ है उसके अन्तर्गत इसका भी खण्डनहुआ जानलेना॥ हे शिष्य! उक्त प्रकार असत्वादी आदिक वेदबाह्य मतवादियों के मत का सम्यक् प्रकार निराकरण कर पुनः वो उद्दालकऋषि अपने पुत्रश्वेतकेतु से " सदेवसौम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम् " हे सौम्य! यह आगे एक अद्वितीय सतही था, यह कहके वेदपक्ष ही सिद्ध करताहुआ॥

शङ्का॥ श्वेतकेतुरुवाच॥ हे भगवन्! वादी कहता है कि जैसे असत्वादी के मतबिषे कोई दृष्टान्त नहीं, तैसे सत्वादी के पक्ष बिषभी सत्से सत् की उत्पत्ति होती है ऐसा कोई भी दृष्टान्त है नहीं, क्योंकि घटसे घटान्तर की उत्पत्ति देखते नहीं॥ समाधान॥ हे सौम्य! यह तू सत्य कहता है सत्से सदन्तर ' अर्थात् एक सत्से दूसरा सत्, उत्पन्न होता नहीं॥ प्रश्न॥ तब क्या है॥ उत्तर॥ हे सौम्य! सतही संस्थानान्तर से सुशोभित है। जैसे सर्प कुण्डली के आकार होताहै व वक्राकार होता है वा सरलाकार होता है, वहां जिस आकार से होता है उस आकार से एक सर्पही होता है, अर्थात् सर्प का जो कुण्डली के आकार से वक्राकार होना है सो कुछ उस वक्राकार से सर्प का उपजना नहीं; किन्तु जिस आकार से है एक सर्पही है। अथवा जैसे 'चूर्ण, पिण्ड, कपाल, घट, शराव आदिक आकार भेद से एक मृत्तिकाही है॥ शङ्का॥ हे भगवन्! यदि ऐसाही है कि एक सतही सर्वप्रकार से अवस्थित है, तो ऐसा क्यों कहाहै कि यह अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत्

था ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! तुमने सुना नहीं यह जो कहा है कि यह अपनी उत्पत्ति से पूर्व सतही था, सो इस इदं शब्द के वाच्य कार्य को (जो असत्वत् प्रतीत होता है) यह सतही है इस निश्चय के लिये कहा है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! तब यह कारणही है इदंशब्द का वाच्य कार्य नहीं, कार्य जो उत्पत्ति से पूर्व न था अब उत्पन्न हुआ कार्य असत् है ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! जो तुम कहते हो सो नहीं यह जो इदं प्रत्यय का विषय नामरूपात्मक जगत् है सो एक सतही इस प्रकार से सुशोभित है, जैसे एक मृत्तिकाही इदं शब्द का वाच्य पिण्ड घट शरावादि इदं बुद्धि का विषय होके सुशोभित है तैसे ॥

शङ्का ॥ हे भगवन् ! यद्यपि जैसे मृद्वस्तुही पिण्ड घटादि आकार है, तथापि सद्बुद्धि से विलक्षण बुद्धि का विषय होनेसे कार्यको कारण से भेद के साधक होनेमें सद्बुद्धि से विलक्षण जो कार्य को विषय करनेवाली बुद्धि सोई दृष्टान्त है। तैसेही सद्बुद्धिसे विलक्षण जे इदं बुद्धि उस बुद्धिका विषय होनेसे इस इदंबुद्धिके विषय कार्य का सतसे अन्यवस्त्वन्तर है। इस प्रकार कार्यजात का सतसे भेद सिद्ध होता है, जैसे अश्व से गौका ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! जैसा तू कहता है तैसा नहीं, पिण्ड, घट, शराव आदिकों का अन्योन्य व्यभिचार है। अर्थात् जो घट पिण्ड शब्द का विषय है सो घट शब्द का विषय नहीं अरु जो शब्द का विषय है सो शराव शब्द का विषय नहीं अरु जो शराव शब्द का विषय है सो घट शब्द का विषय नहीं अरु जो घट शब्द का विषय है सो पिण्ड शब्द का विषय नहीं। इसप्रकार पिण्ड घटादि कार्यों बिषे परस्पर में व्यभिचार है, तथापि उन घट शरावादि सर्व में मृत्तिका का अव्यभिचार होने से कारणरूप एक मृत्तिकाबिषे उनका व्यभिचार नहीं क्योंकि उन सर्वका कारण अव्यभिचारी मृत्तिका एकहै ताते। हे सौम्य ! यद्यपि पिण्ड, घट, आदि नाम रूप का व्यभिचार है कि यह पिण्ड है यह घटहै, परन्तु उन पिण्ड घटादिकों से मृत्तिकाका व्यभिचार नहीं, ताते एक अव्यभिचारी मृत्तिकाही घटशरावादि व्यभिचारी रूप से सुशोभित है। अरु एक कारणरूप सत्य मृत्तिका बिषे

पिण्ड घट शराव आदि व्यभिचार भासे है सो उन सर्व की मृत्तिका से पृथक्सत्ता के अभावसे वो केवल वाचारम्भणमात्रही है। ताते हे प्रियदर्शन! घट शरावादि वा कटक कुण्डलादि वा खड्गादि, सर्व मृत्तिका वा सुवर्ण वा लोहमात्रही है। तैसेही यह सर्व नाम रूप क्रियात्मक जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व केवल सत् संस्थानमात्रही है। सोई "सदेव इदमग्रआसीत्" यह श्रुति का कथन है। अरु इस कार्यरूप बिकार को वाचारम्भणमात्र होने से इस वर्त्तमान कालमें भी सत्ही है॥:-हे प्रियदर्शन! यहां पर्यन्त चतुर्थ प्रपाठक की "सर्वंखल्विदंब्रह्म" इस श्रुति का संक्षेपमात्र निर्णय हुआ जानना॥

हे सौम्य! अब आगे सृष्टि क्रम का अध्यारोप करके सत् के अन्वय द्वारा इस कार्यकारणात्मक समस्त प्रपञ्च को ब्रह्मरूपत्व लखावती श्रुति कहती है-:॥ २॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत॥ तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते॥ ३॥

अक्षरार्थ।

सो देखता (वा इच्छता) हुआ मैं बहुतरूप से उत्पन्न होवों इस प्रकार इच्छा करके प्रथम तेज को सृजताहुआ, पुनः सो तेज देखता वा इच्छता हुआ जो मैं बहुतरूप होवों उस इच्छा से जलको सृजता हुआ, तस्मात् यहां कया शोचता है जब पुरुष को उष्ण (गरमी) अधिक होती है तब उस तेजसे स्वेदरूप जल प्रकट होता है, तैसे तेज से जल होता है॥ ३॥

भावार्थ।

हे सौम्य! हे प्रियदर्शन! "वाचारम्भणंविकारोनामधेयंमृत्तिकेत्येव सत्यम्" घट शराव आदिक वाणी से कहा विकार (कार्य) केवल कहनेमात्रही है वास्तव से तो एक मृत्तिकाही सत्य है। इस दृष्टान्त

प्रमाण "सदेव सत्यम्" यह नामरूपक्रियात्मक जगत्रूप विकार (कार्य) उस सत् कारण अधिष्ठान बिषे केवल वाचारम्भणमात्रही है वास्तव से तो एक अद्वितीय सत्ही है ॥ हे सौम्य ! सो सत् देखता वा इच्छता हुआ अर्थात् देखता वा इच्छा करताहुआ। हे सौम्य ! इस ईक्षण की श्रुति करके सांख्यवादियों करके परिकल्पित जे जगत् का कारण प्रधान उस प्रधानवाद का निराकरण हुआ जानना क्योंकि सांख्यवादियों ने जगत् के कारण प्रधान को अचेतन (जड़) अङ्गीकार किया है ताते 'अर्थात् सत् चेतन से इतर प्रधान को जड़ होने से तिस बिषे "ईक्षण" देखना वा इच्छा करना बने नहीं, अरु श्रुति ने "तदैक्षत" इस प्रकार ईक्षणपूर्वक सृष्टि कही है अतएव सांख्यमत श्रुति बाह्य होने से समीचीन नहीं ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! वो सत् चेतन क्या इच्छा करता हुआ ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! वो सत्चेतन परमात्मा यह इच्छा करताहुआ कि मैं प्रकर्षकरके बहुत रूप होवों जैसे मृत्तिका घट शरावादि आकार से वा जैसे रज्जु सर्प के आकार से वा जैसे शुक्ति रजत के आकार से, प्रकट होते हैं तैसे प्रकट होवों। अर्थात् जैसे रज्जुआदिकों बिषे सर्पादिक केवल बुद्धि करके कल्पित हैं वास्तव से नहीं, तैसेही एक अद्वैत परिपूर्ण सत् परमात्मा बिषे यह नामरूप क्रियात्मक सर्व जगत् बुद्धिकरके परिकल्पित है वास्तव से नहीं ॥

शङ्का ॥ हे भगवन् ! जो ऐसाही है तो जैसे सर्पादिकों के आकार से रज्जुआदिकों का ग्रहण असत् है तैसेही सत् चैतन्यदेव का नाम रूपादि आकार से ग्रहण असत् हुआ अरु आपका कहना यह है कि यह नामरूप क्रियात्मक समस्त जगत् सर्वकाल सत्ही है, अब यहां क्या जानना चाहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! मेरा कथन यथार्थही है। हे प्रियदर्शन ! अविद्या करके द्वैतभेद से अन्यथा ग्रहणहुए भी सत्ही है असत् तो क्वचित् कदाचित् भी है नहीं 'जैसे भ्रान्ति करके रज्जुको सर्परूप से ग्रहण किये सन्ते भी सर्प सत्ता के अभाव से केवल रज्जुका ही ग्रहण है इतर का ग्रहण तौ क्वचित् कदाचित् भी होवे नहीं द्वैत के अभाव से ॥

हे सौम्य ! जैसे नैयायिक सत् से इतर वस्त्वन्तर की कल्पना करके पुनः तिसही को उत्पत्ति से पूर्व पुनः प्रध्वंस से ऊर्द्ध्व (उपरान्त) असत् कहते हैं, तैसे हम वेदवादियों करके कदाचित् क्वचित् भी सत् से इतर अभिधान अभिधेय वा वस्तु करके परिकल्पना करते नहीं, सत् ही तो सर्व अभिधान को कहते हैं। अरु जैसे लोकबिषे जो अन्यबुद्धि करके 'जैसे कि रज्जुही सर्प बुद्धि करके कि यह सर्प है ऐसा कहते हैं, अथवा जैसे पिण्ड, घट, शराव आदि बुद्धिकरके एक मृत्तिका कोही कहते हैं वा ग्रहण करते हैं कि यह मृत्पिण्ड है यह घट है यह शराव है। अर्थात् लोक बिषे रज्जु मृत्तिका के अविवेक से रज्जु मृत्तिकाको ही सर्प घटादि बुद्धि से ग्रहण करके कहते हैं कि यह सर्प है यह घट है यह शराव है, सो केवल रज्जु मृत्तिकाको ही कहते हैं। अरु जैसे रज्जु मृत्तिका के विवेकदर्शी को तो सर्पादि अभिधान (कथन) बुद्धि निवृत्त होती है पुनः मृत् विवेक बुद्धिवाले को घटादि शब्द के विषय करनेवाली बुद्धि निवृत्त होती है॥:—अर्थात् जिन पुरुषों को रज्जु मृत्तिका का यथार्थविवेक ज्ञान होता है तिनकी घटसर्पादिक विषयक 'जो केवल कहनेमात्र ही हैं, सत्बुद्धि निवृत्त होती है, अर्थात् उन विवेकी पुरुषों की उस अज्ञात बुद्धिकरके कल्पित जे घटादिक उनकी पृथक् सत्तात्मक बुद्धि सो उन सर्प घटादिकों के अधिष्ठान रज्जुमृत्तिका के यथार्थ विवेकज्ञान से निवृत्तहोती है। तैसेही सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्य के यथार्थ विवेक ज्ञानवान् पुरुषकी सत् से इतर यह नाम रूप कियात्मक जगत् कुछ है यह अविवेकात्मक बुद्धि नित्य होती है "। यतो वाचोनिवर्त्तन्तेऽप्राप्यमनसासह ।" "। अनिरुक्तेऽनिलयन "। इत्यादि श्रुतियों करके॥ हे सौम्य ! इस प्रकार इच्छा करके सो सत् परमात्मा प्रथम तेजको सृजताहुआ॥ प्रश्न॥ हे भगवन् ! इच्छाकरना तो अन्तः- करण वा मन आदिकों का धर्म है सो अन्तःकरणादिक शुद्ध सत् चैतन्य देव बिषे है नहीं तब उस सत् चैतन्यदेवने इच्छा कैसे किया सो आप कृपाकरके कहिये॥ उत्तर॥ हे सौम्य ! अब इसपर एक दृष्टान्त कहते हैं उसको श्रवण करो हे सौम्य ! जैसे चिदाभास अन्धकारको

पायके सोवने की इच्छा करता है तब इस जाग्रत् के प्रपञ्च को त्याग सोयाहुआ स्वप्न में देहादिक से लेके सर्व प्रपञ्च को रचलेता है उस बिषे मन बुद्धि इन्द्रियादिक सर्व रचलेताहै सो किसी अन्य मनबुद्धि आदिको करके नहीं रचता किन्तु अपने चैतन्य स्वभाव करके रचता है क्योंकि स्वप्नसृष्टि के रचने विषे चिदाभास स्वतन्त्र है वहां किसी की भी सहायता के आश्रय रचता नहीं। हे सौम्य ! जैसे पृथिवी का स्वभाव कठोर है, जल का स्वभाव द्रवताहै, अग्निका स्वभाव उष्णता है, वायु का स्वभाव स्पन्दता है, आकाश का स्वभाव अवकाशता है। तैसेही सत् परमात्मा का चैतन्य स्वभाव है। हे प्रियदर्शन ! जैसे पृथिवी कठोर स्वभाव होके सर्वको धारती है तैसे ही सत् परमात्मा चैतन्य स्वभाव करके इच्छा करता हुआ। हे सौम्य ! जैसे पृथिवी को सृष्टि के धारनेबिषे किसीकी भी सहायता चाहिये नहीं, अरु जो उसको जड़ होने से सहायता आपेक्षिक है तो सो सर्व शक्तिमान् चैतन्य कीही है। परन्तु उस चैतन्यदेव को इच्छाके करने बिषे किसी की भी सहायता आपेक्षिक नहीं वो सर्व शक्तिमान् सदा स्वतन्त्रहै॥ हे प्रियदर्शन ! तुमने कहा जो इच्छा करना तो अन्तःकरण का धर्म है सो 'अस्तु' परन्तु इच्छादिक करने में अन्तःकरण स्वतन्त्र नहीं क्योंकि अन्तःकरण अविद्या का कार्य जड़ है, अरु जड़ में ईक्षण बने नहीं। अरु इसही हेतुसे जड़ प्रधान में ईक्षणके असंभव से उसबिषे ईक्षण के माननेवाले सांख्यमत का वेदवादी (वेदान्ती) खण्डन करते हैं। हे सौम्य ! जिस सत् चेतनके आभास की चेतनतारूप सहायता पाय के अन्तःकरण वा मन बुद्धि आदिक चेतनवत् हुए अपने २ व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, उस स्वयं सत् चैतन्यदेव को बुद्धि आदिक जड़ों की सहायता कैसे आपेक्षिक होवेगी किन्तु किसी प्रकार भी होवे नहीं। वो शुद्ध सत् चैतन्यदेव अन्तःकरणादि सर्व उपाधि अरु उनके धर्मरूप अञ्जन (श्यामता) से रहित निरञ्जनहै उस बिषे अन्तःकरणादि कुछ भी नहीं वो सर्व से विलक्षण चैतन्य स्वभाव होने से विनाही अन्तःकरणादि करणों की अपेक्षा के स्वतन्त्र ईक्षण करता हुआ॥ प्रश्न॥ हे भगवन् ! जो कोई इच्छा करता

हैं सो किसी न किसी कामना को धारकेही करता है, तातें उस सत् चैतन्य देव ने जो बहुत होनेकी इच्छा किया सो किस कामनाको लेके किया सो भी आप कृपा करके कहिये ॥ उत्तर ॥ हे प्रियदर्शन ! यह जो श्रुतिने कहाहै कि "। तदैक्षत "। वो सत् देखता वा विचारता वा इच्छता हुआ, सो इस कहनेसे मुमुक्षु को एक अद्वैत सत् आत्मदेव का सम्यक् अनुभव करावना है एतदर्थ सो अध्यारोपमात्र ही कहा है क्योंकि सर्व श्रुतियों का तात्पर्य एक अद्वैत परिपूर्ण सत् विज्ञानघन के प्रतिपादन परत्व है, अरु जो कदापि आग्रह से श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टि के प्रतिपादन परत्व ही मानोगे तो "। नेति नेति "। इत्यादिक निषेध प्रतिपादक श्रुतियां निरर्थक होवेंगी, सो पूर्व सम्यक्प्रकार कहआये हैं । हे सौम्य ! वास्तव करके तो सत् चैतन्यदेव ने भी ईक्षण किया नहीं क्योंकि "। आप्तकामस्यकुतःस्पृहा"। वो पूर्णकाम है उसको किसी प्रकार की कोई भी कामना नहीं कामना जो होती है सो अपने से इतर अप्राप्य वस्तु की होती है अरु आत्मदेव को अपने से इतर वस्तु का अभाव है अरु उस को सर्व अपना आप होनेसे अप्राप्य वस्तु कोई नहीं, अतएव उस एक अद्वैत परिपूर्ण सर्वात्मा सत् चैतन्यदेव को कामना के अभावसे वास्तव करके ईक्षणादिकों का करना सम्भवे नहीं । अरु अध्यारोपमात्र निष्प्रयोजन भी ईक्षण के कहने से श्रुति ने उसकी स्वतन्त्रता देखाईहै, अरु अब निष्प्रयोजन इच्छाके ऊपर एक दृष्टान्त कहता हौं उसकोभी श्रवण करो । हे प्रियदर्शन ! कोई एक चक्रवर्ती राजा अपने स्वभाव करके मृगया की इच्छाकर वन में प्रवेशकर नानाप्रकारकी मृगयाकर उसके निमित्तसे अपनी स्वभावभूत सामान्य बलवत्ता, साहसता, लाघवता आदि शक्तियों को विशेष प्रकटकर उनको आपही अवलोकन अनुभव करताहै । तिस मृगया की प्रवृत्ति में उस राजा को मांसादिकों की कामना नहीं क्योंकि मांस तो राजा के भृत्यों को भी प्राप्तहोता है, तब उसकी कामना से उस राजा का मृगया में प्रवृत्त होना संभवे नहीं । हे सौम्य ! तैसेही शुद्ध चैतन्य परमात्मदेव ने भी अपनी स्वभावभूत सामान्य सर्वशक्तिमत्ता को प्रकट देखने के लिये बहुत होने की इच्छा

कर एक २ शक्ति को पृथक् २ प्रकट करने के ऊपर एक २ आकृति धार उस द्वारा अपनी एक २ शक्तिको पृथक् २ प्रकटकर पुनः उन बिषे आपही अन्तर्यामी रूप से प्रवेशकर उन अपनी प्रत्येक शक्तियों को आपही अनुभव करता है। एतदर्थ उस सत् परमदेव को ईक्षण के करने बिषे कामना कोई नहीं। हे सौम्य! वो सत् चैतन्यदेव स्वयं सदा स्वतन्त्र है ताते उसका ईक्षण अहेतुकहै, अरु जिसका ईक्षण सहेतुक होताहै सो हेतुके परतन्त्र होता है, जैसे सोपाधि चिदाभासका ईक्षण सहेतुक होता है ताते सो परतन्त्र है तैसे शुद्ध सत् चैतन्य देव किसी हेतु के परतन्त्र नहीं वो सदा स्वतन्त्र है, एतदर्थ उसका ईक्षण अहेतुकहै किसी कामना को लेके नहीं॥ हे प्रियदर्शन! तुमने जो उस सत् चैतन्यदेव को प्राप्तहोना है सो इस शरीररूप वन बिषेही प्राप्तहोना है क्योंकि इस बिषेही उसने प्रवेश कियाहै, अरु यह शरीरही उसकी प्राप्ति का स्थानहै जो कोई उस सत् चैतन्यदेव को प्राप्त हुआ है सो इसही स्थली बिषे हुआ है। हे सौम्य! जो पुरुष उस सत् चैतन्य देव को जानता वा पावताहै सो इस सत् शब्द अरु सद्बुद्धि द्वाराही जानता पावता है क्योंकि यह सत् शब्द अरु सद्बुद्धि उस सत् चैतन्य देव को लखावते हैं। हे सौम्य! कोई दोपुरुष साथही उठके किसी अन्य ग्रामान्तर को चले तिनमें एक तो मार्गसे अरु ग्राम से सज्ञात था अरु दूसरा अज्ञात था, तहां मार्ग चलते चलते अज्ञातने सज्ञातसे प्रश्न किया कि हे भाई! मार्ग तो बहुत आये परन्तु अभी ग्राम दृष्टि आवता नहीं, तब उस सज्ञात ने कहा कि हे भाई! अब ग्राम निकट है देखो यह जो सर्ववृक्षोंके मध्य ऊँचा वृक्ष दृष्टि आवता है सो उस ग्राम के मध्य तुम्हारे गृहके आगेका वृक्ष है उस वृक्ष के निकटही तुम्हारा गृह है॥ हे सौम्य! तैसेही यह सतबुद्धिरूप जो सर्व इदं बुद्धिरूप वृक्षों से ऊँचा वृक्ष है सो शुद्ध सत् चैतन्यदेवरूप धाम के निकट का है, यह सत् बुद्धिरूप बड़ा वृक्ष तटस्थलक्षणवत् दूरसेही 'ग्रामके ऊँचे वृक्षवत्' शुद्ध सत् चैतन्यरूप धाम को लखावता है कि जिस धाम के गये मुमुक्षु पुनः इस इदं बुद्धि के विषयरूप दुस्तर अरण्य में आवते

हीं अतएव हे सौम्य ! अब तुम को जो उस धाम के प्राप्त होने की इच्छा है तो तुम अपनी सर्ववृत्तियों को निरोधकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के समीप जाय उस सत् चैतन्यदेव की प्राप्तिविषयक प्रश्न करो तब वो आचार्य तुमको प्रथम सत् बुद्धिरूपी वृक्ष देखावेगा तब तुम को भी उस पर अपनी दृढ़ श्रद्धा करनी होगी तिस करके तुमभी अपने उस शुद्ध सत् चैतन्यरूप धाम को पायके पुनरावृत्ति से रहित परमसुखमय होवोगे ॥

हे सौम्य ! उक्तप्रकार सत् चैतन्य परमात्मा ईक्षणकर प्रथम तेज तत्व को सृजता हुआ ॥ शङ्का ॥ ननु हे भगवन् ! "। तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्नेः । " यह तैत्तरीय की श्रुति, आत्मा से प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु वायु से अग्नि सो तृतीय तेज उत्पन्न हुआ, ऐसा कहती है तब यहां कैसे कहा है कि सो सत् प्रथमही तेजको सृजता हुआ, ऐसा कहने से उक्त श्रुतिसे विरोध आवता है ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! यहां भी उक्त तैत्तरीयकी श्रुति प्रमाणही आकाश वायुकी उत्पत्ति के प्रश्चात्‌ही "। तत्तेजोऽसृजत "। सो तेजको सृजता हुआ इस कल्पना की उपपत्ति (प्राप्ति) है । अथवा यह जो श्रुति है उसका सृष्टिक्रम कहने का तात्पर्य नहीं किन्तु सर्व श्रुतियों का एक अद्वैत सत् चैतन्य परमात्मा के कहने पर तात्पर्य है कि मृत्तिका आदिकों के दृष्टान्त से यह नामरूप क्रियात्मक समस्त कार्य कारणरूप जगत् एक अद्वितीय सत्‌ही है सत्‌से इतर करके सर्व वाचारम्भणमात्र होनेसे अत्यन्त असत् है "। सर्वं खल्विदं ब्रह्म "। "। नेह नानास्ति किंचन "। इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से ॥ अथवा आगे इस श्रुति में त्रिवृत् करण का कथन है ताते, क्योंकि नाम रूप यह दोनों तीनतत्त्वों में ही घटे हैं; आकाश अरु वायु यह दो अमूर्त्त सूक्ष्म तत्त्व हैं ताते इनविषे नाम अरु रूप यह दोनों घटे नहीं, अरु लोकविषे तेज जो है सो यह दाहक प्रकाशक लोहितादि गुणवान् अग्नि वा तेज है इसप्रकार प्रसिद्ध है । ऐसा जो नामरूपादि गुणवान् तेज सो सत् चैतन्य देव प्रथम सृजता हुआ । हे सौम्य ! उक्त प्रकार सत् चैतन्य देव करके

सृज्यमान जो तेज सो तेज इच्छा करताहुआ जो मैं बहुतरूप से प्रकट होवों । उस इच्छा द्वारा सो जलको सृजताहुआ ॥

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब तेज तत्त्व से ईक्षण द्वारा जल सत् की उत्पत्ति उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र से कही तब उसको श्रवणकर के श्वेतकेतु सोचनेलगा कि जल तो तेजका बिघातकहै सो तेज (अग्नि) से कैसे उत्पन्नहुआ । इस प्रकार सोचता जो श्वेतकेतु तिसको किंचित् सोचवस जानके उद्दालक ने पुनः कहा कि—॥ हे प्रियदर्शन ! यह क्या सोचता है, जैसे कोई पुरुष किसी देशकाल में जब बड़े वेग से दौड़ता है वा बड़े भार को उठावता है तब तेजकी गरमी पायके उसके शरीर से स्वेद (पसीना) रूप जल स्रवता है, तैसेही तेज सत्से ईक्षण द्वारा जल सत् होता हुआ । सो कैसा है जल कि द्रवता अरु स्वच्छता जिसका धर्म है अरु श्वेतता जिसका गुण (रंग) है अरु नीचे को चलना जिसका स्वभाव है, ऐसा जो जल सत् है सो तेज सत्से प्रकट होता हुआ ॥

प्रश्न ॥ हे भगवन् ! सत् चैतन्य देव ने ईक्षणकर तेजतत्त्व को उत्पन्न किया सो अस्तु परन्तु तेजतत्त्व तो जड़ है जड़ में ईक्षण बनता नहीं तब उस तेजतत्त्वने ईक्षणकर जलतत्त्व को कैसे सृजा॥ हे भगवन्! सांख्य मतवादी जड़ प्रधान में ईक्षण के संभव के विषय में उक्त श्रुति का दृष्टान्त कहते हैं जैसे जड़ तेजने ईक्षणकर जलतत्त्व को सृजा तैसेही जड़ प्रधान ने भी ईक्षणपूर्वक महत्तत्वादि कार्य को सृजा ॥ हे भगवन् ! उक्त श्रुति के दृष्टान्त से देखिये तो सांख्यवादियों का कथन असमीचीन नहीं । अब इस विषयक जैसा विचार हो तैसा कहिये ॥

उत्तर ॥ हे प्रियदर्शन ! तुम सम्यक् प्रकार समझे नहीं यहां जो कहा है कि सो तेज ईक्षण करता हुआ सो तेज नामवाला सत्ही है, सत् से इतर करके तो तेजादि सर्व वाचारम्भणमात्रही है ताते तेजनाम रूप करके एक सत्ही का ग्रहण होने से तेज द्वारा सत्ही ईक्षण करता हुआ । अरु सांख्यवादी वास्तव करके प्रधान को सत् चैतन्य से इतर जड़ मानके कहते हैं कि ईक्षणपूर्वक सृष्टि का कारण प्रधान है, सो

नका कथन वेदबाह्य होने से समीचीन नहीं। अरु उनके मत को वारके देखिये तो अज्ञानकारणीक संसार वाद के अन्तर्गत उनका मत है, ताते भी सांख्यमत समीचीन नहीं। अरु यहां तो कहा है "तत्तेजऐक्षत" सो तेज नाम से सत्‌ही ईक्षण करताहुआ ऐसा कहा है सत् से पृथक् करके तेज का ग्रहण नहीं। अथवा "जीवेनात्मनानुप्रविश्य" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाण सो सत् चैतन्यदेव आप ईक्षणपूर्वक तेजतत्त्व को सृज पुनः उस में वही आभासरूप से प्रवेशकर आगे ईक्षण करताहुआ। इत्यादि प्रकार से तेजतत्त्वद्वारा भी सत् चैतन्यदेवनेही ईक्षणपूर्वक जल तत्त्व को सृजा है, सत् चेतन से इतर सत्तावान् तेजादिक कुछ भी नहीं। अरु सांख्यवादी सत् से इतर प्रधान सत्ता को जड़ अङ्गीकार करते उसते ईक्षणपूर्वक सृष्टि कहते हैं सो सत् चैतन्य से इतर जड़ में ईक्षण के असंभव से उनका कथन समीचीन नहीं॥

ताआप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते॥ ४॥

इति षष्ठ प्रपाठके द्वितीयः खण्डः॥ २॥

अक्षरार्थ।

सो जल ईक्षण (विचार) करता हुआ मैं बहुत प्रकार से उत्पन्न होवों उस विचार से सर्व अन्नकी समष्टिता पृथिवी लक्षण अन्नको सृजता हुआ, एतदर्थ जहां कहीं वर्षा होती है वहां बहुत अन्न उपजता है ताते जिस जल सत् से अन्न सत् होता हुआ॥ ४॥

भावार्थ।

हे सौम्य! हे प्रियदर्शन! उक्त प्रकार सत् चैतन्य परमात्मा आप ईक्षणपूर्वक प्रथम अपने बिषे तेज तत्त्व का रूप धारताहुआ पुनः उस अपने तेजरूप से ईक्षणपूर्वक जल तत्त्व का रूप अपने बिषे धारताहुआ। पुनः उस जलतत्त्व द्वारा सो सत् चैतन्यदेव विचारता हुआ जो मैं बहुत

रूप से प्रकट होवों वा उत्पन्न होवों, तब उस ईक्षण द्वारा अपने विषे अन्न की समष्टिता रूप पृथिवी लक्षण अन्नको सृजता हुआ, अन्न जो सो पार्थिव (पृथिवी) रूप है। अरु जिस करके जलका कार्य अन्न तिसही करके जिस किसी देश बिषे सम्यक् वर्षा होती है वहांही अधिकतर अन्न उत्पन्न होता है। एतदर्थ ही कहाहै जलसे ही अन्न अधिक होता है॥ हे सौम्य! पूर्व ऐसा कहा है कि सो पृथिवी लक्षण अन्न को सृजता हुआ तहां 'अद' धातु विशेषण करके जो भक्षण किया जावे उसको अन्न कहतेहैं ताते अन्न शब्द करके व्रीहि यवादिकों को कहते हैं॥:–हे सौम्य! व्रीहि यवादि सर्व अन्नकी समष्टिता पृथिवी है, जो पृथिवीपर वर्षा अधिक होती है तब तृण वनस्पति ओषधि अन्नादि सर्व पृथिवी से प्रकट होते हैं–:॥ सो पृथिवी रूप अन्न कैसा है भारी है कठोर है स्थिर है अरु सर्व को धारण करे है अरु अपने रूप करके कृष्णवर्ण प्रसिद्ध है॥ हे सौम्य! यहांकी शङ्का अरु उसका समाधान पूर्व कह आये हैं॥ ४॥

इति षष्ठप्रपाठके द्वितीयः खण्डः॥ २॥

अथ छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठके तृतीयः खण्डः प्रारभ्यते।

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति॥ १॥

अब छान्दोग्य उपनिषद् षष्ठप्रपाठक में तृतीय खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

निश्चयकरके तिन इन चराचर भूतों का (जीवों वा देहों का) तीनही बीज (कारण) होता हुआ। तहां अण्डज, जेरज, उद्भिज्ज इन तीन जाति के जीव (शरीर) होतेहुए॥ १॥

भावार्थ।

हे सौम्य! हे प्रियदर्शन!॥:–जो सत् चैतन्यदेव पुनः पृथिवी आदि

होयके इच्छा करताहुआ जो मैं बहुतरूप होवों तब उस इच्छासे अण्डज, जरायुज अरु उद्भिज्ज, यह तीन खानि के शरीररूपसे प्रकट होताहुआ॥ हे प्रियदर्शन ! " तेषां " तिन्हों का [अर्थात् पूर्व पञ्चमप्रपाठक की पञ्चाग्निविद्या बिषे जिन जीवों के अर्थ वारंवार आवागमनरूप तृतीय स्थान कहा है उन्हों का] अरु निश्चय शब्द उनके प्रसिद्ध द्योतनार्थ है, ॥:-अर्थात् " तेषां " शब्द करके पञ्चम प्रपाठक बिषे कहे जे उत्तरायण दक्षिणायन उभयमार्गगति उनसे भ्रष्ट जे वारंवार पशु आदि योनियों में आवागमन पावते हैं निश्चय करके प्रसिद्ध उनको-: ॥ अरु " एषां " यह शब्द करके इन्हों पशु पक्षी आदिक भूतोंका तीनही बीज कहिये कारण हैं उनसे अतिरिक्त नहीं ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! भूत शब्द करके यहां पशु पक्षी आदिकों का ग्रहण है सो अस्तु परन्तु भूतशब्द रूढ़िरीति से तेजादि तत्त्व प्रभृतियों बिषे भी ग्रहण होता है सो यहां क्यों नहीं करते ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! तेजादि तत्त्वों का आगे त्रिवृत्करण कहा है अतएव यहां उन अत्रिवृत्कृततत्त्वविषयक भूत शब्द का अर्थ ग्रहण होवे नहीं क्योंकि यहां " एषां " इन्हों का, ऐसा शब्द है सो प्रत्यक्ष को विषय करता है अरु उन अत्रिवृत्कृत तेजादिकों को प्रत्यक्षपना है नहीं ताते। अथवा " इमास्तिस्रो देवता इति " तेजःप्रभृतियोंको (तेजादि तत्त्वों को) देवता शब्द का प्रयोग होनेसे वा देवता शब्दकरके कहनेसे, उन बिषे प्रत्यक्ष का बोधक " एषां " इस प्रत्यक्ष निर्देश की अनुपपत्ति (अप्राप्ति) है ताते उन बिषे " एषां भूतानां "ऐसा कथन बने नहीं । अतएव निश्चयकरके " तेषां " उन्होंका, इस पद से पञ्चम प्रपाठक में कहे तृतीय स्थानाधिकारी जीवोंका, अरु " एषां भूतानां " इनभूतों का, इस वाक्य वा पद करके पशु पक्षी स्थावरादिकों के तीनही बीज कहिये कारण होते हुए हैं, उनसे इतर नहीं ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! सर्व चराचर भूतों (शरीरों) के वो बीजसंज्ञक कारण कौन २ हैं सो आप कृपाकरके कहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! एक जरायुज, दूसरा अण्डज, तीसरा उद्भिज्ज, यह तीन बीजसंज्ञक कारण हैं, तहां जेर (झिल्ली) से उत्पन्न होनेवाले जे 'मनुष्य, गौ, अश्वादिक' तिनको जरायुज

कहते हैं 'जेर से प्रकट होने से, अरु 'पक्षी, सर्प, मच्छादिक' तिनको अण्डज कहते हैं, क्योंकि उनको अण्ड से प्रकट होते देखते हैं ताते अरु उसकरके पक्षीही पक्षियों का बीज है, सर्प सर्पों का बीजहै, मच्छादिक मच्छादिकों का बीज हैं, तैसेही अन्य भी जे अण्डे से उत्पन्न होते हैं सो उन अण्ड से उपजनेवालों के बीज हैं ॥ :—हे सौम्य! जिन जीवों के कर्णगोलक प्रत्यक्ष नहीं भासते उन सर्व को अण्डज जानने—:॥

शङ्का ॥ हे भगवन्! जो अण्डसे उत्पन्न होताहै उसको अण्डज कहते हैं, एतदर्थ अण्डजों का बीज अण्ड है ऐसा कहना युक्त है, तब अण्डजों का अण्डज बीजहै, ऐसा अयुक्त क्यों कहनाचाहिये॥ [यहां इस शङ्कासे श्रुतिको पौरुषेय (मनुष्यकृत) पने की व्युत्पत्ति बाधित होती है उसका परिहार (खण्डन) करतेहुन्ते कहते हैं]॥ समाधान ॥ हे सौम्य! तुम कहतेहो सो सत्य है परन्तु श्रुति जो है सो उस सत् चैतन्यदेव के स्वतन्त्रवाक्य हैं एतदर्थ श्रुति भी सत्ववत् स्वतन्त्र है, अपौरुषेय होनेसे, एतदर्थ श्रुतिका ऐसाही कहना है कि अण्डज ही अण्डजों का बीज है। हे सौम्य! पुनः केवल श्रुति की ही उक्त प्रकार की व्यवस्था है ताते ऐसा कहा है सो नहीं किन्तु अण्डज के अभावसे तज्जातीय सन्तति का भी अभाव प्रत्यक्ष देखते हैं, अण्ड के अभाव से तज्जातीय सन्तति का अभाव नहीं। एतदर्थ अण्डज जाति जीवों का बीज अण्डज ही है अण्ड नहीं ॥ हे प्रियदर्शन! तैसेही जीव से उत्पन्नहुआ जीव है, अर्थात् जरायुज जे मनुष्य तथा गऊ अश्वादिक जो जेर (झिल्ली) से वेष्टित वा जेर के साथ अर्थात् जिन जीवों के जन्म के साथही माता की उदर से जेर निकलती है उनको जरायुज कहते हैं उन जरायुजों का बीज जरायुज हैं। अरु उद्भिज्ज कहिये वृक्षादिक जो पृथिवी को फोड़के उपजते हैं तिन स्थावर वृक्षादिक उद्भिज्जों का बीज उद्भिज्ज है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन्! ऐतरेय उपनिषद् के तृतीयाध्याय में " अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि " इसप्रकार चार खानि के जीव कहे हैं अरु

यहां आप तीन खानि के कहते हौ, सो इसीका विचार जैसा होय तैसा आप कृपा करके कहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! ऐतरेय उपनिषद् विषे चतुर्थ खानि स्वेदज की कही है उसका यहां उद्भिज्ज अण्डज में अन्तर भाव जानना क्योंकि स्वेदज जुआँ खटमल आदिकों की स्वेद (पसीना) मैलादिकों से उद्भिज्ज अण्डजवत् उत्पत्ति होती है ताते ॥ इति सिद्धम् ॥ १ ॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

सो यह सत् नामवाला चैतन्य देव विचारता हुआ जो मैं इन तेज, जल, पृथिवी इन तीनों देवता विषे जीव (आभास) रूपसे अपना प्रवेश कर नाम रूपको प्रकट करौं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! हे प्रियदर्शन ! [जीव करके अविशिष्ट भूतों का सत् चैतन्य का कार्यपना प्रकरण प्रामाण्य होने से कहा । अब जीवोंका विशिष्टरूपत्व करके ब्रह्मका कार्य होतसन्ते भी उनको स्वरूप करके कार्यता नहीं किन्तु उपाधि विशिष्ट भी ब्रह्महीं है । क्योंकि जीवका व्यवहारास्पद से अङ्गीकारहै ताते ॥:—अर्थात् जीवपना व्यावहारिक सत्तासे अङ्गीकार है नतु परमार्थ सत्ता से—: ॥ तथाच " ब्रह्मणि विज्ञाते जीवविज्ञातं भेत्स्यति " ब्रह्म के जानने से जीव का जानना होता है। इस प्रमाण से ॥ अरु जो भूतों का भौतिक कार्य है सो जीवों के भोग का स्थान है, उन भोगके आयतनों के नामरूप की उत्पत्ति के कहने के अभिप्राय से उत्तर ग्रन्थ कहते हैं] हे सौम्य ! सो यह प्रकृति सत् नामवाला देव जिसप्रकार पूर्व " बहु स्यां प्रजायेयेति " मैं बहुतरूप से प्रकट होवों, इस प्रकार विचार के तेज, जल, अन्न इन तीन कारणरूपसे आप बहुतरूप हुआ सो कहा । तैसेही पुनः बहुत होने

का विचार करता हुआ ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! पूर्व सत् चैतन्यदेव ने ईक्षण (विचार) कर तेजादिरूप से बहुतहुआ सो अस्तु पुनः निष्प्रयोजन बहुत होनेका विचार क्यों करताहुआ ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! तिसका सो बहुत होनेका प्रयोजन अद्यापि निवृत्त हुआ नहीं ॥ :— हे सौम्य ! अद्यावधि वो सत् चैतन्यदेव अपने आभास (जीव) रूप से सर्वत्र बहुत होनेको ही देखता विचारता इच्छता है—: ॥ एतदर्थ सो सत्नाम्नी चिन्मात्रसत्ता पुनः इच्छा करती हुई ॥ प्रश्न ॥ सो सत्ता क्या विचारती हुई ॥ उत्तर ॥ यह विचारती हुई कि मैं अब तेज, जल, पृथिवी तीन (सूक्ष्मकारण) रूप देवता, कि जिनका रूप मैंने अपने विषे धारण किया है उनबिषे इस जीवरूप से प्रवेशाकर । अर्थात् स्वबुद्धिस्थ पूर्वानुभूत सृष्टि को प्राणधारण करता आत्मा (अपने आभास वा प्रतिबिम्ब जो अपनाही रूपहै) को स्मरणकर विचारताहुआ कि प्राणधारी जीवाख्य अपने रूपसे " प्राणधारणकर्त्ता आत्मनेति" इस वचन प्रमाण से । अपने आपसे अपृथक् अविशिष्टरूप से प्रवेशाकरों ऐसा विचारता हुआ ॥ :—अर्थात् हे सौम्य ! सत् चैतन्य देवने आभास वा प्रतिबिम्बरूप से प्रवेशकियाहै परन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब दोनोंकी चैतन्य स्वरूपता विषे समता होनेसे शुद्ध चैतन्यकाही प्रवेश जानना । अरु बिम्ब प्रतिबिम्ब का जो परस्पर भेद भासता है सो उपाधि का किया है वास्तवमें नहीं एतदर्थही आगे " तत्त्वमसि " इस वाक्य करके दोनों की अभेद एकता कहेंगे—: ॥

हे सौम्य ! [निर्विशेष निर्विकल्प चिन्मात्रसत्ता समानरूप देवता अपनी इच्छारूपा माया से मिल तेजादि वा आकाशादि महाभूतों को सृज पुनः विचारताहुआ जो जब मैं इन सृजेहुए महाभूत देवताओं में प्रवेशकर उन आरम्भाकिये भूतों से 'सूत्र हिरण्यगर्भ विराट् समष्टि व्यष्टि देहों बिषे प्रवेश करके तिन २ देहाभिमानीरूप से देवदत्तादि नाम अरु शुक्ल कृष्णादिरूप को मिश्रितकर पिण्डको प्रकटकरों, ऐसा विचारताहुआ यह कहते हैं] हे सौम्य ! सो सत् चैतन्य देव विचारता हुआ कि इन तेजादि (अत्रिवृत्कृत सूक्ष्म) महाभूतों के सूक्ष्म कार्य लिङ्ग

में प्रवेशकर तिसके संसर्ग से विशेष विज्ञान पाय पुनः नाम अरु रूप को प्रकट करों। अर्थात् लिङ्गमें प्रवेशकर पश्चात् देवदत्तादि नाम अरु रक्त शुक्ल कृष्णादिरूप को स्पष्टकरके, कि यह नाम है यह रूप इस प्रकार नामरूप को प्रकट करों ॥ :—हे सौम्य! पूर्व वेदने कहाहै कि एक अद्वितीय सत् चैतन्यदेव है, अरु उस सत् ने यह भी कहा था कि यह जीव मेरा आत्मा (अपना आपस्वरूप) है । हे सौम्य! इसही हेतुसे पूर्व उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु प्रति यही प्रश्न किया था कि हे पुत्र! जिस एकके जानने से सर्व जानाजाता है उसको तू जानताहै या नहीं। सो यही एक शुद्ध चैतन्यदेव है, इसही एक सत् चैतन्य के जानने से सर्व नानाजीवाख्य चैतन्य जाने जाते हैं, क्योंकि सत् चैतन्यरूप बिम्ब सर्व जीवों (आभासों) वा प्रतिबिम्बों का एक है। सो उसही सत् चैतन्यदेव ने यह इच्छा किया कि इन तेजादिकों बिषे हम प्रवेश करके नामरूप को प्रकट करें क्योंकि जब हम इन बिषे प्रवेश करेंगे तब यह सर्व ठाठ राशि आवेगा अरु लीला भी सबही बनेगी। हे सौम्य! जैसे कुलाल प्रथम मृत्पिण्ड को रचिके पश्चात् घटादि अनेक कार्य रचता है उन घटादिकों बिषे यावत् अग्नि प्रवेश करता नहीं तावत् वो काम के होते नहीं॥ हे सौम्य! इसका विचार इस प्रकार है कि तीन तत्त्वों की रीति से अग्नि का कार्य जल अरु जल का कार्य पृथिवी है तहां पृथिवी कहिये मृत्तिका अरु जल यह दोनों मिल मृत्पिण्ड होय घटादि कार्य होते हैं; परन्तु सर्वके पूर्वका शुद्ध अग्नि यावत् उन घटादिकों बिषे प्रवेश नहीं करता तावत् वो किसी भी काम में आवते नहीं। तैसेही परमात्मा की इच्छारूपा माया ने अपने बिषे सत् चैतन्यदेव की सत्ताको पाय अनेक प्रकार के ब्रह्माण्डों को खड़ा किया परन्तु उनसे कार्य की सिद्धि न हुई, तब उसको अवलोकन कर उस सत् चैतन्यदेव ने विचार किया कि यावत् हम इनमें प्रवेश न करेंगे तावत् ये किसी भी काम आवने के नहीं क्योंकि यह इच्छा आदि सर्वस्वरूप करके जड़हैं अरु इनको स्वसत्ता के अभावसे पराधीनता है, अतएव हम इन बिषे प्रवेशकर इन सर्व के नामरूप को पृथक् २ प्रकट करें, और किसी का काम नहीं क्योंकि ये सर्व जड़ हैं

अरु चैतन्य के प्रवेश विना नामरूप की पृथक् २ स्पष्ट प्रकटता होवे नहीं, अरु मुझ से इतर अन्य कोई चैतन्य नहीं, एतदर्थ इन विषे हमारा ही प्रवेश बनता है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! उस सत् चैतन्यदेव का जो प्रवेश होता है सो लिङ्गादि बिषे होता है सो लिङ्गादिक अभी हुए नहीं तब उसने प्रवेश किस बिषे किया ? सो आप कृपा करके कहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! उक्त प्रकार उस सत् चैतन्यदेव ने अपने बिषे विचार किया है जो इन तेजादि कारण भूतों बिषे प्रवेश करके सर्व के नामरूपों को पृथक् २ प्रकट करें, ऐसा विचार किया है अभी प्रवेश किया नहीं ॥ हे सौम्य ! इसपर एक दृष्टान्त कहतेहैं उसको श्रवणकरो। हे सौम्य ! जैसे कोई एक वणिक् पुरुष जो ओषधी आदिक बहुत पदार्थों की दूकान करता है सो सायंकालके समय अपनी दूकान बन्दकर गृह जाय सुख से शयन करता है जब प्रातःकाल को जागताहै तब अपनी दूकान खोलने की चिन्तनाकर विचारता है कि अब हम अपनी दूकान पर जाय उसमें धरे पदार्थों को प्रकटकर बाहर फैलाय देवें। हे सौम्य! इस प्रकार वो वणिक् प्रथम विचारके पश्चात् दूकानपर आय उसमेंके पदार्थों को प्रकट करता है ॥ हे सौम्य ! तैसेही सत् चैतन्यदेव अपनी पूर्व की सृष्टि को इच्छारूप मायारूपा दूकान में रख पुनः उसको अपने अधिष्ठानत्वपने में लयकर आप निर्विकल्पतारूप शयन करता है। अरु जब अपनी स्वतन्त्रता सर्वज्ञता रूप जाग्रत् में आय सविकल्प विशेष होताहै तब अपनी इच्छारूप दूकान में रक्खी जे पूर्वानुभूत सृष्टिके नाम रूपात्मक संस्काररूप सामग्री उसको पूर्ववत् प्रकट करने की चिन्तना कर पश्चात् उसको प्रकट करताहै। अतएव अबही उस सत् चैतन्यदेव ने प्रवेश न करके प्रवेश करने की चिन्तना किया है—: ॥ शङ्का ॥ ननु, हे भगवन् ! जो सर्वसंसार अरु उसके धर्मादिकों से रहित असंसारी सर्वज्ञ सत् चैतन्यदेव उसका बुद्धिपूर्वक (जान बूझके) अनेकशत सहस्र अनर्थों का आश्रय जो देह उस बिषे प्रवेश करके मैं दुःख को अनुभव करों ऐसा संकल्प, अरु सर्वज्ञ स्वतन्त्र होयके प्रवेश करना युक्त नहीं ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! जो तू कहता है सो सत्यहीहै, यदि वो

सत् चैतन्य सर्वज्ञदेव अपने अविकृतरूप से परमदुःखास्पद देहादिकों बिषे प्रवेश करके दुःखों का अनुभवकरे यह युक्त नहीं परन्तु तैसा किया नहीं॥ शङ्का॥ हे भगवन्! उसने कैसे नहीं प्रवेश किया स्वयं श्रुति कहती है कि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येति" इस जीवरूप से आत्मा ने प्रवेश किया है॥ समाधान॥ हे सौम्य! उक्त श्रुति ने जीवरूप से उस सत् चैतन्यदेव का प्रवेश कहाहै उसका साक्षात् प्रवेश कहा नहीं, अरु जीवनाम आभास वा प्रतिबिम्ब का है "जीवाभासेन करोति" इत्यादि अन्य श्रुतियों के प्रमाण से॥ :—हे सौम्य! तुमने कहा कि उस सत् चैतन्य सर्वज्ञदेव का जानबूझ के परम दुःखास्पद अनेक दुःखों का आश्रय जे देह वा संसार उस बिषे प्रवेश करके दुःखका अनुभव करना युक्त नहीं, सो सत्यही है, परन्तु वो अपने स्वरूप करके शुद्ध केवल ज्ञप्तिमात्र आनन्दघन है उस अपने स्वाभाविक सामान्य स्वरूपानन्द को विशेषता से अनुभव करने की इच्छा से उस सर्वज्ञ स्वतन्त्रदेव ने नामरूपात्मक दुःखास्पद द्वन्द्व को खड़ाकर तिस बिषे अपने आभास वा प्रतिबिम्बरूप से 'जोकि वास्तव करके उससे अपृथक् है, प्रवेशकर दुःख के अनुभवके निमित्त से आप अपने आनन्दरूपत्व को अनुभव करता है॥ हे सौम्य! जो कदापि तू ऐसा कहै कि वो सत् देव तो सर्वज्ञ चैतन्य ज्ञानस्वरूप है तब वो द्वन्द्व दुःख की विशेषता के निमित्त विनाही अपने आप आनन्दरूपत्व को क्यों अनुभव करता नहीं उसको उक्त विशेषता के अभाव से अपने आनन्दस्वरूपता का अनुभव करना चाहिये, सो बने नहीं क्योंकि जो वस्तु जानी जाती है वा अनुभव की जाती है सो जड़ होती है अरु जाननेवाला चैतन्य होता है अरु ज्ञेय अरु ज्ञाता परस्पर में जड़ चैतन्य होनेसे विरुद्धधर्मा होते हैं सो उभय विरुद्धधर्मा एकही वस्तु को आश्रय करे नहीं, अरु वो शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वरूप है ताते उसको एक अद्वितीय होने से उसमें सर्व, इस शब्द के अर्थ का अभाव है, अरु उसको ज्ञानस्वरूप होनेसे उस बिषे ज्ञेयत्वपने का अभाव है, ताते उस सत् चैतन्यदेव की आनन्दरूपता उसका ज्ञेय होवे नहीं। अतएव हे सौम्य! उस सत् चैतन्यदेवने अपने

आनन्दस्वरूप को विशेष अनुभव करने के लिये दुःखास्पद द्वन्द्व को खड़ाकर अपने स्वरूपानन्द को अनुभव करता है। हे सौम्य! कोई एक बुद्धिमान् पुरुष ऐसा कहते हैं कि वो चैतन्यदेव ज्ञानस्वरूप होने से अपने आपको ज्ञेयरूप करके जानता नहीं ताते वो अज्ञानी है अज्ञान का आश्रय होनेसे अपने आपको जानता नहीं, सो उनका कथन अनुभव से रहित अविचारित है, क्योंकि जो वो अज्ञान के आश्रय हुआ अपने आपको नहीं जानता तो कदापि अज्ञान की निवृत्ति बने नहीं, अरु वो उक्तप्रकार होने से परतन्त्रतादि दोष करके युक्त होता है उसकी भी निवृत्ति बने नहीं क्योंकि ब्रह्म के दोषों का निवर्त्तक अन्य कोई भी है नहीं, अन्यों को अब्रह्मता होने से॥ हे सौम्य! उक्त सत् चैतन्य ज्ञानस्वरूप देव को अपने आपके न जानने बिषे अज्ञान हेतु नहीं किन्तु उस बिषे ज्ञेयत्वादिपने का अभाव हेतु है। ताते वो सत् चैतन्यदेव अपने आनन्दस्वरूपता को विशेषता से अनुभव करने की इच्छा से दुःखास्पद द्वन्द्व को खड़ाकर उस बिषे अपने आभासरूपसे प्रवेशकर दुःखानुभव के निमित्त से अपने आप स्वरूपानन्द को साक्षात् यथार्थ अनुभव करता है॥ अरु बुद्धि आदि उपाधि अरु उनके कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म अरु तद्विशिष्ट अपने आभासरूप जीव को साक्षी हुआ प्रकाशता है अरु आप अपने स्वरूप करके उन सर्व से पृथक् सदा निर्विकार शुद्ध ज्यों का त्यों है, अतएव उस सत् चैतन्यदेव ने अपने स्वरूपभूत सामान्य आनन्द को विशेषता से अनुभव करने की इच्छा से इस वाचारम्भणमात्र नाम रूपात्मक द्वन्द्व को खड़ाकर उस बिषे अपने आभास आत्मरूप से प्रवेश किया है क्योंकि दुःखरूप द्वन्द्व विना अपने आप अद्वैतसुखरूपता का विशेष अनुभव होवे नहीं॥ हे सौम्य! इस पर एक दृष्टान्त कहते हैं उसको सम्यक् श्रवण करो, हे प्रियदर्शन! कोई एक चक्रवर्ती राजा का बालक पुत्र था उसको बालपन से पिता के अभाव से चक्रवर्ती राज्य का सर्व सुख प्राप्त था अतएव उसको दुःख का अनुभव कुछ भी न था, अरु उसके अभाव से अपने चक्रवर्तित्व राज्यपद के सामान्य सुख का भी विशेष अनुभव न था, अरु उस राज-

कुमार की अन्य प्रजा दुःखादि करके युक्त थी सो अपने दुःख की निवृत्तिपूर्वक सुख की प्राप्ति को इच्छती हुई कहती थी कि हमको सुख कब प्राप्तहोगा ? । इसप्रकार के अपनी प्रजा के वाक्य श्रवणकर वो राजकुमार अपने बुद्धिमान् मन्त्री से प्रश्न करताहुआ कि हे मन्त्रिन् ! यह सर्व प्रजा जो रात्रि दिन २ अपने को सुखी होना इच्छती है सो वो सुख क्या वस्तु अरु कैसा होताहै, हे सौम्य ! इस प्रकार के उस राजकुमार के वचन को श्रवणकर उस मन्त्री ने विचार किया कि यह राजकुमार अपने को दुःख की प्राप्ति के अभाव से अपने चक्रवर्त्तित्वपने के सुख से भ्रमाहुआ है इसको अपने राजकीय सामान्य स्वाभाविक सुख का अनुभव नहीं, परन्तु अब इसको सुख के जानने की जिज्ञासा हुई है अतएव अब इसको अपने सुख का अनुभव कराय इसके प्रश्न का उत्तर देना चाहिये परन्तु समय पायके । ऐसा विचार उस मन्त्री ने कहा कि हे राजन् ! इसका उत्तर फेर देवेंगे । हे सौम्य ! तिसके कोई काल उपरान्त उस राजकुमार ने अकस्मात् एक दिन मृगया की इच्छा कर उस मन्त्री से कहा कि हम मृगया को जावेंगे तब उस मन्त्रीने "तथास्तु" कहके विचार किया कि अब इस राजकुमार को मृगया के निमित्त से दुःख का स्वरूप देखाय सुख का अनुभव करावना चाहिये जिसकरके यह अपने प्रश्न का उत्तर आपही समझलेवे । हे सौम्य ! इस प्रकार विचारके उस बुद्धिमान् मन्त्री ने अन्य सेनापति आदिकों को आज्ञा किया कि यह राजकुमार महाराज मृगया की इच्छा करते हैं, अतएव मृगया की सर्व सामग्री तैयार करो, परन्तु खान पान की सामग्री कुछ भी साथ न लेनी क्योंकि महाराज बहुत शीघ्रही लौटके यहां गृह को आवेंगे । इस प्रकार जब मन्त्री ने कहा तब उसकी आज्ञा श्रवण कर सेनापति ने सेना, अन्य भृत्यादिकों ने गज, अश्व, श्वान, बाज, शस्त्र आदिक मृगया में उपयोगी सर्व सामग्री तैयार कर मन्त्री से निवेदन किया कि हे राजन् ! आपकी आज्ञानुसार सर्वसामग्री तैयार है, तब मन्त्री ने राजकुमार से कहा कि हे महाराज ! आपकी इच्छानुसार मृगया की सर्व सामग्री

सिद्ध है, तब वो राजकुमार उसको श्रवण कर मन्त्री आदिकों को साथ ले अश्वारूढ़ होय मृगया को जाता हुआ, जब अरण्य में प्राप्त हुआ तब उस राजकुमार ने सर्वको आज्ञा किया कि जिसकी दृष्टिके आगे मृग आवे सोई उस मृग के पीछे जाय। हे सौम्य! इतनेही में अकस्मात् काकतालीयन्यायवत् उस राजकुमार की ही दृष्टि के आगे मृग आवता हुआ ‘ अर्थात् उस राजकुमार कीही दृष्टिगोचर मृग होता हुआ, तब उस राजकुमार ने अपना अश्व उस मृग के पीछे डाला अरु अरण्य में चला, अरु उसकी आज्ञानुसार सेना आदि कोई भी उसके पीछे न गया परन्तु एक मन्त्री जो राजा का रक्षक है सो अपने अश्वारूढ़ होय उस राजकुमार के पीछे दूर २ जाताहुआ। अरु जब वो राजकुमार उस मृग के पीछे अरण्यमें प्रवेश करगया तब वो मृग उसको देखके पलायमान होता अन्तर्द्धान होगया, अरु वो राजकुमार अतिगह्वर जल फलादिकों से रहित करंजुआके वनवत् कण्टकमय महाअरण्य में जाय प्राप्त हुआ, अरु उस मृगके पीछे दौड़ने के औ ताप वातादिकों के अतिश्रम खेदकरके अरु क्षुधा पिपासा करके व्याकुल होय अश्वसे उतर अश्वकी डोर हाथ में ग्रहणकर उस अरण्य में अकेला धीरे २ विचरने लगा अरु अपने श्रमकी निवृत्तिके लिये अनेक प्रकार के उपायों को शोचने लगा। हे सौम्य! इतनेही में वो बुद्धिमान् मन्त्री भी उस राजकुमार के समीप जाय प्राप्त हुआ, तब उसको देख राजकुमार ने कहा कि हे मन्त्रिन्! मैं इस अरण्य में भ्रमण के श्रम अरु क्षुधा पिपासा के खेद करके अतिव्याकुल हुआहूं, अरु यहां जल फलादि सुख का सामान कुछ भी दृष्ट आवता नहीं, ताते अब तुम मुझको जल फलादि प्राप्त करके मेरे इस श्रम को निवृत्त करो। हे सौम्य! उक्तप्रकार के राजकुमार के वचनों को श्रवणकर उसके क्लेश की निवृत्ति के लिये वो मन्त्री जल फलादिकों के अन्वेषणार्थ गया अरु बहुत अन्वेषण करते २ किसी एक गर्त्त में अतिअल्प मलीन मृगों के मूत्रों करके युक्त जल अरु पक्षियों के कुछ भक्षण किये पृथिवी पर गिरे कच्चे पक्के फलों को देख विचारने लगा जो अपने उस राजकुमार को उसके स्वभावभूत राजसुख का

कि जिससे वो भूलेहुएवत् है, साक्षात् अनुभव करावना है अतएव इन जल फलादिकों को उसके पास न लेचलके उसको यहां लेआय प्रथम यह जल फलादिक देखावना चाहिये जब वो इनको देखके अपने प्राण की रक्षा के लिये इनका खान पान करेगा अरु श्रम की निवृत्ति के लिये इस कण्टकमय पृथिवीपर विश्राम करेगा तब उसको अपने चक्रवर्ती राज्यपद के भोग्य सामग्रीजन्य सुख का अनुभव होवेगा। हे सौम्य! इस प्रकार विचार उस मन्त्री ने जल फल आदिकों को न लेके आप उस राजकुमार के पास आय उन जल फल का सर्व वृत्तान्त कह कहताहुआ कि हे महाराज! आप चलके उन जल फलादिकों को देखिये पश्चात् आपकी इच्छा होय तो उनको खान पान करना वो यहां लेआवने योग्य नहीं। हे सौम्य! उस मन्त्री ने इतना कह उस राजकुमार को अपने साथ ले उस स्थानपर प्राप्तकर उसको वो जल फलादिक देखाय पुनः कहा कि हे महाराज! इन जल फलादिकों को सम्यक् प्रकार अवलोकन कीजिये, तब उस राजकुमार ने उन जल फलस्थान को देखके कहा कि हे मन्त्रिन्! यह जल मलीन अरु शूकरादि मृगों करके आवृत होनेसे पानकरने के योग्य नहीं अरु यह बदरीआदि फल पक्षियों के उच्छिष्ट होने से भक्षण करने के योग्य नहीं, अरु यह पृथिवी कण्टकादिकों करके युक्त होनेसे विश्राम के योग्य नहीं, अब क्या करिये। हे सौम्य! इसप्रकार जब उन जल फलादिकों को अवलोकनकर उस राजकुमार ने अपने मन्त्री से कहा तब उसको श्रवण कर वो मन्त्री हँसताहुआ कहने लगा कि हे महाराज! यहां तो यही जल फलादिक हैं जो आपको अपने प्राण की रक्षा करनी है तो इनको खान पानकर प्राण को राखिये आगे जो आपकी इच्छा हे सौम्य! इस प्रकार जब उस विवेकवान् मन्त्री ने उस राजकुमार से कहा तब वो क्षुधा तृषाकरके अतिव्याकुल राजकुमार उस महामलीन जल को अरु पक्षियों के उच्छिष्ट फल को खान पान करत सन्ते अपने चक्रवर्ती राजापने के खान पानके स्वाद सुख का अनुभव कर आपही आप कहने लगा कि देखो कहां यह मृगों के मूत्रादि करके मिश्रित

महामलीन जल अरु कहां वो सुवर्ण के पात्र में भरे सुगन्ध करके मिश्रित मधुर शीतल गङ्गाजल अरु कहां यह पक्षियों के काटे उच्छिष्ट कच्चे खट्टे फल अरु कहां वो मधुर २ आम्रादि फल अरु सुन्दर घृत मिश्री करके बनाये दिव्य पक्वान, अरु कहां इस कङ्कड़ कण्टकमय पृथिवी ऊपर का विश्राम अरु कहां उस सुन्दर सुवर्ण के रत्नजटित शय्या सिंहासनके अतिकोमल चिक्कण पाटमय बिछौनोंपर का विश्राम, अरु कहां यह कण्टकमय महाभयंकर अरण्य में प्रवेश करनेजन्य क्लेश अरु कहां वो अपने गृह राज्यपद पर शान्तता से विश्राम करनेजन्य सुख। हे सौम्य! इसप्रकार वो राजकुमार उक्त प्रकार के अरण्य के जल फलादिकों को अपने प्राण की रक्षाके लिये अनिच्छता से खान पान के निमित्त से अपने गृह के उत्तम खानपान के स्वाद सुख का अरु वन में प्रवेशकर दुःख भोग के निमित्त से अपने गृहनिवास राज्यसुख का अनुभवकर उस मन्त्री से कहनेलगा कि हे मन्त्रिन्! आज पर्यन्त मुझको अपने स्वाभाविक राजपद का सुख स्वभावभूत होनेसे विशेष करके अनुभव न था कि राजपद सुख ऐसा होता है परन्तु अब इस अरण्य में प्रवेश करने से दुःख पाया तब उस अपने स्वाभाविक राजसुख का सम्यक् प्रकार अनुभव हुआ है। तब मन्त्री ने कहा कि हे महाराज! पूर्व आप ने मुझसे प्रश्न किया था कि यह सर्व प्रजा जिस सुख को इच्छती है सो सुख क्या वस्तु है, हे महाराज! तिस सुखके प्रत्यक्ष आपको अनुभव करावने के लिये मैं इस अरण्य में आवने के समय आपके लिये खानपान की सामग्री गृह से कुछ भी न लाया उस कारण से आपने इन जल फलादिकों के खानपान करने से खेद पाया ताते मुझकृत अपराध को आप क्षमा करिये॥ हे सौम्य! इस उदाहरण कहने का अभिप्राय यह है कि यह जीव यावत् दुःख को जानता नहीं तावत् उसको सुख का यथार्थ अनुभव होता नहीं यह नीति है, ताते वो सत् चैतन्यदेव अपने स्वरूपभूत स्वाभाविक सामान्य आनन्द को विशेषता से अनुभव करने की इच्छा से अपने विषे नामरूप की विशेषतारूप द्वन्द्व को (जो कि वाचारम्भणमात्र

है) खड़ाकर पुनः उस बिषे आप अपने आभासरूप से प्रवेशकर उस बिषें दुःख भोग के हुए निमित्त से अपने स्वरूपभूत सामान्य आनन्द को विशेषता से यथार्थ साक्षात् अनुभव करता है। अतएव उस सत् चैतन्य सर्वज्ञदेव ने अपने स्वरूपानन्द को विशेषता से अनुभव करने के लिये जान बूझके इस दुःखास्पद प्रपञ्च में प्रवेश करने की इच्छा किया है--॥ हे सौम्य! इस चिदाभास जीव को जो कर्तृत्व भोक्तृत्वादि है सो तेजादि महाभूतोंके सूक्ष्म कार्य बुद्धि आदि के संसर्गजनित हैं, जैसे आदर्शबिषे पुरुष का अरु जलादि बिषे सूर्य का प्रतिबिम्ब होताहै उन बिषे जो मलिनत्व वक्रत्व कम्पत्व आदि धर्म क्रिया भासते हैं सो दर्पण जलादिकों के संसर्ग से भासते हैं स्वरूप से नहीं, अरु उस सत् चैतन्य का आभास (चिदाभास) बुद्धि आदि को साथ मिलने करके अपने वास्तविक बिम्बरूप सत्यस्वरूप के अविवेक रूप निमित्त से अपने बिषे जीव की वाच्यताको पायके मैं सुखी, दुःखी, कर्त्ता, भोक्ता, पापी, पुण्यी, स्वर्गी, नारकी, मूढ़, पण्डित इत्यादि प्रकार मानके अहंकार करता है। अथवा उक्त निमित्त से अपने वास्तविक स्वरूप के यथार्थ ज्ञानविषयक अविवेकता करके यह सत् चैतन्य देवका आभास जहां जिस उपाधि साथ मिला है तहां तिस उपाधि के धर्म कर्म अपने बिषे मानके सोई सो अहंकार करता है अर्थात् ईश्वर की उपाधि साथ मिलके ईश्वर का अहंकार करता है, हिरण्यगर्भ की उपाधि साथ मिलके हिरण्यगर्भ का विराट्की उपाधि साथ मिलके विराट् का अहंकार करता है, अरु तैसेही विश्व, तैजस, प्राज्ञ की उपाधि साथ मिलके विश्व, तैजस, प्राज्ञ का अहंकार करता है। अरु तैसेही पशु, पक्षी, सिंह, सर्प, श्वान, शूकर, शृगाल, वृक, चूहा, चींटी, चाण्डाल, मशक, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, पाषाण आदि स्थावर जंगम जिस २ उपाधि साथ चिदाभास मिला तिस २ के धर्म कर्म अपने बिषे मान उसका अहंकार करताहुआ कि यह मैं हूं यह मेरा धर्म कर्म है। इस प्रकार उस सत् चैतन्यदेव का प्रतिबिम्ब चिदाभास प्रपञ्च साथ मिलके अपने बिषे अनेक प्रकार के अहंकार को धारता है॥ सो भी केवल

छायामात्र जीवरूप से प्रवेश करने से है नतु उस सत् चैतन्यदेव को स्वरूप से, वास्तवकरके तो उस सत् चैतन्यदेवको देहादिक अरु तिन के धर्म कर्मादिक तिनसर्व के संसर्ग सम्बन्ध रञ्चकमात्र भी नहीं। वो तो सदा शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव सर्व से असंग नित्य निर्विकारही है। जैसे पुरुष सूर्यादि दर्पण जलादि बिषे अपनी छायामात्र से प्रवेश पावने करके दर्पण जलादिकों के मलिनत्व कम्पत्वादि विकारों से संसर्ग सम्बन्ध को पावते नहीं। तैसेही सत् चैतन्यदेव भी अपनी छायामात्र से बुद्धयादि उपाधियों बिषे प्रवेश करने से आप उनके धर्म कर्मादिकों से रञ्चकमात्र भी संसर्ग सम्बन्ध को पावता नहीं॥ तथाच।" सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैरेकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः"। "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य, इति काठके"।"ध्यायतीव लेलायतीव"। इत्यादि वाजसनेयके॥:—हे सौम्य! अब इसको और प्रकार से भी श्रवणकरो। उस सत् चैतन्यदेव ने अपने स्वाभाविक सामान्यस्वरूपानन्द को विशेषता से अनुभव करनेकी कामनारूप हेतु से अपने बहुत होने की इच्छाकर इस दुःखास्पद नाम रूपात्मक द्वन्द्व को जो केवल वाचारम्भणमात्रही है, रचके तिस बिषे अपने आभास आत्मारूप से प्रवेश करताहुआ क्योंकि दुःखके अनुभवरूप निमित्त विना सुखका यथार्थ अनुभव होवे नहीं। अरु प्रवेश करके शरीर प्राण इन्द्रिय बुद्धयादिरूप वस्त्र भूषण पहिर अर्थात् तिन करके आवृत होय जीवका वाच्यरूप स्वांग धारणकर जीवत्वरूपा विद्या के अनुसार ' धन, पुत्र, स्त्री, जीवन, कर्म, उपासना, ज्ञान, लोक, परलोक, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख, क्षुधा, पिपासा, राग, द्वेष, मान, अपमान, हर्ष, शोक आदिकों की चिन्तनाकर तिन की दृढ इच्छा वा कामना से इस संसाररूप मण्डप बिषे नृत्य करनेलगा, अरु उक्त मण्डप बिषे नृत्य करते करते थकके जब दुःखितहुआ अरु वारंवार के गर्भवास जन्म जरा मरण के अचिन्त्य अपार दुःखों का भान हुआ तब तिस दुःख की अशेष निवृत्तिपूर्वक सुख प्राप्त की इच्छाधार अज्ञानी बहिर्मुख पुरुषों के वाक्य प्रमाण किसी जगह अग्निहोत्रादि

कर्म करनेलगा किसी स्थान में उपासना करनेलगा कहीं समाधि करके सुख माननेलगा, कहीं वेदाध्ययन से सुख माननेलगा, किसी जगह तीर्थयात्रा वा तीर्थ में निवासकर सुख माननेलगा, कहीं देवी देवता के जप पाठ पूजनादि करने से सुख मानने लगा, कहीं तन्त्रोक्त उपासना मद्यपानादि करके सुख माननेलगा, कहीं भूत प्रेतादिकों की उपासना कर सुख माननेलगा, कहीं वर्णाश्रम की धर्म्ममर्यादा पालने करके सुख माननेलगा, कहीं तिसके त्यागने से सुख माननेलगा। हे सौम्य! इत्यादि प्रकार सत् चैतन्यदेव का आभासरूप जीव बुद्ध्यादि उपाधियों के संसर्गजनित अपने स्वरूपानन्दसम्बन्धी अविवेकता करके दुःखित होय दुःख की निवृत्ति अरु सुख की प्राप्ति के लिये कर्मपने आदिक अनेक स्वांगोंको धार कर्मादि अनेक उपायों के करनेरूप नृत्य करता हुआ परन्तु दुःख की निवृत्तिपूर्वक इच्छित सुख प्राप्त न हुआ क्योंकि उक्त सर्व उपाय अविद्या के कार्य बहिर्मुख कर्त्तव्यतारूप होनेसे संसारप्रापकही हैं ताते॥ हे सौम्य! समूल दुःख की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति केवल एक स्वस्वरूप के यथार्थ अनुभव ज्ञानसेही होती है अन्य कोई प्रकार से भी नहीं अरु उसका परम उपाय 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यों का यथार्थ ज्ञानही है "नान्यःपन्था अयनाय" "नान्यः पन्था विमुक्तये"॥ शङ्का॥ हे भगवन्! पूर्व आपने कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि सर्व चिदाभास बिषे कहे हैं, अरु उसके बिम्बरूप सत् चैतन्यदेवको कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादिकों से रहित सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव कहाहै, परन्तु हे भगवन्! जैसे प्रतिबिम्बकी क्रिया पुरुष बिषे जाती है तैसेही चिदाभास की क्रिया भी उस सत् चैतन्यदेव बिषे जाती होवेगी क्योंकि इस जाग्रत् के शरीरकी छाया जो स्वप्नशरीर तिसको स्वप्नबिषे जब सिंह सर्पादिकों की भयहोती है तब उस शरीर में भयजनित कम्पत्वादिकों के तीव्र संवेग होने से इस जाग्रत् के शरीरबिषे भी कम्पत्वादि होते देखते हैं। तैसेही चिदाभास बिषेहुए जे कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि सो भी उस सत् चैतन्यदेव बिषे अवश्य जाते होवेंगे॥ समाधान॥ हे सौम्य! स्वप्न शरीर है सो इस शरीर की छाया होवे ऐसा प्रमाण अरु नियम नहीं क्योंकि

स्वप्न में यह पुरुष कभी आपको मनुष्य कभी पशु कभी पक्षी इत्यादि देखता है ताते, अरु स्वप्न शरीर वासना के अनुसार होताहै ताते भी इसकी छाया नहीं। हे सौम्य! स्वप्न शरीरका विशेष विचार तहां होगा जहां कहीं स्वप्न का निर्णय होवेगा क्योंकि यहां प्रसंग दूसरा है॥ हे सौम्य! अब सावधान होके श्रवण करो। हे प्रियदर्शन! तुम जिस चिदाभास की क्रिया सत् चैतन्यदेव बिषे प्राप्तहोती मानते हो सो चिदाभास भी अक्रिय सत् चैतन्यदेव का प्रतिबिम्ब होनेसे स्वरूप करके बिम्बवत् अक्रिय निर्विकारही है क्योंकि वास्तव करके प्रतिबिम्ब बिम्ब के धर्मवालाही होता है ताते अरु जो अन्यथा भासताहै सो उपाधि के संसर्गसम्बन्ध से भासता है। हे सौम्य! जैसे कड़ाह में भरेहुए अग्नि करके तपायमान अति उष्ण तेल बिषे पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, परन्तु तहां भी विचार करके देखिये तो वास्तव करके उस तेल के जलने घटने से प्रतिबिम्ब जलता घटता नहीं क्योंकि तेल तो जलने से घटता है परन्तु तिसके साथ प्रतिबिम्ब का कोई भी अवयव वा अंश घटता नहीं किन्तु आदि से अन्तपर्यन्त ज्यों का त्यों एकरसही रहता है। अरु जो कदापि उस तेलके जलने के साथ वो प्रतिबिम्ब भी जलता होवे तो तेल के अंश घटनेवत् प्रतिबिम्ब के अंश भी घटने चाहिये परन्तु सो घटता नहीं एतदर्थ वो जलता भी नहीं अरु जिस करके वो तेल के जलने घटने के साथ जलता घटता नहीं तिसही करके तेलके संसर्ग सम्बन्धवाला भी नहीं, हे सौम्य! जब वो प्रतिबिम्बही अपनी उपाधि अरु तिनके धर्म से सम्बन्धवाला नहीं, अर्थात् जब उपाधि के धर्म क्रिया उपाधिविशिष्ट प्रतिबिम्ब बिषेही वास्तव करके जाती नहीं तब तिसका बिम्ब बिषे जाना तो किसी प्रकारसे भी संभवे नहीं। हे सौम्य! उक्त दृष्टान्त प्रमाणही बुद्ध्यादि उपाधिविशिष्ट जो सत् चैतन्य का प्रतिबिम्ब चिदाभास तिस बिषे बुद्ध्यादिकों के जे कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पाप, पुण्य, राग, द्वेष, सुख, दुःख, शोक, मोह, क्षुधा, पिपासा, जन्म, मरण आदि धर्म सो वास्तव करके जाते नहीं गयेवत् भासते हैं सो भ्रान्ति है, क्योंकि सो चिदाभास तो सत्यस्व चैतन्यदे

आनन्दत्व अक्रियत्व अविकारित्व आदि बिम्बधर्म है ताते । हे सौम्य ! उक्त विचारप्रमाण जब उपाधिविशिष्ट चिदाभासही अपनी उपाधि के धर्म कर्म संसर्ग सम्बन्ध से असंग है अरु "। असंगोह्ययंपुरुषः ।" "। न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति ।" "। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ।" इत्यादि श्रुति स्मृति भी तैसाही कहतीहै, तब उपाधि से पृथक् अविशिष्ट बिम्बरूप शुद्ध सत् चैतन्य अक्रिय देवबिषे उपाधि के धर्म कर्मादिकों के संसर्ग सम्बन्धादिकोंकी प्राप्ति माननी अरु कहनी केवल अविचारितही है । हे सौम्य ! जो कदापि सत् चैतन्यदेव का आभास जीव वास्तव करके विकारी होता तो उसकी सत् चैतन्यदेव के साथ अभेद एकता श्रुति कदापि न कहती सो तो आगे श्रुतिने "तत्त्वमसि" वाक्य करके आभासरूप जीव की अरु बिम्बरूप सत् चैतन्यदेव की एकता कही है एतदर्थ भी वास्तव करके यह चिदाभास निर्विकारही है ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! आप जिस सत् चैतन्यदेव को निर्विकार अक्रिय कहते हौ तिस बिषे भी हमको क्रिया दृष्ट आवती है क्योंकि अहंकार विना क्रिया होती नहीं अरु अहंकार चैतन्य विना होता नहीं अरु सत् चैतन्यदेवसे इतर चैतन्य कोई है नहीं, अतएव समस्त ब्रह्माण्डकी पाप पुण्यादिरूप क्रिया उस सत्चैतन्यदेव बिषेही प्राप्त होती है, अरु जीव तो क्रिया का स्वरूपही है । ताते आप उस सत् चैतन्यदेव अरु तिसके आभास को अक्रिय निर्विकार कैसे कहते हौ सो कृपा करके फिर कहौ ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! वो सत् चैतन्यदेव सदा निर्विकार अक्रियही है वो न कुछ आप करता है न उस बिषे किसी की क्रिया जाती है । हे सौम्य ! इस पर एक दृष्टान्त और कहते हैं उसको भी श्रवण करो, हे प्रियदर्शन ! जैसे कोई एक पुरुष अपने भोजनार्थ बटलोई आदि पात्रमें जलभर तण्डुल आदि अन्न डाल अग्नि पर चढ़ाय उसको पचावता वा राँधता है तहां जब वो अन्न अति उष्ण होय उबलता है उससमय जो वो पुरुष उसको केवल अपने हाथ ही करके हिलावे तो उसका हाथ जले अरु न हिलावे तो पाक सिद्ध न होय अरु अब ऐसा होय तब वो पुरुष भूखा ही रहै । अतएव उस पुरुष ने प्रथम विचार के अपने हाथ के बचावने अरु पाकक्रिया के सिद्ध

होने के लिये मध्यमें एक कड़छुल (चम्मच) को रक्खा तब उसके होने से उस पुरुष का हाथ भी न जला अरु क्रिया भी सर्व सिद्ध हुई। हे सौम्य ! तैसेही उस सत् चैतन्यदेव ने अपने महत्त्व स्वरूपानन्द के विशेष अनुभव करने की इच्छा किया तब प्रथम अपनी इच्छारूपा माया साथ मिल विचार किया कि सृष्टि की रचनादिक क्रिया मुझ निर्विकार अक्रिय स्वभाव बिषे तो बनती नहीं अरु न केवल इस इच्छारूपा माया बिषे बनतीहै क्योंकि यह जड़ पराधीन है, और संकल्प हमारा अपने महत्त्व स्वरूपानन्द को विशेषता से अनुभव करने का है सो नामरूपक्रियात्मक द्वन्द्वरूप प्रपञ्च के खड़े किये विना होवे नहीं क्योंकि प्रतियोगी द्वन्द्वरूप विशेषता के निमित्त विना निर्विशेष वस्तु का विशेषता से अनुभव होवे नहीं। अतएव अब ऐसा करना चाहिये कि जिस करके अपना संकल्प भी सिद्ध होवे अरु लीला भी देखी जावे अरु अपने ज्योंके त्यों निर्विकारभी रहैं। हे सौम्य ! इस प्रकार विचारके उस चैतन्यदेव ने क्रिया की सिद्धि के वास्ते अपने अरु माया के मध्य कड़छुलवत् चिदाभाससंज्ञक अपने आभास को खड़ा कर पुनः उसको अपनी इच्छारूपा माया बिषे डाल उस मायासे नामरूपक्रियात्मकसर्वप्रपञ्च खड़ाकराया अरु उस की विचित्र लीला को आप साक्षीवत् देखता हुआ, अरु आप उस सर्व से पृथक् निर्विकार अक्रिय भी रहा, अरु तिस वाचारम्भणमात्र अतितुच्छ नामरूपक्रियात्मक अति दुःखास्पद द्वन्द्वरूप प्रपञ्च की निमित्तता से चिदाभास द्वाराही तिस द्वन्द्वप्रपञ्च से विपरीत अपने अद्वय सत् चैतन्य आनन्दघन निर्विशेष स्वरूप को "अहं ब्रह्मास्मि" भावरूप विशेषता से अनुभव कर अपने आप अलौकिक सर्वसे विलक्षण महत्त्व को देखता (अनुभवकर्ता) हुआ॥ हे सौम्य ! वो सत् चैतन्यदेव सदा निर्विकार अक्रियही है वो क्रियावान् विकारी कदापि होता नहीं। अरु अहंकारादि अन्तःकरण के धर्म हैं शुद्ध आत्मा के नहीं अरु अन्तःकरण अविद्या का कार्य होने से स्वरूप करके जड़ है जब उस बिषे चैतन्य आत्मा का आभास प्रवेश करताहै, तब साभास हुआ अन्तःकरण अहंकारादिवृत्तिपूर्वक इन्द्रियों साथ मिल कर्तृत्व भोक्तृत्वादि क्रिया बिषे

प्रवृत्त होताहै, उन सर्वको अन्तःकरण विशिष्ट चेतन (चिदाभास) अपने बिषे मानता है ताते शुद्ध सत् चैतन्यदेव अपने स्वरूप करके अहंकारादि विकार उपाधिसे रहित सदा शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव आनन्दघनही है ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! जैसे जब बालक फेरी (चक्कर) देके भ्रमता है तब उसको गृहादि सर्व ही भ्रमता भासता है, अरु कहता है कि यह सर्व भ्रमता है, परन्तु भ्रमता तो वो आप है अरु जिसको वो भ्रमता मानता है सो नहीं भ्रमता । हे प्रभो ! तैसेही सत् चैतन्य देव सर्व क्रियाबिषे आपही है तब आप उसको अक्रिय निर्विकार कैसे कहते हो सो कृपा करके पुनः कहिये ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! अब इसको भी श्रवण करो, हे प्रियदर्शन ! उस बालक के भ्रमने से उसका अन्तःकरण वा चक्षु भ्रमता है अरु जब वो बालक भ्रमने से रहित होता है तब उसके सम कालही उसके अन्तःकरण वा दृष्टिके स्थिर न होने से उसको सर्व भ्रमतासा भासता है परन्तु उस कालमें भी जो अन्तःकरण वा दृष्टि के भ्रमण का प्रकाशक साक्षी आत्माहै सो भ्रमता नहीं क्योंकि जो वो भी भ्रमता होय तो अन्तःकरण वा चक्षुके भ्रमण को अरु तिसके निमित्त से भ्रमते भासमान जे अन्य गृहादिक तिसके भ्रमण को साक्षी होयके प्रकाशे कौन क्योंकि जो भ्रमणादिकक्रियावान् होगा तिसको साक्षित्व बने नहीं। ताते हे सौम्य ! बालक के भ्रमणकाल में भी उसके अन्तःकरण चक्षुरादिकों के भ्रमण अरु अभ्रमण (स्थिरता) का जो साक्षी आत्मा है सो कदापि भ्रमता नहीं "अचलोयं सनातनः" उसबिषे जो भ्रमण भासता है सो भ्रम करके भासता है, तैसेही सर्व के प्रकाशक निर्विकार अक्रिय आत्मा बिषे जो अहंकारादि क्रिया भासती है सो भ्रम करके भासती है वास्तव से वो अक्रिय ही है—: ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! जैसे वाचारम्भणमात्रत्व करके जीव को असत्यता की प्राप्ति है, तब तैसेही यह लोक परलोकादिक सर्व ही मिथ्या हुआ, तब श्रुति शास्त्र ऐसा क्यों कहते हैं कि इस जीव को इस कर्म से स्वर्गलोक की अरु इस कर्म से नरकलोक की अरु अमुक कर्म से इस लोक की प्राप्ति होती है ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! यह दोष नहीं

क्योंकि सत्‌चैतन्य सर्वाधिष्ठान आत्माकी सत्यता का अङ्गीकार है ताते हे सौम्य ! सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्यदेवकी सत्यता से तिस बिषे अध्यस्त समस्त नामरूपक्रियात्मक यह लोक परलोक जीवादि सर्व सत्यही है अरु उन अध्यस्थों की पृथक् सत्ता के अभाव से आभासादि सर्वविकार प्रपञ्च "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" इस श्रुतिवाक्य करके असत् ही है ॥ अर्थात् अधिष्ठान की सत्यता से सर्व अध्यस्त प्रपञ्च सत्य है तो आभास भी सत्य है, अरु जो अध्यस्त प्रपञ्च की पृथक् सत्ता के अभाव से सर्व प्रपञ्च वाचारम्भणमात्रही है तो आभास (जीव) भी वाचारम्भणमात्रही है ॥:—हे भगवन् ! कोई एक आचार्य इस जीवको लोक परलोक के आश्रय कहते हैं अरु लोक परलोक को जीवके आश्रय कहते हैं, अर्थात् लोक परलोकको अरु जीवको अन्योन्यआश्रय कहते हैं, अरु आप जीवको सत् चैतन्यके आश्रय कहते हो, अरु आप ने सत् चैतन्य अरु उसका आभास जीव इन दोनों को वास्तव करके निर्विकारही कहा है। हे प्रभो ! जब यह ऐसेही हैं तब यह लोक, परलोक, वेद, शास्त्र, आचार्य, जीव, ईश्वर, गुरु, शिष्य, कर्म्म, उपासना, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि सबही मिथ्या हुए, ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! जिससमय यह पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से तत्त्वमस्यादि महा-वाक्योंको क्यों श्रवण कर अपने वास्तविक सच्चिदानन्द अद्वयस्वरूपको यथार्थ अनुभवदृष्टि से देखता है उससमय अपने वास्तविक सत् चैतन्य सर्वाधिष्ठान स्वरूप बिषे अध्यस्त जे आभासत्वादि लोक, परलोक, वेद, शास्त्र, जीव, ईश्वर, गुरु, शिष्य, कर्म, उपासना, पाप, पुण्य आदि सब असत्‌ही होता है। तथाच "अत्र पिताऽपिताभवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। इत्यादि" अन्य श्रुतियोंके प्रमाणसे। अरु जब यह जीव अपने जीवत्व भाव से प्रपञ्चकी ओर दृष्टि करता है तब उस समय इसको लोक, परलोक, वेद, शास्त्र, जीव, ईश्वर, गुरु, शिष्य, कर्म्म, उपासना आदि पृथक् २ नाना प्रपञ्च सत्य है। हे सौम्य ! जैसे यावत् यह पुरुष स्वप्न में होता है तावत् उसको स्वप्न का शुभाशुभ सर्व प्रपञ्च सत्यही होता है तिस अवस्था में यह नहीं जानता जो

स्वप्न देखता हौं यह सर्व असत्य है, अरु जब जाग्रदवस्था को प्राप्त होता है तब अपने स्वप्न के देह सहित स्वप्न के सर्व प्रपञ्च को मिथ्या देखते सन्ते एक अपने आपको स्वप्नादिकों का साक्षी सत्यरूप देखता है। हे सौम्य ! तैसेही यह जीव यावत् अपने वास्तविक सत् चैतन्य स्वरूप बिषे यथार्थ अनुभवरूपसे जागता नहीं तावत् अविद्यावश करके उसको लोक परलोकादि सर्वप्रपञ्च सत्यहीहै। अरु जब स्वरूप की ओर आचार्य द्वारा वेदवाक्यों का जगाया जागताहै, तब लोक परलोकादि सर्व नामरूपक्रियात्मक प्रपञ्च स्वप्नवत् मिथ्याही देखताहै। हे सौम्य ! यह सर्व इसकी वृत्ति के आश्रय है जहां जैसी वृत्ति से देखता है तहां तैसाही भासताहै। अरु जब अपनी सर्ववृत्तिको आपबिषे लय करता है तब सत् असत् जड़ चैतन्य भाव अभाव इत्यादि सर्वके अभाव से अस्तिमात्र अनिर्वाच्य अपना आप ज्योंका त्यों है॥ २॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रोदेवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ।

उन तीनों देवताओं (तत्त्वों) के तीन २ विभाग करके एक २ का त्रिवृत्करण करना चाहिये। इस प्रकार विचारके सो सत् चैतन्यदेव इन तीनों देवताबिषे यथोक्त जीवरूप से आप प्रवेश कर नामरूप को प्रकट करताहुआ ॥ ३ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! उसके अनन्तर शब्दात्मक सर्व व्यवहार विकारों का सत् चैतन्य सर्वाधिष्ठान के सत्यत्व से सत्यपना, अरु सत्य अधिष्ठान से इतर अध्यस्तपने करके मिथ्यापना युक्तही है, इसमें कोई भी दोष नहीं। यहां तार्किकलोग कुछ भी कहनेको शक्य नहीं। हे सौम्य ! [यह जो तार्किक कहते हैं कि (हे वेदान्तिन् ! जो तुम) प्रपञ्च को मिथ्या मानोगे तो तुम्हारी सौगतमतमें अनुमति होवेगी अरु जो तुम प्रपञ्च

को सत्य मानोगे तो तुम्हारे अद्वैतमत की हानि होवेगी। सो उक्त प्र
के न्याय करके उनका कथन मिथ्याही है] क्योंकि उनका जो कथ
है सो श्रुतिप्रमाण से रहित स्वबुद्धि की कल्पना का है, अतएव हम उ
को अतत्त्वनिष्ठ कहने को शक्य हैं ॥ हे सौम्य ! सो चैतन्यदेव उ
प्रकार विचार करके पुनः विचार करताहुआ कि उन तीनों देवताओं
एक २ का त्रिवृत् २ (तीन २ विभाग करके) त्रिवृत्करण करो, क्यों
इनके अत्रिवृत्करणबिषे सर्व नामरूप छिपे हुए हैं सो त्रिवृत्कर
होने से पृथक् २ प्रकट होवेंगे, अरु इन तीनों देवताओं का अभिन्न
पृथक् २ त्रिवृत्करण होनेसे रज्जुवत् एक सम त्रिवृत्करण होवेगा
अर्थात् रज्जुबिषे एक मुञ्जनामक वस्तु का ही त्रिवृत्करण त्रिवली है
तैसे होनेसे एक २ वस्तुबिषे तीनों तत्त्वों का पृथक् २ नामरूप प्रकट
न होवेगा, ताते प्रथम तीनों तत्त्वों का तीन २ विभाग करके पश्चात्
तिनका मिश्रित त्रिवृत्करण करना चाहिये ॥ :—अर्थात् एकतत्त्व का
मुख्यभाग लेके तिसमें अन्य दो तत्त्वों का थोड़ा २ भाग मिलाय तीनों
का पृथक् २ त्रिवृत्करण होनेसे सर्वके नामरूप पृथक् २ प्रकट होवेंगे
कि यह मुख्य तेजतत्त्व के त्रिवृत्करण का नामरूप कार्य है, यह मुख्य
जलतत्त्व के त्रिवृत्करण का नामरूप कार्य है, यह अन्न (पृथिवी)
तत्त्व के त्रिवृत्करण का नामरूप कार्य है, अरु ऐसा होने से एक २
वस्तुबिषे तीनों तत्त्वों का नामरूप प्रकट होवेगा—: ॥ हे सौम्य ! इस
प्रकार वो सत् चैतन्यदेव विचारके इन तेज, जल, अन्न (पृथिवी)
तिन देवता बिषे इसही अपने आभास जीवरूप से सूर्य के प्रतिबिम्बवत्
अन्तः प्रवेश करके प्रथम विराट्सम्बन्धी देवता पिण्डबिषे (अर्थात्
विराट् देह के अवयवरूप प्रकाशवान् देवताबिषे) प्रवेश करके जैसा
अपना पूर्व का संकल्प है कि मैं सर्व के नामरूप को पृथक् २ प्रकट
करों तैसाही करताहुआ ॥ :—हे सौम्य ! पूर्वोक्तप्रकार इच्छा करके पुनः
वो सत् चैतन्य देव विचारताहुआ कि अब इन तीनों तत्त्वरूप देव-
ताओं को प्रथम पृथक् २ त्रिधा करना चाहिये पश्चात् इन तीनों का
त्रिवृत्करण करना चाहिये क्योंकि इन तीनों तत्त्वों के अत्रिवृत्करण

सर्व के नाम रूप छिपेहुए हैं जब इन तीनों का पृथक् २ त्रिवृत्करण होवेगा तब सर्वके नामरूप पृथक् २ प्रकट होवेंगे। जैसे वट के महासूक्ष्म बीजबिषे वृक्ष का नाम रूप छिपा होता है तैसेही इन सूक्ष्मभूतों के अत्रिवृत्करण बिषे सर्व ब्रह्माण्ड का नामरूप छिपाहुआ है। अतएव इन तीनों त्रिवृत्करण (मिश्रित) हुए बिना सर्वब्रह्माण्ड का नामरूप पृथक् २ प्रकट होनेका नहीं। इस प्रकार विचार के वो सत् चैतन्यदेव अपने आप आभासरूपसे उक्त तीनों देवताओं बिषे प्रवेश करताहुआ–॥ ३ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सौम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विज़ानीहीति ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

उन देवताओं का त्रिवृत् २ (तीन २ विभाग) एक २ का करता भया। हे सौम्य ! जैसे तो निश्चय करके तीनों देवताका एक २ त्रिवृत् २ है तिनको मेरे कहे प्रमाण विस्पष्ट जानो ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! वो सत् चैतन्यदेव उक्त प्रकार विचार पश्चात् तेज जल पृथिवी इन तीनों अत्रिवृत्कृत देवता बिषे प्रवेश करता हुआ। पश्चात् उन तीनों तत्त्वों के तीन २ विभाग करता हुआ तहां प्रथम एक २ तत्त्व के दो २ विभाग किये, तदनन्तर उन दो २ भागों में से एक २ भाग जुदा रख एक २ के दो २ भाग करता हुआ। अर्थात् प्रथम तेज तत्त्व के दो विभाग किये उनमें से एक अर्द्धभाग को पृथक् रख दूसरे अर्द्धभाग के पुनः दो विभाग किये। तैसेही जलतत्त्व के प्रथम दो विभाग किये उनमें से एक अर्द्धभाग को जुदा रख दूसरे अर्द्धभाग के पुनः दो विभाग किये। तैसेही पृथिवीतत्त्व के प्रथम दो विभाग किये उनमें से एकको पृथक् रख दूसरे अर्द्धभाग के पुनः दो विभाग किये। इस प्रकार सत् चैतन्यदेव ने तेजादि तीनों तत्त्वों बिषे अपने आभासरूप से प्रवेश कर अपनी इच्छानुसार उन तीनों तत्त्वों के उक्त प्रकार तीन २

त्रिभाग किये, तिसके पश्चात् उनका त्रिवृत्करण करता हुआ, तहां तेज
तत्त्व का जो अर्द्धभाग है तिसमें जलतत्त्व अरु पृथिवीतत्त्व के अर्द्ध
भाग के दो २ भागों में से एक २ भाग मिलावता हुआ। पश्चात् जल
तत्त्व के अर्द्धभाग को मुख्य कर तिसमें तेजतत्त्व के अरु पृथिवीतत्त्व
अर्द्धभाग के दो २ भागों में से एक २ भाग मिलावता हुआ पश्चात्
पृथिवीतत्त्व के अर्द्धभाग को मुख्य कर उसमें तेजतत्त्व अरु जलतत्त्व
के अर्द्ध २ भागों के दो २ भागोंमें से एक २ भाग मिलावता हुआ।
हे सौम्य! इसप्रकार सत् चैतन्य परादेव अपनी इच्छानुसार सर्व नाम
को पृथक् २ प्रकट करनेके लिये उक्त तीनों तत्त्वोंका पृथक् २ त्रिवृत्करण
करता हुआ, देवतादि पिण्डों का नामरूप करके व्याकृतों का (प्रकट
हुओं का) तेज जल पृथिवीमयत्व करके त्रिधात्व जिस प्रकार
निश्चय करके इस शरीर से बाह्य तीनों तत्त्व एक एकका त्रिवृत् २ करण
जिसप्रकार हुआ है तिसको मेरे कहे प्रमाण (कि जैसे मैं अग्रिम कहता
हौं) उदाहरण से विस्पष्ट जानलेवो वा जानोगे ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके चतुर्थः खण्डः प्रारभ्यते।

यदग्ने रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीति सत्यम् ॥ १ ॥ यदादित्यस्य
रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्न
स्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीति सत्यम् ॥ २ ॥ यच्चन्द्रमसो रो
हितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्न
स्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
त्रीणि रूपाणीति सत्यम् ॥ ३ ॥ यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेज
सस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो

विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीति सत्यम् ॥ ४ ॥

अब षष्ठप्रपाठक में चतुर्थखण्ड का आरम्भ करते हैं ॥

अक्षरार्थ ।

जो अग्निबिषे रोहित (रक्त वा लाल) रूप (रङ्ग) है सो तेज का रूप है, जो शुक्लता (श्वेतता) है सो जल का रूप है, जोकृष्णता (श्यामता) है सो अन्न (पृथिवी) का रूप है । इन तीनों को पृथक् करने से अग्निबिषे अग्नित्व वाचा से आरम्भ किया विकार कहनेमात्र ही है (अर्थात् उक्त तीनों रूपों को 'जो क्रमशः तीनों तत्त्वों के हैं' पृथक् करने से अग्नि बिषे अग्नित्वविकार केवल कहनेमात्रही है । अरु उक्त तीनोंरूप हैं सोई सत्य हैं (सत् चैतन्यदेव का कार्य होनेसे)। इस प्रकार ही आदित्य, चन्द्रमा, अरु विद्युत्, इन तीनों बिषे भी, अरु अन्य सर्व नामरूपात्मक कार्य बिषे भी, जानलेना ॥ १ । ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! तहां यह कहते हैं । हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! जो इस लोकप्रसिद्ध अग्निबिषे अरुणतारूप (रूप उसको कहते हैं जो केवल चक्षु इन्द्रियों का विषय होय, रङ्ग) है सो अत्रिवृत्कृत तेज का रूप है, ऐसा जानो । अरु तैसे पुनः उक्त अग्निबिषे जो श्वेततारूप है सो अत्रिवृत्कृत जल का रूपहै, ऐसा जानो । अरु जो उक्त अग्निबिषे कृष्णतारूप है सो अत्रिवृत्कृत अन्न (पृथिवी) का रूप है, ऐसा जानो । हे सौम्य ! जब ऐसा है तब अग्निसे तीनों रूपों को पृथक् होने करके उक्त तीनोंरूपों से व्यतिरेक (जुदा) करके जिस अग्नि को तू मानताहै उस अग्नि का अग्नित्व जातारहता है । अर्थात् उक्त रूपत्रयके विवेक होने से पूर्व जो तेज बिषे अग्नि बुद्धि रहीसो रूपत्रय के विवेक होने पश्चात् अभाव होजाती है । जैसे रक्त उपधान वा लालरङ्ग करके युक्त दृश्यमान स्फटिकमणि यह पद्मराग (माणिकनामवाला रत्न) है इस शब्दबुद्धि करके ग्रहण होता है, सो लालरङ्ग के उपधान (अर्थात् उपधान

नाम बिछौनेका है परन्तु यहां उपधानशब्द करके उस रक्तवर्ण के द्रव्य का ग्रहण है कि जिसके श्वेतरङ्ग के नगीने के नीचे लगाने से श्वेत नगीना रक्तवर्णका प्रतीत होता है) अरु स्फटिकमणिके यथार्थ विवेक होने से पूर्व होताहै । अरु रक्त उपधान अरु शुद्ध स्फटिकमणिके यथार्थ विवेक होने से तो 'यह पद्मराग है' यह शब्द (कहना) अरु बुद्धि (जानना) निवृत्त होता है । अर्थात् रक्त उपधान अरु स्फटिकमणिके सम्यक् विवेक होने से 'यह पद्मराग है' ऐसा जो अविवेकजन्य कहना अरु मानना सो निवृत्त होजाता है । तैसेही अग्निबिषे प्रत्यक्ष भासमान रूपत्रय तिनके अविवेकसे 'यह अग्नि है' ऐसा जो कहना अरु मानना सो रूपत्रय के यथार्थ विवेक के हुए निवृत्त होजाता है ॥ शङ्का ॥ नन् यहां जो बुद्धिशब्द की कल्पना करते हौ सो तिसकरके क्या करता है ऐसा क्यों नहीं कहते कि रूपत्रयके विवेक होनेसे पूर्व अग्निहीहै किन्तु अग्नि का अग्नित्व लोहितादि रूपत्रयके विवेक होनेसे निवृत्त होजाता है अर्थात् अग्नि से रूपत्रयके पृथक् होनेसे अग्नि के अग्नित्वका अभाव हो जाता है जैसे पट से तन्तुओं के पृथक् करनेसे पट का अभाव होजाता है तैसे । इस प्रकार कहना युक्तहै ॥ समाधान ॥ ऐसा नहीं किंतु बुद्धि शब्दमात्र ही अग्नि है (अर्थात् रूपत्रयके अविवेकसे ही अग्नि कहने जाननेमात्र है) ऐसा श्रुति का कहना है सो कहते हैं । अग्नि नाम वाला जो विकार है सो विकार वाणी से आरम्भ किया कहनेमात्र है वास्तव से नहीं, अतएव अग्निबुद्धि भी मिथ्याही है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! जब अग्निविषे अग्नित्व केवल वाचारम्भणमात्रहीहै तब तहां सत्य क्या है ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! तहां रक्तादि तीनों रूपही सत्य हैं (सत चैतन्य का अन्वयकार्य होने से) उक्त तीनों रूपों से पृथक् अग्नि एक अणुमात्र भी सत्य नहीं 'केवल वाचारम्भण मात्रही होनेसे' ऐसा निश्चय धारने के अर्थ मूल से इति, शब्द है ॥ हे सौम्य ! जैसे यह अग्नि के अग्निपने का विचार कहाहै तैसाही 'आदित्य के आदित्यत्व का, चन्द्रमा के चन्द्रत्व का, विद्युत्के विद्युत्त्व का' विचार जान लेना क्योंकि अग्नि आदि चारों के बिषे श्रुति का कहना समानही है

शङ्का ॥ हे भगवन् ! "यथानुखलु सौम्येमास्तिस्रोदेवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति" आपने 'जैसे तो निश्चय करके तीनों देवता एक २ का त्रिवृत् हुआ है तिसको मेरे कहे प्रमाण जानों' ऐसा कहा है। परन्तु उक्त अग्नि आदिकों के चारों उदाहरणों करके जो आपने त्रिवृत्करण देखाया तिसमें एक तेजहीके रूप विषय को देखाया अथवा उक्त तीनों का त्रिवृत्करण केवल तेजोमय में ही नहीं देखाया परन्तु जल पृथिवी का जो 'रस, गन्ध, विषय है सो आपने उक्त त्रिवृत्करण विषे वा उक्तप्रकार त्रिवृत्करण जल अन्नबिषे नहीं देखाये ॥ समाधान ॥ जो वापी कूपादि बिषे अरुणता है सो तेजकी है जो शुक्लता है सो जल की है, जो कृष्णता है सो अन्न (पृथिवी) की है । तैसेंही व्रीहि यवादिकों बिषे जो रक्तता है सो तेजकी है, अरु जो श्वेतताहै सो जल की है, अरु जो कृष्णता है सो पृथिवी की है इत्यादि उदाहरणों का संभव होने से उक्त उदाहरणों बिषे कुछ भी न्यूनता नहीं, इस प्रकार वादी की शङ्का का परिहार करते हैं] हे वादिन् ! यह दोष नहीं है सौम्य ! (तेजतत्त्व के गुण रूप के साथ) जल अरु अन्न के गुणों का भी उदाहरण हुआ ऐसाही जानना चाहिये, इस प्रकार श्रुति मानती (कहती है) अरु अग्नि आदिक तेजवानों का जो उदाहरण कहा है सो उपलक्षणमात्र है परन्तु सर्वत्र जानना चाहिये । अरु तेजतत्त्व का गुण (तन्मात्रा) जो रूप उसका स्पष्ट ग्रहण होता है, नेत्र का विषय होने से, अतएव अग्न्यादिकों के उदाहरणों बिषे तीनों तत्त्वों के एकरूप के उदाहरण होने से एक तेजतत्त्व के गुण वा विषय का ही उदाहरण स्पष्ट है, गन्ध, रस का अन्न उदाहरण है, तीनों के उदाहरण के असंभव से । क्योंकि तेजके गुण, रस, गन्ध, होते नहीं ॥ :—अर्थात् तेजतत्त्व का गुण रूप है 'रस , गन्ध, नहीं, अरु तेजतत्त्व का कार्य जल है तिसमें शुक्लतारूप कारण तेज का है अरु रस स्वयं जल का गुण है । अरु जल पृथिवी का कारण है तिस बिषे अपने कार्य का गुण गन्ध नहीं, अरु जल के कार्य पृथिवी बिषे रस गुण अपने कारण जल का है अरु गन्धगुण स्वयं पृथिवी का है सो उसके कारण जल

में नहीं। अर्थात् जो कारण का गुण होता है सो उसके कार्य विषे भी होता है, अरु जो स्वयं कार्य का गुण होता है सो कारण बिषे होवे नहीं ॥ अरु जो तेजतत्त्व का गुणरूप है सो नेत्रों का विषय होने से स्पष्ट भान होता है, तैसे जल पृथिवी के जे विशेष गुण, रस, गन्ध, सो नेत्रों के विषय न होने से स्पष्ट इदं करके भान होवे नहीं, परन्तु उन के कारण तेजतत्त्व के गुणरूप के ग्रहण के साथ उन कार्यों के स्व गुणों का भी ग्रहण होता है (हे सौम्य! यहां जो 'रस', गन्ध की स्पष्टता कही है सो केवल उनको नेत्रों का विषयत्व न होनेमात्र जाननी नतु रसना घ्राण करके तो सो भी स्पष्टही है) हे सौम्य! अभिप्राय यह है कि अग्नि आदि तेजवानों बिषे तीनों तत्त्वों के रूपों का ही स्पष्ट उदाहरण होने से एक तेज तत्त्व के ही गुण का उदाहरण हुआ स्पष्ट भासे है, परन्तु श्रुति ने श्वेतता जल की अरु कृष्णता पृथिवी की कही है, ताते जल पृथिवी की श्वेतता श्यामता के (जोकि उनके कारण तेज के गुण हैं) ग्रहण के साथही उनके स्वयं रस गन्ध गुणों का भी ग्रहण होता है 'मञ्चाकर्षति न्यायवत्, ताते उक्त उदाहरणों बिषे जल पृथिवी के रूप के कथन के साथ उनके रस गन्ध गुणों का भी कथन हुआ जानना—: ॥ हे प्रियदर्शन ! उक्त अग्नि आदिकों बिषे 'शब्द, स्पर्श, जो आकाश अरु वायु के गुण हैं, उनका भी अन उदाहरणही है 'क्योंकि उन बिषे रूप के अभाव हैं ' यह शब्द का रूप है यह स्पर्श का रूप है, इस प्रकार के विभाग को देखावने की अशक्यता है ताते ॥:—अर्थात् त्रिवृत्कृत अग्नि आदिकों बिषे तेज जल पृथिवी के 'रक्त, श्वेत, श्याम यह तीन रूप उदाहृत हैं, तैसे आकाश वायु के रूप उदाहृत नहीं, उनको अरूप होने से। परन्तु त्रिवृत्कृत जे अग्नि आदिक हैं सो शब्द स्पर्श करके युक्त हैं, अतएव उन अग्नि आदिकों बिषे एकरूप गुणके उदाहरणरूप उपलक्षण करके पाँचों तत्त्वों के गुणों का उदाहरण हुआ जानना। अरु अग्नि आदिक तेजवानों बिषे जो एकरूप गुण का ही उदाहरण है सो उस रूप गुणको चक्षु का विषयत्व होने से स्पष्टता है एतदर्थ उस स्पष्टगुण को उपलक्षणमात्र से विशेष ग्रहणकरके

सर्वतत्त्वों का अरु तत्त्वों के गुणों का उदाहरण हुआ जानना ॥

शङ्का ॥ हे भगवन्! जैसे अग्नि आदि त्रिवृत्कृत हैं, तैसे सर्व जगत् त्रिवृत्कृत है, अरु जैसे अग्नि से तीनों रूपों को पृथक् करने से अग्नि के अग्नित्व के अभाववत् समस्त जगत् से उक्त तीनों रूपों (तत्त्वों) के पृथक् करने से जगत् के जगत्त्व का अभाव होता है सो 'अस्तु' परन्तु तीनों रूप तो सत्य हैं। तब कैसे अणुमात्र भी अवशेष नहीं ॥ समाधान ॥ हे सौम्य! जैसे तीनों रूपों का कार्य जे नामरूपात्मक जगत् तिससे जब कारणभूत तीनों तत्त्वों को पृथक् करिये तब कार्य की पृथक् सत्ता के अभाव से जगत् के जगत्त्व के अभाव होनेवत्, अन्न को भी जल का अंकुर (कार्य) होनेसे (अर्थात् प्रसंगरूपों का चला है ताते अन्नशब्द करके तिसके कृष्णरूप को जल के शुक्ल रूप का अंकुर (कार्य) होने से शुक्लपनाही सत्य है, कृष्णरूप का कृष्णत्व वाचारम्भणमात्रही है) अन्न का अन्नत्व वाचारम्भणमात्र होने से जलही सत्य है। तैसेही जल को भी तेज का अंकुर (कार्य) होने से जलके जलत्व को वाचारम्भणमात्रपने के हुए तहां तेजही सत्य है (अर्थात् जलशब्द करके जल के शुक्लरूप को तेज के रक्तरूप का कार्य होने से शुक्लता को वाचारम्भणमात्रता के हुए रक्तरूपही सत्य है) तैसेही तेज को भी सत् चैतन्य का अंकुर (कार्य) होनेसे उसको वाचारम्भणमात्रता के हुए तहां एक सत् चैतन्यही सत्य है (अर्थात् तेज शब्द करके लक्षित रक्तरूप को सत् चैतन्य का अंकुर (कार्य) होने से अरु कारण से कार्य की पृथक् सत्ता को अभावरूपता नियमित निश्चय के हुए उस रक्तरूप वा तिस करके लक्षित तेजतत्त्व को केवल वाचारम्भणमात्रता के हुए एक सर्व का परा कारण सत् चैतन्यही सत्य है। इस प्रकार यह श्रुत्यर्थ विवक्षित है ॥ हे सौम्य! उक्त प्रकार होने से सत् चैतन्य से भिन्न करके एक अणुमात्र भी सत्य नहीं "नात्र काचन भिदास्ति" इस प्रकार के निश्चय को धारण करो ॥

प्रश्न ॥ हे भगवन्! अन्य श्रुत्याचार्योंने इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति पांच तत्त्वों के पञ्चीकरण से कही है अरु आप इसको तीन तत्त्वों के

त्रिवृत्करण से कहते हौ। हे भगवन्! पूर्व आपने मृत्तिका सुवर्ण अरु लोह, इन तीनों के दृष्टान्त से यह प्रतिज्ञा कहाहै कि एकके जानने से सर्व जानाजाता है। परन्तु त्रिवृत्करण की रीति से अरु अग्नि आदिकों के उदाहरण से एक सत् के जानने से तीन तत्त्व अरु तिनका सर्व कार्य जानाजाताहै सो अस्तु परन्तु जिन आकाश वायु का त्रिवृत्करण कहा नहीं अरु अग्नि आदिकोंके उदाहरण बिषे जिनका रूप देखाया नहीं अरु जिनको सत्य करके कहा नहीं उन आकाश वायुका जानना तो अवशेष रहा तब उक्त प्रतिज्ञा कैसे बनेगी कि एकके जानने से सर्व जानाजाताहै। अतएव हे भगवन्! यहां जैसा जानना चाहिये तैसा आप कृपा करके कहिये॥ उत्तर॥ हे सौम्य! तैत्तरेय अरु ऐतरेय उपनिषदों बिषे सत् चैतन्य आत्मासे आकाशादि पांचों तत्त्वों की क्रमशः उत्पत्ति कहीहै पश्चात् उन पांचोंतत्त्वों के पञ्चीकरणसे समस्त नामरूप क्रियात्मक जगत् की उत्पत्ति कही है। अरु भगवान् व्यासदेवजी ने भी अपने ब्रह्मसूत्र (वेदान्तशास्त्र) बिषे जहां सृष्टिक्रम कहा है तहां तैत्तरेय उपनिषद् प्रमाण पञ्चभूतों से ही कहाहै। अरु यह जो श्रुति ने तीन तत्त्वों के त्रिधाकरण वा त्रिवृत्करण द्वारा नामरूप की उत्पत्ति कही है। अतएव सृष्टिक्रम में परस्पर भेद होने से यह प्रतीत होता है कि इन सर्व श्रुतियों का तात्पर्य सृष्टिक्रम के कहनेपर न होके एक अद्वैत के कहनेपर है, क्योंकि जहां जिस श्रुति ने सृष्टि कही है तहां तिसने 'सत्, आत्मा, अक्षर, इत्यादि नाम भेद से एकही कारण से कही है अरु तिस कहने से सर्व ने एक अद्वैतही लक्ष्य कराया है क्योंकि सर्व के अद्वैत बोधकत्व में भेद नहीं ताते त्रिधाकरण वा पञ्चीकरण के कथनपर श्रुति का तात्पर्य नहीं किन्तु सर्व श्रुतियों का जो एक अद्वैत के लक्षण कराने पर तात्पर्य है तिस विषय में रञ्चकमात्र भी विरुद्ध नहीं। हे सौम्य! यहां जो श्रुति ने त्रिधाकरण कहाहै सो सत् चैतन्यदेव का संकल्प जो नाम रूप दोनों के प्रकट करने का है तिसके अनुसार कहाहै क्योंकि नाम अरु रूप यह दोनों 'तेज, जल, पृथिवी, इन तीनों तत्त्वों मेंही घटित हैं। अरु 'आकाश, वायु, इन दोनों तत्त्वों बिषे रूप के असंभव है

नाम अरु रूप दोनों संभवे नहीं । अरु बृहदारण्यक उपनिषद् बिषे आकाश अरु वायु इन दोनों तत्त्वों को अमूर्त्त कहा है, अरु जो अमूर्त्त होताहै सो अरूप भी होताहै, एतदर्थ भी उन आकाश, वायु दोनों बिषे रूप संभवे नहीं क्योंकि रूप का आश्रय मूर्त्त द्रव्य ही है, जैसे नील पीतादि रूपों का आश्रय घट, अरु 'तेज, जल, पृथिवी, इन तीनों तत्त्वों को मूर्त्त करके कहाहै ताते इन मूर्त्ततत्त्वों बिषे नाम अरु रूप दोनों का संभव है । अतएव तात्पर्य यह है जो इस श्रुति से नाम रूप दोनों देखावना है एतदर्थ तीनों तत्त्वों के त्रिवृत्करण से सर्व जगत् के नामरूप की सिद्धि देखाई है ॥ हे सौम्य ! जैसे त्रिवृत्करण की रीति से तीनों तत्त्वों के पृथक् हुए समस्त जगत् वाचारम्भणमात्रही होताहै, अरु तीनों तत्त्व सत् चैतन्य का कार्य होने से सत्यरूप है परन्तु उनकी भी सत् चैतन्य से पृथक् सत्ता के अभाव से सत् चैतन्य से पृथक् करके सोभी वाचारम्भणमात्रही है, ताते सर्वका पराकरण सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्य ही सत्य है अरु तिस सर्वाधिष्ठान की सत्यता के आश्रय अध्यस्त जगत् भी सत्य है । हे सौम्य ! तैसेही पञ्चीकरण की रीतिप्रमाण पञ्चतत्त्वात्मक जगत् से पांचों तत्त्वों के पृथक् हुए जगत् केवल कहनेमात्रही है वो पांचों तत्त्व ही सत्यहैं, परन्तु तिनकी भी सत् कारण से पृथक् सत्ता के अभाव से उनको भी वाचारम्भणमात्रताके हुए एक सत् चैतन्यही सत्य है, तिस एक सत् के जानने से तदाश्रित कार्य सर्व सत् जानाजाता है । जैसे एक मृत्तिका के जाननेसे घटादिक सर्व जानेजाते हैं तैसे । अतएव त्रिवृत्करण की रीति से वा पञ्चीकरणकी रीति से कार्य कारणात्मक सर्व नाम रूप प्रपञ्च वाचारम्भणमात्र हुआ एक सत् चैतन्य सर्वाधिष्ठान देव ही सत्य है "इति सिद्धमेव भवति" हे सौम्य ! वेद भगवान् ने जिज्ञासुओं को अद्वैत 'जो अभयत्वप्राप्ति का परम हेतु है, निश्चय करावना है, अतएव वेद जिस क्रमसे जिज्ञासुओं को अद्वैतनिष्ठा में प्राप्त होते जाते हैं तिसही क्रमसे ब्रह्मवित् आचार्य द्वारा होके साक्षात् वेद वा ब्रह्म अद्वैत तत्त्व का निश्चय करावे है, क्योंकि "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि प्रमाण से ब्रह्मवेत्ताही ब्रह्म है-: ॥

हे सौम्य ! पूर्व हमारे कुलबिषे जो सर्वज्ञ हुए हैं सो उक्त प्रकार विचारके एक सर्वकारणों के महाकारण सत् चैतन्य को सम्यक् प्रकार जानके हुए हैं। इन मूर्खोंवत् हमारे कुलबिषे सर्वज्ञ नहीं हुए, ताते तुम ने इन अज्ञानी मूर्ख सर्वज्ञों का संग करके इनवत् नहीं होना॥ प्रश्न॥ हे भगवन् ! ऐसे वो मूर्ख सर्वज्ञ कौन हैं कि जिनके संगसे अन्य भी तद्वत् होते हैं॥ उत्तर॥ हे सौम्य ! जैसे तूने पूर्व एक सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्य के जाने विना सर्वज्ञपने का अहंकार किया था तब तू मूर्ख था, तैसेही जो पुरुष उस सर्वाधिष्ठान सत् कारण को यथार्थ जाने विना आपको तत्त्ववेत्ता सर्वज्ञ मानते हैं सो मूर्ख हैं उनहीं के संगसे अन्य भी मूर्ख होते हैं। हे सौम्य ! जो यह सिद्धियों के लालच से योग के करनेवाले हैं सो अतिअल्प दूरदर्शन दूरश्रवणादि तुच्छ सिद्धि पाय दूर देश के पदार्थों को देखते शब्द (वार्त्ता) को सुनते अन्यों को कहते हैं मेरु आदि अतिदूर के स्थानों बिषे अमुक २ देवता वा ऋषि बैठे परस्पर में संवाद कररहे हैं, इन सिद्धियों के आश्रय अपने को सर्वज्ञ सिद्ध मानते हैं तिनको भी मूर्ख सर्वज्ञों बिषे जानने। हे सौम्य ! सर्वज्ञ सिद्ध सोई है जो सदा सिद्ध सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्यदेव को यथार्थ जानके तदाश्रित अध्यस्त सर्व प्रपञ्च को जैसे का तैसा जानता है। हे सौम्य ! कोई पुरुष प्रेतादिकों की उपासना के बलसे ऐसा कहते हैं कि हम सर्व के मनकी और गृहकी वार्त्ता वस्तु सर्व जानते हैं, विनाही प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न किये उसके प्रश्न अरु उसके उत्तर को जो आगे भविष्यत् है ज्यों का त्यों कहते हैं ताते हम सर्वज्ञ हैं हमसे किसीका कुछ भी छिपा नहीं। हे सौम्य ! इस प्रकार अपने को सर्वज्ञ मानने कहनेवालों को तुमने महामूर्ख अल्पज्ञ जानने, ये सर्व अल्प २ पदार्थों को जानके सर्वज्ञता का अहंकार करते हैं सो महामूर्ख-अल्पज्ञ हैं, ऐसे मूर्खों का संग तुमको कदापि करना नहीं। हे सौम्य ! जो संसार के नामरूपात्मक पदार्थों को जो केवल कहनेमात्रही हैं, सत्य मानके उनके जानने का अभिमान करते हैं और कहते हैं कि हम संसार के सर्व पदार्थों को जानते हैं, सो संसारी अज्ञानी असत् पदार्थों को जाननेवाले सर्वज्ञों को महाअल्पज्ञ

पूर्व जानने। हे सौम्य! जो पुरुष कारण माया अरु उसके कार्य नाम रूपात्मक जगत् इन दोनों के अधिष्ठान सत्ता सत् चैतन्य को जानके उसके आश्रय कल्पक समेत अध्यस्त कार्य कारणात्मक जगत् को तिन की पृथक् सत्ता के अभावसे एक सत् अधिष्ठानरूपही जानता है सोई विद्वान् सर्वज्ञ है, ताते उन विद्वान् सर्वज्ञों के सत्संग से तुमको भी तैसाही सर्वज्ञ होना उचित है। हे सौम्य! अब जिस प्रकार के पूर्व हमारे कुलके विद्वान् हुए हैं उनकी सर्वज्ञता को श्रवणकरो ॥ ४ ॥

एतद्धस्मवै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुत ममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥ यदुरोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः यदुशुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदुकृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ।

पूर्व बड़े गृहवाले बड़े श्रोत्रिय उक्त सत् के जाननेवाले हमारे वृद्ध पुरुष स्पष्ट निर्णय करने के लिये कोई एक असुनी अमनन करी अविज्ञात वस्तु को अपने मध्य रख कहते हुए कि जो कोई इस वस्तु को जानता होय सो कहै यह क्या है ॥ ५ ॥ जो इस बिषे अरुणता ऐसी है सो तेज का रूप है ऐसा जानो, जो इस बिषे शुक्ल ऐसा है सो जल का रूप है ऐसा मानो, अरु जो इस बिषे कृष्ण ऐसा है सो अन्न का रूप है ऐसा जानो, इस प्रकार तिस त्रिवृत्कृत सत् के जाननेवाले विचार के कहते हुए ॥ ६ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! एक के जानने से सर्व जानाजाता है, ऐसा पूर्व कहा है सो त्रिवृत्कृत के होते भी एक के जानने से सर्व जानाजाता है इस बात के दृढ़ करने के लिये सत् चैतन्य के ज्ञातपूर्वक त्रिवृत्कृत के ज्ञाता

ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वृद्ध विद्वानों का एक उदाहरण श्रुति पुनः प्रारम्भ करे हैं॥ हे सौम्य ! हे श्वेतकेतो ! पूर्व बड़े गृहवाले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हमारे कुल के वृद्ध (गौतमगोत्री) एक समय एक स्थान में एकत्र होय निश्चयकर कहते हुए ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! पूर्व वो ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, विद्वान क्या कहते हुए ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! पूर्व वो वृद्ध सत्य के स्पष्ट निर्णय के लिये कोई एक असुनी अदेखी अविचारी ऐसी दुर्लक्ष्य वस्तु अपने सर्व के मध्य रख के परस्पर में प्रश्न करते हुए कि अपने सर्व के मध्य जो सर्वज्ञ होय सो इस वस्तु का रूप कहै यह क्या है ॥ ५ ॥ हे सौम्य ! उक्तप्रकार हमारे कुल के विद्वान् वृद्धों ने स्पष्ट निर्णय के लिये अपने सर्व के मध्य अतिदुर्लक्ष्य दुर्विज्ञेय वस्तु कि जिसको पूर्व देखी सुनी जानी नहीं, रखके परस्पर में प्रश्न करते हुए कि हे भाइयो ! अपने सर्वके मध्य सर्वज्ञ तत्त्ववेत्ता होय सो इस वस्तु का स्वरूप कहै जो यह क्या वस्तुहै ॥ हे सौम्य ! तब उन सर्व त्रिवृत्कृतके ज्ञाताओं में से एक किसीने वा सबोंने मिलके एक २ ने कहा कि हे भाई ! इस वस्तु विषे जो अरुणता ऐसी है, सो तेज का रूप है ऐसा जानो, अरु इस वस्तु में जो श्वेतता ऐसा है सो जल का रूप है ऐसा जानो, अरु इस विषे जो कृष्णता ऐसी है सो पृथिवी का रूप है ऐसा जानो ॥ :—अरु उक्त तीनों रूपों को इस वस्तुमें से पृथक् करिये तो यह वस्तु केवल कहनेमात्रही है । अरु उक्त तीनों वर्णात्मक तत्त्व सत् चैतन्य का कार्य होनेसे सत्य रूप हैं ऐसा जानो, उक्त तीनों तत्त्वों से बाह्य एक अणुमात्र भी नहीं, ताते वास्तव करके सर्व रूपसे एक सत् चैतन्य देव ही सुशोभित है ऐसा जानो—: ॥ ६ ॥

यदविज्ञातमेवाभूदित्येतासामेव देवतानाᳬंसमास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु सौम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति॥७॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

जो अविज्ञात ऐसा होवे तो सो भी उन तीन तत्त्वरूप देवताओंका समुदाय (मिश्रित) है ऐसा जानो इसप्रकार वो तत्त्ववेत्ता वृद्ध कहते हुए। हे सौम्य ! जिस प्रकार तो निश्चय करके तीनों देवता पुरुष (शरीर) को पाय एक २ त्रिवृत् २ होते हैं तिसको मेरें कहे प्रमाण जानो॥ ७॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार कहके वो वृद्ध पुनः कहते हुए कि हे भाई ! जो वस्तु अत्यन्त दुर्विज्ञेय होवे अरु जिसको कभी देखी सुनी जानीभी होवे सो यदि आय प्राप्त होवे तो तिसको भी तेज जल अन्न इन तीनों देवताओं का समास कहिये समुदाय 'अर्थात् त्रिवृत्कृत भूतों का कार्य' है ऐसा निश्चय करिये ॥:—हे सौम्य ! रक्तादि तीनों रूपों के पृथक् २ अनुभव विचार से वस्तुके अभाव हुए तीनों तत्त्वों को ही सत्य जानिये और तद्व्यतिरेक वस्तुको केवल वाचारम्भणमात्रही जानिये क्योंकि तेजादिक तीनों देवता सत् चैतन्य का कार्य होने से सोई रूप हैं, इस प्रकार निश्चय कर सर्वको एक सत् चेतन सत्ता समानरूपही अनुभव निश्चय करिये ॥ हे सौम्य ! यह तुमको उभय उपाख्यान करके बाह्य का त्रिवृत्कृत निश्चय कराया है। अब जिसप्रकार अन्तर का त्रिधाकरण हुआहै उसको भी श्रवण करो। हे प्रियदर्शन ! जैसे तो निश्चय करके 'तेज, जल, अन्न यह तीनों तत्त्वरूप देवता कारण कार्य के संघात शिर हस्त पादादि लक्षणवान् पुरुष नामक शरीर को पाय (शरीर के अन्तरजाय) एक २ तत्त्वका त्रिवृत् २ (स्थूल, मध्यम, सूक्ष्म तीन २ विभाग) होता है तिसको भी मेरे 'अग्रिम कहे प्रमाण, श्रवण करके स्पष्ट जानो (निश्चय अनुभव करो) ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके पञ्चमः खण्डः प्रारभ्यते ।

अन्नमाशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातु

स्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणि ष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य षष्ठप्रपाठकमें पञ्चम खण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

अन्न भोजन किया तीनप्रकार विभाग को पावता है तहां जो उस का स्थूलभाग है सो विष्ठा होताहै, जो मध्यम भाग है सो मांस होता है, जो सूक्ष्म भाग है उसका मन होता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार बाह्य का त्रिवृत्कृत सर्व नामरूप तुम को श्रवण मनन कराया, अब इस शरीर के अन्तर का त्रिधाकरण श्रवण करो। हे सौम्य, हे श्वेतकेतो ! जब यह अन्न भोजन किया जाताहै तब उदर बिषे जठराग्नि प्राणों के साथ मिलके उस अन्नको पुनः पचावता (पकावता) है ॥ :—अर्थात् बाह्य का पाक हुआ अन्न कण्ठ के मार्ग से उदर बिषे सुखपूर्वक प्राप्त होता है, परन्तु उदरके भीतर उन अन्नको यावत् जठराग्नि पचावता नहीं तावत् वो किसी भी काम आवता नहीं, ताते वो उदरबिषे गया अन्न वहां पुनः पकता है—: ॥ हे सौम्य ! सो जठराग्नि करके उदरबिषे पाकहुए अन्नके वो अग्नि तीन विभाग करता है, तहां उस तीनविभाग को प्राप्तहुए अन्न का जो अतिस्थूलतर भाग है सो पुरीष होताहै। अरु जो उस भोजन किये अन्न का मध्यम भाग होता है सो रसादि क्रम से मांस होताहै, अरु उस अन्न का अतिसूक्ष्म धातु (रस वा अंश) होता है सो पाकाशय स्थान से ऊर्ध्व हृदय वा कण्ठ देश को प्राप्तहोय वहां अतिसूक्ष्महिता नाम्नी नाड़ी बिषे प्रविष्ट होय वागादि करण संघातों का प्रवर्तक मन होताहै ॥ हे सौम्य ! इस श्रुति प्रमाण से मन को अन्न का अतिसूक्ष्म परिणाम भाव होने से भौतिकपनाही सिद्ध है ॥ १ ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो

तुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

जलपान कियाहुआ उदर बिषे तीन प्रकार का होता है उ- जो स्थूल धातु (मोटा अंश) है सो मूत्र होताहै, अरु जो मध्य- है सो रुधिर होता है, अरु जो उसका सूक्ष्मांश है सो प्राण होता है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! जैसे भोजनकिया अन्न उदरबिषे जायके 'स्थूल, मध्यम, सू, तीन विभाग होय पुरीष, मांस, मन इनतीन भाव को प्राप्त होता है । तैसेही जल पान कियाहुआ उदर बिषे जायके जठराग्नि के तीन प्रकार का होता है, तहां जल का जो स्थूलभाग है सो मूत्र होता है, जो मध्यमभाग है सो रक्त (रुधिर) होताहै । अरु जल का सूक्ष्मांश भाग है सो प्राण होताहै । सोई आगे कहाहै "। ह्यापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति " प्राण जलमय है क्योंकि जल न पान करने से प्राण रहता नहीं ॥ २ ॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्॥ ३ ॥ अन्नमयछं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवन् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

तैसे, तेज (घृत तैल) भोजन किया उदर बिषे जाय त्रिधा होता है, तहां उसका जो स्थूलभाग है सो अस्थि होताहै, मध्यमभाग मज्जा होताहै, अरु जो सूक्ष्मभाग है सो वाणी होती है ॥ ३ ॥ हे सौम्य ! अन्न-

मयही मन है, जलमय ही प्राण है, अरु तेजोमयही वाक् है, जानो। हे भगवन्! फिर भी मुझको विज्ञापन करिये, हे सौम्य 'तथास्तु' ऐसे पिता कहता हुआ ॥ ४ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! तैसेही तैल घृतादि भोजन कियाहुआ उदरबिषे जठराग्नि के संयोग से तीन विभाग को पावता है वहां जो उस का स्थूलांश है सो अस्थि होताहै, अरु जो उसका मध्यमांश है मज्जा होती है, अरु उस तेज के सूक्ष्मांश की वाणी होती है॥ तैल घृतादिकों के भक्षण से ही वाणी भाषण करने में समर्थ होती यह लोक में प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥ हे सौम्य! उक्तप्रकार होने से अन्नमय मनहै, जलमय ही प्राणहै, अरु तेज (तैल घृतादि) मय ही है। ऐसा निश्चयकरो ॥ शङ्का ॥ हे भगवन्! जब उक्तप्रकार ही तब केवल अन्नमात्र के ही भक्षणकर्त्ता जे मूषक (चूहा) प्रभृति दिक तिन बिषे वाणी अरु प्राण न होना चाहिये एक मनही चाहिये, परन्तु उन बिषे, वाणी; प्राण भी प्रत्यक्ष देखते हैं। अरु तैसे जे केवल जलमात्र के ही भक्षण करनेवाले समुद्रादिकों के मीन जन्तु तिन बिषे केवल प्राणही होना चाहिये, मन वाणी न चाहिये परन्तु उनबिषे मन वाणी भी देखते हैं। अरु तैसेही जो तैलादिकों के भक्षण करनेवाले जीव होंगे तिन बिषे केवल वाणी ही होनी चाहिये मन प्राण न होना चाहिये परन्तु उक्त मूषक दिकों के लिङ्ग अनुमान से उन बिषे मन प्राण भी अवश्य होंगे। एव केवल अन्नमय ही मन है, जलमयही प्राण है, तेजमयही वाक् ऐसा कैसे बनेगा ॥ समाधान ॥ हे सौम्य! तुमने कहा सो दोष क्योंकि सर्वको त्रिवृत्कृत होने से सर्वत्र सर्वकी उपपत्ति (प्राप्ति) कोई भी अत्रिवृत्कृत अन्न खाता नहीं, अत्रिवृत्कृत जल पान नहीं, अत्रिवृत्कृत घृतादि कोई भी भक्षण करता नहीं। अतएव अन्न के ही भक्षण करनेवाले मूषकादिकों बिषे 'तेज, जल, अन्न, का कार्य 'वाक्, प्राण, मन, पाये जाते हैं ॥४॥–हे सौम्य! अन्नके

कार्य देहों में वा जीवों में मन की विशेषता, अरु जल के त्रिवृत्कृत र्य जीवों में प्राण की आधिक्यता, अरु तेज के त्रिवृत्कृत जीवों में णी की विशेषता, इस प्रकार जानना, परन्तु अन्नादि सर्वको त्रिवृत्कृत नेसे सर्व शरीरों बिषे मन, प्राण, वाणी जान लेना–:॥ ताते अन्नमय , जलमय प्राण, तेजोमय वाग् यह कथन अविरुद्ध ही है ॥ हे म्य ! इस प्रकार जब उद्दालक ऋषिने अपने पुत्र श्वेतकेतु की शङ्का समाधान किया तब भी असन्तुष्टवान् होकर श्वेतकेतु अपने पिता कहता हुआ कि हे भगवन् ! आपने जो अन्नमय मन, जलमय प्राण, मयी वाक् कहा तिसको अतिसूक्ष्म होनेसे मैं यथार्थ समझा नहीं तएव आप उसको दृष्टान्तपूर्वक मुझसे पुनः कृपाकरके कहिये, क्योंकि आप करके कहेहुए अर्थ बिषे मुझको सम्यक् प्रकार निश्चय हुआ हीं । इस प्रकार जब श्वेतकेतु ने कहा तब उसका पिता उद्दालक कहता हुआ, हे सौम्य ! जो तैंने पूछा है सो अब फिर भी श्रवणकर मैं तुझसे दृष्टान्तपूर्वक कहता हौं ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते ।

दध्नः सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥ एवमेव खलु सौम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

अब छान्दोग्य पष्ठप्रपाठक में षष्ठखण्ड का आरम्भ करते हैं ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! मन्थन कियेहुए दधि का जो सूक्ष्मांश है सो ऊर्द्ध्व को जाताहै सो घृत होताहै ॥ १ ॥ हे सौम्य ! तैसेही निश्चय करके भोजन कियेहुए अन्न का जो सूक्ष्म भाग है सो ऊर्द्ध्व जाता है सो मन होताहै ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! जैसे दधिको मटकी बिषे डालके मथनियां (मंथन करने का कारण विशेष) साथ मन्थन करते हैं तब उस दधि का स्थूल होता है सो अधोको जाता है अरु जो उसका मध्यमांश होता है मध्य में रहताहै अरु जो उस दधिका सूक्ष्मांश होता है सो ऊर्ध्वको जाके घृतसंज्ञाको प्राप्त होताहै। हे सौम्य! जैसे यह दृष्टान्त है तैसेही निश्चय करके ओदनादि भोजन किये अन्नको उदरस्थ अग्नि वायु करके सहित हुआ उसको मन्थन करता है (पचावता है) तब उसका सूक्ष्मांश ऊपर को जाय के 'अर्थात् हितानाम्नी नाड़ी को प्राप्त होके मन होताहै ॥:- हे सौम्य! जैसे उक्त दृष्टान्त है तैसेही इस शरीररूप मटकी बिषे जब बाह्यका पाक किया ओदनादि अन्नरूप दधि पड़ता है तब उसको उदर बिषे जठराग्निरूप पुरुष प्राणरूप रयि (मन्थन करने का कारण विषेश) करके मन्थन करता है तब उस अन्नरूप दधिका जो सारभूत सूक्ष्मांश है सो प्राणवायु करके पाकाशय से ऊपर हृदय व कण्ठदेश में प्राप्त होय मन संज्ञाको पावता है-:॥ १। २॥

अपाꣳ सौम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥ तेजसः सौम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीष्यति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥ अन्नमयꣳ हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव माभगवन्विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! पान कियेहुए जलों का जो सूक्ष्मांश होताहै सो ऊर्ध्व को जाताहै सो प्राण होताहै ॥ ३ ॥ हे सौम्य! घृतादि भक्षणकियेहुए का जो सूक्ष्मांश होता है सो ऊर्ध्व को जाता है सो वाक् होती है ॥४॥

हे सौम्य ! अन्नमय ही मन है जलमय प्राण है तेजमयी वाक् है ऐसा जानो । हे भगवन् ! पुनः मुझसे कहिये, तब पिता हे सौम्य ! 'तथास्तु' कहता हुआ ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! पान कियेहुए जलोंका उदर बिषे अग्नि करके किये तीन विभाग होते हैं, उनमें जो सूक्ष्मभाग है सो ऊपर को जाताहै सो प्राण होता है (अरु मध्यमभागका रुधिर होता है अरु उस जल के स्थूल भाग का मूत्र होताहै) ३ ॥ हे सौम्य ! तैसेही जल प्रमाण जे घृत तैलादिरूप तेज है सो भी भोजन किया उदरबिषे जायके उक्त प्रकारके तीन विभागको पावता है, तहां उसके सूक्ष्म भागकी वाक् (वाणी) होती है, मध्यांशकी मज्जा होती है, अरु उसके स्थूलभागका अस्थि होताहै ४ ॥ ताते हे सौम्य ! अन्नमयही मनहै जलमयही प्राण है अरु तेजमयी ही वाक्है ॥ अभिप्राय यहहै कि यावत् स्थूल सूक्ष्म शरीरादि संघात है सो सर्व अन्न जल तेजमयीही विकार है ॥ :—सो विकार भी केवल कथनमात्रही है क्योंकि जो इस शरीर से अन्न, जल, तेज के स्थूल मध्यम सूक्ष्म अंशों को पृथक् करिये तो शरीरादि सर्व विकार कहनेमात्रही होताहै अरु अन्न, जल, तेज यह तीनों परम्परा करके सत् चैतन्य का कार्य होने से सत्ही है, ताते बाह्य अन्तर स्थूल सूक्ष्म सर्वही सत् है—:॥ श्वेतकेतुरुवाच ॥ हे भगवन् ! आपने दृष्टान्तपूर्वक मन को अन्नमयत्वपना कहा सो मुझको सम्यक् निश्चय हुआ नहीं, ताते आप उसको अन्य दृष्टान्त से अनुभव कराइये ॥ उद्दालक उवाच ॥ हे सौम्य ! अब तेरे निश्चयार्थ दृष्टान्तपूर्वक कहताहौं उसको श्रवणकर ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके सप्तमः खण्डः प्रारभ्यते ।

षोडशकलः सौम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणोनपिबतोविच्छेत्स्यतइति ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य षष्ठ प्रपाठक में सप्तम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! षोड़शकलावाला पुरुष मन है, जो इसको प्रत्यक्ष करने की कामना होय तो पन्द्रह दिवस भोजन मत करे जल पानकर जलमय प्राण है जल न पीने से प्राण विच्छेद होवेगा (न रहेगा)॥ १॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! भोजन किये अन्न की जो सूक्ष्म धातु होती है सो मन की शक्ति है, अर्थात् एक दिवस भोजन किये अन्न का जो सूक्ष्मांश धातु होती है सो मन की एक कला शक्ति होती है, तैसेही जब यह पुरुष षोड़श दिवस भोजन करताहै तब उसके सूक्ष्मांश धातु करके युक्त हुआ मन षोड़श कलावाला हुआ व्यापार बिषे पूर्णतासे बर्त्तता है। अरु उस षोड़श दिवस भोजन किये अन्न के सूक्ष्मांश शक्ति करके युक्त 'द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञाता इत्यादि सर्वक्रिया में समर्थ पुरुष होता है। अरु जब अन्न के सूक्ष्मांश की हानि होती है तब उस के सामर्थ्य की भी हानि होती है। तहां कहते हैं "अन्नस्यापि दृष्टेत्यादि" सर्वकार्य कारणों के संघात शरीर का जो सामर्थ्य है सो सर्व मनका किया है। अरु लोकाबिषे जो बलवान् दृष्ट आवते हैं सो सर्व मन के बल करके ही बली दृष्ट आवते हैं॥:—अर्थात् कोई पुरुष शरीर से पुष्ट बली दृष्ट आवते हैं और मनमें उनके शूरत्व बल नहीं तो वो रण से पलायन होते हैं, अरु कोई एक पुरुष शरीर से कृश निर्बल दृष्ट आवते हैं और मन में उनके शूरत्व बल होता है तो वो रण सम्मुख निःशङ्क युद्ध करते हैं, ताते जो जिस विषय का बली होताहै सो मनके बल से ही होताहै—॥ हे सौम्य ! कितेक ऐसा कहते हैं कि ध्यानाहारादिक भी अन्न के सामर्थ्य से ही हैं क्योंकि देहादि मनपर्यन्त सर्व अन्न का परिणाम विकार है ताते। अतएव मन का जो सामर्थ्य है सो अन्न का किया है॥ हे सौम्य ! जिस पुरुष की षोड़शकला होवें सो कहिये षोड़शकलः पुरुषः। हे सौम्य ! जो तू इस अन्न की षोड़शकलात्मक (शक्तिवाले) मनको प्रत्यक्ष करने को इच्छताहोवे तो पञ्चदश १५ दिवस पर्यन्त भोजन मत

करे एक जलमात्र को पान करता रहे जो जल पान करेगा नहीं तो प्राण रहैगा नहीं इसही से मैंने पूर्व कहा है कि जल का विकार प्राण है। ताते जो तुझको मन का अन्नमयत्व प्रत्यक्ष करने की इच्छा होय तो पन्द्रह दिवस कुछ भोजन मत करे जलपान करता रहियो ॥ १ ॥

सह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सौम्य ! यजूꣳषि सामानीति न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

सो श्वेतकेतु स्पष्ट (पिता का वाक्य श्रवणकर) पन्द्रह दिवस भोजन न करता हुआ, तदनन्तर पिताके समीप आय कहता हुआ हे पिताजी ! अब मैं क्या कहूं, पिता ने कहा कि, हे सौम्य ! तुझको 'ऋग्, यजु, साम, तीनों वेद कण्ठ थे सो अब स्मृति में हैं वा नहीं, सो श्वेतकेतु कहताहुआ मुझको कुछ भी भासता नहीं मैं क्या कहौं ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे मन का अन्नमयत्वपना कहा, तब उस बिषे निश्चय को न प्राप्त हुआ श्वेतकेतु मन का अन्नमयत्वपना प्रत्यक्ष करने की इच्छा से अपने आश्रय पर जाय पन्द्रह दिवसपर्यन्त कुछ भी भोजन न करता हुआ, प्राण की रक्षाके लिये केवल जलपानमात्र करता रहा ॥ःहे सौम्य ! जिस श्वेतकेतु को चार वेद अरु छः तिनके अङ्ग सहित अर्थों के कण्ठ था सो पन्द्रह दिन भोजन न करने से मनसें सर्व विस्मरण होगया मानो कुछ पढ़ाही न था, केवल एक प्राणमात्र अवशेष रहा, अरु तिसही की ज्ञातमात्र रही जो अब मेरे प्राणमात्र अवशेष हैं, और सर्व अन्त के समयवत् होता हुआ—ः ॥ हे सौम्य ! वो श्वेतकेतु पन्द्रह दिवस भोजन न करने के पश्चात् अपनेको अन्यों से खाट वा डोली पर उठवाय पिता के समीप आय कहताहुआ कि हे पिताजी ! मैं अब क्या कहौं ? मुझको ऋगादि वेदोंमें से कुछ भी भासता नहीं। इस प्रकार जब श्वेतकेतु

ने कहा तब उद्दालक ने कहा कि हे पुत्र ! अब मैं कहता हौं सो श्रवण कर ॥ २ ॥

तꣳ होवाच यथा सौम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेनततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सौम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तया तर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

सो ' उद्दालक , स्पष्ट कहता हुआ हे सौम्य ! जैसे महत् इन्धन करके युक्त अग्नि का अङ्गार एक खद्योत (चिनगारे) प्रमाण अवशेष रहता है तब तिस अङ्गार करके बहुत दहन होता नहीं । तैसे हे सौम्य ! तेरी षोड़श कलाओं के मध्य एक कला अवशेष है तिस करके तुमको वेदों का अनुभव (स्मरण) होता नहीं, अब तू अन्न भोजन कर ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (उक्त प्रकार जब श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिवस भोजन त्याग षोड़शवें दिवस पुनः अपने पिता के पास आय कहा कि हे पिताजी ! अब मुझको कुछ भी स्मृति नहीं जो मैं चारों वेदादिक पढ़ारहा उनमें से अब मुझको कुछ भी अपने बिषे भासता नहीं, अब अन्त के समयवत् दशा होरही है एक प्राणमात्र अवशेष है। इस प्रकार जब श्वेतकेतु ने कहा तब उद्दालक कहता हुआ) हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! तुझको जो ऋगादि वेद नहीं भासते (स्मृति होते) तिस का कारण मैं दृष्टान्तपूर्वक कहताहौं उसको तू श्रवण कर ॥ हे सौम्य ! जैसे लोकबिषे बहुत से इन्धन करके युक्त प्रज्वलित अग्नि के इन्धन के समाप्त (दहन) हुए एक अङ्गार खद्योतमात्र (चिनगारप्रमाण) अवशेष रहताहै तब तिस चिनगारमात्र अग्नि करके उसको अग्नित्व होते सन्ते भी वो बहुत से इन्धनादिकों को दहन करने को समर्थ होता नहीं, हे सौम्य ! तैसेही तुझको पन्द्रह दिवस अन्न (भोजन) के त्यागने से अब तेरा मन चिनगारवत् एक कलामात्र अवशेष रहा

अतएव मनके अभाव से तुझको ऋगादि वेद कुछ भी भासते नहीं, ताते मेरा वाक्य श्रवण कर अब पन्द्रह दिवस भोजन कर पश्चात् मेरे निकट आवना तब मैं कहोंगा ॥ :- हे सौम्य ! जैसे चिनगारमात्र अग्निपर प्रथम सूक्ष्म शुष्क तृण रखके उसको कुछ विशेष करते हैं पश्चात् उसमें कुछ पुष्ट इन्धन देके वर्द्धमान करते हैं तब वो महत् प्रमाण इन्धन को दहन करने में समर्थ होताहै-: ॥ अतएव हे सौम्य! अब तू अपने आश्रमपर जाय शनैः शनैः अन्न को भोजन कर जब पन्द्रह दिवस भोजन करले तब षोड़शवें दिवस मेरे पास आवना तब जो कुछ कहना होगा सो मैं तुझसे कहोंगा, अब तेरे मनकी एक कला अवशेष रहने से मन व्याकुल है ताते अब भोजन करने का शीघ्र यत्न कर ॥ ३ ॥

अथ मे विज्ञास्यसीति स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वꣳ ह प्रतिपेदे तꣳ होवाच ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

तिसके अनन्तर मैं तुझसे कहोंगा ॥ सो श्वेतकेतु पन्द्रह दिवस भोजन कर पुनः पिताके समीप आवता हुआ, तब तिसको पिता वेदादि विषयक थोड़ासा प्रश्न करताहुआ, तब उसने सर्व पद सुनाया, तब सो पिता पुनः कहताहुआ ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! तिसके अनन्तर मैं तुझसे कहोंगा (इतना पूर्व के तीसरे मन्त्र से अन्वय सम्बन्ध है) सो (मनके अन्नमयत्व को प्रत्यक्ष करने की इच्छावाला) श्वेतकेतु पिता की आज्ञाप्रमाण पन्द्रह दिवस भोजन करके सोलहवें दिवस पुनः पिता के समीप आय प्रणाम कर स्थित हुआ, जब उसके पिता उद्दालकने उस अपने श्वेतकेतु नाम पुत्र को अपने निकट आया सावधानचित्त देखा तब उससे ऋगादिवेद-सम्बन्धी किञ्चित् प्रश्न किया, जब पिता ने प्रश्न किया तब तिसको

सुनते ही वो श्वेतकेतु ऋगादि वेद मन्त्र भाग अरु तिसका अर्थ ब्राह्मण भाग, एवं अपने पिता को श्रवण करावताहुआ। जब पुत्र मुखसे ऋगादि वेद को यथार्थ श्रवण किया तब वो पिता उद्दालक पुत्र कहताहुआ ॥ ४ ॥

यथा सौम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्रज्वालयेत् तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! जैसे बहुत से इन्धन के शान्त हुए एक अङ्गार चिनगारी मात्र अवशेष रहे है तिसको सूक्ष्म तृण के चूर्ण से विशेष प्रज्वलित करते हैं तब तिस अग्निके वर्द्धमान होने के अनन्तर फिर भी पूर्वसे बहुत से इन्धनको भस्म करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्त प्रकार जब श्वेतकेतु अपने पिताकी आज्ञानुसार पन्द्रह दिवस भोजन कर सोलहवें दिवस पिता के समीप आय प्रणाम कर सम्मुख निकट बैठा, तब उसको प्रसन्न सावधानचित्त देख पिता ने वेदविद्याविषयक प्रश्न किया तब उस श्वेतकेतु ने अपने पिता को सहित अर्थ के ऋगादि सर्व वेद श्रवण कराया, तब प्रसन्नचित्त उद्दालक कहता हुआ, उद्दालक उवाच ॥ हे सौम्य, हे प्रिय दर्शन! श्रवण कर जैसे लोकबिषे महत्परिमाण इन्धन के भस्म हुए एक खद्योत (चिनगार) मात्र अङ्गार अवशेष रहताहै तब उसको वर्द्धमान करने के लिये प्रथम सूक्ष्म अरु शुष्क तृण के चूर्ण से उस चिनगारमात्र अङ्गार को प्रज्वालित (वर्द्धमान) करते हैं वा होता है तब तिस एक चिनगारमात्र अङ्गार से फिर भी पूर्वपरिमाणसे भी अधिक दहन करता है ॥ ५ ॥

एवछं सौम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननु

मवस्यमयछं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-
मयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठके सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! ऐसे कहे दृष्टान्तप्रमाण तिस मनकी सोलह कलाओं के मध्य एक कला अवशेष रही सो अन्न के सूक्ष्मरस करके समाहित हुई पुनः प्रज्वलित हुई तब तिसकरके तैंने वेदों का अनुभव किया। हे सौम्य! अन्नमयही मन है, जलमयही प्राण है, तेजमयी ही वाक् (इति सिद्धम्) इस प्रकार पिता के कहने से वो श्वेतकेतु 'मन, प्राण, वाक्, का 'अन्न, जल, तेजमयत्वपना निश्चय करके जानता हुआ ६ ॥ इति सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥ इति त्रिवृत्करणम् ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्त दृष्टान्तप्रमाण ही अन्न की सूक्ष्म सोलहों कलाओं के मध्य (जो मनका सामर्थ्यरूपा है) एक कला तुझको अवशेष रही जैसे कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की एक २ कला घटते २ पन्द्रह दिवस में एक कला अवशेष रहती है सो पुनः शुक्लपक्ष को पाय एक २ दिवसमें एक २ कला वर्द्धमान होते होते पुनः षोड़शकला सम्पन्न होता है, हे सौम्य! तैसेही तेरे पन्द्रह दिवस पर्यन्त अन्न के त्यागने से एक २ दिवस प्रति एक २ कला घटते २ तेरा मनरूप चन्द्रमा है सो क्षीण हो एक कला-मात्र अवशेष रहा तब तुझको ऋगादि वेदों में से कुछ भी न भासा, अरु जब तूने पन्द्रह दिवस भोजन किया तब एक २ दिवस भोजन किये अन्न की सूक्ष्मांशरूप कला वर्द्धमान होते २ पन्द्रह दिवस में पुनः मन पूर्ण होआता, तब तिस करकेही अब तुझको ऋगादि वेदवेदाङ्ग सर्व अर्थ सहित भासिआये, अर्थात् स्फुरण होआये ॥ हे सौम्य! इस प्रकार व्यावृत्ति की अनुवृत्ति करके मनका अन्नमयत्वपना सिद्ध है, इस प्रकार उपसंहार करते सन्ते कहते हैं। हे सौम्य! अन्नमयही मन है, जलमय ही प्राण है, तेजमयी ही वाक् है। अर्थात् हे सौम्य! जैसे मन का

परन्तु स्वरूप करके तैसा होता नहीं तैसेही मन इन्द्रिय आदिकों विषे आभासरूप से प्रवेश पाया शुद्ध सत् चैतन्यदेव मन आदिकों के संसर्ग सम्बन्धसे तन्मय हुआ जीवसंज्ञा को पाया सत्ता दर्शन श्रवण मनन आदि क्रिया का कर्त्ता कहाजाताहै, परन्तु अपने स्वरूप करके किसी भी क्रिया का कर्त्ता नहीं—ः ॥ तिन मन आदिकों के उपशम हुए अपने आप सत् चैतन्य देवरूप को प्राप्त होता है। सो श्रुत्यन्तर में कहा भी है। तथाच "। ध्यायतीव लेलायतीव सुधीः स्वप्नोभूत्वेमं लोकमतिक्रामति स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय इत्यादि। स्वप्नेन शारीरमित्यादि। प्राणन्नेव प्राणो नाम भवतीत्यादि "। अतएव तिस इस मन विशिष्ट चैतन्य का कि जो (स्फटिक मणि के उक्त दृष्टान्तप्रमाण) मनके साथ तन्मयता को पावने से मनसंज्ञा को प्राप्त हुआ है, अब मन के उपशम होने रूपद्वार से विषयों से इन्द्रियां जिसकी निवृत्त हुई हैं ॥ ः—अर्थात् जिसका मन उपशम भाव को (मनत्व के अभाव को) प्राप्त होता है तिसकी इन्द्रियां विषयों से निवृत्त होती हैं। अरु तिस करके चिदाभास अपने बिम्ब सत् चैतन्य देव बिषे आत्मभूत (अभेद एक) हुए का जो अवस्थान कहिये अधिष्ठान, तिस सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्यदेव का अपने पुत्र को साक्षात् यथार्थ अनुभव करावने की इच्छावाला उद्दालक ऋषि जो अरुण नाम ऋषि का पुत्र होने से 'आरुणि' इस नाम करके प्रसिद्ध कहाजाता है। सो निश्चय करके अपने पुत्र श्वेतकेतु प्रति कहता हुआ ॥

हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो! (उस सर्वाधिष्ठान जगत् के मूल शुद्ध सत्चैतन्य निर्विशेष परादेव को) स्वप्न के अन्त सुषुप्ति को विस्पष्ट जानो (यथार्थ सम्यक् अनुभव करो) अर्थात् स्वप्नान्त कहिये स्वप्न का मध्य, अर्थात् यह स्वप्न है इस प्रकार स्वप्नदर्शन वृत्ति करके जो स्वप्न का कारण सुषुप्ति कि जहां कार्यरूप जाग्रत् स्वप्न दोनों नहीं, तिस कारण सुषुप्ति बिषे अपने आप सत् चैतन्यदेव को विस्पष्ट जानो ॥ ः— हे सौम्य! यहां जो कहा है कि स्वप्न के अन्त सुषुप्ति को जानो तिस का तात्पर्य सुषुप्ति के जानने पर नहीं, किन्तु जो चैतन्यदेव सुषुप्ति

के साथ तादात्म्य पाया सरीखा होने से सुषुप्ति नाम करके कहाजाता है, कि यह पुरुष सोया है, तिसको सुषुप्तिरूप निरुपाधि अवस्था बिषे सुषुप्ति से पृथक् सुषुप्ति के प्रकाशक सत् चैतन्य निर्विशेष अपने आप आत्मस्वरूप के यथार्थ अनुभव करने पर है—:॥ "स्वयमपीतो भवति" इस वंचनप्रमाण से । अरु सुषुप्ति से अन्यत्र जीव का अपने आप बिम्बरूप आत्मा बिषे तद्वत् अभेद होना ब्रह्मवेत्ता इच्छते नहीं, क्योंकि तिस सुषुप्ति बिषेही जैसे आदर्श (दर्पण) अभाव हुए पुरुष का जो दर्पणगत प्रतिबिम्ब है सो अपने पुरुषरूप बिम्ब बिषे अभेदता से प्राप्त होता है, तैसेही दर्पणस्थानीय मन आदिकों के अभाव हुए तद्वत चैतन्य 'कि जिसने नामरूप के प्रकट करने के लिये अपनी इच्छा से मन बिषे प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश किया है, सो मन नामवाले अपने जीवपने को त्यागके अपने आप बिम्बरूप सत् चैतन्य परादेव बिषे अभेदता से प्राप्त होता है । अतएव स्वप्नान्तशब्द का वाच्य सुषुप्तिही ग्रहण होता है । अरु जहां तो सोया हुआ स्वप्नों को देखता है तिनको सुख दुःख करके संयुक्त होने से सो पुण्य पाप का कार्य है (सुख दुःख को पुण्य पापजन्य प्रसिद्ध होने से) । अरु पुण्य पाप दोनों को अविद्याजन्य कामना के आश्रय होनेसे सुख दुःखमय स्वप्न का दर्शन पुण्य पापरूप कर्मों करके ही जनितहै, अर्थात् अविद्या जो संसार का हेतु है तिस अविद्या के काम कर्मादिकों करके युक्तही स्वप्न है, एतदर्थ अविद्या के काम कर्म अरु तज्जनित सुख दुःखमय स्वप्न में जीवका अपने सत् चैतन्यदेवरूप बिम्ब के साथ अभेदता से एक होना बने नहीं॥ तथाच "अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णोहि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति तद्वाऽस्यै तदतिच्छन्दा एष परम आनन्द" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से, यह चिदाभास (जीव) अपने जीवत्व भाव को त्यागके अपने आप सत् चैतन्य देवरूपता को अभेदता से प्राप्त होता है । इस सिद्धान्त वार्त्ता को उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को, अरु श्रीशङ्कराचार्य अपने शिष्य मुमुक्षुओं को स्पष्ट देखावते हैं॥

हे सौम्य, हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! मेरे कहे प्रमाण स्वप्न के

अन्त को सम्यक् प्रकार जानो, अर्थात् साक्षात् यथार्थ अनुभव करो॥ प्रश्न॥ हे भगवन्! किस काल में स्वप्न का अन्त होता है॥ उत्तर॥ हे सौम्य! जिस कालबिषे पुरुष का यह नाम लोक बिषे प्रसिद्ध होता है कि यह पुरुष सोवता है॥ शङ्का॥ हे भगवन्! यह नाम तो गौण है॥ समाधान॥:— हे सौम्य! यहां केवल वस्तुमात्र को लखावना है एतदर्थ यहां मुख्य नाम का ही प्रयोजन होवे ऐसा नियम नहीं, अरु जिस अवस्था में वस्तु लखाई जाय तिसही अवस्था के सम्बन्धी नाम का उपयोग वस्तु के लखावने बिषे होता है—:॥ हे प्रियदर्शन! जिस काल में सर्व कोई इसको कहते हैं कि यह पुरुष सोवता है तिसकाल में सत् शब्द के वाच्य अपने आप बिम्बरूप सत् चैतन्य आत्मा बिषे सम्पन्न (एकीभूत) होता है। अर्थात् मनबिषे प्रवेश करने से मन आदिकों के संसर्ग से चिदाभास को प्राप्त हुआ जो जीवपना उसको परित्याग करके (अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में मन आदि उपाधि के अभाव होने से चिदाभास के जीवपने (आभासपने) का अभाव होता है) आप चिदाभास अपने सत्रूप को जो परमार्थ से सत्रूपही हैं तिसबिषे प्राप्तहुआ होताहै, तिस करके उस पुरुष को 'सोवता है' इस नाम से लौकिक पुरुष कहते हैं॥ शङ्का॥ हे भगवन्! सोयेहुए पुरुष का यह स्वप्न देखता है वा सुषुप्ति में है इस विषयक जाग्रत् पुरुष को एक निश्चय होवे नहीं, तब 'सोवता है' इस नाम करके सुषुप्ति कोही कैसे निश्चय करिये॥ समाधान॥ हे सौम्य! तुम सत्य कहते हौ परन्तु जो जाग्रत् बिषेही जो कामना करके पुण्य पापरूप कर्मों के करने से अरु तिनके फल सुख दुःखादिकों के भोगने से अतिश्रमित होते हैं, तब उन श्रमित हुए पुरुषों के मन, बुद्धि, इन्द्रियादि सर्व अन्तर बाह्य के करण श्रमित होनेसे अपने २ व्यापार से उपराम होते हैं, तब स्वप्नको न प्राप्त होके सुषुप्ति को ही प्राप्त होते हैं। अरु इस वार्त्ता का लोकबिषे पुरुषों को प्रत्यक्ष अनुभव है, एतदर्थही लौकिक पुरुष सोवनेवाले को "स्वपिति" सोवता है अर्थात् सुषुप्ति को प्राप्त हुआ इस नामसे कहते हैं। तथाच। "श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुरिति" इत्यादि प्रमाण प्रकार से। तथाच

गृहीता वाक्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः " इत्यादि श्रुतियों प्रमाण से ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! सुषुप्तिअवस्थाविषे अन्तर बाह्य करणों के अभाववत् प्राण का भी अभाव होता होगा ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! यह शङ्का करने योग्य नहीं, क्योंकि जो वहां प्राण का भी अभाव होता होवे तो उस सुषुप्ति पुरुषविषे लोकोंको मरण की भ्रान्ति होवे, ताते प्राण करके ग्रसित करणों के अभाव हुए शरीररूपी स्थानविषे (चौकीदारवत्) एक प्राण जागता है, ताते तिससमय कि जिससमय अन्तर बाह्य के सर्वकरण मिश्रित होयके अपने २ व्यापार से उपराम हो कारण अविद्या में लय होते हैं, यह जीव कर्तृत्व भोक्तृत्वादि सर्व श्रम से रहित अपने आप सत् चैतन्यदेव आत्मा को अभेदता से प्राप्त होता है । सुषुप्ति से अन्यत्र इस जीव को श्रम के अभावपूर्वक स्वस्वरूपावस्थान को प्राप्त होने का स्थान नहीं । एतदर्थ लौकिकपुरुषों का जो प्रसिद्ध यह कथन है कि यह पुरुष सुषुप्ति बिषे अपने आप सत्य स्वरूप को प्राप्त होताहै सो युक्तही है ॥:—अर्थात् मन इन्द्रियादि सर्व विशेष उपाधि का अभाव ही परमानन्द की प्राप्तिहै, उपाधि के अभाव हुए पश्चात् परमानन्द की प्राप्तिके लिये कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं—:॥ हे सौम्य ! जैसे लोकबिषे देखतेहैं कि जो ज्वरादि रोगकरके ग्रस्त पुरुष है तिसको ज्वरादि रोगकी निवृत्ति सेही शरीर की स्वस्थता प्राप्त होती है, ज्वरादिरोग की निवृत्ति के पश्चात् उस पुरुष को शरीरकी स्वस्थता (नीरोगता) के लिये कुछ भी उपाय कर्तव्य शेष रहता नहीं । तैसेही यहां भी मन आदि उपाधिके अभाव हुए पश्चात् अपने आप परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष रहे नहीं, एतदर्थ पूर्व वृद्ध विद्वानों ने भी उपाधि के अभावसेही परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति कहीहै, अरु जो परमानन्द को प्राप्तहुएहैं सो भी सर्व उपाधिको त्याग केही हुए हैं । अतएव हे शिष्य ! जो तुम परमानन्दस्वरूप की प्राप्ति इच्छते हो तो सर्व उपाधि का अभाव करो क्योंकि सर्व उपाधि के अभावसे परमानन्दरूप तुमहीं हो ॥ तथाच ॥ तद्यथा " श्येनो वा सुपर्णो वा विपर्येत्यश्रान्त इत्यादि श्रुतिः " १ ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा
ऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु
सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा
प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धन छं हि सौम्य इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

सो जैसे शकुनि पक्षी सूत्रकरके बाँधा हुआ दिशा दिशा में गिरके अन्यत्र आयतन (आश्रय) न पायके बन्धन को ही आश्रय करता है। हे सौम्य ! ऐसेही निश्चय करके सो मन (मनविशिष्ट चैतन्य जाग्रत् स्वप्नरूप) दिशा दिशा में गिरके (सत् चैतन्य से) अन्यत्र आश्रय को न पायके प्राणोपलक्षित चैतन्य को ही आश्रय करता है "अतएव हे सौम्य ! प्राणोपलक्षित चैतन्यही मनोपलक्षित जीव का बन्धनोपलक्षित आश्रय है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

उद्दालक उवाच ॥ हे सौम्य, हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! जो मैंने तुझ से कहा तिस पर एक दृष्टान्त श्रवण कर । हे सौम्य ! सो शकुनि नामवाला पक्षी (जिसको लोकबिषे शिकरा वा बाज कहते हैं) और जिसको पक्षी की शिकार करनेवाले पुरुष उसकी पेटी से सूत्र बांधके अपने हाथ पर बैठावते हैं, सो उस पक्षीघातक पुरुष के हस्तगत सूत्र में प्रबद्ध हुआ अपने बन्धन से छूटने की (वा पक्षियों के शिकार) की कामना से सर्वदिशाओं में उड़ता उछलता गिरता है, परन्तु विगतश्रम होने के लिये, उस बन्धनोपलक्षित हाथ से अन्यत्र आश्रय को पावता नहीं तब उस बन्धनोपलक्षित हस्तको ही आश्रय पायके विश्रान्त (विगतश्रम) होताहै । हे सौम्य ! जैसे यह दृष्टान्त है तैसेही सो मन जो पूर्व अन्नकी सूक्ष्म सोलह कला का निर्धार कियाहै, तिस मनविशिष्ट चैतन्य जो मनरूप उपाधि के सम्बन्ध से मन वा जीवसंज्ञा को पाया है अर्थात् मनोपलक्षित चिदाभास जीव 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस न्यायप्रमाण

अर्थात् 'मञ्च पुकारते हैं' इस वाक्य करके मञ्चस्थ पुरुष पुकारते हैं यह अर्थ ग्रहण होताहै तैसेही यहां मन शब्द से मनोपलक्षित चिदाभास (जीव) का ग्रहण है, ताते सो मन नाम उपाधिवाला जीव सो अविद्या के काम कर्म करके (मनरूप उपाधि के धर्म करके) उपविष्ट हुआ (विषयादि भोगों की वा बन्धननिवृत्ति की कामना से) जाग्रत् स्वप्न रूप दिशा दिशा में गिरता है ॥:—अर्थात् यह मनविशिष्ट चैतन्य जीव अविद्या के काम कर्मों के 'जो उपाधि के धर्म हैं' वश हुआ विषयों की कामना से जाग्रत्रूप दिशा में कामना के वश हुआ अनेक शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ थकता है, तब वहां श्रम की निवृत्ति के लिये आश्रम को अन्वेषण करता है, परन्तु वहां शान्ति के लिये आश्रय को पावता नहीं तब उसके लिये स्वप्नरूप दिशामें जाताहै अरु वहां जायके कामना के वश पुण्य पापरूप क्रियाको करता हुआ श्रमित होता है:॥ परन्तु सत् नामवाले अपने आत्मा चैतन्यदेव से अन्यत्र आयतन कहिये विश्राम को आश्रय सो पावता नहीं, तब सर्व कार्य कारणों का आश्रय जो प्राण शब्द करके उपलक्षित सत् चैतन्य परादेव, अर्थात् "प्राणस्य प्राणं, प्राणशरीरी भारूप" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से सत्चैतन्य परादेव को प्राण नाम से कहते हैं, अतएव यहां प्राण शब्द करके प्राणोपलक्षित सत् चैतन्य देव का ग्रहण है उस प्राण शब्द के वाच्य सत् चैतन्यदेव को सुषुप्ति में आश्रय कर (तद्गत एक होय) यह मन नाम वाला जीव विगतश्रम परमानन्दित होता है। अतएव हे सौम्य! मन शब्द का वाच्य मनोपलक्षित चिदाभास जीव का परम आश्रय (परमानन्द का स्थान) प्राण शब्द का वाच्य प्राणोपलक्षित सत्चैतन्य परादेवही है अन्य नहीं।:— हे सौम्य! जब यह जीव पुण्य पाप के कार्य सुख दुःखादिमय जाग्रत् स्वप्न में खेदित (श्रमित) होय मन आदि रूप उपाधि को त्याग सुषुप्ति में जाय अपने बिम्बरूप सत्-चैतन्य परादेव को अभेदता से पाय परम आनन्दित होता है अन्यत्र नहीं। एतदर्थ ही कहा है कि सर्वजीव सुषुप्ति में जायके अपने आप सत्चैतन्यदेव को अभेदता से समान प्राप्त होते हैं॥ शिष्य उवाच॥

हे भगवन्! श्रुति ने अरु आपने आज्ञा किया कि सुषुप्ति में सर्वजीव अपने सत् चैतन्य आत्मरूप को समान प्राप्त होते हैं। सो 'अस्तु' परन्तु सो आत्मा को प्राप्त होके भी पुनः वहां से निकल आवते हैं तिसका हेतु क्या है? सो भी आप कृपा करके कहिये॥ गुरुरुवाच॥ हे सौम्य! ये सर्व जीव सुषुप्ति अवस्था में मन इन्द्रिय आदिकों के संघातरूप लिङ्ग को अविद्यामें त्यागके। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में कारण अविद्या बिषे लिङ्गके लय होनेसे लिङ्गविशिष्ट चिदाभास (जीव) 'दर्पण के अभाव से प्रतिबिम्बवत्, अपने बिम्बरूप सत् चैतन्य परादेव बिषे एकता पावता है, परन्तु अविद्या करके कामकर्मादिकों के संस्कार अपने साथ लेजाते हैं सोई कामकर्मादिकों के संस्कार सत् चैतन्यदेव को प्राप्त हुए भी जीवों को वहां से निकाल लिङ्ग के साथ मिलाय जाग्रत् स्थान में डालदेते हैं। अरु जो यहां जाग्रत्बिषे ही आचार्य द्वारा वेदके महावाक्यार्थ का ज्ञान पाय सर्व काम कर्मों के संस्कारों को त्याग अपने सत् चैतन्य आत्मदेव प्राप्त होते हैं सो एक बार सत् बिषे गयेहुए पुनः जीव भाव बिषे आवते नहीं॥ हे सौम्य! इस पर एक दृष्टान्त श्रवण करो। हे प्रियदर्शन! जैसे जलसे भरे हुए काचके शीशे को धूप में रखने से वो शीशा तपजाता है अरु तिसके सम्बन्ध से शीशे का जल भी तप जाता है। अरु जब उस तपेहुए शीशेको जल बिषे डुबाते हैं तब वो शीशे का जल शीतल होता है, पुनः बाहर निकलने से तपता अरु जलमें जाने से शीतल होता रहता है। हे सौम्य! जैसे यह दृष्टान्त है तैसेही यहां अविद्या के काम कर्मों के संस्काररूपी शीशा है तिस बिषे जीवरूप जलहै अरु जाग्रत् स्वप्नरूप सूर्य का पाप, पुण्य, सुख, दुःख, राग, द्वेषादि रूप धूप है तिस धूपबिषे रहा वो शीशेका जल त्रिविध तापों करके तपता ही रहता है। अरु जब वो शीशे के जल वत् सुषुप्तिरूप नदी बिषे जाता है तब सत् चैतन्य देवरूप जल में गया परमानन्दरूप शीतलता को पाय परम शीतल शान्त सुखी होता है। परन्तु जैसे शीशे के जल को नदी के जलसे बाह्य आवने का कारण शीशा है, तैसे ही सुषुप्तिबिषे सत् चैतन्य आत्मदेव को प्राप्तहुए भी

को भी वहांसे निकलने का हेतु अविद्या काम कर्मों के संस्कारही है। अतएव हे सौम्य ! तिस चैतन्यदेव की प्राप्ति बिषे चिदाभास को मनआदिक उपाधियों का अभाव कारण है तैसेही अविद्या काम कर्मोंके संस्कारों का भी अभाव कारण है। अतएव जिस पुरुष को पुनरावृत्ति से रहित सत् चैतन्य अपने आप आत्मदेव की प्राप्ति इच्छित है तिस पुरुष ने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य साथ मिल महावाक्यार्थ का सम्यक् ज्ञान पाय अविद्या काम कर्मों के संस्कारों को जो पुनरावृत्ति होनेका हेतु है, अभाव करता ही उचित है ॥ हे सौम्य ! यावत् वो काचका शीशा फूटता नहीं तावत् वो शीशा विशिष्ट जल नदी के जलबिषे गयाहुआ भी पुनरावृत्ति से रहित नदी के जल साथ एक होता नहीं। तैसेही यावत् इन जीवों की मन आदिकों का संघात लिङ्ग अरु तिनके धर्म कर्मादिकों के संस्काररूप उपाधि अशेष अभाव होती नहीं तावत् इन जीवों को पुनरावृत्ति से रहित सत् चैतन्यदेव की अभेद प्राप्ति होती नहीं। ताते मोक्षार्थियों को मोक्ष के लिये उक्त उपाधि के अभावार्थ पुरुषार्थ करना योग्य है। वास्तव करके शीशे नदी के जल में भेद नहीं जल बिषे दोनों की एकताही है, परन्तु शीशेरूप उपाधि के होते उपाधि की की हुई अल्पता परिच्छिन्नता के अभावपूर्वक वो शीशे का जल नदी के महान् गम्भीर जल साथ अभेदता से एक होता नहीं। ताते उक्त उपाधि के अभावार्थ श्रवण मननादि पुरुषार्थ की आवश्यकता है॥ हे सौम्य ! अब उक्त दृष्टान्त दार्ष्टान्त की समता को श्रवण करो, हे प्रियदर्शन ! जलरूप सत्का कार्यनामरूप पृथिवी है तिस पृथिवी का कार्य शुद्ध भाग काच है तिस काच का कार्य नामरूप शीशा है। इसप्रकार कार्य कारण की परम्परा से शीशे पर्यन्त सर्व जल है, तहां सर्वका पराकारण सत्जल अपने ही कार्यरूपी शीशे में प्रवेश पायके अल्पता परिच्छिन्नता को प्राप्त होताहै अरु सूर्यके धूप करके अति तप्त होताहै अरु अपने वास्तविक नदी के महान् गम्भीर परम शीतल जल में जाय आपभी तद्वत् शीतल शान्त होता है। परन्तु अपने ही कार्य शीशेरूपी नामरूप उपाधि करके युक्तहुआ अपने परम शीतल

महान् गम्भीर जलरूपी आत्मा बिषे गया हुआ भी वहां से निकल सूर्य के धूप में अत्यन्त ताप को प्राप्त होता है। अरु जब वो शीशा अपने पराकारण जल बिषे जायके फूटजाता है तब वो शीशे का जल पुनरावृत्ति से रहित हुआ अपने महान् गम्भीर परम शीतल जलरूप सत् आत्मा के साथ अभेद एक हुआ न वहांसे बाह्य आवता है न धूप करके तपायमान होताहै॥ हे सौम्य! इस दृष्टान्त प्रमाण ही इन सर्व नामरूपात्मक जगत् के पूर्व सर्व का पराकारण एक अद्वैत सत्‌ही था जिस को जलस्थानी जानो, अरु उस सत् की इच्छाकरके हुए जे तेज, जल, पृथिवी इन तीनों तत्त्वों को पृथिवी स्थानी जानो, अरु इन तीनों तत्त्वों के सूक्ष्म अंशों से हुए जे मन, प्राण, वाणी इन तीनों के संघातरूप लिङ्गको शीशे के स्थानापन्न जानो, अरु तिस लिङ्गविशिष्ट चैतन्य (चिदाभासजीव) को शीशे के जल स्थानापन्न जानो। हे प्रियदर्शन! सर्वका पराकरण सर्वाधिष्ठान जो सत् चैतन्य परादेव सो अपने आभासरूप से लिङ्ग बिषे प्रवेश करने से परिच्छिन्न अल्पभाव को प्राप्त हुआ है, अरु तिस करके अल्पज्ञ तुच्छ पापी अपराधी जीव कहा जाताहै, अरु जाग्रत् स्वप्नरूप सूर्य के पाप, पुण्य, सुख, दुःख, राग, द्वेषादिरूप किरणों के त्रिविधताप करके तप्त दुःखितही रहताहै, तिस दशा में जो कदापि दैववशात् सुषुप्ति को प्राप्त होताहै तब अपनी उक्त उपाधि को त्याग तिसके सूक्ष्म संस्कार साथ ले अपने बिम्बरूप सत् चैतन्यदेव बिषे प्राप्त हो कुछ शीतल सुखी आनन्दित होताहै। परन्तु अपने ही वास्तविक सत् चैतन्य सर्व के पराकारण देवस्वरूप के कार्य लिङ्गरूप उपाधि के धर्म कर्मादिकों के संस्कार युक्तजाने से अपने वास्तविक परमार्थरूप सत् चैतन्यदेव बिषे गया हुआ भी पुनः निकल आवताहै। ताते उक्त उपाधियों का त्यागनाही अनिवार्य परमानन्द अपने आपकी प्राप्ति का कारण है। हे सौम्य! जो पुरुष वेदके महावाक्यों का सम्यक् बोधरूप दण्ड लेके लिङ्गरूप शीशे को 'जो वाचारम्भण मात्रही है, फोड़ कारण अविद्यारूपा पृथिवी में मिलाय पुनः उस अविद्या को अपने आप सर्वाधिष्ठानरूप सत् चैतन्य आत्मसत्ता बिषे

उसकी पृथक् सत्ता के अभाव से अध्यस्त जान उस अविद्या का बाधरूप अभाव निश्चय कर अपने यथार्थ साक्षात् अनुभवद्वारा अपने आप सत् चैतन्य सर्वाधिष्ठान सर्वात्मदेवभाव को प्राप्तहुआ है सो पुरुष उस सत् चैतन्यदेव बिषे गयाहुआ फेरके आवता नहीं, वो सत् बिषे गया हुआ सत्ही होताहै ॥ तथाच ॥ "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥ इत्यादि श्रुतियों के प्रमाणसे ॥—:२ ॥

अशनापिपासे मे सौम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषो ऽशिशिषति नामाप एवतदशितं नयते तद्यथा गोनायो ऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सौम्य विजानीहीति नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! मेरे कहे प्रमाण भोजन की अरु जलपान की इच्छा के द्वारसे भी (उस जगत् के मूल सत् चैतन्य को सम्यक् प्रकार जानो जिस काल में इस पुरुष का नाम भोजन की इच्छावाला होता है, भोजन किये अन्न को जल द्रवीभूत करता है, जैसे गोपाल गौवों को अश्वपाल अश्वों को पुरुषपाल (राजा) पुरुषों को पालता है, इस प्रकार जलको कहते हैं, भोजन की इच्छा से (अन्नरूप बीजसे) देहरूप अंकुर (कार्य) उपजता है ऐसा जानो, ताते यह शरीर निर्मूल नहीं ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे प्रियदर्शन ! "स्वपिति" यह पुरुष सोवताहै इस नाम द्वारा अर्थात् जिस प्रकार सुषुप्ति के द्वारा सर्वजीवों को जगत् के मूल सत् चैतन्यदेव की प्राप्ति होती है, सो अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनुभव कराय, पुनः उद्दालक पिता अन्नादि कार्यकारण की परम्परा से जगत् के मूल उस सत्चैतन्य के लखावने की इच्छावाला अपने पुत्र को कहता हुआ ॥ हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! मेरे कहे प्रमाण क्षुधा पिपासा की इच्छा के

द्वार से भी उस सत् चैतन्यदेव को विस्पष्ट जानो । अर्थात् भोजन की इच्छा को कहिये अशना (यहां 'अशनाया' ऐसा पद होना चाहिये परन्तु यहां 'अशना' ऐसा पद है सो छान्दस आर्ष प्रयोग है, अत एव यहां अशुद्धताकी भ्रान्ति करनी नहीं । अरु पिपासा कहिये जलपान की इच्छा, ताते अशना, पिपासा इन दोनों से सो तत्त्व जो जगत् का मूल है उसको पिस्पष्ट जानो । जिस काल में यह पुरुष अशना, पिपासा की इच्छावाला होता है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! यह पुरुष भोजन जलपान की इच्छा क्यों करता है, अरु उस काल में किस निमित्त से उस पुरुष का नाम होता है ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! उस पुरुष करके भोजन किया अन्न उदर बिषे जाय जठराग्नि करके पकायाहुआ कठिन पिण्डवत् होता है तब इस पुरुष को तृषा लगती है, तब तिस तृषा के समय जलपान करता है, जब जलपान करता है तब वो जल उदर में जाय उस अन्न के पिण्डको द्रवीभूत करता है, तब वो अन्न रसादि क्रम से परिणाम को पावता है, तब वो भोजन किया अन्न जीर्णभाव को प्राप्त होता है (पचजाता है) तब वो पुरुष फिर भोजन की इच्छा करताहै, इस गुणसम्बन्धी गौण नाम से उस पुरुष का भोजन की इच्छावाला नाम होता है। हे सौम्य ! जैसे गौवों को पालनेवाला गोपाल गौवों की, अरु अश्वों को पालनेवाला अश्वपाल अश्वों की, अरु पुरुषों को पालनेवाला राजा वा सेनापति पुरुषों की पालना करते हैं। तैसेही जल उदरबिषे जाय उस भोजन किये अन्न को द्रवीभूत करता है तब अग्नि उस अन्न का अनेक प्रकार रस करके सर्वनाड़ियों में पहुँचाय शरीर का पालन करता है। ताते यह शरीर अन्न रस करके निष्पादित (रचित) है। जैसे बट के सूक्ष्म बीज से अंकुरोत्पत्ति होती है, तैसेही अन्न के सूक्ष्म रस की परम्परा से इस शरीर की उत्पत्ति है, एतदर्थ शरीर की उत्पत्ति का मूल अन्न है ऐसा विस्पष्ट जानो ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! शरीर का मूल अन्न है इस विषय में क्या जानना है ॥ उत्तर ॥ हे प्रियदर्शन ! श्रवण करो यह शरीर अंकुरवत् कार्य होने से मूल विनाके होने को योग्य नहीं ॥ ३ ॥

तस्य क्व मूलछं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सौम्या न्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सौम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सौम्य शुङ्गेनसन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

श्वेतकेतुरुवाच । उसका क्या मूल है । उद्दालक उवाच । हे सौम्य ! अन्न से इतर इसका मूल क्या है (अन्न ही इसका मूल है) ताही हे सौम्य ! अन्नरूप शुङ्गकरके उसका मूल जल को निश्चय करो, हे सौम्य ! जलरूप अंकुर करके तिसका मूल तेज को जानो तेजरूप अंकुर करके हे सौम्य ! सत् चैतन्यरूप मूल को निश्चय करो, हे सौम्य ! यह सर्वप्रजा सन्मूलवाली है, सत् आयतनवाली है, अरु सत्प्रतिष्ठावाली है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब उद्दालक पिता ने कहा कि यह शरीर मूल विनाका होने को योग्य नहीं, तब श्वेतकेतु नाम पुत्र प्रश्न करता हुआ ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! यदि आपके कहे प्रमाण यह शरीर अंकुरवत् समूल है तो इस का मूल क्या है ? सो आप कृपा करके कहिये। इस प्रकार जब पुत्र ने प्रश्न किया तब उद्दालक पिता उत्तर कहता हुआ ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! तैंने प्रश्न किया कि तिस शरीरका (जो अंकुरवत् कार्य है) तिसका मूल क्या है ? सो अन्नसे इतर इसका क्या मूल है ? अर्थात् इसका मूल अन्नही है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! इस शरीर का मूल अन्न कैसे है ? सो आप कहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! जब यह पुरुष भोजन करता है तब उस भोजन किये अन्न को पिया हुआ जल उदर बिषे द्रवीभूत (कोमल, ढीला) करता है, तब उदरबिषे जठराग्नि करके पचाया हुआ अन्न रसादि क्रम से परिणाम को पावता है। पुनः उस रस से रुधिर होता है, रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से

अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र (वीर्य) होताहै। हे सौम्य! इस प्रकार पुरुष के उदरबिषे अन्न रसादि क्रमसे परिणाम को पाता है। अरु तैसेही स्त्री करके भोजन किया अन्न रसादि क्रम से ही परिणाम पाय अन्त शोणित होताहै, तब उन अन्न के कार्य शुक्र शोणित एकत्र हुए का (गर्भबिषे) देह उत्पन्न होताहै, अरु अन्न रस करके वहां वर्द्धमान होताहै, अरु नित्य २ अन्न भोजन से ही शरीर की स्थिति होती है। एतदर्थ उक्त प्रकार अन्न रस का परिणाम होने से इस देह रूप अंकुर का मूल अन्नही है॥ :—अर्थात् इस शरीर की अन्न करके उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति अरु अन्न विना अभाव होना देखने से देह का मूल अन्नही निश्चय होता है॥ प्रश्न॥ हे भगवन्! जो तो देहरूप अंकुरका मूल अन्न आपने निर्देश किया सो अस्तु तथापि तिस अन्न को देहवत् उत्पत्ति विनाशवान् होने से उसकी सत्चैतन्य मूलसे उत्पत्ति कैसे संभवेगी (अर्थात् अन्नको उत्पत्ति विनाशवान् होने से उसकी उत्पत्ति सत्चैतन्य मूलसे संभवे नहीं) तब सो शुङ्ग (अंकुर) ही है ऐसा क्यों कहते हो॥ उत्तर॥ हे सौम्य! जैसे देहरूप अंकुर का मूल अन्न है, तैसेही हे सौम्य! अन्नरूप अंकुर (कार्य) करके अन्नरूप अंकुर का मूल जलको प्रतिपादन करते हैं अरु अन्नवत् जल को भी उत्पत्ति विनाशवान्पना होने से अंकुरपना है, ताते हे सौम्य! जलरूप अंकुर कहिये कार्य करके तिसका मूल (कारण) तेजको निश्चय करो अरु तैसेही तेजको भी उत्पत्ति विनाशवान् होने से अंकुरपना है, ताते तिस तेजरूप अंकुर का मूल सत्चैतन्य को जानो, कैसा है वो सत्चैतन्य एकही अद्वितीय है (अरु वास्तव से उत्पत्ति विनाश रहित अज अविनाशी) सत् है, जिस बिषे यह सर्व तेजादि कार्य कारणात्मक स्थूल सूक्ष्म सर्व प्रपञ्चरूप विकार (कार्य) केवल नाममात्रही है। हे सौम्य! जैसे रज्जुबिषे सर्प, शुक्तिबिषे रूपा, स्थाणु बिषे पुरुष मरुस्थल बिषे जल, इत्यादि सर्व अध्यस्त होने से अपनी सत्ता के अभाव से कहनेमात्रही हैं। तैसेही सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्य परादेव बिषे यह नामरूपात्मक स्थूल सूक्ष्म सर्व जगत् अविद्या करके अध्यस्त होने

अपनी पृथक् सत्ता के अभाव करके केवल वाचारम्भण (कहनेमात्र) है। ताते सोई सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्य इस समस्त नाम रूपात्मक जगत्का मूलहै। अतएव हे सौम्य! यह सर्व स्थावर जंगम लक्षणवाली प्रजा सत् चैतन्य मूल (कारण) वाली है। सो सत् चैतन्य से उत्पन्न होने करके केवल सत् मूलवालीही है ऐसा नहीं किन्तु इस स्थिति काल विषे सत् चैतन्य के आश्रय होनेसे सत् आयतन (आश्रय) वाली है॥ सो इतनाही नहीं कि सत् मूल अरु सत् आयतनवाली हीं होवे किन्तु यह सर्व स्थावर जंगम नामरूप लक्षणवाली समस्त प्रजा अन्त में सत् प्रतिष्ठावाली होती है। अर्थात् अन्त में सर्वाधिष्ठान सत् चैतन्य बिषे पर्यवसान पावती है। अर्थात् जैसे मृत्तिका का कार्य घटादिक मृत्तिका से उपजते हैं, मृत्तिका के आश्रय बर्त्तते हैं, अरु परिणाम मृत्तिका बिषेही लय होते हैं॥ :—अर्थात् जो वस्तु जिस बिषे कल्पित होती है, मृत्तिका बिषे घटादिवत् सो अपनी स्थितिकाल में उसही के आश्रय बर्त्तती है, उसका उपादान से इतर आश्रय कोई भी होवे नहीं, जैसे घटके नाम रूपका आश्रय मृत्तिका है तैसे, अरु वो वस्तु अन्त में अपने उपादान मेंही पर्यवसान (समाप्ति) पावे है, जैसे घट फूटके मृत्तिका बिषेही परिणाम पावे है, अथवा जैसे घट का नाम रूप कल्पित होनेसे सो घट बिषे मृत्तिका मेंही पर्यवसान पावे है तैसे—:॥ अथवा जैसे रज्जु बिषे अध्यस्त सर्प रज्जु सेही उपजता है रज्जु के आश्रय बर्त्तता है परिणाम रज्जु बिषेही लय होताहै। ताते वो सर्प रज्जुरूप है इतर नहीं, तैसेही यह नाम रूपात्मक सर्व प्रजा चैतन्यदेवरूप मूलवाली है, अरु तिसही के आश्रय बर्त्तती है, अरु परिणाम विचारदशा बिषे रज्जु में सर्पवत् लय होती है। ताते यह सर्व प्रजा, सत् मूला, सत् आयतना, सत् प्रतिष्ठा, वाली है॥:—इस उपनिषद् के तृतीय प्रपाठकके बिषे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" 'निश्चय करके सर्व ब्रह्महीहै, ऐसा कहा है उसका सविस्तर निर्णय इस षष्ठ प्रपाठक में यहां पर्यंत हुआ जानना—:॥ ४॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं

नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सौम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ।

अथ (अब जलरूप अंकुर के द्वार से सत्मूल को श्रवण करो) जिस काल बिषे इस पुरुष का नाम यह जलपान की इच्छावाला होता है उससमय पानकिये जलको तेजही पालन वा परिणाम को प्राप्त करता है जैसे गोपाल गौओं को अश्वपाल अश्वों को पुरुषपाल पुरुषों को तैसे तिस तेजको कहते हैं जो तेज उदक को यथा स्थान प्राप्त करता है, तहां यह शरीरही जलरूप मूलका अंकुर है हे सौम्य! ऐसा जान यह शरीर निर्मूल होने को योग्य नहीं ॥ ५ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! अब जलरूप अंकुर के द्वार से सत्मूल का उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र को लक्ष्य कराया है सो भी श्रवण करो। उद्दालक उवाच ॥ हे श्वेतकेतो ! जिस काल में इस पुरुष का नाम जलपान की इच्छावाला होता है, सो यह नाम भी भोजन की इच्छावाला, के नामवत् गुण के सम्बन्ध से गौण होता है। हे सौम्य ! भोजन किये अन्न को पानकिया जल ढीला करता है, अरु तिस अन्न को ढीला होने से तिसका कार्य देहरूप अंकुर सो भी जलकी बाहुल्यता से शिथिल होजावे जो तेज करके वो जल शोषण न कियाजाय । ताते पानकिया जल निरन्तर तेज करके शोषण किया जल भी अन्नवत् देहभावरूप परिणाम को पावता है । अतएव जब उदरबिषे जलको तेज शोषण करता है, तब पुरुष को जलपान की इच्छा होती है, तब उस पुरुष का नाम जलपान की इच्छावाला होताहै (लोक कहते हैं) ताते सो तेज ही पान कियेहुए जलादिकों को देहके अन्तर रुधिर प्राणादि भाव में परिणाम को प्राप्त करताहै ॥ :—अर्थात् पूर्व कहाहुआ है कि पान किया हुआ जल उदर बिषे तीन प्रकार का होताहै, तहां उसके स्थूल भाग

का मूत्र, मध्यमभाग रुधिर अरु सूक्ष्मभागका प्राण होताहै। इसप्रकार जो उदरबिषे तीन भावआदि परिणाम होतेहैं सो तेजके किये होतेहैं–:॥ अरु उस जल के परिणाम रुधिरादि रसको यथा स्थान यथायोग्य प्राप्त करता है। जैसे गौओं को गोपाल अरु अश्वों को अश्वपाल, अपने २ गौ अश्वों को यथास्थान प्राप्तकर यथायोग्य तृणादि देते हैं, अरु जैसे पुरुषपाल (राजा वा सेनापति) प्रजा को वा सेनाको यथायोग्य अधिकार प्राति स्थापनकर उनका पालन करता है। तैसेही तेज अपने जलरूप अंकुर (कार्य) को रुधिरादि भावसे परिणामकर शरीर के यथायोग्य स्थान (नाड़ियों) को प्राप्त करता है॥ ताते तिस तेजको लौकिक पुरुष कहते हैं कि उदकको तेज परिणामको प्राप्त करता है। यहां मूल श्रुति में "उदन्येति" ऐसा पद है सो छान्दस होने से अशुद्ध नहीं परन्तु "उदकं नयति" ऐसा पद होता है॥ तहां भी जैसे पूर्व अन्न का अंकुर देह कहा है तैसेही जल का भी यह शरीर नामवाला अंकुर है अन्य का नहीं॥:–अर्थात् "अयं पुरुषः अन्नरसमयः" इस अन्यश्रुति के वाक्य प्रमाण भी यह शरीररूप अंकुर अन्न जलरूप मूलवाला है–:॥ अरु सामर्थ्य करके तेज का भी यह ही शरीर नामवाला अंकुर है॥ अर्थात् यह स्थूल सूक्ष्म कार्य कारणों का संघातरूप शरीर परम्परा करके तीन तत्त्वरूप मूलवाला है अरु तीन तत्त्व सत् चैतन्य मूलवाले हैं–:॥ अतएव जल के अंकुर देहकरके तिसका मूल जलही जाना जाता है। अरु जलरूप अंकुर करके उसका मूल तेज जानाजाता है। अरु तेजरूप अंकुर करके उसका मूल सत् चैतन्यदेव जाना जाता है। पूर्ववत्। हे सौम्य! उक्तप्रकारही तेज, जल, अन्नमय शरीररूप अंकुर जो केवल वाचारम्भणमात्रही है उसका अन्नआदि परम्परा करके परमार्थ से सत् चैतन्य मूलवाला होने से सो भी सत् मूलवाला सतही है अविद्यादि मूलवाला नहीं। अरु जो इसको अविद्यादि मूलवाला कहा है सो इसके नामरूप को कल्पित होने से कहा है नतु वस्तु करके तो यह तेजादिकों की परम्परा से सत् चैतन्य मूलवाला ही–:॥ हे सौम्य! इसप्रकार उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को हे सौम्य! सुखपूर्वक सत्

नामवाले सर्व के मूल को जानो, ऐसा कहके भोजन की इच्छावाला अरु जलपान की इच्छावाला इन दो प्रसिद्ध द्वारसे देहरूप अंकुरसे अन्नादिकों की परम्परा से परमार्थ करके सत् चैतन्य मूलवाला लक्ष कराय तिसके निमित्त से सर्वजगत् का पराकारण सत् चैतन्य आत्म-देवकाही लक्ष्य कराया ॥ ५ ॥

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सौम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सौम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सौम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

श्वेतकेतुरुवाच ॥ उसका क्या मूल है ॥ उद्दालक उवाच ॥ उसका जल से इतर क्या मूल है । अर्थात् जलही उसका मूल है । हे सौम्य ! जलरूप अंकुर करके तिसके तेजरूप मूल को जानो, अरु तेजरूप अंकुर करके हे सौम्य ! तिसके सत् चैतन्यरूप मूल को देखो । हे सौम्य ! यह सर्वप्रजा सत्‌रूप मूलवाली है, अरु सत्‌रूप आयतनवाली है, अरु सत्‌रूप प्रतिष्ठावाली है ॥ हे सौम्य ! जैसे तो निश्चय करके यह तेज, जल, अन्न तीनों देवता पुरुष (चिदाभास) को पाय एक २ तीन २ प्रकार होते हैं सो पूर्वही कहाहै, होते हैं (तहां भोजन किया अन्न तीन प्रकार का होताहै) सो हे सौम्य ! इस पुरुष (जीव) के मरणसमय वाणी मन बिषे जाती है, मन प्राण बिषे जाता है, प्राण तेज बिषे जाता है, अरु तेज सत् चैतन्य परमदेवबिषे जाता है ॥ सो जो सत् नामवाला यह ही महासूक्ष्म (आत्मा) है ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! इस षष्ठ मन्त्र का भावार्थ इसके पूर्वके चतुर्थ मन्त्र की व्याख्या बिषे सविस्तर कहा है, अरु वह मन्त्रार्द्ध है, अतएव यहां अक्षरार्थमात्र ही लिखा है ॥ हे सौम्य ! ॥:—अब अन्न, जल, तेज इन तीनों तत्त्वों के त्रिवृत्करण के कार्य देह के अभाव (मरण) समय जिसप्रकार यह पुरुष नामवाला चिदाभास मन आदिकों की लय की परम्परा से अपने बिम्बरूप सत् चैतन्यदेव को प्राप्त होताहै उसको भी श्रवण करो-:॥ हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! जिस प्रकार यह तेज, जल, अन्न नामवाले तीनों देवता पुरुष को (सत् चैतन्य के आभास जीव को) प्राप्त होके त्रिवृत्करण होय पुनः उनका उदर बिषे जाय एक२ का त्रिधा २ भाग होताहै सो तुझसे पूर्वही कहाहै । तहां ऐसे होता है कि ॥ " अन्नमशितं त्रेधा विधीयत " इत्यादि । अरु तहांही यह कहा कि भोजन किये अन्नादिकों की जो मध्यम धातुयें होती हैं, तहां सात धातुओं करके निष्पन्न यह शरीर होता है (सात धातुओं करके संचित यह शरीर कहाहै) तहां मांस होता है रुधिर होताहै मज्जा होती है अस्थि होतीहै । अरु जो उन अन्नादिकों के उदर बिषे सूक्ष्मभाग होते हैं तिनके क्रमसे मन, प्राण, वाणी इन तीनों का संघात देहके अन्तर उत्पन्न होताहै । सो कहाभी है " तन्मनो भवति " सो मन होता है, " स प्राणो भवति " सो प्राण होताहै, " सा वाग् भवति " सो वाणी होती है । अर्थात् अन्न के सूक्ष्मांश का मन होता है, जल के सूक्ष्मांश का प्राण होताहै, अरु तेज (घृततैलादि) के सूक्ष्मांशसे वाणी होती है, सो यह मन प्राण वाणी का संघातरूप लिङ्ग ॥:— अर्थात् मन उपलक्षण करके अन्तःकरणचतुष्टय जानना, अरु प्राण उपलक्षण करके प्राणादि पाँच प्राण जानने, अरु वाणी उपलक्षण करके वागादि पाँच कर्मेन्द्रियां जाननी, अरु इन सबका संघात कहने से लिङ्ग को जानना-: ॥ सो इस स्थूलदेहके विशीर्ण (अभाव) होने से जीव के आश्रय हुआ, अथवा जीव है अधिष्ठाता जिसका सो लिङ्ग जिसप्रकार देहसे (अर्थात् वर्तमान शरीर से) उठ (निकल) के देहान्तर

को प्राप्त होता है, अरु तिस मरण के समय जिसप्रकार सर्वजीव स
चैतन्य को समान प्राप्तहोते हैं—:॥ सो श्रवण करो। हे सौम्य, श्वे
केतो ! इस पुरुष के मरण के समय उसकी वाणी मन बिषे जाती है
क्योंकि मन पूर्व कही वागादि इन्द्रियों का व्यापार है ॥ तथाच "यो
मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, इति श्रुत्यन्तरे" ॥ अर्थात् जो कहने को
मन इच्छता है सो वाणी कहती है, ताते वागादि इन्द्रियों का व्याप
मन के अधीन है, सो मन मरणसमय अतिव्याकुल होता है तब वा
गादि इन्द्रियां अपने २ व्यापार को त्याग मन बिषे प्राप्तहोती हैं। त
उस पुरुष के निकटवर्ती सम्बन्धी वा ज्ञाति के लोक परस्पर में कहते
कि हे भाई ! अब तो यह बोलता नहीं ॥:—अर्थात् जब इस पुरुष
मरण समय निकट आवता है तब रोगादिकों की वृद्धि से उसका अ
छूटजाता तब अशक्तता के कारण उसकी वागादि इन्द्रियां मन बि
जाय एकत्र होती हैं (अरु उनके अधिष्ठाता देवांश अपने २ स
देवता बिषे प्राप्त होते हैं, उससमय उस मुमूर्षु की वाणी बन्द होय
है, तब तिस समय उसके निकटवर्ती सम्बन्धी वा ज्ञाति के लोक प
रस्पर में कहते हैं कि हे भाइयो ! अब इसकी माँदगी असाध्य है क्यों
कि अब यह बोलावने से भी बोलता नहीं ताते अब इसका जीवन
कठिन है, ऐसा कहते सन्ते उसकी स्त्री आदिक रुदन करते हैं, त
सम्बन्धियों को रुदन करते देख अपने जीवने की आशा त्याग बो
से रहितहुआ रोवता है तब वो अरु उसके सम्बन्धी दोनों खेद पावते
हे सौम्य ! इतनेही में रोग की आधिक्यता से उस मुमूर्षु पुरुष के श्र
रादि करण भी मन बिषे जाय प्राप्तहोते हैं—:॥ तब वो केवल म
मननरूप व्यापार से ही बर्तता है, अरु शीत आदि रोगों की अ
वृद्धि होती है तब वो मन भी अतिव्याकुल होय प्राण बिषे प्राप्त हो
है ॥—: अर्थात् वागादि इन्द्रियां जब रोग करके व्याकुल हुई म
जाती हैं तब वो मन विचारता है कि बाह्य कोई महत् उपद्रव अ
जो यह सर्व भाग के यहां आवते हैं, अतएव अब अपने को भी
से पलायन होना योग्य है, ऐसा विचार अपनी सर्व वृत्तियां अ

न्द्रियां रूप अपना कुटुम्ब साथ ले आप मन प्राणबिषे सम्पन्न होता है (जाता है)-:॥ सुषुप्ति कालवत् ॥ तब उसके निकटवर्ती जे सम्बन्धी ज्ञाति के लोग हैं सो परस्पर में कहते हैं कि अब यह कुछ भी जानता नहीं है सौम्य! उक्तप्रकार जब मन व्याकुल होय के प्राण बिषे जाता है तब प्राण ऊर्ध्व श्वास होके अतिशीघ्र २ चलता है अरु वो मुमूर्षु प्राणान्त खेद को पाय हाथ पैर पटकता है, उससमय की बेकली उस को कल लेने देती नहीं। तिससमय उस प्राण ने भी अपने अपानादि कुटुम्ब को अपने पास बोलाय उन सर्वसहित हुआ आप प्राण तेजबिषे जाता है, तब प्राण करके त्यागे हुए सर्व अवयव शुष्ककाष्ठवत् जहां के तहां पड़े रहते हैं, तब तिसको देख ज्ञाति के लोक परस्पर में कहते हैं कि हे भाई! अब इसकी नाड़ी भी चलती नहीं, जाने यह मरा वा जीवता है, ऐसा कह उसकी विचिकित्सा करते उसके शरीर को जहां तहां स्पर्श करते उसके वक्षस्थलपर हाथ रख कहते हैं कि हे भाई! अभी इसकी छाती उष्ण है, अतएव अभी यह मरा नहीं जीवता है, परन्तु अब इसका मरण अतिनिकट है। अरु उससमय उसके वक्षस्थल की उष्णतारूप लिङ्ग से तेज का अनुमान कर कहते हैं कि अभी इसका वक्षस्थल उष्ण होने से इसमें तेज है। हे सौम्य! तदनन्तर वो तेज भी अपने मूल कारण सत् चैतन्य बिषे सम्यक् प्रकार प्राप्त होता है॥ हे सौम्य! उक्त प्रकार क्रम करके जब मनको परम्परा करके अपने मूल को प्राप्तहुए अर्थात् जब मन प्राण साथ मिलके तेज बिषे अरु वो तेज अपने मूलकारण सत् चैतन्य परदेव बिषे प्राप्तहोता है, तब मन विशिष्ट चैतन्य (चिदाभास जीव) अपने बिषे आभासपने की निमित्त उपाधि के उपसंहार हुए आपभी उपसंहार होता है। अर्थात् मनआदिरूप उपाधि का अपने सत् मूल में उपसंहार हुए, मनस्थ चैतन्य (चिदाभास) सो भी अपने बिम्बरूप सत् चैतन्य बिषे एकता को पावे है सुषुप्तिकालवत्। जैसे सूर्य अपनी किरणों से जलोत्पन्न कर तिस बिषे आपही प्रतिबिम्बित होता है, अरु आपही अपनी किरणों द्वारा जल को शोषण करता है तब जलगत सूर्य का प्रतिबिम्ब

भी अपनी उपाधि के अभाव से सूर्य साथ एक होता है, तैसें ॥ अरु तहां जो कदापि आचार्य से महावाक्यार्थ का सम्यक् ज्ञान पाय अपने आप सत् चैतन्य सर्वात्मदेव को यथार्थ साक्षात् अनुभव करके जो सत् बिषे जाता है सो पुरुष सुषुप्ति से जाग्रत् में आवनेवत् देहान्तर में जाता नहीं वो सत् आत्मा बिषे गयाहुआ सत् सर्वात्माही होता है। सोई यह महासूक्ष्म आत्मा है कि जिस बिषे गयाहुआ ज्ञानवान् फेरके आवता नहीं अरु अज्ञानी जिस बिषे गये हुए ज्योंके त्यों निकल आवते हैं ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! जो अज्ञानी पुरुष मरण के समय सत् बिषे जाते हैं सो पुनः वहां से निकल किस मार्ग से लोकान्तर, देहान्तर को प्राप्त होते हैं सो भी आप कृपा करके कहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! इन सर्व जीवों के मरणोत्तर शरीर से निकलने वा जाने के मार्गों का नियम नहीं क्योंकि इनके रास्ते इनकी कर्म उपासना के अनुसार हैं । हे सौम्य ! जो पुरुष प्रणव पञ्चाग्नि के उपासक हैं, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं वानप्रस्थ हैं आत्म आनन्द से रहित संन्यासी हैं वा समाधि के करनेवाले योगी हैं, ये सर्व अपनी यथार्थ उपासना अरु आश्रम धर्म के करनेवाले हैं, ये सर्व सुषुम्णा नाम्नी नाड़ी द्वारा मस्तक के ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से निकल ब्रह्मलोक में जाय ब्रह्मा के साथ वा ब्रह्मा से सम्यक् आत्मज्ञान पाय ब्रह्मा से प्रथमही मुक्त होते हैं। वो उत्तम उपासक "न स पुनरावर्त्तते" पुनः जन्म मरण लक्षणवान् संसार बिषे आवते नहीं । अरु जो पुरुष यज्ञादि कर्मों को करते हैं वा विद्या से रहित केवल इष्टापूर्त्तादि कर्मों को ही करते हैं सो स्वर्ग अरु पितृलोक में प्राप्त हो वहां अपने कर्मों का फल भोग पुनः इस लोक में जन्म पावते हैं । अरु जे शिव, विष्णु, सूर्य, देवी आदि देवताओं की उपासना करते हैं सो अपनी उपासना के अनुसार उन देवताओं के लोक को प्राप्त होते हैं । अरु जो पुरुष सर्वप्रकार कर्म उपासना से भ्रष्ट हैं उनको व्यावहारिक शुभाशुभ जैसे कर्मों का अभ्यास अरु जिस बिषे चित्त की आसक्तता होती है उसके अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि योनि को प्राप्त होते हैं ॥ अतएव हे सौम्य ! इन जीवों

को मरणोत्तर शरीर से निकलने के रास्तों का नियम नहीं अरु जिस पुरुष (जीव) ने अपने कर्म, उपासना, अभ्यास, आसक्ति के निमित्त से मरणोत्तर जिस लोक वा शरीर को प्राप्त होना होता है सो उस नाड़ीरूप द्वार से निकलता है। अर्थात् जिसने कर्म उपासना के अनुसार जिस लोक वा शरीर को प्राप्तहोना होताहै उस लोक की प्रापक नाड़ी-का द्वार उस समय खुल जाता है और सर्व नाड़ीरूप मार्ग बन्द होजाता है, अरु उस खुली हुई नाड़ी के द्वारपर उसके कर्म उपासना के संस्कार अपने अनुसार प्रकाश करते हैं तब उस नाड़ी के मार्ग से निकल अपने शुभाशुभ कर्मों के प्रकाश के आश्रय जहां कर्म लेजाते हैं तहां ही प्राप्तहोताहै । अतएव हे सौम्य ! इन जीवों के शरीर से निकलने के मार्ग अनेक होनेसे तिनका नियम नहीं तथा च। "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येन संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्" "तद्य इह रमणीयचरणाअभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा" "तेन प्रद्योतते न निष्क्रामति मूर्द्धो वा चक्षुषो वा अन्येभ्यः शरीरदेशेभ्यो" "विद्यया देवलोकः, कर्मणा पितृलोकः" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से ॥ हे सौम्य ! जो आत्मानुभवी ज्ञानवान् पुरुष हैं कि जिसने आचार्य से वेद के महावाक्यार्थ का सम्यक् ज्ञान पाय अपने आप सत् चैतन्य आत्मा का यथार्थ अनुभवकर तिस बिषे अभ्यास द्वारा दृढ़ स्थिति पाय तादात्म्यता को प्राप्तहुआ है सो पुरुष अपने आप सत् स्वरूपबिषे समुद्र में नदीवत् गया है सो फेरके आवता नहीं। वो सर्वमार्गों से रहित है उसका प्राण (जीवात्मा) शरीर से न निकलके तहांही अपने बिम्बरूप सत् चैतन्य ब्रह्म में अभेदता से प्राप्त होता है "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से-॥ ६ ॥

स य एषोऽणिमा ॥ एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ

स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवन् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठकेऽष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! सो यह (सत् नामवाला) जिसको महासूक्ष्म कहा है सो यह सदात्म्य है जिन सर्व का सो सर्व इसका आत्मा (अपना आत्मा) है। (अर्थात् जिस आत्मा करके यह सर्व जगत् आत्मवत् सत्य है) सो सत्य है हे श्वेतकेतो ! सो आत्मा तू है। इस प्रकार जब पिता ने उपदेश किया तब श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! पुनः भी मुझको समझाइये इसप्रकार जब श्वेतकेतुने विनय किया तब पिताने कहा हे सौम्य! तथा (कहताहौं) ॥ ७ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! जैसे लोकबिषे सभयदेश में वर्तमान पुरुष जो कदा अभयदेश को प्राप्तहोवे तो वो पुनः सभयदेश को प्राप्त होनेकी इच्छा करता नहीं। हे सौम्य ! तैसेही जिसने श्रवणादि करके अभय ... रूप सत् चैतन्य आत्मा को सम्यक् प्रकार जाना है अरु जानके ... बिषे " सोहमस्मि " भाव से सम्यक् प्राप्तहुआ है, सो इस जन्म ... लक्षणवान् संसाररूप सभय देश में आवता नहीं। अरु आत्मज्ञानी ... इतर अनात्मज्ञ पुरुष हैं सो उसही सर्व के मूल महाअभय देश ... चैतन्य बिषे प्राप्तहोके भी सुषुप्ति से जाग्रत् में आवनेवत् सबसे उत्थान हो मृत्यु को पाय पुनः देहजाल में प्रवेश करताहै (जैसे पक्षी ब... के जाल में तैसे) ॥ हे सौम्य ! जिस सत् नामवाले मूल से उत्पन्न होय यह अज्ञानी जीव देह में प्रवेश करता है ॥ सो यह सत् नाम वाला यह कहा जो महासूक्ष्म जगत् का मूल सोई यह सदात्मा ... सर्वोंका है सो यही आत्माहै, तिसका जो भाव सो कहिये, एतदात्म्य (अर्थात् जिसबिषे प्राप्तहोके ज्ञानवान् फेरके नहीं आवते अरु अज्ञानी ...

हांसे ज्यों के त्यों निकल आवते हैं। अरु जो नाम रूपात्मक समस्त जगत् का नामरूप से रहित महासूक्ष्म सत् मूल कहा है सोई सर्वाधिष्ठान होनेसे सर्वका आत्मा है, अरु इस तिस सदात्मा करके, यह सर्व वाचारम्भणमात्र जगत् आत्मवत् सत् होरहा है। अर्थात् जो सर्वाधिष्ठान सदात्मा जगत् का मूलहै सोई अपने बिषे अध्यस्त जगत् में अधिष्ठानरूप से प्रवेश कर रहा है। ताते सोई सर्वात्मा है। हे सौम्य! इस सदात्मा से इतर संसारी आत्मा कोई नहीं तथा च ॥ "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" इत्यादि श्रुत्यन्तरे ॥ हे सौम्य! जिस आत्मा से आत्मवत् यह सर्व जगत् है सोई सत् नामवाला जगत् का मूल (कारण) है ताते सत् मूलवाला होने से समस्त जगत् परमार्थ करके सत्‌ही है। ताते सोई आत्मा जगत् का प्रत्यक् स्वरूप सोई तत्त्व होनेसे वोही सर्वात्मा है। हे श्वेतकेतो! सोई महासूक्ष्म आत्मा तूही है॥ इस प्रकार जब उद्दालक पिता ने (सर्वनाम रूपात्मक जगत् के मूल सत् चैतन्य को लक्ष्य कराय पुनः कहाकि सो सदात्मा तू है)। तब उसको श्रवणकर श्वेतकेतु कहता हुआ कि हे भगवन्! हे पिताजी! पुनः भी आप मुझको समझाय के कहिये। आपने जो कहा सो संदिग्ध होने से तिस विषयक मुझको संशय है, हे भगवन्! आपने आज्ञा किया कि सुषुप्ति में जाय के सर्वप्रजा सत्‌को समान प्राप्त होती है, सो अस्तु, परन्तु रोज़ २ यह सर्वप्रजा सत्‌को प्राप्त होतीहै, परन्तु वहां यह कोई भी नहीं जानता जो हम अब सत्‌को प्राप्त हुएहैं। हे भगवन्! जिस कारण से सत् को प्राप्त होके भी नहीं जानते कि हम सत् को प्राप्तहुए हैं, सो आप मुझको दृष्टान्तपूर्वक समझाय के कहिये। इस प्रकार जब श्वेतकेतु ने संशययुक्त प्रश्नकिया तब उद्दालक पिता ने कहा कि हे सौम्य! तथास्तु (जैसे तुम ने प्रश्नकिया तैसेही मैं दृष्टान्तपूर्वक उत्तर कहता हौं सो तुम श्रवण करो)॥ ७॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकेऽष्टमःखण्डः ॥ ८ ॥

———*———

अथ छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठके नवमःखण्डः प्रारभ्यते।

यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नाना यानां वृक्षाणाꣳ रसान् समवहारमेकताꣳ रसं ग यन्ति ॥ १ ॥

अब षष्ठप्रपाठक में नवमखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! जैसे लोकबिषे मधु को मधुकर (शहदकी मक्खी) एकत्र करे है तहां नानाजाति के, देशान्तर के वृक्षों के रसों को हरण करके उन रसों को एक मधुभाव को प्राप्तकरे है ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य, श्वेतकेतो! तूने जो प्रश्नकिया कि यह सर्व प्रजा नित्य २ सत् को प्राप्त होके भी नहीं जानती जो हम सत् को प्राप्त हुए हैं सो किस कारण से नहीं जानती। हे सौम्य! इसके उत्तर में प्रथम दृष्टान्त को श्रवणकर पश्चात् दार्ष्टान्त को श्रवणकरो हे सौम्य! जैसे लोकबिषे मधुकृत् अर्थात् जो मधु को सम्पादन करे सो कहिये मधुकृत् ऐसी जे मधुकर मक्षिका (शहदकी मक्खी) सो मधुको निष्पादन करने में तत्पर रहती है ॥ प्रश्न ॥ कैसे मधुको निष्पादन करे है ॥ उत्तर ॥ नाना दिशाओं के नाना गति (जाति) के वृक्षों के रसों को सम्यक् प्रकार हरण करके उन सर्व एक मधुत्व भाव बिषे प्राप्त करती है ॥ १ ॥

ते तथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! जैसे (एकत्रहुए मनुष्य विवेक को पावते हैं तैसे)

मधुभाव बिषे विवेक को प्राप्तहोते नहीं कि हम अमुक वृक्षके, हम अमुक वृक्ष के रस हैं । हे सौम्य ! तैसेही निश्चय करके यह सर्व प्रजा सत् को प्राप्त होय के भी यह नहीं जानती जो हम सत् को प्राप्त हुए हैं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! वो सर्वरस जो समान मधुत्वभावको प्राप्त हुए हैं सो अपने मधुत्व भाव बिषे विवेक को प्राप्तहोते नहीं ॥ प्रश्न ॥ उनको कैसा विवेक नहीं होता ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! मधुत्व को प्राप्तहुए रसोंको यह विवेक नहीं होता जो हम अमुक २ वृक्ष के रस हैं ॥ हे सौम्य ! जैसे लोक बिषे बहुत से चेतनावान् प्राणी एक स्थान में एकट्ठे हुओं को विवेक का लाभ होता है वा रहता है कि हम अमुक के पुत्र हैं अमुक हमारा गोत्र है अमुक हमारी जाति है अमुक हमारा नाम है अमुकस्थान में हमारा गृह है, हम सर्व यहां एकत्र होयके पञ्च संज्ञा को प्राप्तहुए हैं । हे सौम्य ! तैसे यहां उन रसोंको जो एक समान मधुभाव को प्राप्त होते हैं तिनको यह विवेक होता नहीं जो हम अमुक वृक्ष के रस हैं मधुरादि अमुक हमारा स्वादहै अमुक दिशा में हमारा स्थान है हमको मक्षिका ने यहां मधुभाव को प्राप्त कियाहै । हे सौम्य ! जैसे यह दृष्टान्त है तैसेही निश्चय करके ईश्वर से पिपीलिका मशकादि पर्यन्त सर्वप्रजा (जीव) नित्य २ सुषुप्तिकाल बिषे, मरणकाल बिषे, प्रलयकाल बिषे, सत् चैतन्यदेव को प्राप्तहोके भी यह नहीं जानते जो अब हम सत् भाव को प्राप्त हुए हैं (अर्थात् हे सौम्य ! यह सर्व प्राणधारीमात्र प्रजा सुषुप्ति में, मरणकाल में, प्रलयकाल में सत् चैतन्य विज्ञानघनभाव को प्राप्त होती है । जैसे सर्वजाति के वृक्षों के पृथक् २ स्वादयुक्त रस मधुकर मक्षिका के उदर में समान मधुभाव को प्राप्तहोते हैं तैसे ॥ हे सौम्य ! जिस कारण से यहां (जाग्रत्के बिषे) अपने आ सत्रूप आत्मा को यथार्थ जाने विनाही सत् बिषे प्राप्त हुए हैं । अ इसलोक बिषे अपने पूर्व के जिन २ कर्मों के निमित्त से जिस २ जा (योनि) को प्राप्त हुए हैं, अरु उन २ जातियों के अहंकाररूप र

करके रँगेगये हैं, अरु उन रङ्गों के आश्रय किसी ने अपने को व्याघ्र माना है, किसी ने अपने को सिंह माना है, किसी ने अपने को मूषक (चूहा) माना है। इस प्रकार सर्व प्राणी अपने २ पूर्व कर्मानुसार जिस २ जाति को प्राप्त हुए हैं, अरु तिनके अहंकाररूप दृढ़ रङ्गोंसे रँगे रहे हैं, अरु तिन २ जातिके कर्म ज्ञान स्वभावादिकों की वासना करके अङ्कितहुए ही सर्व उक्त तीनों स्थानों बिषे सत् चैतन्य विज्ञानघन को प्राप्त होते हैं, परन्तु जिस २ भाव को अपने २ बिषे लेके प्राप्त हुए हैं तिसही तिस अपने २ अनात्मभाव करके ही जाने से सत् चैतन्य बिषे प्राप्तहुए भी पुनः वहांसे निकल उसही उस अपने २ पूर्व के भाव को प्राप्तहोते हैं ॥ २ ॥

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ।

ते (पुनः सत् से) इस लोक (जाग्रत्) बिषे आयके अपने को व्याघ्र वा सिंह वा वृक वा वराह वा कीट वा पतङ्ग वा डाँस वा मच्छर वा अन्य, इत्यादि प्रकार पूर्व अपने को जो २ मानके सत् बिषे जाते हैं सोई सो सत् से निकल के भी होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! जो जीव अज्ञान करके कर्मों के निमित्त से प्राप्तहुए अनात्म देहादिक तिनके अहंकार अरु तिनके धर्म कर्मादिकों के संस्कार अरु विषयादिकों की वासना, इन करके अङ्कित हुए सन्ते सत् चैतन्य में प्रवेश पायके भी पुनः वहां सों निकल इस जाग्रत् में आय अपने पूर्व के अभ्यासवश अपने को व्याघ्र वा सिंह वा वृक वा वराह वा कीट वा पतङ्ग वा मच्छर वा अन्य। अथवा, कोई व्याघ्र, कोई सिंह, कोई वृक, कोई वराह, कोई कीट, कोई पतङ्ग, कोई डांस, कोई

मच्छर ॥ः—कोई मनुष्य ब्राह्मण, वा क्षत्रिय, वा वैश्य, वा शूद्र, वा पण्डित, वा मूर्ख, इत्यादि प्रकार जो २ जीव जिस २ शरीर, जाति, वर्ण, आश्रम, नाम, रूप आदिकों को अपना मान तिस बिषे दृढ़ अहंकार कर उनकी दृढ़ वासना करके वासितहुए सत् बिषे जाते हैं सोई सो वासना संस्कार उनको सत् से निकाल लावे है तब वो सर्वजीव इस जाग्रत् जगत् में आय अपने पूर्व के अभ्यास संस्कारों के वश हुए अपने बिषे पूर्व भावको ही मानते हैं (अर्थात् जिस भाव के संस्कार अपने बिषे लेके सत् को प्राप्तहोते हैं तिसही २ भाव को सत् से निकल के भी अपने बिषे मान सोई सो होते हैं) ॥ ः—हे सौम्य ! जैसे जो पुरुष जिस कार्य को करता हुआ सोजाता है सो पुरुष उस कार्य के अरु तिसके कर्तापने के संस्कार अपने बिषे लेके ही सोवता है अरु सोया हुआ सुषुप्ति में सत् चैतन्य विज्ञानघन आत्मा में अभेदतासे प्राप्तहोता है, अरु अपने पूर्व के काम कर्मादिकों के संस्कारों के वश हुआ सत् से निकल जाग्रत् बिषे आवता है तब पुनः उसही कार्य को करता है कि जिसको पूर्व जाग्रत् बिषे करता हुआ सोजाता है, अरु तिसही का कर्तापने को मानता है ॥ अरु जो पुरुष इस जाग्रत् बिषे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य साथ मिल श्रुति के महावाक्यार्थ के ज्ञान को पाय तिसका सम्यक् प्रकार मनन अभ्यासकर निःसंशय होय अपने आप सत् चैतन्य आत्मस्वरूप को साक्षात्कार करता है, अरु बुद्धि आदि उपाधि के तिनके धर्म कर्मादिकों से असंग सर्व का द्रष्टा साक्षी अपने आप यथार्थ अनुभव करता है सो विद्वान् पुरुष एकबार सत् बिषे गये सत्स्वरूपही होते हैं, वो पुनः इस जीवभाव बिषे आवते नहीं क्योंकि जाग्रत् में ही सत् चैतन्य अपने आप आत्मा को सम्यक् प्रकार जानके तिस बिषे "सोहमस्मि" भावसे प्राप्त होते हैं । अतएव हे सौम्य ! जो तिसको पुनरावृत्ति से रहित अपने आप निरुपाधि निर्विशेष सत् चैतन्य विज्ञानघन आत्मदेव की अभेद प्राप्ति इच्छित होय तो तुम भी इस जाग्रत् बिषेही वैराग्यादि साधनसम्पन्न होय किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य साथ मिल तिनसे तत्त्वमस्यादि महावाक्य श्रवणकर तिसका

मनन अभ्यास कर सम्यक् ज्ञानपाय अपने आप वास्तविक सत् आत्म-स्वरूप का साक्षात्कारकर सोई रूप होवो आगे जो तुम्हारी इच्छा-॥ हे सौम्य ! यावत् इन जीवों को सम्यक् आत्मज्ञान होता नहीं तावत् सहस्रकोटि युगपर्यन्त भी पूर्व की भावित वासना निवृत्त होती नहीं। "यथा प्रज्ञं हि संभवा, इति श्रुत्यन्तरे" अरु यावत् वासना नाश होती नहीं तावत् सत् को प्राप्तहोने से भी पुनरावृत्ति निवृत्त होती नहीं ॥ ३ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूयएव मा भगवन् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके नवमःखण्डः ॥ ९ ॥

अक्षरार्थ ।

सो यह जिसको महासूक्ष्म कहा है सो यह सत् आत्मा है जि सर्व का सो सर्व इसका अपना आप है, सोई सत्य है हे श्वेतकेतो सोई सत् आत्मा तू है। इस प्रकार जब पिता ने कहा तब श्वेतकेतु कहा कि हे भगवन् ! पुनः भी मुझको समझाय के कहिये, पिता कहा 'तथास्तु' (कहता हौं) ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य, श्वेतकेतो ! उक्त प्रकार की सो (अज्ञानयुक्त) सर्व जिस बिषे प्रवेश पाय पुनः प्रकट होती है। अरु तिन प्रजा से ज्ञानवान् सत्याभिसन्ध (सत् आत्मा में अभिसन्धान करनेवाले) महासूक्ष्म सत् चैतन्य बिषे एकबार प्रवेश पायके सोई रूप हुए पुनः संसारी जीव भावबिषे आवते नहीं, सोई यह महासूक्ष्म सर्वका आ है, अरु जिसका यह नाम रूपात्मक सर्व जगत् अपना आप है जैसे मृत्तिका घट शरावादिकों का आत्मा है अरु घट शरावा मृत्तिका का अपना आप है तैसे-॥ सोई सत् आत्मा है। हे श्वेतके सोई महासूक्ष्म सत् आत्मा तूही है। इस प्रकार जब उद्दालक पि

उपदेश किया तब श्वेतकेतु पुत्र कहताहुआ कि हे भगवन् ! सोई सत् आत्मा मैं हौं सो अस्तु परन्तु हे पिताजी ! जैसे लोक बिषे अपने गृह में सोयाहुआ पुरुष उठके ग्रामान्तर को जाता है तहां वो पुरुष जानता है जो मैं अपने गृह से उठके यहां आया हौं । तैसेही इन जीवों को जो सत् में प्राप्त होय पुनः वहां से आवते हैं तब वो पुरुष अपने को क्यों नहीं जानते जो हम सत् को प्राप्तहोके यहां आये हैं । हे पिताजी ! आपने मधुका दृष्टान्त कहा सो अस्तु परन्तु वो सर्व वृक्षों के रस तो जड़ हैं उनको अपने रसपने का ज्ञान नहीं जो हम अमुक वृक्षके रस हैं, अरु उनको अपने मधुभाव का भी ज्ञान नहीं जो अब हम मधुभाव को प्राप्तहुए हैं । हे पिताजी ! यह सर्वजीव तो चैतन्य हैं ताते इनको सत् की प्राप्ति में ज्ञान होना चाहिये जो हम जाग्रत् बिषे अमुक थे अब सत्को प्राप्तहुए हैं, अरु सत् से आवने का भी ज्ञान होना चाहिये जो हम सत्से आयके अमुकभावको प्राप्तहुए हैं, परन्तु सो ज्ञान इन जीवों को होता नहीं । ताते हे भगवन् ! इसको भी मुझे समझायके कहिये, इस प्रकार जब पुत्रने प्रश्न किया तब पिताने कहा तथास्तु (कहताहौं श्रवणकर) ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठके नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके दशमः खण्डः प्रारभ्यते ।

इमाः सौम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापि यन्ति समुद्रएव भवन्ति स यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

अब षष्ठप्रपाठक में दशमखण्ड का आरम्भकरते हैं ।

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! जैसे यह गङ्गाआदि नदियां प्रथम पूर्व दिशासों बहके समुद्र को जाती हैं, पश्चात् पश्चिमादिशा प्रति सिन्धुआदि नदियां जाती हैं सो सर्वनदियां समुद्रसे मेघों द्वारा निकलती हैं, पुनः समुद्र को प्राप्त

के समुद्रही होती हैं, सो नदियां नहीं जानतीं जो हम प्रथम गङ्गा यमुनादि नामों से कही जाती थीं, अब समुद्र हुई हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! अब अपने प्रश्न के उत्तर को दृष्टान्तपूर्वक श्रवण कर । हे सौम्य ! यह जो गङ्गा, यमुना, सिन्धु आदि नदियें हैं सो प्रथम समुद्र से निकली हैं, तहां प्रथम मेघ समुद्र से जल को आकर्षण करते हैं पश्चात् उस जलको पर्वतादि ऊपर वृष्टिद्वारा डालते हैं तब वो समुद्रका जल स्रोतादि द्वारसे निकल पृथक् २ प्रवाहित हो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं में धारावाहक भ्रमणकर कोई गङ्गा, कोई यमुना, कोई सरस्वती, कोई नर्मदा, कोई गोदावरी, कोई कावेरी, कोई व्यासा, कोई शतद्रू, कोई सिन्धु आदि नामोंसे कही जाती हैं, अरु वो सर्व नदियां सर्व दिशाओं में घूमके अन्त समुद्र को प्राप्त होय समुद्रही होती हैं । हे सौम्य ! उन नदियों को नदीभावविषे यह ज्ञान नहीं होता जो हमारा वास्तव में महान् गम्भीर अथाह समुद्ररूप है हम उस समुद्र से निकली हैं अब यहां अल्पभाव को प्राप्त होय गङ्गा यमुना आदि नामों से कही जाती हैं, अरु जब वो नदियें सर्व दिशाओं में भ्रम के समुद्र को प्राप्तहोय समुद्रही होतीहैं, तब वो सर्वनदियां यह नहीं जानतीं जो हम पूर्व नदी भावको प्राप्तहो गङ्गा, यमुना, सिन्धु आदि नामों से कहावतीं सर्व दिशा में भ्रमती थीं अब हम अपने पूर्व के वास्तविक महान् गम्भीर समुद्र को प्राप्त होके समुद्रही हुई हैं ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्व्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इतित इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! जिसप्रकार ... समुद्रही यह सर्व प्रजा

से आयके यह नहीं जानती जो हम सत् से आये हैं, इसही से सो सर्व इस लोकबिषे अपने को व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, डांस, मच्छर इत्यादि होते हैं (अर्थात यह सर्वप्रजा अपने बिषे जिन २ भावों को लेके सत् बिषे प्राप्त होती है सोई सो सत्से आयके भी होती है)॥ २॥

भावार्थ।

हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो! ऐसे हीं (कि जैसे दृष्टान्त कहा है) यह सर्व प्राणधारी प्रजा जिस कारण से सत् को प्राप्त होके नहीं जानती जो हम सत् को प्राप्तहुए हैं, तिसही कारण से सत् से आय करके भी नहीं जानती जो हम सत् से आये हैं अरु हमारा सत्य स्वरूप है, अरु तिसही से यहां जाग्रत् स्वप्नरूपी लोकबिषे सत् की प्राप्ति से पूर्व जो २ भाव अपने बिषे मानती हैं सोई सो भाव सत् से आयके भी मानती हैं, तहां कोई तो अपने को व्याघ्र, कोई सिंह, कोई वृक, कोई वराह, कोई कीट, कोई पतङ्ग, कोई दंश, कोई मशक वा मनुष्यादि होते हैं॥ः—हे सौम्य! जैसे गङ्गा आदि नदियां समुद्र से आयके अपने समुद्ररूप को जानती नहीं, तैसेही यह सर्व प्रजा (जीव) सत्रूप समुद्र से बहिर्मुख निकल जाग्रत् स्वप्नरूपी देश में आय अपने वास्तविक सत् चैतन्यस्वरूप के अज्ञान से वासना वश हुई नाना नामरूपों के अहंकाररूप रङ्गो करके रंगीगई हैं तिसही हेतु से यहां इस जाग्रत्रूप देश विषे कोई तो अपने को ईश्वर कोई देवता कोई यक्ष गन्धर्वादि कोई मनुष्य ब्राह्मणादि, अथवा कोई व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतङ्ग, दंश, मशक वा अन्य गो, अश्व, पिपीलिकादि जिन २ नामरूप उपाधि के संस्कार अपने बिषे दृढ़ता से लेरही है सोई २ सत् से आयके भी होती है अतएव इन सर्व जीवों को यहां यह ज्ञान नहीं होता जो हमारा वास्तव में सत् स्वरूप है, अरु हम सत् से आयके शरीरादि नामरूप उपाधि साथ मिलके यहां ब्राह्मण क्षत्रियादि वा व्याघ्र सिंहादि कहावते हैं॥ अतएव हे सौम्य! यह सर्वजीव परमार्थविवेक से रहित होने करके सघु नदियोंवत् जड़ हैं, न तो इनको अपने सत्रूप समुद्र की

ज्ञात है न अपने जीव भाव की खबर है कि हम कौन हैं अरु हम
को क्या कर्त्तव्य है अरु हम क्या करते हैं। हे सौम्य! यह सर्व अपने
सत्यस्वरूप से बहिर्मुख होने का प्रभाव है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अक्षरार्थ।

सो यह जिसको महासूक्ष्म कहा है सो यह सत् आत्मा है जिस
सर्वों का सो सर्व इसका अपना आप है। सोई सत्य है हे श्वेतकेतो
सोई महासूक्ष्म सत् आत्मा तू है। इस प्रकार जब पिता ने कहा तब
पुत्र ने कहा कि हे भगवन्! पुनः भी मुझको समझायके कहिये
पिता ने कहा तथास्तु ॥ ३ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य, श्वेतकेतो! (जैसे नदियां मेघों द्वारा समुद्र से निकल
के अरु पुनः समुद्र को प्राप्त होके भी यह नहीं जानतीं कि हम समुद्र
से आई हैं अरु समुद्र को प्राप्त हुई हैं) तैसेही यह सर्व प्रजा सुषुप्ति में
सत् को प्राप्त होके अरु नदियोंवत् सत् से निकलके भी यह नहीं
जानतीं कि हम सत्को प्राप्त हुए हैं अरु सत् से आये हैं, सो जिस
सत् को प्राप्त होके अरु निकलके अपने सत्यस्वरूप को नहीं जानतीं
सोई यह महासूक्ष्म सर्व का आत्मा है सोई सत् है, हे श्वेतकेतो!
सोई अणुवत् महासूक्ष्म सर्वका सत् आत्मा तूही है। इसप्रकार पिता
उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मोपदेश किया तब श्वेतकेतु
ने संशययुक्त होय कहा कि हे भगवन्! मुझको फेरही समझायके
कहिये, तब पिता ने कहा तथास्तु (कहता हौं) ॥ ३ ॥—प्रश्न—
हे भगवन्! आपने मुझको सत् चैतन्यस्वरूप कहा सो 'अखु' पद

हे भगवन् ! जब यह जीव सत् चैतन्यही है तब यह सुषुप्ति में अपने स्वरूप को प्राप्त होके भी यह नहीं जानता जो हम पूर्व जाग्रत् बिषे देहादि उपाधि साथ मिलके अल्प जीव, पापी, अपराधी, ब्राह्मण, क्षत्रिय कहावते थे अरु अब यहां सुषुप्ति बिषे उन सर्व उपाधियों के अभाव से अपने आप सत्चैतन्यस्वरूप को प्राप्त हुआ हों, सो क्यों नहीं जानता। अरु हे भगवन् ! जब यह जीव सत् से आवता है तब भी यह नहीं जानता जो हम पूर्व सुषुप्ति में सत् को प्राप्त हुए थे अब सत् से आयके इस जाग्रत् स्वप्नबिषे जीव पापी, अपराधी, अल्पज्ञ, ब्राह्मण, क्षत्रियादि कहावता हों, सो क्यों नहीं जानता। हे भगवन् ! जिस करके यह जीव सत्को प्राप्त होके भी अरु सतसे आयके भी अपने आप वास्तविक सत्स्वरूप को नहीं जानते इसही करके प्रतीत होता है जो यह जीव जड़ है क्योंकि दोनों ओर इसको ज्ञान का अभाव है ताते। अरु जो यह सत् चैतन्य ही है तो इनको सर्वदा सर्व अवस्था में ज्ञान होना चाहिये। अरु आपके कहने से यह जानागया कि जब यह जीव सुषुप्ति बिषे जाता है तब अपने जाग्रत् के वर्णाश्रमादिकों को अरु सुषुप्ति में सत की प्राप्ति को नहीं जानता मधुवत् अरु जब सतसे जाग्रत् बिषे आवता है तब भी यह नहीं जानता जो हम सत् से आये हैं। नदियोंवत्। ताते हे भगवन् ! उभय प्रकार इसको अपने सत चैतन्यस्वरूप के अज्ञान से यह जीव जड़ प्रतीत होता है। हे भगवन् ! आपने जो मधु अरु नदियों का दृष्टान्त कहा सो 'अस्तु' परन्तु वो तो जड़ है, जड़ों को ज्ञान होता नहीं, परन्तु इस जीव को तो आपने सत् चैतन्य कहा है, तब यह अपने आप सत स्वरूप को प्राप्त होके अरु वहां से निकलके क्यों नहीं जानता जो हम सत् को प्राप्त हुए थे अब हम वहां से निकलके यहां आये हैं। इसको भी आप कृपा करके कहिये ॥ उद्दालक उवाच॥ हे सौम्य ! पूर्व भी तुमने यही प्रश्न कियारहा अरु अब भी सोई प्रश्न किया अब इसका उत्तर सुनिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! यह सर्व जीव (जो सत् चैतन्य का आभास वा प्रतिबिम्ब है) सुषुप्ति मरण अरु प्रलय इन तीनों स्थानोंबिषे सत् चैतन्य को समान प्राप्त होते हैं, सो

अपनी मन आदि उपाधिके अरु कामकर्मों के संस्कारों को अपने बि॰ लेके होते हैं ताते सो उपाधिकाम कर्मों के संस्कार ही इन जीवों को सत्से निकाल उपाधि साथ मिलाय कामकर्मों बिषे जोड़ देते हैं। ताते सत् चैतन्य को प्राप्त हुए जीवोंको भी वहांसे निकलने का कारण जाग्रत् के कामकर्मों के संस्कारही हैं ताते कामकर्मों के संस्कार सहित सत् में जानेसे सत्को प्राप्त हुए भी इस जाग्रत् स्वप्नरूप जगत् में पुनः आवते हैं, ताते कामकर्मों के संस्कारसहित सत् को प्राप्त होना ही पुनः सत् से निकल संसारप्राप्ति का हेतु है ॥ अरु सत् को प्राप्त होके भी जो यह जीव नहीं जानते कि अब हम सत् को प्राप्त हुए हैं तिसका कारण यह है कि विशेष ज्ञानकी उपाधि जो बुद्धि है सो वहां निर्विशेष सत् चैतन्य बिषे है नहीं, अरु उस निर्विशेष सत् चैतन्य को ज्ञानस्वरूप होनेसे उस बिषे ज्ञेयत्व का अभाव है क्योंकि "यज्ज्ञेयं तज्जडम्" इत्यादि न्यायप्रमाण जो वस्तु ज्ञेय (जानने योग्य) होती है सो जड़ होती है अरु जो ज्ञानस्वरूप है सो चैतन्य है, ताते जड़धर्म ज्ञेयत्व अरु चेतनधर्म ज्ञानस्वरूपता यह दोनों परस्पर विरोधी होने से एक वस्तुको आश्रय करें नहीं, ताते हे सौम्य ! जिस ज्ञानस्वरूप चैतन्य को यह जीव सुषुप्ति में प्राप्त होते हैं तिसबिषे ज्ञेयपने का अरु ज्ञान क्रिया के कर्तापने का अरु ज्ञान के विषयपने का अभाव होने से अ॰ वहां यह जीव उससे अपृथक् होने से अपने आपको जानते नहीं जो हम यहां सत्यस्वरूप हुए हैं, परन्तु तिसे न जानने से जड़ नहीं किन्तु वास्तव में ज्ञानक्रिया से रहित ज्ञानस्वरूप होनेसे सत् चैतन्यही हैं। हे सौम्य ! यह सर्वजीव सत् को प्राप्त होके ज्ञेयत्व के अभाव से केवल ज्ञान स्वरूप होने करके वहां अपने आपको विशेष करके जानते नहीं जो हम यहां सत्यस्वरूप हुए हैं, अरु जिन अविद्यात्मक कामकर्मों के सूक्ष्म संस्कारों को अपने बिषे लेके यह जीव सुषुप्तिबिषे सत् को प्राप्त होते हैं सो संस्कार ही इनको सत्से निकाल अपने वश सत्से बहिर्मुख कर पुनः अविद्यात्मक कामकर्मों बिषेही जोड़ते हैं, ताते यह जीव वासनावश सत् से बहिर्मुख होनेके कारण सत्से निकलके भी अपने

को नहीं जानते जो हम सत् से आये हैं। अतएव हे सौम्य! उक्त हेतुओं करके यह जीव सत् को प्राप्तहोके अरु सत्से आयके अपने आप को नहीं जानते परन्तु सो न जानने से जड़ नहीं, क्योंकि आचार्य से महावाक्यार्थ का ज्ञान पाय यह अपने आप वास्तविक स्वरूप को जानते हैं ताते। अरु मधु अरु नदियों को जड़ तो हम भी जानते हैं परन्तु मधु अरु नदियों का जो दृष्टान्त कहा है सो न जानने के अंशमें ग्रहण है जड़ता के अंश में नहीं॥ हे सौम्य! जो जीव इस जाग्रत् बिषे अपने आप सत्स्वरूप को यथार्थ जाने विना मन आदि उपाधियों के कामकर्मोंके संस्कार सहित होनेसे सुषुप्ति बिषे जिस सत् को प्राप्त होके पुनः निकल आवते हैं, अरु जो जीव इस जाग्रत् बिषे आचार्य साथ मिलके श्रुति के महावाक्यार्थ का यथार्थज्ञान पाय मनआदि सर्व उपाधियों से पृथक् सर्वके धर्म कर्मादि अरु तिनके संस्कारों से असंग सर्व का प्रकाशक साक्षी सत् चैतन्य अपने आपको यथार्थ अनुभवकरके जाग्रत् बिषे ही निर्विकल्प समाधिरूप सुषुप्ति में एक बार अपने आप सत् चैतन्यस्वरूप को सम्यक् प्रकार प्राप्त होय पुनः इन जाग्रदादि तीनों अवस्था जो बुद्धि की हैं तिनके बर्त्तते सन्ते भी जिस अपने सत् चैतन्य स्वरूप से बहिर्मुख उत्थान नहीं पावते, सोई यह अणुवत् महासूक्ष्म सर्वात्मा है सोई सत् आत्मा हे श्वेतकेतो! तू है। इस प्रकार जब उद्दालक पिता ने अपने श्वेतकेतुनाम पुत्र को सम्यक्प्रकार सत् चैतन्य अपने आप आत्मस्वरूप का उपदेश किया, तब वो श्वेतकेतु पुनः संशय को लेके कहता हुआ-:॥ हे भगवन्! जो नदियों का जल समुद्रबिषे जाता है सोई पुनः नहीं आवता और नवा जल आवता है। अरु हे भगवन्! लोक बिषे देखने में आवता है जो जल बिषे बीची तरंग फेन बुद्बुदादि उठके पुनः विनाश को पावते हैं, अरु यह जीव तो सुषुप्ति मरण अरु प्रलय इन तीनों स्थानों बिषे अपने कारण सत्भाव को नित्य २ प्राप्त होके विनाश को पावते नहीं॥ :-अर्थात् हे भगवन्! जैसे जो जल नदियों का समुद्रबिषे जाता है सोई वहां से हटके आवता नहीं और नवा जल आवता है। अरु आपने पूर्व यह कहा है कि सुषुप्ति बिषे

अरु मरण बिषे अरु ब्रह्मा के प्रलय बिषे इन तीनों स्थानों बिषे सर्व प्रजा सत् को प्राप्त हो सतरूप होती है नदियोंवत्। अरु जो जीव सतबिषे जाते हैं सोई पुनः आवते हैं, यह आपका कथन है, अरु आप सत्यबादी हौ अतएव जो कहोगे सत्यही कहोगे॥ हे भगवन्! कोई एक आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि जो मृतक हुआ सोई मुक्त हुआ, जैसे जलबिषे लहर बुद्बुदादि जो उठते हैं सो उसही बिषे लय होते हैं वो पुनः उपजते नहीं और न वे लहर बुद्बुदादि उपजते हैं, तैसेही जो जीव मृतक होते हैं सो मुक्त होते हैं वो पुनः आवते नहीं और न वे जीव आवते हैं॥ अरु आपका कहना ऐसा भी है जो एक बार सत् को प्राप्तहोते हैं सो पुनः आवते नहीं॥ हे भगवन्! अन्य शास्त्रवादी ऐसा भी कहते हैं जो अमुक शुभकर्म करोगे तो स्वर्गको प्राप्त होवोगे अरु अमुक अशुभ कर्म करोगे तो नरक को प्राप्त होवोगे, हे प्रभो! अरु हमारी दृष्टि बिषे भी ऐसाही आवता है जो जैसा कोई कर्म करता है सो उसके अनुसार ही फल पावता है। अतएव हे भगवन्! हमारे इस संशय को भी आप निवारण करिये जो जीव सतबिषे जाते हैं सोई फेरके आवते हैं वा नवे आवते हैं॥ उत्तर॥ हे सौम्य! मैंने तुझको पूर्व यह कहा है कि उक्त तीनों स्थानों बिषे जो जीव सतरूप समुद्र को प्राप्त होते हैं सो वहां सतरूप ही होते हैं नदी समुद्रवत्, परन्तु यह नहीं कहा है कि जो जीव सत्बिषे जाते हैं सो फेरके नहीं आवते और नवे आवते हैं। अरु मैंने जो नदी समुद्र का दृष्टान्त कहा है सो सुषुप्ति बिषे सर्वजीवों को समान सत् की प्राप्ति होती है अरु सत् को प्राप्तहोके भी वहां अपने आपको जानते नहीं जो हम सत् को प्राप्त हुए हैं, इसको लखावने के लिये कहा है, अरु हे सौम्य! दृष्टान्त का एकदेश ग्रहण होता है सर्व देश नहीं, ताते नदी समुद्र का दृष्टान्त उक्त अंश बिषे जानो। अरु जैसे नदियां समुद्र बिषे गई फेरके आवती नहीं इस अंश बिषे उक्त दृष्टान्त सर्वजीवों के लिये नहीं॥ हे सौम्य! पूर्व हम तुझ को यह कह आये हैं कि जो जीव अविद्या कामकर्मों के संस्काररूप उपाधि को अपने साथ ले वासनावश हुए उक्त तीनों स्थानों में सत्को

प्राप्त होते हैं सो सत् बिषे गये हुए भी फेर आवते हैं उनको कामकर्मों के संस्कार अरु विषयादिकोंकी वासना (जिनको कि वो साथ लेजाते हैं) वो वहां ठहरने पाते नहीं। अरु जो जीव जाग्रत् बिषेही आचार्य से महावाक्यार्थ का सम्यक्ज्ञान पाय अविद्या कामकर्मों के संस्कार अरु विषयादिकों की वासना त्यागके निर्विकल्प समाधिरूप सज्ञात सुषुप्ति में सत्को प्राप्त होते हैं सो एकबार सत् बिषे गये हुए पुनरावृत्ति से रहित सत्रूपही होते हैं वो पुनः जीवभाव बिषे आवते नहीं॥ हे सौम्य! अब इसही प्रसंग को तेरी दृढ़ता के लिये अन्य दृष्टान्त करके पुनः कहता हौं उसको श्रवण करो। हे सौम्य! जैसे तेल बातीरूप उपाधियुक्त दीपक को सूर्य के स्पष्ट प्रकाश बिषे रखिये तो वो दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से पृथक् होके प्रकाशता नहीं किन्तु सूर्य के प्रकाश साथ अभेद एक होता है क्योंकि निरुपाधि सामान्य प्रकाश की एकता है ताते, परन्तु सूर्य के प्रकाश में जानेसे उस दीपक के प्रकाश का अभाव नहीं होता। अरु जब उस दीपक को सूर्य के प्रकाश से हटायके छायामें लेआइये तब वो दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भिन्न होके प्रकाशता है। हे सौम्य! तैसेही यहां मन आदि वा तिनके संस्काररूप उपाधिरूप दीवला है प्रारब्धरूप तेल है वासनारूपा बाती है अरु चिदाभास (जीव) रूप प्रकाश है, ऐसा दीपक जब सुषुप्ति बिषे जाता है तब सत्रूप प्रकाश साथ मिलके समान प्रकाशता है वहां सत्रूप प्रकाश से पृथक् रहता नहीं, परन्तु उसको वहां सत्रूप प्रकाश के साथ अभेद होने से भी उस सोपाधि जीवरूप प्रकाश का अभाव होता नहीं। अरु जब यह जीवरूप प्रकाश सोपाधि होने से पुनः जाग्रत्रूप छायापर आवता है तब सत् के प्रकाश से पृथक् हुएवत् होके प्रकाशता है, परन्तु उस अवस्था में भी विचारदृष्टि से देखिये तो जीवरूप प्रकाश सत्रूप प्रकाश से वास्तव करके पृथक् नहीं, उपाधि के अभाव से प्रकाश की एकता होने से॥ अतएव हे सौम्य! जो उक्त उपाधि साथ मिलके सुषुप्ति आदि स्थानों में सत् को प्राप्त होते हैं सो सत्बिषे गये हुए भी फेर आवते हैं, 'सोपाधि दीपक के प्रकाशवत्, हे सौम्य! इस

जीवरूप प्रकाश का नाश होता नहीं क्योंकि वास्तव में अविनाशी सत् चैतन्य का प्रकाश है ताते। हे सौम्य! अब जिस प्रकार सर्वथा गयेहुए जीव फेरके नहीं आवते तिनको भी दीपक के दृष्टान्त द्वारा श्रवण करो। हे सौम्य! जैसे दीपकबिषे यावत् तेल बाती होता है तावत् अग्नि उस साथ मिलके विशेष प्रकाशता है, अरु जब वो तेल बाती समाप्त होते हैं तब वो विशेष प्रकाश निर्वाण हो अग्नि के सामान्य प्रकाश साथ एक होता है। हे सौम्य! तैसेही लिङ्गशरीररूप दीवला है तिसबिषे मनरूप बाती है अरु प्रारब्धरूप तेल है, तिस तेल की पूर्त्ति क्रियमाण कर्म हैं, क्योंकि यावत् क्रियमाण कर्म होता है तावत् प्रारब्धरूप तेलकी पूर्त्ति होती ही रहती है। अरु यावत् उस तेल की पूर्त्ति होती रहती है तावत् न तो वो बाती समाप्त होती है न उस दीपक का विशेष प्रकाश निर्वाण होता है॥ हे सौम्य! यह जो ज्ञानवान् आत्मनिष्ठ पुरुष हैं सो प्रथम मुमुक्षु अवस्थाबिषे ही क्रियमाणादि सर्व क्रिया को समाप्त कर केवल आत्मकामा होय आचार्य के समीप जाता है; अतएव ज्ञानीरूप दीपक बिषे प्रारब्धरूप तेल की पूर्त्ति करनेवाला क्रियमाण कर्म रहता नहीं, ताते ज्ञानी के शरीर का जितना प्रारब्ध है तितना ही है आगे को तिसकी वृद्धि नहीं, अरु सो प्रारब्ध भी अपना भोग देके क्षीण होता जाता है 'दीपक के तेलवत्'। अतएव यावत् ज्ञानवान् के शरीर का प्रारब्ध शेष है तावत् ज्ञानीरूप दीपक लिङ्गरूपा बातीपर चढ़के विशेष प्रकाशता है, अरु ज्ञानी के शरीर का प्रारब्ध अपना भोग देके 'दीपक के तेलवत् नष्ट होता है तब निदिध्यासनरूप पवनकी सहायता से लिङ्गरूप बातीको भस्मकर ज्ञानीरूप विशेष प्रकाश सत्रूप प्रकाश साथ अभेद एकहुआ फेरके आवता नहीं, क्योंकि प्रारब्धरूप तेल अरु लिङ्गरूपा बाती 'जो उस निर्वाण हुए दीपक को पुनः जगावने की उपाधि है, तिनको प्रथमही भस्म कर गया है। ताते हे सौम्य! इसप्रकार ज्ञानीरूप दीपक सत्रूप प्रकाश में निर्वाण हुआ सत् चैतन्य विज्ञानघन स्वयंज्योति ही होता है॥ "ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति"॥ सो फेरके आवता नहीं

अरु अज्ञानी सत्बिषे गयेहुए फेरके आवते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश में गया हुआ सोपाधि दीपक पुनः छायापर आवता है तैसे, क्योंकि उसको पुनः आवने की उपाधि अविद्या काम कर्मों के संस्कार अरु विषयादिकों की वासना विद्यमान है ताते, हे सौम्य! जो जीव सुषुप्ति बिषे वा मरण समय वा प्रलय बिषे वासनादिरूपा उपाधि को अपने साथ लेके सत्बिषे जाते हैं सोई फेरके आवते हैं, नवे आवते नहीं। हे सौम्य! इस जीव का नाश होता नहीं क्योंकि वास्तव करके यह जीव क्रिया से रहित अक्रिय अविनाशी एकरस ज्ञानस्वरूप है ताते। अब जिसका नाश होता है तिसको भी एक दृष्टान्त द्वारा कहता हौं सावधान होके श्रवण करो-: ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके एकादशः खण्डः प्रारभ्यते।

अस्य सौम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य षष्ठप्रपाठक में ग्यारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! इस प्रसरित शाखावाले बड़े वृक्ष की मूल में जो कोई कुठार आदिकों का प्रहार करे तो एकप्रहार से शुष्क होता नहीं, वृक्षविशिष्ट जीव उस घाव को रसस्रव के भरलेता है, तैसेही उस वृक्ष के मध्य में वा अग्र में एकप्रहार करने से वो सूखता नहीं किन्तु वृक्षविशिष्ट जीव उस घाव को भरलेता है, ताते यह वृक्ष जीवरूप आत्माकरके अनुव्याप्त है अतएव भूमि से जलपान करके आनन्दित रहता है ॥१॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! (जैसे यह जीव विनाश से रहित अविनाशी है तिस को भी) दृष्टान्तपूर्वक श्रवणकरो । हे सौम्य ! यह जो अपने आश्रम के अग्रभाग में अनेक शाखाओं के विस्तारयुक्त बड़ा वृक्ष है तिसे प्रथम देखो, हे सौम्य ! जो कदापि कोई पुरुष इस वृक्ष की मूल विषे वा मध्य बिषे वा अग्रबिषे जहां कहीं कुठार आदि शस्त्रों का प्रहार करे तो उस घावको यह वृक्ष विशिष्ट जीव प्राणद्वारा रस पहुँचाय के लेता है, ताते सो यह वृक्ष जीवरूप आत्मा (सत् चैतन्यके आभास करके अनुव्याप्त है, अरु भूमि से मूल द्वारा जलपान कर तिस को प्राणद्वारा स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि पर्यन्त को पहुंचाय हर्ष को पाय प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

यस्य यदेकाꣳ शाखा जीवो जहत्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहत्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहत्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वं शुष्यत्येवमेव खलु सौम्य विद्धीति होवाच ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! इस वृक्ष की यदि एक शाखा को अथवा द्वितीय शाखा को अथवा तृतीयशाखा को अथवा सर्ववृक्ष को यह जीव त्याग देवे तो सर्वशुष्क होजावे, ऐसेही हे सौम्य ! जानो ऐसे कहताहुआ ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! तिस वृक्षकी यदि एकशाखा जो रोग करके ग्रस्त वा दुष्ट हुई को त्यागदेवे (अर्थात् उस शाखा बिषे प्रसरित अपनी आत्मसत्ता वा प्राण को खींच लेवे) तब वो शाखा सूख जाती है । अर्थात् वाक्, मन, प्राणादिक करण ग्राम करके अनुप्रविष्ट (प्रवेश पाया) ही जीव है ॥:—अर्थात् सप्तदश तत्त्वात्मक साभास लिङ्ग का नाम जीव है अरु प्राणादियुक्त जीवकरके भोजन पान किया रसभाव को प्राप्त हुआ

जीववत् शरीर वा वृक्ष वृद्धि को पावते हैं, ताते शरीर बिषे वा वृक्ष बिषे खान पान किया अन्न जल रसभाव को प्राप्तहोय शरीर वृक्षादिकोंकी वृद्धि का हेतु होताहै। ताते जीवके सद्भाव अनुमान प्रमाण बिषे रसरूप से शरीर वृक्षादिकों की वृद्धि ही लिङ्ग है। हे सौम्य! भोजन पान करनेसे ही शरीर बिषे जीव रहताहै, अरु ते भोजन पान जीवके कर्मानुसार हैं। अर्थात् शरीर के वा वृक्ष के वैकल्य (विनाश) का निमित्त कर्म आय उपस्थित होताहै तब उस शाखाका रस जीव खैंचलेता है अथवा उसको त्याग देता है (अर्थात् उस शाखा वा अङ्ग से अपने प्राणरूप अंशको खींचलेता है) तब वो शाखा सूख जाती है। इसही प्रकार जो यह जीव दूसरी शाखा को त्याग देवे तो सो सूख जावे अथवा तीसरी को त्याग देवे तो सो सूखजावे अथवा जो यह जीव सर्व वृक्ष को त्यागदेवे तो सर्व वृक्ष सूखजावे वा सूखजाता है। अतएव हे सौम्य! वृक्षका रस बहना अरु सूखना इन चिह्नों (लिंगों) से जीवत्वपना (जीव सहित-पना) जाना जाता है, उक्त दृष्टान्त करके अरु अन्य श्रुति भी प्रमाण है। तथाच "चेतनावन्तःस्थावरा, इति श्रुत्यन्तरे" अरु बौद्ध कणाद के मत में स्थावरों को अचेतन मानके उनका असारपना देखाया है। ताते उक्त दृष्टान्त, श्रुति के प्रमाण से श्रुतिबाह्य होने से बौद्ध कणाद का मतही असार जानना॥ :—अर्थात् हे सौम्य! इस वृक्षविशिष्ट वा शरीरविशिष्ट चैतन्य इस वृक्षके आदि, मध्य, अन्त के जिस अङ्ग को त्यागदेता है तब सो शाखादि अङ्ग सूखजाता है, जो कदापि सर्व वृक्ष को त्यागदेता है तो सर्व सूख जाता है, अरु यह जीव जिस अङ्ग का भोग शेष देखताहै तब उसका त्यागन करके तिस बिषे प्राणद्वारा रस पहुँचाय उस अङ्गको जिवावता है तब वो जीवता है। अर्थात् जिस अङ्ग का भोग होचुकता है तिसही का वो जीव त्याग करता है, अरु तिस ही का मरण होता है। अरु जिस अङ्ग का भोग शेष देखता है तिस का त्याग नहीं करता तब उस अङ्गका जीवन होता है। हे सौम्य! जिससमय इस वृक्षविशिष्ट जीव को पुराने पत्र त्यागने का समय आ-वताहै तब त्यागदेता है तब उन पुराने पत्रों का मरण होताहै, अरु जब

नयेपत्र आवने का समय आवता है तब नयेपत्र और निकल आवते तब उन पत्रों का जन्म होता है। हे सौम्य ! इस वृक्षके ग्रहणत्याग द्वारा यह जानागया जो इस ब्रह्माण्डरूप वृक्ष का त्याग ग्रहण इसजीव के आश्रय है। हे सौम्य ! इस वृक्ष का कोई नायक (स्वामी) है जिसकी प्रेरणा से इतना ठाट चलता है अरु जिसके त्यागने से सर्वठाट अभाव हो जाताहै, क्योंकि इन वृक्षों का त्याग ग्रहण भी जीवों को लखावता है ॥ हे सौम्य ! इस वृक्ष के दृष्टान्तप्रमाण ही शरीररूप वृक्ष बिषे भी जब खड्गादिकों के प्रहार से घाव होताहै यह पुरुष भी घृत शर्करादि पदार्थ खाके उस घावको भरलेता है, जिस इन्द्रियादि अङ्गों का प्रारब्ध होचुकताहै तब यह जीव उस का रस प्राणद्वारा खींचलेता है तब उसका मरण होता है, अरु जि अङ्ग का प्रारब्ध शेष देखता है तब प्राणद्वारा उस बिषे रस पहुँचावता तब वो जीवता है। अरु जब सर्व अङ्गों का प्रारब्ध भोग होचुकता है यह जीव देहको भी त्याग देताहै तब शरीर का मरण होताहै। हे सौम्य यह जीव जिससमय लोक, परलोक, देवता, पितृ, मित्र, शत्रु, पाप, पुण्य अरु अपने अङ्गादिपदार्थों में से किसी एक का वा सर्वका त्याग करता है तब तिसही समय उनका मरण होता है, अरु आप यह जीव नाश से रहित अविनाशी है। अरु जिस वस्तु का यह जीव ग्रहण करताहै तिसका जीवन होता है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म, स्वर्ग, नरक पाप, पुण्य आदि सर्व इस जीव के रचेहुए हैं। अरु पुनः यह जीव सर्व को जानके जिन अङ्गों का जैसा धर्म होता है तैसाही उनके प्रारब्धके अनुसार दुःख सुखादि भोग भोगावते सन्ते आप उन सर्वों से जुदा हो सर्वका तमाशा देखता है। हे सौम्य ! जब इन्द्रिय शरीरादिकों का प्रारब्ध भोग होचुकता है तब यह अपनी प्रारब्ध भोग चलेजाते हैं, अरु यह जीव आप इन सर्वसे असंगहुआ इनके आने जाने का तमाशा देखता है, आप न आवे है न जावे है न करे है भोगे है क्योंकि वास्तव करके यह जीव सत् चैतन्य विज्ञानघन परमानन्दस्वरूप है ताते ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! कोई एक कणाद,

मतवादी आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि इन वृक्ष पाषाणादि स्थावरों बिषे जीव नहीं, अरु आप इस जीव को सर्व बिषे एकरस समान कहते हो, अब हम इसको कैसा जानें? ताते इसको आप मेरे अर्थ पुनः कहिये॥ उत्तर॥ हे सौम्य! इन वृक्ष पाषाण रत्नादिकों से लेके सर्व बिषे जीव है, जो कदापि इन बिषे जीव न होवे तो इन वृक्षों की टांसों बिषे रस कौन पहुंचावे, जो मूल बिषे दियाहुआ जल ऊपर के फूल फल पर्यन्त सर्व बिषे रस पहुँचता है सो जीव करके ही पहुँचता है। अरु शरद्काल के सूखे वृक्षको वसन्तऋतु में अरु वसन्तकाल के सूखे वृक्ष को शरद् ऋतु में हरे कौन करताहै। अरु जब इन वृक्षों को लगावते हैं तब सूक्ष्म बीज होताहै तिस बीजसेही अंकुर, पत्र, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, टांस, फूल, फल आदि निकल के अति विस्तार को पावते हैं सो किसकी सत्ता से होता है अरु यह वृक्ष आधे सूखे आधे हरे होते हैं सो किसकी सत्ता से होते हैं चैतन्य जीव की सत्ता से होते हैं॥ हे सौम्य! यह पर्वत भी छोटे से बड़े होते हैं अरु पृथिवी के नीचे के जल को आकर्षण करके अपने ऊपरके वृक्षों के फूल फल पर्यन्त उस रसको पहुँचावते हैं सो किसी चेतन की सत्ता पायकेही पहुँचावते हैं। हे सौम्य! इन जड़ रत्नादिकों बिषे जो बहुमौल्यपने की शक्ति है सो किसकी है उस शक्ति को उन जड़ों बिषे प्रकट कौन करताहै, जो इन जड़ों बिषे विचित्र २ शक्ति को जनावता है सोई सर्व जीवों का जीव है। हे सौम्य! तैसेही इन शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकों का भी कोई द्रष्टा प्रेरक नायक है जो इन सर्वको अपने २ धर्म व्यापारों बिषे जोड़ता है अरु अपनी आज्ञाबिषे सर्वको चलावताहै सोई सर्वका सत्य आत्मा जीव है॥ हे सौम्य! जो कदापि इन वृक्ष पाषाणादिकों बिषे चैतन्यजीव कला न होती तो यह जड़ व्यापार कैसे सिद्ध होता किन्तु कदापि न होता। एतदर्थ हे सौम्य! जो आचार्य तुमको ऐसा कहते हैं कि इन वृक्षादि जड़ों बिषे जीव नहीं उनको तुम असत्यवादी जानना अरु उनका संग त्याग करना-:॥ २॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवन् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! निश्चय स्पष्ट जीव करके त्याग किया यह शरीर मरता है जीव मरता नहीं। सो यह जिसको महासूक्ष्म कहाहै सो यह सर्व का आत्माहै, यह सर्व अपना आप है सोई सत् आत्माहै हे श्वेतकेतो! सोई सत् आत्मा तू है, इस प्रकार पिता ने कहा, तब श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! पुनः भी मुझ को समझायके कहिये, पिता ने कहा तथास्तु ॥ ३ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! ऐसेही निश्चय करके जानो इतना कह पिता पुनः कहता हुआ कि हे सौम्य! निश्चय करके जीव करके विमुक्त (त्याग) हुआ यह शरीर मरता है जीव मरता नहीं ॥:— हे सौम्य! पूर्व तुमने यह शङ्का कियारहा कि जो जीव सत् बिषे जाते हैं सो तो फेरके न आवते होंगे और नये जीव आवते होंगे। सो अब इसका भी उत्तर श्रवण करो—: ॥ हे सौम्य! इस जाग्रत् बिषे पुरुष जिस कार्यको करता है तिसको करते २ थकके सोजाताहै तब सुषुप्ति में सत्को प्राप्त होता है, अरु वो पुरुष जब पुनः जाग्रत् बिषे आवता है तब उस कार्य को (जिसको कि पूर्व जाग्रत् बिषे करतारहा) देखके कहताहै कि मैं इस कार्य को समाप्त किये विनाही सोगया, इस प्रकार अपने पूर्व के जाग्रत् के असमाप्त किये कार्य को स्मरणकर पुनः उस कार्य को करता है, तातें हे सौम्य! जो जीव सुषुप्ति बिषे सत्को प्राप्त होते हैं सोई पुनः वहां से आवते हैं नये नहीं आवते, जो नये आवते होवें तो उनको दूसरे के जाग्रत् के व्यापार की स्मृति न होनी चाहिये, सो तो होती है तातें जो जीव सत् बिषे जाते हैं सोई पुनः आवते हैं ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन्! जो जीव सुषुप्ति बिषे सत् को प्राप्त होते हैं सोई पुनः आवते हैं यह सत्य है

क्योंकि यह व्यापार का अनुभव सर्वको प्रकटहै। परन्तु हे पिताजी! जो जीव मरणकाल में सत्‌बिषे जाते हैं सो तो फेरके न आवते होगे और नयेही आवते होवेंगे ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य! जो कि नये जीव उत्पन्न होतेहोवें तो उनको जन्ममात्र होने से ही उसही काल स्तनपान मलत्याग रुदनादि व्यापार में प्रवृत्ति न होनी चाहिये क्योंकि उसको पूर्व का अभ्यास अनुभव है नहीं अरु यहां किसी ने सिखाया नहीं। अरु यहां जन्म पावतेही जीवों की स्तनपान रुदनादि व्यापार में स्मृतिपूर्वक प्रवृत्ति देखते हैं, अरु सो प्रवृत्तिही उनके पूर्वके स्तनपानादिकों के अभ्यास को अरु दुःखादिकों के अनुभव को प्रकट निश्चय करावे है, एतदर्थ जो जीव अपने मरणकाल बिषे सत् को प्राप्त होते हैं सोई फेरके आवते हैं, नये आवते नहीं। अरु जो कदापि मरण कालबिषे सत् को प्राप्त हुए फेरके न आवते होवें वा सत्‌से उत्थान न होते होवें, तो वेद करके प्रतिपाद्य जे अग्निहोत्रादि कर्म तिनको अर्थवाद की प्राप्ति होवेगी, एतदर्थ भी जो कर्मी उपासक आदि जीव अपने मरण कालबिषे सत्‌को प्राप्तहोते हैं सोई अपने कर्म उपासना के अनुसार पुनः आवते हैं "। यथाकर्म यथाश्रुतम् ।" नये आवते नहीं। अतएव हे सौम्य! जीव मरता नहीं (अर्थात् सत् को प्राप्त होके जीव का नाश होता नहीं ॥:— प्रश्न। हे भगवन्! आपने आज्ञा किया कि जो जीव सुषुप्ति में अरु मरणकाल में सत्‌बिषे जाते हैं सोई फेरके आवते हैं सो अस्तु, परन्तु हे भगवन्! ब्रह्माकी प्रलयबिषे सर्वजीव सत्‌बिषे जायके अभाव होतेहोंगे, तिसके पश्चात् पुनःसृष्टि कालबिषे तो सर्वजीव नये ही आवते होंगे ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य! ब्रह्मा की प्रलय के उपरान्त जो सर्व जीव नयेही आवते होवें तो इन आकाशादि पञ्चभूतों का अरु सूर्य चन्द्रादिकों का जो पृथक् २ व्यापार प्रवृत्तहोरहा है सो न होना चाहिये क्योंकि नये जीवों को अभावहुए प्राचीनजीवों के कार्य में विना पूर्वाभ्यास के प्रवृत्तहोना बने नहीं, अरु जो ऐसा कहो कि उस सत् चैतन्य की आज्ञासे वो अपने २ कार्य में प्रवृत्तहोते हैं, सो अस्तु परन्तु आज्ञा के अनुसार कार्य करने का अभ्यास न होय तो

सो कार्य होवे नहीं। ताते जो जीव ब्रह्म की प्रलय बिषे सत्को प्राप्त होते हैं सोई पुनः आवते हैं, नये आवते नहीं॥ पुत्र उवाच॥ हे पिताजी! आपके उपदेशानुसार मैंने अनुभव कर देखा कि जो जीव अविद्या काम कर्मों के संस्कार अभ्यास अपने साथ ले सुषुप्ति मरण अरु प्रलय इन तीनों स्थानों बिषे सत्को प्राप्त होते हैं सोई फेर आवते हैं। अरु जे जीव जाग्रत् बिषे वैराग्यादि साधन सम्पन्न होय आचार्य समीप जाय उनसे महावाक्यार्थका सम्यक् ज्ञान पाय तिस बिषे निदिध्यासन द्वारा दृढ़ स्थिति पाय अविद्या काम कर्मों को सहित उनके संस्कार अभ्यास के सम्यक् त्यागपूर्वक जाग्रत् बिषे ही साक्षात् सत्को प्राप्त होते हैं सो सत्बिषे गयेहुए पुनः आवते नहीं, अरु उनका विनाशभी होता नहीं क्योंकि जिसका परिणाम अविनाशी सत्रूप है तिसका विनाश कैसे कहिये॥ पिता उवाच॥ हे सौम्य! जिस सत्चैतन्य बिषे उक्त तीनों स्थानों में यह सर्वजीव समान प्राप्तहोते हैं तहां ज्ञानी उस बिषे प्राप्तहुए फेर के आवते नहीं किन्तु सोई रूप होते हैं। अरु अज्ञानी उसको प्राप्त होके भी पुनः जैसे के तैसे निकल आवते हैं, सो सत् आत्मा अणुवत् महासूक्ष्म सर्वात्मा है सोई सत् आत्मा हे श्वेतकेतो! "तत्त्वमसि" तूही है॥ श्वेतकेतुरुवाच॥ हे प्रभो! सोई महासूक्ष्म सर्वात्मा सत् चैतन्य मैंहींहौं अस्तु, हे भगवन्! पुनः मुझको एक संशय हुआ है जो सुषुप्ति आदि उक्त स्थानों बिषे आपने सत् चैतन्य की प्राप्ति सर्व जीवों को समान कही, अरु उस सत्को मधु अरु नदियों के दृष्टान्त द्वारा विशेषज्ञानसे रहित ज्ञानस्वरूप कहा, अरु तिस विषयक जो विनाशत्व का संशय रहा सो आपने उक्त वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा निवारण किया, अरु उस सत् चैतन्य सर्वात्मा को ज्ञानस्वरूप अविनाशी सिद्धकिया सो सर्व यथार्थ हुआ। परन्तु हे भगवन्! आपने ऐसे निर्विशेष परमसूक्ष्म सत् चैतन्य से इस नाम रूपात्मक समस्त जगत् का होना कहा है सो संभवे नहीं, क्योंकि साकार से साकार अरु स्थूल से स्थूल होता है 'जैसे स्थूल साकार कारण मृत्तिका से स्थूल साकार घटादि कार्य होते हैं, परन्तु आकार विकार से रहित महासूक्ष्म सत्

वाय कारण से इस साकार विकार सहित इस महास्थूल जगत् का होना संभवे नहीं अतएव हे भगवन् ! इसको भी आप मुझे फिर समुझायके कहिये । इस प्रकार जब श्वेतकेतु पुत्र ने कहा तब उद्दालक पिता कहता हुआ कि हे पुत्र ! अब तुम को कह सुनावें या प्रत्यक्ष देखादेवें जो जिस प्रकार महासूक्ष्म से महास्थूल होता है । तब श्वेतकेतुने कहा कि जो आप प्रत्यक्ष देखावते हौ तो यह सर्व से श्रेष्ठ है । उद्दालक ने कहा अब उसको भी एक वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा कहताहौं सावधान होके श्रवणकरो ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके द्वादशः खण्डः प्रारभ्यते ।

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्रपश्यसीत्यण्व्य इवेमाधाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति किञ्चन न भगव इति ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य षष्ठप्रपाठक में बारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! इस वटके वृक्ष का एक फल लेआवो, इस प्रकार जब पिता ने कहा तब पुत्र फल लेआयके कहता हुआ, हे भगवन् ! यह फल लेआया, ऐसे पुत्र ने कहा तब पिता ने कहा इस फलको तोड़ो, तब वो तोड़के कहता हुआ हे भगवन् ! तोड़दिया, पुनः पिताने कहा इस बिषे क्या देखता है, पुत्रने कहा हे भगवन् ! इस बिषे महासूक्ष्म बीजों को देखता हौं, पिताने कहा इसमें से एक बीज को तोड़ो, तब उन उसको तोड़ के कहता हुआ हे भगवन् ! तोड़ा, पुनः पिता ने प्रश्न किया अब इस बिषे क्या देखता है, पुत्रने कहा हे भगवन् ! इस बिषे मैं कुछ भी देखता नहीं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! यदि तू उस जगत् के मूल महासूक्ष्म

सत् चैतन्य को प्रत्यक्ष देखने की इच्छा करता है तो इस अपने आश्रम के आगे जो बड़ा वटका वृक्ष है उसका एक फल तोड़ लेआव, इस प्रकार जब पिता ने आज्ञा किया तब वो श्वेतकेतु उस वटवृक्ष के फल को लेआय के कहता हुआ कि हे भगवन् ! यह फल मैं तोड़ लेआया तब पुनः पिता ने कहा हे पुत्र ! अब इस फलको तोड़डालो, तब पुत्र ने उस फल को तोड़ के कहा कि हे पिताजी ! मैंने इस फल को तोड़ दिया, इस प्रकार जब पुत्र ने कहा तब पुनः पिता कहता हुआ कि हे पुत्र ! अब इस टूटेहुए फल बिषे तू क्या देखता है सो कह, इस प्रकार जब पिता ने प्रश्न किया तब पुत्र कहता हुआ हे भगवन् ! मैं इस बिषे महासूक्ष्म छोटे छोटे बहुत से बीजों को देखताहौं। इसप्रकार जब पुत्रने उन सूक्ष्म बीजों को देखके कहा तब पिता ने पुनः आज्ञा किया कि हे सौम्य ! इन बहुत से बीजों में से एक बीज को लेके तोड़, तब पुत्र उस टूटे फल में से एक बीजले उसको तोड़ पुनः कहताहुआ कि हे भगवन् ! इस एक बीज को भी तोड़दिया, पुनः पिता ने प्रश्न किया कि हे पुत्र ! यदि तूने बीज को तोड़दिया तो इस टूटे हुए बीज में अब तू क्या देखता है । इस प्रकार जब पिता ने प्रश्न किया तब पुनः पुत्र कहताहुआ कि हे भगवन् ! अब इस बीजबिषे तो मैं कुछ भी देखता नहीं ॥ :— अर्थात् उस वट वृक्ष के महासूक्ष्म बीज को तोड़ के श्वेतकेतु ने कहा कि हे पिताजी ! मैंने आपकी आज्ञानुसार इस वट वृक्ष के महासूक्ष्म बीज को तोड़ दिया, तब पुनः पिता ने प्रश्नकिया कि हे पुत्र ! अब इस टूटेहुए बीज बिषे तू क्या देखताहै ? पुत्र ने कहा हे भगवन् ! सिवाय दो दालों के और कुछ भी देखता नहीं ॥ १ ॥

तꣳ होवाचयं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्यवै सौम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

सो पिता कहता हुआ हे सौम्य ! इस टूटेहुए बीज बिषे इस वृक्ष की कारणभूत महासूक्ष्म बीज सत्ता को तू नहीं देखता तथापि

हे सौम्य ! इस तिस महासूक्ष्म सत्ताका ही यह महान् बड़ा वटका वृक्ष स्थित है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

सो उद्दालक पिता अपने पुत्र श्वेतकेतु प्रति कहता हुआ कि इस वट वृक्ष के तोड़े हुए बीज बिषे जो वट वृक्ष होनेका कारण बीज है कि हे सौम्य ! जिस महासूक्ष्म कारण बीज को तू नहीं देखता, तथापि उस अदृश्यमान महासूक्ष्म बीज सत्ता का यह कार्यभूत महा न्यग्रोध (बड़ा वट का वृक्ष) स्थित है सो कैसा है अनेक स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, टांस, पत्र, फूल, फल करके सम्पन्न महास्थूल महा-विस्तारवान् है ॥:—हे सौम्य ! वट वृक्ष के महासूक्ष्म बीज को तोड़के जिन दो दालों को तू देखता है तिनहीं दो दालों के मध्य महासूक्ष्म अरूप सत्ता अंश है सो तुझको दृष्ट आवता नहीं । तथापि हे सौम्य ! तिस महासूक्ष्म अरूप अंशका ही यह महान् वृक्ष अपने अनेक स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, टांस, पत्र, फूल, फल आदि अङ्ग अवयवों सहित फैलाहुआ स्थित है । हे सौम्य ! वो अंश जो तुझको भासता नहीं सो नामरूप से रहित महासूक्ष्म है तिस अंश से हुआ यह वट वृक्ष सो नामरूप सहित महास्थूल है ॥:—हे सौम्य ! यदि तू ऐसा कहे कि नाम रूप सहित जो दृश्यमान बीज है उसका यह वृक्ष होता है, सो संभवे नहीं क्योंकि जब बीज को बोवते हैं तब उस बीज की सर्व अवयवों सहित विद्यमानता मेंहीं बीजान्तर से अंकुर पत्रादि निकलते हैं अरु जब उनकी वृद्धि होती है तब बीज के दो कपाल पृथक् २ हो पृथिवी में गिर गलजाते हैं, ताते दृश्यमान बीज का परिणाम वृक्ष नहीं, अरु बीज के गलगये पश्चात् उस नूतन वृक्षसे और नवीन पत्र टांस निकल के बड़े विस्तार को पाय स्थित रहताहै, ताते हे सौम्य ! जो दृश्यमान बीज ही वृक्ष का कारण होय तो बीज के गलके अभावहुए पश्चात् उस नूतनवृक्ष बिषे और नवीन पत्र टांसादिकों का विस्तार न होना चाहिये, परन्तु सो होताहै, अतएव हे सौम्य ! निश्चय करके बीज से पृथक् नामरूप से रहित बीजान्तर कोई महासूक्ष्म अविनाशी सत्ताहै ।

हे सौम्य ! सोई सत्ता यह महान् विस्तारवान् नामरूप सहित अनेक भेदयुक्त महास्थूल वृक्षाकार से सुशोभित है । अरु सोई जीवसत्ता है। हे प्रियदर्शन ! देखो उस दृश्यमान बीजान्तर जो बीज (कारण) रूप महासूक्ष्म सत्ता है सो इस वृक्ष का कारण महासूक्ष्म है, तिसका कार्य यह वृक्ष महास्थूल है, वो सत्ता नामरूप से रहित चक्षु आदि करणों का अविषय है, यह वृक्ष नामरूप सहित चक्षुरादि करणों का विषय है, वो सत्ता सर्व भेदभाव से रहित एकरस है, यह वृक्ष स्कन्ध शाखा उपशाखा टांस पत्र आदि अनेक भेदभाव युक्त नाना है, वो सत्ता नामरूप से रहित महासूक्ष्म निरवयव निराकार होनेसे अविनाशी है, यह वृक्ष नामरूप सहित महास्थूल साकार होने से नाशवान् है । हे सौम्य ! इस प्रकार उस कारणभूत महासूक्ष्म सत्ता से अरु इस कार्यभूत महास्थूल वृक्ष से बड़ाभेद है । अरु जो वास्तव परमार्थ दृष्टिसे देखिये तो वो अस्ति महासूक्ष्म सत्ताही इस महान् वृक्षाकार से सुशोभित है तिस बिषे इस वृक्षका नामरूप केवल वाचारम्भणमात्रही है वास्तव से कुछ नहीं। हे सौम्य ! इस दृष्टान्त प्रमाण ही दार्ष्टान्तभूत इस विराट्रूप वृक्ष को भी श्रवण करो। हे सौम्य ! असंभूतिनामा जे प्रकृति सो इस विराट्रूप वृक्ष का कारण बीज है तिस बीजान्तर एक "। अणोरणीयान् ।" इत्यादि श्रुति प्रमाण से नानारूप से रहित चक्षुरादि करणों का अविषय अति सूक्ष्म सत् चैतन्य सत्ता है कि जिस सत्ता के आश्रय प्रकृति सर्व कार्यों को करे है । सो सत्ता प्रथम प्रकृतिद्वारा हिरण्यगर्भ नामवाले अंकुररूप से प्रकट हुई अरु सो अंकुर क्रियाशक्ति अरु ज्ञानशक्ति यह दो शक्तिरूपा प्रथम के दो दल (पत्ते) वाला है, तिस अंकुर से पञ्च महाभूतरूप स्कन्धहुए, पश्चात् पञ्चभूतों का कार्य चतुर्दश भुवनरूप शाखा हुई, अरु तिस वृक्ष के वेदमन्त्ररूप पत्ते हुए, अरु यज्ञ अग्नि-होत्रादि कर्मरूप पुष्प हुए अरु चतुर्दश भुवनाश्रित जे जीवों के शरीर सो सर्व उस विराट्रूप वृक्ष के फलहुए तिन फलों बिषे हृदयरूप वा अन्तःकरणरूप महासूक्ष्म बीजहुआ तिस बीज बिषे वोही नामरूप से रहित महासूक्ष्म सत् चैतन्य सत्ता है कि जो प्रकृति को निमित्त करके

इस विराट्रूप वृक्षाकार से सुशोभित है। हे सौम्य ! देखो उस महा सूक्ष्म अरूप निरवयव निराकार सत् चैतन्य सत्ता से हुआ विराट्रूप वृक्ष सो अतिस्थूल सावयव साकार नामरूपवान् असत् जड़ है, वो सत्ता अविनाशी नित्य है, यह विराट्रूप वृक्ष नाशवान् अनित्य है वो सत्ता देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित है, अरु यह विराट्रूप वृक्ष देश काल वस्तु के परिच्छेद सहित है, वो सत्ता उत्पत्ति विनाश रहित एक रस है, यह विराट्रूप वृक्ष उत्पत्ति विनाश सहित नानारूप है। हे सौम्य ! व्यवहार दृष्टिसे देखिये तो उस कारण सत्ता से अरु इस कार्य विराट्रूप वृक्ष से महान् अन्तर है, अरु परमार्थदृष्टि से देखिये तो वो ही एक सत् सत्ता इस विराट् के नामरूप आकार से सुशोभित है, अरु तिस सत्ता बिषे यह नामरूप क्रियात्मक विराट् केवल वाचारम्भण (कहने) मात्रही है। हे सौम्य ! समष्टि विराट्रूप से अरु तदनन्तर व्यष्टि विराट्रूप से अरु तिन दोनों चिदाभास जीवरूप से वो ही एक सत् नाम्नी परमसूक्ष्म परमार्थ सत्ता ही सुशोभित है और रञ्चकमात्र भी नहीं। एतदर्थ ही श्रुतियों ने भी सोई आज्ञा किया है "। सर्वंखल्विदं ब्रह्म "। "। सद्धीदं सर्वं "। "।चिद्धीदं सर्वं"। "। पुरुष एवेदं सर्वं"। "।ब्रह्मैवेदं सर्वं "।—: ॥ अतएव हे सौम्य ! श्रद्धा करो ॥ २ ॥

श्रद्धत्स्व सौम्येति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव माभगवन् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! (मेरे वाक्य में) श्रद्धाकरो, सो जो यह महासूक्ष्म है सो यह सत् आत्मा है जिन सर्वों का सो सर्व इसका अपना आप है सो सत्य है हे श्वेतकेतो ! सोई अणुवत् महासूक्ष्म सत् आत्मा तूही है। इस प्रकार जब पिता ने कहा श्वेतकेतु कहता हुआ हे भगवन् ! पुनः भी मुझ को समुझाय के कहिये पिता ने कहा तथास्तु ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! इस जगत् का कारण जो सत् है सो अणुतर महासूक्ष्म होने से चक्षु मनआदि अन्तर बाह्य के करणों का विषय नहीं, तिस महासूक्ष्म सत्ता से यह महास्थूल नामरूप क्रियात्मक जगतरूप कार्य उत्पन्न हुआ है । यदि न्यायशास्त्र बिषे सूक्ष्म सत्का अर्थ निर्द्धार किया है सो तहां अंगीकार है, तथापि 'वेदवादियों के, अतिसूक्ष्म अर्थ बिषे 'बाह्य विषयों बिषे स्वभावही से प्रवृत्त है मन जिनका अरु असत पदार्थों में ही श्रद्धा अधिक है जिनको उनको महासूक्ष्म सत् सत्ता बिषे गुरु श्रद्धा का होना अतिकठिन है, अतएव हे सौम्य ! मैं कहता हौं जो मैं इस सत्य वाक्य में श्रद्धा करो ॥:—हे सौम्य ! यह सर्व प्रपञ्च अपनी उत्पत्ति से पूर्व एक अद्वितीय सत्ही था, उस महासूक्ष्म मन आदिकों का अविषय सत्चैतन्य सत्ता से यह समस्त नामरूप क्रियात्मक जगत् हुआहै, ताते इस जगत् के अधिष्ठान कारण सत् बिषे 'कि जिसको प्राप्त होके भी अज्ञानी ज्योंके त्यों निकल आवते हैं, अरु ज्ञानवान् जिसमें पूर्वोक्त प्रकार गयेहुए फेरके आवते नहीं, उस अविनाशी सतबिषे अपनी श्रद्धा को दृढ़करो ॥ प्रश्न ॥ हे पिताजी ! जिस महासूक्ष्म सत् चैतन्य से यह सर्व नामरूप क्रियात्मक जगतहुआ आप कहते हो सो तो दृष्टि आवता नहीं तब कैसे जानिये जो वो है, अरु जब जिसके अस्तित्व का निश्चय होवे नहीं तब तिसबिषे श्रद्धा कैसे होवे ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! वो सत् सर्व आकार विकार से रहित महासूक्ष्म है एतदर्थ उस बिषे अपनी श्रद्धा को दृढ़करो ॥ हे पिताजी ! प्रत्यय भी तब दृढ़ की जाती है, जब आगे कोई वस्तु दृष्ट आवे जो वस्तु मनादिकों का भी विषय होवे नहीं तब तिस बिषे प्रत्यय (श्रद्धा) दृढ़ कैसे होवे ॥ हे पुत्र ! तुमने पूर्व यह कहा है कि हमारी दृष्टि में ऐसा आवता है जो २ पुरुष अग्निहोत्रादि शुभ कर्म करते हैं सो स्वर्गादि उत्तम लोक को प्राप्त होते हैं, अरु जो हिंसादि अशुभ कर्मों को करते हैं सो नरकादि अधम लोकों को प्राप्त होते हैं । हे सौम्य ! यहां हम तुमसे प्रश्न करते हैं कि यह जो तुमने कर्मी पुरुषों के अविद्यात्मक असत् वाक्यों को मान लिया

है कि अग्निहोत्र के कर्त्ता उत्तरायण मार्गवाले देहत्यागान्तर स्वर्ग सत्यलोक को जाते हैं, अरु दक्षिणायन मार्ग के सेवनेवाले पितृलोक को जाते हैं, इत्यादि जो तुमने मान लिया है सो उन कर्मियों के स्वर्ग लोक पितृलोक जाते प्रत्यक्ष देखके माना है वा किसी के वाक्य श्रवण करके माना है सो कहो ॥ हे भगवन्! यह कर्मशास्त्र के वाक्य आचार्य द्वारा श्रवण करके माने हैं जाते आते किसी को देखा नहीं हे सौम्य! मैंने तुमको श्रुति शिरोमणि वाक्य युक्ति अनुभव पूर्वक कहा है अरु दृष्टान्तों द्वारा अनुभव कराया भी है तिस वाक्य को तुम क्यों नहीं मानते, अरु वो वाक्य तुमने मान लिये हैं जो अग्निहोत्रादिकों के करनेवाले इसप्रकार स्वर्गादिकों को जाते हैं इस प्रकार पुनः लौट के आवते हैं। अरु हे पुत्र! तुझसे किसी ने कहा कि तुम बड़े पुण्यवान् हो तब तूने अपने को पुण्यवान् मानलिया अरु किसी ने तुझसे कहा तुम बड़े पापी हो तब तूने अपने को बड़ा पापी मानलिया, यदि तुझ को किसी ने कहा तुम सूतकी हो तब तूने अपने को सूतकी मानलिया। हे सौम्य! यह जो सर्व तूने मानलिया है सो सर्व प्रत्यक्ष देखके मान लिया है कि केवल श्रवण करके ही मानलिया है॥ हे पिताजी! यह सर्व देखा नहीं केवल श्रवण करके ही मानलिया है॥ हे सौम्य! जो वेद की अपराविद्या के अविद्यात्मक वाक्य हैं तिनको तो तुमने सत्य करके माने हैं, अरु जो वेदकी पराविद्यात्मक सत्य वाक्य हैं अरु जिन वाक्यों से वेद सत् चैतन्य अपने आप आत्मा का साक्षात् यथार्थ अनुभव करावता है, अरु सोई वाक्य हम तुमको कहते हैं सो वाक्य तुम क्यों नहीं मानते तुमको मानना योग्य है क्योंकि तुमको उस परमानन्द की प्राप्ति इन वाक्यों से ही होनी है सो केवल श्रद्धा के आश्रय होनी है अतएव मेरे कहे वाक्यों बिषे श्रद्धा करो। हे भगवन्! उस अतिसूक्ष्म अरूप अविषय सत् चैतन्य बिषे श्रद्धा कैसे होवे॥ हे प्रियदर्शन! यह वाक्य तुमने यथार्थ कहा, हे सौम्य! उस बिषे श्रद्धा तब होती है जब अन्तःकरण शुद्ध होता है सो अन्तःकरण तब शुद्ध होता है जब निष्काम विहित कर्मों को करता है, ताते विहित निष्काम कर्मों

करके जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है उन पुरुषों को मेरे इस सत्य परमार्थबोधक वाक्य बिषे श्रद्धा आवती है ॥ हे पिताजी ! अब श्रद्धा किस वास्ते चाहिये यह तो सर्व पुरुष आपही जानते हैं जो सुषुप्ति से यह सर्व ब्रह्माण्ड उदय होता है अरु पुनः तिसही बिषे लय होता है सो यह सर्व प्राणी अपने अन्तर नित्य देखते हैं तब श्रद्धा करने का क्या प्रयोजन है किन्तु कुछ भी नहीं ॥ हे पुत्र ! जैसा तू कहता है तैसाही होता होवे तो ठीक परन्तु तैसा होता नहीं जो तैसा होता होवे तो सर्व जीव मुक्तहुए चाहिये, परन्तु यह तो सर्व अद्यावधि भ्रमते हैं। हे सौम्य ! जिस मुमुक्षु को सत् बिषे श्रद्धा है तिस पुरुष को आचार्य करके कहा हुआ एक वाक्य उसके शुद्ध अन्तःकरण बिषे सूर्य की किरणोंवत् पसरके अनन्तगुणा होता है। हे पुत्र ! वो कैसा वाक्य है जो सत्परब्रह्म उसही को लखावता है। जब ब्रह्मवेत्ता आचार्य ऐसे वाक्य उस मुमुक्षु से कहता है तब वो वाक्य उसके शुद्ध अन्तःकरण के भीतर अनन्त गुणा होके मोक्ष करनेवाला होता है, परन्तु सो वाक्य किनको मोक्ष करता है कि जिनको इस वाक्यबिषे श्रद्धा है। हे पुत्र ! जिन पुरुषों को इस वाक्य बिषे श्रद्धा नहीं तिन पुरुषों को आचार्य किंवा स्वयं ब्रह्मा अनेक श्रुतियों के वाक्य उपदेश करे तथापि वो वाक्य उन श्रद्धाहीन पुरुषों के हृदयबिषे ठहरते नहीं (विरोचनवत्) अथवा वो श्रद्धाहीन पुरुष आप सर्वदा वेदान्तों को विचारता भी रहता है अरु अन्यों को कहता भी रहता है तथापि उस पुरुष को वेदान्त के कहे ते सुनने का कुछ भी फल नहीं ॥ अतएव हे सौम्य ! जो तुम को सत् चैतन्य अविनाशी के प्राप्तहोने की इच्छा है तो अब तुम उस बिषे अपनी श्रद्धा को दृढ करो उसविषयक श्रद्धा का त्याग मत करो। हे पुत्र ! उस परमानन्द की प्राप्ति के लिये तुमको और कुछ कर्तव्य नहीं यहां एक श्रद्धाही का काम है। हे सौम्य ! स्वार्थ वा परमार्थ इन दोनों की सिद्धिबिषे एक श्रद्धा चाहिये जिसबिषे श्रद्धा होगी सोई सिद्ध होगा। अतएव हे सौम्य ! तुम अपने को परमानन्द की प्राप्ति के लिये मुझकरके अनुभव कराये सत्बिषे अपनी श्रद्धा को दृढकरो ॥ हे सौम्य

ऐसा जो अणुवत् सर्वात्मा है सो महासूक्ष्म सर्वात्मा है सोई सत है हे श्वेतकेतो ! सोई सत् आत्मा है तू है ॥ प्रश्न ॥ हे पिताजी ! सोई अणुवत् महासूक्ष्म सत् आत्मा मैं हौं, अच्छा । हे प्रभो ! इस बिषे मुझको पुनः एक संशयहुआ है जो आपने वट बीज के अन्तर अरूप महासूक्ष्म सत्ता कही अरु तिस सूक्ष्म सत्ता से हुआ यह स्थूल वृक्ष कहा अरु इसही दृष्टान्त करके महासूक्ष्म सत् चैतन्य आत्मा से यह नामरूपक्रियात्मक ब्रह्माण्ड का उत्पन्न होना कहा सो अस्तु । परन्तु हे भगवन् ! यह कार्यरूप ब्रह्माण्ड तो दृश्य आवता है परन्तु इसका कारण जो महासूक्ष्म सत्ता है सो तो दृष्ट आवती नहीं तब हम उस महासूक्ष्म सत्ता को कैसे अनुभव करके निश्चय करें जो वो है ॥ हे प्रभो ! अब हम जिसप्रकार उस सत् चैतन्य आत्मा को साक्षात् यथार्थ अनुभव करें सोई प्रकार पुनः कृपाकर मुझ को समुझाय के कहिये ॥ उत्तर ॥ हे पुत्र ! अब हम तुझे उस सत् चैतन्य को घटवत् प्रत्यक्ष देखावते हैं सो भी कैसा जो घट से अति समीप, सो समीप भी कैसा जो विद्यमान अपना आप, सो विद्यमान भी कैसा जो न तो पकड़ा जावे न देखा जावे न सुना जावेगा अरु होवेगा प्रत्यक्ष विद्यमान अपना आप, हे पुत्र ! ऐसे सत् चैतन्य आत्मा को अब हम तुझे एक दृष्टान्त द्वारा देखावते हैं । हे सौम्य ! जैसे यह दुःख अरु सुख हैं सो न तो देखे जाते हैं न पकड़े जाते हैं, परन्तु हैं दोनों प्रकट विद्यमान हे सौम्य ! तैसेही वो सत् आत्मा न देखा जावेगा न पकड़ा जावेगा परन्तु होवेगा विद्यमान अपना आप । हे सौम्य ! अब हम तुमको एक दृष्टान्त द्वारा कहते हैं तिसको सावधान होके श्रवण करो ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः प्रारभ्यते ।

लवणमेतदुदकेऽवधायाथा मा प्रातरुपसीदथा इति ह तथा चकार तछं होवाच तद्दोषा लवण उदके अव

धा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद यथा विलीनमेवाङ्ग ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य षष्ठप्रपाठक में तेरहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! इस लवण के खण्ड को घट में जलभरके उसमें डालो कल्ह प्रातःकालको मेरे पास ले आइयो, इस प्रकार जब पिता ने कहा तब सो श्वेतकेतु तैसेही करता हुआ, सो पिता कहताहुआ जो लवण रात्रि को जल बिषे रक्खा है तिसको निकालो तब वो जल बिषे लवण को देखता हुआ परन्तु उसको न जानता हुआ पिता ने कहा जैसे लवण विद्यमान था तैसे हे अङ्ग ! विलीन हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! यदि विद्यमान वस्तु भी उपलभ्य न होती होवे तो प्रकारान्तर करके तो उपलभ्य होती है, तहां दृष्टान्त को श्रवण कर हे सौम्य ! यदि मेरे कहे अर्थ को प्रत्यक्ष करने को इच्छता होवे तो इस पिण्ड (खण्ड वा ढेला) रूप लवण को एक घट में पानी भर उसमें डाल (उसका मुहँ बन्दकर अपने आश्रम पर लेजावो प्रातःकाल उसको लेके मेरे पास आवना, इस प्रकार जब पिता ने आज्ञा किया तब वो अपने पिताकरके कहे अर्थ को प्रत्यक्ष करने की इच्छावाला श्वेतकेतु सोई करता हुआ जो पिता नें आज्ञा किया ॥ :—अर्थात् उस महा सूक्ष्म सत् चैतन्य आत्मा को प्रत्यक्ष करने की इच्छावाला जो श्वेतकेतु तिसको सत चैतन्य का यथार्थ अनुभव करावने की इच्छावाला उद्दालक कहता हुआ कि हे पुत्र ! यदि तुझको मुझ करके कही वस्तु के प्रत्यक्ष करने की इच्छा है तो प्रथम एक घट पानी से भरलेआवो, तब वो श्वेतकेतु एक घट पानी का भरले आया । तब पुनः उसको पिता ने कहा कि अब एक ढेला लवण का लेआवो, तब वो सो भी लेआया पिता ने प्रश्न किया कि हे पुत्र ! अब तू इस लवण के नामरूप

जानता है, पुत्र ने उत्तर दिया कि हे पिताजी! जानता हौं। हे सौम्य! अब तू इस लवणखण्ड को इस जल से भरे घटबिषे धरदे प्रातःकाल यह लवण तुझ को उपदेश करेगा, अब तू इस घट को अपने आश्रम पर लेजा इसके पास कोई आवे नहीं रात्रिको इसपर जागता रहियो, प्रातःकाल इस घट को मेरे पास ले आवना। इस प्रकार जब उद्दालक ने कहा तब सो श्वेतकेतु सोई करता हुआ, दूसरे दिवस प्रातःकाल उस घट को पिताके समीप लेआया अरु कहता हुआ कि हे पिताजी! आपकी आज्ञानुसार यह घट मैं ले आया हौं—:॥ उद्दालक कहताहुआ हे वत्स! जो लवण कल्ह रात्रि को तू ने इस घट बिषे धरा है तिसको निकालो, तब वो श्वेतकेतु उस लवण को घट बिषे ढूंढ़ने लगा परन्तु वो लवण न मिला तब सर्व ओर देखके पितासे कहताहुआ कि हे पिताजी! वो लवण तो घट बिषे मिलता नहीं॥ :—हे पुत्र! उस लवण को इसमें से किसी ने निकाल तो नहीं लिया। हे पिताजी! रात्रि को इसके निकट कोई भी आया नहीं मैं इसके पास जागता रहा हौं। हे पुत्र! जिस लवण को कल्ह सायंकाल को तू ने देखा पकड़ा था अरु इस घट बिषे धरा था सो लवण कहीं गया नहीं इस घटबिषे ही है, यथा लवण विद्यमान होतेसन्ते भी जलबिषे विलीन होनेसे जाना जाता नहीं, तथापि सो लवण चक्षुकरके हस्त करके पिण्डरूप से अगृह्यमाण भी विद्यमान है। इस प्रकार जलबिषे विलीन हुआ लवण उपायान्तर करके ग्रहण होवेगा, इस प्रकार विचार के अपने पुत्र को लवण के दृष्टान्त मिस सत के प्रत्यक्ष करावने की इच्छावाला उद्दालक कहताहुआ ॥१॥

अस्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्त्तते तꣳ होवाच वाव किल सत्सौम्य न निभासयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

इस जल के ऊपर से थोड़ा जल लेके आचमन करो, कहो क्या है, लवण है, मध्य से आचमन करो, क्या है, लवण है, अन्त (नीचे) से आचमन करो कहो क्या है लवण है, यदि इस प्रकार अभिप्राय है तो यह उदक परित्यागकर मुझ समीप आओ, इस प्रकार जब पिता ने कहा तब वो तैसेही करके पिता समीप आय कहताहुआ सो लवण तिस जलबिषे नित्य बर्त्तता है । ऐसे जब पुत्र ने कहा तब पिता कहताहुआ हे सौम्य ! तैसेही वो सत् यहां (शरीरबिषे) ही है परन्तु देखा जाता नहीं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! अब इस घटके ऊपर से थोड़ा जल लेके आचमन करो (चीखो) इसप्रकार जब पिता ने कहा तब सो श्वेतकेतु उस घट के ऊपर से थोड़ा जल लें चीखताहुआ, तब पिता ने पूछा हे पुत्र ! क्या है ? पुत्र ने कहा हे पिताजी ! लवण है, लवणका स्वादहै । तब पुनः पिता ने कहा कि हे पुत्र ! अब इस घटके मध्य से जल लेके आचमन करो, तब श्वेतकेतु सोई करताहुआ तब पिताने पुनः प्रश्न किया कि हें पुत्र ! कहो क्या है, पुत्र ने कहा हे पिताजी ! लवण है, पुनः पिता ने कहा हे पुत्र ! अब घटके नीचे से जललेके आचमन करो तब सो श्वेतकेतु पुनः सोई करता हुआ, पुनः पिता ने प्रश्न किया हे पुत्र ! क्या है, पुत्र ने कहा हे पिताजी ! लवण का स्वाद आवता है, ताते लवण है । पुनः पिता ने कहा हे सौम्य ! यदि इस प्रकारके अभिप्राय का परित्याग कर अर्थात् इस प्रकार अभिप्राय है तो उदक के आचमन को परित्याग कर मेरे समीप आओ । इस प्रकार पिता ने कहा तब वो श्वेतकेतु उस लवणोदकयुक्त घट को परित्याग करके पिता समीप आय यह वचन कहता हुआ हे पिताजी !, सो लवण जो मैंने कलह रात्रि को जिस जल बिषे डालारहा सो उसही जल बिषे सम्यक् विलीन हुआ विद्यमान है । इस प्रकार जब श्वेतकेतु पुत्र ने कहा तब तिसको श्रवण कर उद्दालक पिता कहता हुआ, हे सौम्य ! जैसे

लवण जलमें डालने से पूर्व दर्शन स्पर्शन करके गृहीत था पश्चात् वो जल में डालने से जलबिषे विलीन होगया, सो जलबिषे विलीन होने से तिन चक्षु हस्त करके अगृह्यमाण हुआ भी विद्यमानहै, ऐसेही उपायान्तर करके प्राप्तहै, जिह्वासे उपलभ्यमान होनेसे (अर्थात् जो लवण उदकबिषे डालने से पूर्व चक्षु हस्तकरके उपलभ्य था सो जलमें विलीन होनेसे चक्षु हस्त करके उपलब्ध न हुआ, परन्तु उपायान्तर करके जिह्वा से चीखने करके उपलभ्यमान हुआ) हे सौम्य ! तैसेही यहांही इस तेज जल अन्न के कार्य शरीर बिषे निश्चय करके आचार्य के उपदेश से स्मरण प्रदर्शन होताहै (जाना जाताहै) हे सौम्य ! तेज जल अन्न-रूप अंकुर (कार्य) का कारण सो सत् वटके सूक्ष्म बीज बिषे विद्यमानहुआ भी भासता नहीं अर्थात् इन्द्रियों करके ग्रहण होता नहीं, जैसे यहांही जलबिषे दर्शन स्पर्शन करके अनुपलभ्यमान लवण जिह्वा करके यहां उदक बिषेही विद्यमान तुझको उपलब्ध हुआ ॥:— हे सौम्य ! तैसेही वो सत् चैतन्य न तो आकारों द्वारा देखा जावेगा न पकड़ा जावेगा एक लवणवत् अनुभव किया जावेगा । हे सौम्य ! यह शरीररूप घट है बुद्धि किंवा लिङ्गरूप तिस बिषे जल है, तिस बिषे सत् चैतन्यरूप लवण है सो उक्त जल साथ मिलके तद्रूप होरहा है । अर्थात् मन साथ मिलके मनरूप होरहा है, बुद्धि साथ मिलके बुद्धिरूप, चक्षुसाथ मिलके चक्षुरूप, वाणी साथ मिलके वाणीरूप, इसप्रकार वो सत् जिस २ के साथ मिला है तिस २ के आकार होरहाहै । हे सौम्य ! जैसे जल में रखने से पूर्व तुमने लवण को नामरूप सहित देखा था तैसे यह उस सत्चैतन्य को बुद्धि आदिकों से पृथक् सुषुप्तिबिषे देखो ॥ श्वेतकेतुरुवाच ॥ हे पिताजी ! उस सत् को मैंने न देखा न स्पर्श किया हे पिताजी ! अब वो सत् साक्षात् प्रतीति में कैसे आवे, पूर्व आपने यह कहा था जो हम तुझ को सत् देखाय के पकड़ाय देवेंगे ॥ हे सौम्य ! तुम अपने चक्षु की श्रेष्ठता नेष्टता को देखते (जानते) हो हे पिताजी ! मैं अपने चक्षु आदि करणों की श्रेष्ठता नेष्टता को भली प्रकार देखता हौं ॥ हे सौम्य ! तुम अपने मन बुद्धि आदि अन्तःकरण

की चपलता स्थिरता पण्डितता मूर्खता आदिकों को देखते हौ। हे पिता जी! सो भी भलीप्रकार जानता हौं। हे सौम्य! "घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः" इस न्याय प्रमाण जो जिसको जानता है सो तिस जानने योग्य वस्तु से जुदा होता है, ताते तुम जिन अन्तर बाह्य के करणादिकों को जानते हौ तिन सर्व से जुदे हौ। अरु हे सौम्य! जो वस्तु जानने योग्य होती है सो जड़ होती है, अरु जाननेवाला चैतन्य होता है, इस न्याय प्रमाण जिन बुद्धि आदिकों को तुम जानते हौ सो सर्वजड़ हैं, अरु जाननेवाले तुम चैतन्य हौ। हे सौम्य! इसही न्याय प्रमाण तुम विचार कर देखो कि जिन चक्षुरादिकों को तुम देखते हौ वो जड़ होनेसे तुम्हें देखने को समर्थ नहीं। इसही प्रकार जिन बुद्धि आदिकों को तुम जानते हौ सो तुम को जानने को समर्थ नहीं। हे सौम्य! इस प्रकार तुम बुद्धि मन आदिकों के अविषय हुए २ भी सर्व के द्रष्टा जाननेवाले सर्व में मिले अरु सर्व से पृथक् सर्वदा विद्यमान सत् हौ तुम अपने आपको अनुभव करो तुम्हारा जाननेवाला और सत् कोई नहीं, तुमहीं सर्व के द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता, सत् चैतन्य हौ, तुम को यह जड़ मन इन्द्रियादि जानने को समर्थ नहीं। जैसे प्रकाशरूप दीपक जिन अप्रकाशी पदार्थों को प्रकाशता है सो अप्रकाशी पदार्थ प्रकाशरूप दीपक को प्रकाशने बिषे समर्थ होवे नहीं हे सौम्य! तैसेही स्वयं प्रकाश सत् चैतन्यस्वरूप जो तुम तिनको विषय करने के लिये मन आदि कोई भी समर्थ नहीं। हे सौम्य! अपने आप अद्वितीय चैतन्यस्वरूप का देखना अरु ग्रहण करना बने नहीं क्योंकि जो देखा अरु ग्रहण किया जाता है सो जड़ होता है। ताते तुम जल में विलीन हुए लवणवत् अपने आप सत् चैतन्य स्वरूप को सम्यक् यथार्थ अनुभव करो उस सत् चैतन्य अपने आप आत्मा के अनुभव करने का स्थान यह शरीर ही है परन्तु वो जल में विलीनहुए लवणवत् इस शरीर इन्द्रिय मन प्राणादिकों में प्रवेशकर तिन बिषे विलीन हुआ तारूप से ही स्थित है ताते निश्चयकर उस सत् चैतन्य अपने आप को अनुभव करो॥ २॥

सय एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स

आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इतिभूय एव मा भगवन् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अक्षरार्थ ।

सो यह जिसको महासूक्ष्म कहा है सोई इन सर्व का आत्मा है अरु यह सर्व जिसका अपना आप है, सोई सत् आत्मा है हे श्वेतकेतो ! सोई महासूक्ष्म सत् सर्वात्मा तू है, इस प्रकार जब पिता ने कहा तब श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन् ! फिर भी मुझ को समझाय के कहिये, पिता ने कहा तथास्तु ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! जो सत् चैतन्य चक्षुद्वारा सर्वका द्रष्टा है श्रोत्र द्वारा सर्व का श्रोता है जिह्वाद्वारा सर्वका रसयिता है मनद्वारा सर्वका मनन करने वाला है, बुद्धिद्वारा सर्व का विज्ञाता है, हस्तद्वारा सर्व का ग्रहीता है चरणोंद्वारा गंता है । अरु सुषुप्ति बिषे चक्षु, कर्ण, जिह्वा, घ्राण, मन, बुद्धि आदिक अन्तर बाह्य के करणों के अभाव हुए न द्रष्टा है न श्रोता है न घ्राता है न रसयिता है, न ग्रहीता है न गन्ता है न मन्ता है न बोद्धा है, सर्व विशेषता से रहित निर्विशेष केवल विज्ञानघन सर्व अनुभवों का अनुभवी अनुभवरूप महासूक्ष्म सर्वका सत् आत्मा है—: ॥ हे सौम्य ! ऐसा जो अणु से भी महासूक्ष्म सर्वका अपना आप आत्मा है हे श्वेतकेतो ! ऐसा जो महासूक्ष्म सत् चैतन्य सर्वात्मा है सो महासूक्ष्म सत् चैतन्य सर्वात्मा तू है इसप्रकार जब उद्दालक पिताने अपने पुत्र श्वेतकेतु को उक्त लवण के दृष्टान्त से आत्मोपदेश किया तब तिसको श्रवणकर श्वेतकेतु कहताहुआ ॥ श्वेतकेतुरुवाच ॥ हे पिताजी ! यदि इस प्रकार लवणवत् सो सत् इन्द्रियों करके अनुपलभ्यमान भी जगत् का मूल सत् उपायान्तर करके प्राप्त होने को शक्य है, अरु तिसकी प्राप्ति से कृतार्थता है अरु उसकी अप्राप्ति से अकृतार्थता है । ताते हे भगवन् ! उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है । अरु ऐसे निर्विशेष आनन्दघन सत्

चैतन्य ने ऐसे दुःखमय संसारबिषे क्यों प्रवेश किया है, सो आप पुनः मुझ को दृष्टान्तद्वारा समुझाय के कहिये। इसप्रकार जब श्वेतकेतु ने कहा तब पिता कहताहुआ तथास्तु कहताहौं श्रवणकर ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः प्रारभ्यते।

यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वाउदङ्वाऽधराङ्वा प्रध्मायिताभिनद्धाक्षआनीतोऽभिनद्धाक्षोविसृष्टः ॥ १ ॥

अब छान्दोग्य षष्ठप्रपाठक में चौदहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! जैसे किसी पुरुष (बालक) को गन्धारदेश से आंख बांध तस्करों ने लेआयके तिस चक्षुबद्ध को अति विगत जन अरण्य में छोड़दिया, तब सो बद्धनेत्र जैसे उस अरण्य में कभी पूर्व कभी पश्चिम कभी उत्तर दक्षिण को जाता गिरता पुकारता है मैं बद्धचक्षुहौं मेरी आँख बाँध तस्कर यहां ले आये हैं इसप्रकार पुकारने लगा ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! जैसे इसलोक बिषे किसी राजकुमार बालक पुरुष को गन्धारदेश से तस्करों ने (अर्थात् गन्धारदेश के किसी राजकुमार को चोरोंने) हरणकर पश्चात् उसकी आँखपर पट्टी बाँध उसके हाथबाँध अति जनरहित महाभयानक कण्टकों के अरण्यबिषे ले आयके छोड़ दिया, तब वो बालक राजकुमार उस अतिभयानक जनरहित कङ्कड़ कण्टकमय अरण्य में अपने नेत्र हस्त बद्ध होने के कारण जैसे दिग्भ्रम को प्राप्तहुआ पुरुष तैसे, कभी पूर्व दिशाको कभी पश्चिम दिशा को कभी दक्षिण उत्तर दिशा को भ्रमता फिरता गर्त कण्टक पाषाणों में गिरता उच्च स्वर से पुकारता रोवता कहता है हा दैव देखो बड़ा कष्ट है मुझको तस्करों ने गन्धारदेश से हरणकर मेरे नेत्र हस्त बाँध

इस कण्टकमय विगतजन अतिघोर अरण्य में त्याग दिया है अब मैं क्याकरों मेरे नेत्र बद्ध होने से कुछ भी सूझता नहीं ॥ १ ॥

तस्य यथाभिहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

तिसका जैस बन्धन छोड़ायके किसी करुणावान् पुरुष ने कहा इस दिशा बिषे तेरा गन्धारदेश है तू इस दिशा को जा तब वो ग्राम से ग्राम को पूछता पण्डित मेधावी हुआ गन्धारदेश को प्राप्तहुआ (हे सौम्य !) ऐसेही आचार्यवान् पुरुष जानता है तिसका यावत् प्राक्तन (प्रारब्ध) कर्म भोग के समाप्त होता नहीं तावत्ही जीवता है पश्चात् तहांही सत् को प्राप्तहोता है इति ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्ये, प्रियदर्शन, श्वेतकेतो ! तिसका (जिस राजकुमार को तस्कर गन्धारदेश से नेत्र हस्त बाँध भूषण हरणकर महाविजन अरण्य में छोड़गये) किसी परम करुणावान् दयालु पुरुषने उसका रुदन श्रवण कर उसके समीप आय उसके नेत्र हाथ के बन्धनखोल सावधानकर कहा कि इस उत्तर दिशा में तेरा गन्धारदेश है तू इसदिशाको जा (आगे एक ग्राम आवेगा उस ग्राम से अपने ग्राम को पूछके पण्डित,उपदेशवान्, मेधावी अर्थात् दूसरेने उपदेश किये ग्राम के मार्ग में प्रवेश करने की सामर्थ्यवाला हुआ अपने गन्धारदेश को प्राप्तहोता है । हे सौम्य ! इस प्रकार आचार्यवान् पुरुष अपने सत् स्वरूप देश को प्राप्तहोता है । इस से इतर (अनाचार्यवान्) जे मूढ़बुद्धि पुरुष हैं कि जो देशसे देशान्तर अर्थात् लोकसे लोकान्तर के जानेवाले अविवेकवान् हैं सो अपने उक्त देश को प्राप्तहोते नहीं । हे श्वेतकेतो ! जैसे तुम्हारे प्रति यह

दृष्टान्त वर्णन कियाहै तैसेही अब दार्ष्टान्तको भी श्रवणकरो, हे सौम्य! जैसे स्वविषयरूप गन्धार देशसे पुरुष तस्करों करके बद्धनेत्र अविवेकी क्षुधा तृषावान् व्याघ्र तस्करादि अनेक भय अनर्थ व्रातयुत अरण्य में प्रवेश को पाय दुःख करके अति आर्त पुकारनेलगा, मैं इस बन्धन से छूटनेकी इच्छावाला हौं,इस प्रकार उस दुःखितकी पुकारको किसी एक दयालु पुरुष ने श्रवणकर उसके निकट आय बन्धन छोड़ाय उसको स्वदेश का मार्ग बताया तब वो उस मार्ग से चल अपने गन्धारदेश को प्राप्तहो सर्व बन्धनों से निवृत्त परम सुखी होता हुआ॥ हे सौम्य! इस दृष्टान्त प्रमाणही जगत् के आत्मा सत् चैतन्य स्वरूप रूप गन्धारदेश से चिदाभास जीवको हरणकर तेज जल अन्नादिमय देहरूप अरण्यमें जो कि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि, मूत्र, पुरीष इत्यादि कङ्कड़, कण्टक, गर्त, पाषाण, सिंह, सर्प, वृश्चिकादि विषधरों करके पूर्ण महादुःखका स्थान, अरु शीत उष्णादि अनेक द्वन्द्व रूप उपदुःख करके युक्तहै, तिस देहारण्य में पुण्य पापरूप तस्करों ने उसके विवेकरूप चक्षुपर मोहरूप वस्त्र की पट्टीबांध पुनः भार्या, पुत्र, पशु, बान्धव, धनादि दृष्टादृष्ट अनेक विषयों की तृष्णारूपा पाश से उस के हाथ बाँध डालदिया है। तब वो उक्त अरण्यमें प्रवेश पाय पुकारता है कि मैं अमुक का पुत्र हौं मेरे इतने बान्धव हैं मैं कुटुम्बी हौं सुखी हौं दुःखी हौं मूढ़ हौं पण्डित हौं धार्मिक हौं जन्मा हौं मरता हौं जीता हौं पुत्र मेरा मरगया धन मेरा नष्ट होगया हा मैं माराजाता हौं मैं अब कैसे जीवोंगा क्या मेरी गति होगी कौन मेरा रक्षक है। हे सौम्य! इस प्रकार अनेक शत सहस्र अनर्थरूप जाल में फँसा हुआ पक्षीवत् चिल्लाता, पुकारता, रोवता, फिरताहै। हे पुत्र! इस प्रकार यह जीव देहरूप अति दुर्गम अरण्य में प्रवेशकर उक्त दुःखों करके दुःखित होय पुकारता फिरता है तब कोई एक इसके पुण्य अतिशयकरके कोई एक दयालु पुरुष जो सत्ब्रह्म आत्मा का जाननेवाला सर्वबन्धनों से मुक्त ब्रह्मनिष्ठहै सो उसके दीनतामय रुदन को श्रवणकर इसके समीप आय धीरज देताहुआ तब उस ब्रह्मवेत्ता की दयाकरके दिखाये संसार विषय

श्रेयदर्शन मार्ग तब संसार विषय से विरक्त हुआ अर्थात् गुरुकृपा से जब संसार के विषयों को परिणामी दुःखरूप जाना तब तिनसे विरक्त हो कर्म उपासनादि सर्व ओर के भ्रमण करने से निवृत्त हुआ, अब उसको परमदयालु ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ने कहा कि हे पुत्र ! तू संसारी पुत्रत्वादि धर्मवान् नहीं ॥ प्रश्न ॥ तब मैं कौन हौं । हे पुत्र ! जो सत् चैतन्य सर्वात्मा है सो तू है । इस प्रकार आचार्य से उपदेश पाय अविद्यात्मक मोहपाश से मुक्त हो गन्धारदेशके पुरुषवत् अपने सत् चैतन्य आत्मा को प्राप्तहो अनिर्वाच्य सुख को प्राप्त होताहुआ ॥:—हे भगवन् ! अब इस दार्ष्टान्त को प्रकारान्तर करके सविस्तर कहिये कि जिस करके मुझ अल्पज्ञ की समझ में सम्यक् प्रकार आवे तब मैं अपने सत् आत्मपद को साक्षात् पाय निर्भय होवों ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! अब मैं तेरे कहे प्रमाण इस दार्ष्टान्त को प्रकारान्तर से सविस्तर कहता हौं जो यह नगर राजा बालक चोर वन दयालु आदि कौन २ हैं सो सर्व सावधान होके श्रवणकरो । हे सौम्य ! यह सर्व तेरे निकटही रहते हैं । हे पुत्र ! यह शरीररूप गन्धारदेश है तिसबिषे सुषुप्तिरूप नगर है तिस नगर बिषे सत् चैतन्य देवराजा है तिसका तू चिदाभासरूप बालक है अरु पाप पुण्य रूप वा संस्कार अभ्यासरूप दों तस्करहैं, सो सुषुप्तिरूप नगर बिषे अन्तर्द्धान हुए रहते हैं । हे सौम्य ! जैसे नगर के बाह्य कुछ अवकाश (मैदान) होता है उसके पश्चात् वन होता है, तैसेही यहां सुषुप्तिरूप नगर के बाह्य स्वप्नरूप अवकाश है उसके आगे जाग्रत्रूप बड़ा भयानक वन है उस वन बिषे कोई एक ब्रह्मवेत्ता आचार्य निर्भयहुआ रहता है, अरु चिदाभासरूप बालक की आंखपर अज्ञानरूप पट्टी बँधी है, अरु अहं ब्रह्मास्मि, भावनारूप भूषण है, नानाप्रकार के विषयों की तृष्णारूपा रज्जु है तिस करके उस बालक के हस्त दृढ़ बँध रहे हैं । हे सौम्य ! अब श्रवण करो । हे पुत्र ! पाप पुण्यरूप वा संस्कार अभ्यासरूप चोरों ने तमोगुणरूप अन्धकार को पाय सुषुप्तिरूप नगर से चिदाभासरूप राजकुमार बालक को हरण करलिया है, अरु उक्त चोरों ने उस बालक के विवेकरूप चक्षुपर को हम भावनारूप लक्षणवान् अज्ञान-

रूपा पट्टी बांधदिया है, अरु स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, धन, पशु, ग्राम आदिको की दृढ़ कामनारूपा रज्जु करके इस बालक की मुश्कैं बांधलिया है जिस करके वो बालक अपने नेत्रों पर की अज्ञानरूपा पट्टी खोलसक्ता नहीं। इसप्रकार उक्त चोरों ने इस बालक को बांध फेर इसके अहं ब्रह्मास्मि भावनारूप भूषण उतार लेके इस बालक को जाग्रत्‌रूप महा घोर अरण्य में ले आयके छोड़दिया है॥ हे सौम्य! सो यह जाग्रत्‌रूप वन कैसा है कि जिस बिषे सहस्रावधि प्रकार के अनेक वृक्ष हैं। हे सौम्य! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, कर्म, उपासना, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, पशु, ग्राम आदि यह सर्व इस जाग्रत्‌रूप अरण्य के उत्तम सुख-दायक वृक्ष हैं, सो एक २ जाति के असंख्य २ वृक्ष हैं, सो सर्व फल-दायक छायावान् वृक्ष हैं, तथापि वो रागद्वेषरूप कण्टकों करके युक्त हैं। अरु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरता आदि जो आसुरी संपद्‌ लक्षणरूप वृक्ष हैं सो कीकर करंजुआ, कटहरी, करील आदिकों के केवल कण्टकमय वृक्षवत् महादुःखदायी वृक्ष हैं, हे सौम्य! यह जाग्रत्‌रूप अरण्य उक्त वृक्षों की बाहुल्यता करके अति ही सघन गहन होरहा है इसका पारावार पायाजाता नहीं। अरु इस अरण्य विषे अनेकप्रकार के तूलाहंकाररूप बड़े २ पाषाण पड़ेहुए हैं अरु अनेक कामनारूप गर्त्त हैं तिनबिषे अनेक प्रकारकी चिन्तवनारूप बिषधर जन्तु पड़ेहुए हैं, तीनों गुणरूप तीन नदियां हैं। हे सौम्य! इस अरण्यविषे मूलाहंकाररूप बड़े मत्त गजराज फिरते हैं, मृत्युरूप सिंह गर्जते हैं, अरु मनुष्य के रुधिर को पान करनेवाले चिन्तारूप भालु फिरते हैं, खांसीरूप बानर उछलते हैं ज्वर प्रलापरूप गीदड़ बोलते हैं तरुणता-रूप भील पुण्यों को लूटते हैं, जरारूप पिशाचिनी फिरती मुंह फाड़के सन्मुख दौड़ती आवती है। हे सौम्य! उक्त प्रकार के वृक्ष कण्टक पाषाण जीव जन्तुओं करके यह वन पूर्ण होरहा है इन विना इसका कोई कोना खाली नहीं, यह वन श्रावण भादों की नदियोंवत् पूर्ण हो रहा है। हे सौम्य! इस वन बिषे जो अनेकप्रकार के कर्म उपासना के भेद हैं सोई छोटे बड़े अनेक मार्ग हैं तिन मार्गों बिषे अनेकप्रकार के

विधि निषेध कर्त्तृत्व अकर्त्तृत्वादि कांटे पड़े हैं चलनेवालों को चुभते हैं। ऐसा जो यह जाग्रत्रूप महाभयानक वन है तिसबिषे इस अति सुकुमार राजकुमार चिदाभासरूप बालक की विवेकरूपा आँखोंपर अज्ञानरूपा पट्टी बाँध पाप पुण्यरूप तस्करों ने डालदिया है, सो वो राजकुमार बालक इस जाग्रत्रूप घोर अति भयानक अरण्य बिषे अपने नेत्र अरु हस्त बद्ध होने के कारण अतिही खेद को प्राप्त हुआ है। हे सौम्य! उक्त अरण्य बिषे बद्धनेत्र जो बालक सो जिधर को जाता है तिधरही उसको उक्त कण्टक चुभते हैं उन कण्टकों से अपने को बचाय सक्ता नहीं नेत्रबद्ध होने के कारण कभी शब्दों के वृक्षपर गिरता है कभी स्पर्शों के कभी रूपों के कभी रसों के कभी गन्धों के वृक्षोंपर गिरता है तब वहां उसको रागद्वेषरूप कांटे चुभते हैं तब कुछ क्लेशित होता है। अरु उनकी सुखरूप छाया फलको पाय किंचित् हर्षित भी होता है, अरु वहां से जब दुःखित होय चलता है तब कभी कामरूप करंजुवे पर कभी क्रोधरूप कीकर पर कभी लोभरूप करील पर कभी मोहरूप कटहरी पर, इस प्रकार सुखरूप फल छाया से रहित केवल कण्टकमय महादुःखदायी वृक्षों पर गिरता है तब अतिपीड़ा को पाय पुकार के रोवता है हा दैव! अब क्या करैं? किधर जावें? इस दुःख से कैसे बचें? इत्यादि पुकारता है। हे सौम्य! उक्त कण्टकोंजन्य पीड़ा के आगे इन जीवों को न तो इस लोक का सुख है न परलोक का सुख है (अरु जो यह सुख मानते हैं सो इनका अविवेक है क्योंकि नाशवान् वस्तु बिषे वास्तव करके सुख कदापि होवे नहीं) जहां जाता है तहांही खेद को पावता है। हे सौम्य! पुनः वो बालक उक्त अरण्य में जब आगे को बढ़ता है तब नेत्रबद्ध के कारण अहंकाररूप पाषाणों पर गिरता है उनकी चोटों से मस्तक फूटता है तब और भी पुकार के रोवता है, फेर आगे को चलता है तब कभी तृष्णारूप गर्त में गिरता है तब वहां उस को धन, पुत्र, स्त्री, क्षेत्र आदिकोंकी अनेक चिन्तारूप विषधर जीव काटते हैं तब तिस करके उसके अन्तर बड़ी जलन अरु पीड़ा उत्पन्न होती है बड़ाही दुःख पावता है। अरु जिनके लिये यह चिन्ता करता

हुआ दुःखित होता है, उनसे जब वियोग पावता है तब अतिक्लेशित होकर उच्चस्वर से रोवताहुआ हाय २ करता है, उस अरण्य में नेत्र बद्ध होने के कारण किसी को देखता है नहीं जिधर जाताहै उधर क्लेश ही पावता है ॥ हे सौम्य ! ऐसे क्लेश के समय काकतालीयन्यायवत् अकस्मात् ईश्वर की कृपा से वा उसके महान् पुण्यों की सहायता से कोई एक परमदयालु ब्रह्मवेत्ता आचार्य उस अरण्य में आय निकलता है सो आचार्य कैसा होता है जिसके नेत्र खुले हैं सर्व बन्धनों से मुक्त हुआ है । हे सौम्य ! जब वो आचार्य उस बालक का दीनतामय रुदन श्रवण करता है तब उस बालक को अपने निकट बोलाय वा आप उसके पासजाय उसको धैर्यदेके कहता है कि हे बालक ! अब तू भय मतकरे । हे सौम्य ! इसप्रकार वो आचार्य प्रथम उस बालक को धैर्य दे अपने निकट बैठाय पश्चात् उसकी आँखों से पट्टी खोलता है और उसके और बंधन भी खोलता है तब प्रथम उस बालक को उक्त अरण्य के सर्व क्लेश स्पष्ट भानहोते हैं तब वो उनसे दृढ़ वैराग्यवान् होता है तदनन्तर वो आचार्य उस राजकुमार को श्रवणरूप मार्ग दिखाय कहताहै कि हे प्रियदर्शन ! अब तुम अपने मननरूप चरणों करके धीरे २ इस मार्ग से चले जावो इस मार्ग को छोड़ना नहीं हे पुत्र ! जब तुम आगे चलोगे तब तुमको एक निदिध्यासनरूप ग्राम मिलेगा तहां तुम कछु काल विश्राम करना वहां से तुमको अपने सत् चैतन्यरूप पिता राजा का ग्राम दिखाई देगा फेर तू निदिध्यासनरूप ग्राम से आगे बढ़ अपने साक्षात्काररूप नगर को प्राप्तहो अपने पिता के 'सोहमस्मि' भावरूप राजसिंहासन पर बैठ इन्द्रादि सर्व राजाओं का महाराज होय सर्व को अपनी आज्ञा बिषे चलावना–: ॥ हे सौम्य ! वो आचार्यवान् पुरुष कि जिसके नेत्रादिकों के बन्धन आचार्य ने सम्यक् प्रकार खोल श्रवणरूप मार्ग पर चलाय निदिध्यासनरूप ग्राममें ठहराय पश्चात् उसको उसके सत्चैतन्यरूप पिता के पास पहुंचाय निर्भय किया है। तिसका जिन कर्मों ने शरीररचके अपना भोगदेना है उन कर्मों को अपना फल देके समाप्तहोने पर्यन्त जीवन्मुक्त हुआ जीवता है, प्रारब्ध

क्षीणहुए शरीर से उत्क्रमण न होके "तत्रैव समवलीयन्ते" जहां तहांही अपने बिम्बरूप सत् आत्मा में अभेद एक विदेह मुक्त होता है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं सआत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवन् विज्ञापय त्विति तथा सौम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अक्षरार्थ ।

सो यह महासूक्ष्म है सोई यह सर्व का आत्मा है अरु यह सर्व जिसका अपना आप है सोई सत्आत्मा है, हे श्वेतकेतो! सोई सत् आत्मा तू है, इसप्रकार पिता ने कहा तब श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! पुनः भी मुझको समझायके कहिये, पिता ने कहा तथास्तु ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य! जिस महासूक्ष्म सत् चैतन्य का यह सर्व अपना आप है अरु जो इन सर्वका सत् आत्मा है, अरु आचार्यवान् पुरुष जिसको प्राप्त पुनरावृत्ति से रहित सोई रूप होते हैं, अरु अज्ञानी जिसको प्राप्त होके भी पुनः इस संसाररूप अरण्य को प्राप्त होते हैं, हे श्वेतकेतो! सो सत् आत्मा तू है। इसप्रकार जब पिता ने कहा तब श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! आचार्यवान् पुरुष जिस क्रम से उस सत् चैतन्यको प्राप्तहोते हैं सो मुझको पुनः भी दृष्टान्त द्वारा समझाय के कहिये, पिता ने कहा कहताहौं श्रवणकर ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः प्रारभ्यते ।

पुरुषꣳ सौम्येतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि

सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

अत्र षष्ठप्रपाठक में पन्द्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! पुरुष जब ज्वरादि रोग करके तपायमान होता है उसकी ज्ञाति के बान्धवलोग उससे पूछते हैं तू हमको जानता है हमको जानता है (वो कहता है मैं जानताहौं सो तबतक कहताहै यावत् उसकी वाणी मनबिषे प्राप्त होती नहीं, मन प्राण बिषे प्राप्त होता नहीं, प्राण तेजबिषे प्राप्तहोता नहीं, तेज सत्रूप पर देवताबिषे प्राप्त होता नहीं तावत् वो जानता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! जब इस पुरुष का मरणकाल निकट आवता है उसके शरीर बिषे ज्वरादि सर्वरोग एकत्र होय उसको तपावते (व्याकुल करते) हैं तब उसकी ज्ञाति के वा पिता पुत्रादि परिवार उसके निकट आय पूछते हैं कि हे भाई ! तू हमको जानता है हम तेरे कौन हैं, वो कहता है हां मैं तुमको जानताहौं तुम हमारे अमुक २ हौ। सौम्य ! इस प्रकार वो मरणशील मुमूर्षु पुरुष कब कहता है कि यावत् उसकी वागादि इन्द्रियां मनबिषे नहीं प्राप्तहोतीं, अरु मन प्राणबिषे नहीं प्राप्तहोता, अरु प्राण तेजबिषे नहीं प्राप्त होता अरु तेज सत् देवता बिषे नहीं प्राप्तहोता तावत् जानता है ॥ १ ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! जब उस मुमूर्षु पुरुष की वाक् मन बिषे प्राप्त होती है मन प्राणबिषे प्राण तेजबिषे तेज परदेवता बिषे प्राप्तहोता है तब जानता नहीं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! जो संसारी जीवों का मरण क्रम है सोई विद्वानों का भी सत्सम्पत्ति क्रम है, तब अविद्वान् संसारियों से विद्वान् बिषे विशेषता कुछ न हुई ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! मरणसमय विद्वान् अविद्वान् दोनों की सत् पर्यन्त गति समान है, परन्तु जो अज्ञानी संसारी पुरुष हैं सो मरणकाल समय सत् को प्राप्त हुए भी वहां से उठके अपने पूर्व के संस्कार अभ्यास वश व्याघ्र, सिंह, वृकादि भाव वा देव मनुष्यादि भाव वा कीट पतङ्गादि भावको प्राप्त होते हैं । अरु विद्वान् तो वेदवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ शास्त्राचार्य के उपदेशजन्य ज्ञानरूप दीपक करके प्रकाशित सत् चैतन्य ब्रह्म आत्मा बिषे प्रवेश पाय पुनः वहां से फिरते नहीं । इस प्रकार का सत्सम्पत्तिक्रम है:-हे सौम्य ! जैसे मरणसमय अज्ञानी की वागादि इन्द्रियां मन बिषे जाती हैं, तैसेही ज्ञानीकी भी वागादि इन्द्रियां मनबिषे जाती हैं । अरु जैसे अज्ञानियों का मन प्राण बिषे जाताहै, तैसेही ज्ञानी का भी मन प्राण बिषे जाताहै । अरु जैसे मरण के समय अज्ञानी का प्राण तेजबिषे जाताहै, तैसेही ज्ञानी का भी प्राण तेजबिषे जाताहै । अरु जैसे अज्ञानी का तेज सत्बिषे जाताहै, तैसेही ज्ञानी का भी तेज सत् बिषे जाताहै ॥ हे सौम्य ! इस प्रकार मरणसमय अज्ञानी ज्ञानी की गति सत् पर्यन्त समान है । परन्तु हे सौम्य ! ज्ञानी अज्ञानी का यह भेद है जो ज्ञानी पुरुष ब्रह्मवेत्ता आचार्य से उपदेश पाय सत् असत्को विचार असत्य को त्याग सत्याभिसन्धी हुआ यावत् प्रारब्ध तावत् जीवता है पश्चात् देहत्यागान्तर वो सत्को प्राप्त होताहै सो ज्ञानी सत् बिषे गयाहुआ फेरके आवता नहीं ॥ अरु यह अज्ञानी पुरुष आचार्य के उपदेश अरु सत्यासत्य के विचारसे रहितहै, अतएव वो असत् काम कर्मों के संस्कार अपने साथ ले सत् बिषे जाताहै सो उसके असत् काम कर्मोंके संस्कारही सत्बिषे प्राप्तहुए को भी खींच ले आवते हैं । अरु इस अज्ञानी पुरुषों के रज्जुवत् कण्ठका बन्धन होय पशुवत् लोक व परलोक बिषे भ्रमावे है । हे सौम्य ! यह अज्ञानी पुरुष व्याघ्र सिंहादि

जैसे शरीरोंके अहंकार अभ्यास को अपने साथ ले जाते हैं सो अहंकार अभ्यासरूप उपाधिही उनको सत् से फेर ले आय अपने अनुसार पुनः व्याघ्र, सिंहादि वा देव मनुष्यादि वा कीट पतङ्गादि शरीराभिमान साथ जोड़ उन शरीरों के अनुसार क्रिया करावे हैं ॥ हे सौम्य! जैसे दो डली लवण की उनमें एक घृत साथ मिली चिकनी होवे अरु दूसरी रूखी होवे, उन दोनों डलियों को जल बिषे डालिये तहां जो घृतसाथ चिकनी हुई है सो तो ज्योंकी त्यों निकल आवती है, अरु जो रूखी होती है सो जलबिषे गई जलरूप होती है। हे सौम्य! ये लवणकी दोनों डली जल का समान कार्य हैं परन्तु जो घृतादि चिकनाई साथ मिलके चिकनी हुई है सो अपने कारण जल बिषे गईहुई भी ज्योंकी त्यों निकल आवती है क्योंकि वो चिकनाई उसको कारण साथ एक होने देती नहीं। अरु जो लवणकी डली रूखी होती है सो चिकनाईरूप उपाधिके धर्म से रहित हुई जल बिषे गई जलरूप ही होती है॥ हे सौम्य! तैसेही यह ज्ञानी अज्ञानी सर्वजीव सत् चैतन्य के आभासरूप समान कार्य हैं परन्तु जो आभास से बुद्धिरूप उपाधिके धर्म काम कर्मादि रूप चिकनाई को अपने बिषे ले अपने सत्‌रूप कारण बिषे जाते भी हैं, तथापि वो उक्त चिकनाई करके युक्त होने से अपने कारण बिषे गयेहुए भी फेर निकल आवते हैं। अरु जो पुरुष आचार्यसे उपदेश पाय विचार रूप अग्निकरके नाना कामनारूप चिकनाई को अशेष अभाव करके अपने कारण सत् बिषे जाते हैं सो पुरुष एकबार सत् बिषे गये हुए फेरके आवते नहीं। हे सौम्य! इस प्रकार सत्सम्पत्ति का क्रम है॥ हे सौम्य! यहां जो श्रुति ने कहा है कि "अथ न जानाति" सत् चैतन्य को प्राप्त होके जानता नहीं, तिस करके सत् चैतन्य देव को ज्ञानरूप क्रिया से रहित केवल चिन्मात्र ज्ञान स्वरूपही लखाया है। उक्त श्रुति के श्रवण से सत् बिषे जड़ता की भ्रान्ति करनी नहीं क्योंकि उक्त भ्रान्तिका अविचारित संभव होता है जो यह जीव सत्को प्राप्तहोके भी कुछ जानता नहीं ताते प्रतीत होता है जो सत् जड़ है। परन्तु हे सौम्य! वास्तव करके सत् चैतन्य

में ज्ञानरूप क्रिया के कारण जे मन बुद्धि आदिक तिनका अभाव है ताते सुषुप्ति आदि उक्त तीनों स्थानों विषे उक्त करणों के अभाव हुए शुद्ध निर्विशेष सत् चैतन्य परदेव को ज्ञानरूप क्रिया के कर्तृत्व का अरु ज्ञान के विषयत्वपने का असंभव है । एतदर्थ शुद्ध अद्वितीय सत् चैतन्य केवल ज्ञानरूप अस्तिमात्र तत्त्व है । इस प्रकार विचार निश्चय अभ्यास अनुभव करो–: ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! कोई एक पुरुष श्रुति प्रमाण ऐसा भी कहते हैं जो "शतश्चैकाच हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" मस्तक की सुषुम्णा नाम्नी नाड़ीद्वारा जो शरीर से उत्क्रमणकरते (जाते वा निकलते) हैं सो सत् को प्राप्तहोते हैं, अरु आप मरणसमय सर्वजीवों को सत् की प्राप्ति समान कहतेहो, अतएव अब यहां जैसा होवे तैसा कहिये ॥ उत्तर ॥ हे सौम्य ! वो पुरुष असत्य कहते हैं । हे सौम्य ! उक्त नाड़ी के मार्ग से योगी प्रणव के उपासक समाधि के करनेवाले शरीर त्याग सत्यलोक को प्राप्त होते हैं वहां ब्रह्मा के मुखसे ज्ञानोपदेश पाय मोक्ष होते हैं । उनका जो सत्यलोकरूप फल है सो देशकाल के निमित्तवाला है उन योगियों ने अपने लिये देशकाल के निमित्त से प्राप्त होनेवाला सत्यलोकरूप फल अभिसन्धान किया है, अतएव वो अपने उक्त नाड़ीरूप मार्ग से जानेवाले हैं, जो वस्तु देशकाल के व्यवधानवाली होती हैं सो असत् होती हैं उनका अनुसन्धान करनेवाले असत्याभिसन्ध होते हैं । अरु जो सत् आत्मानुसन्ध ब्रह्म आत्मा के अभेददर्शी हैं तिनको जो सुस्वरूप की प्राप्तिरूप फल सो देशकाल के व्यवधान से रहित है ताते ज्ञानवान् का शरीर से उत्क्रमण बने नहीं । क्योंकि उत्क्रमण का निमित्त जे अविद्या काम कर्म सो उसने ज्ञानाग्नि करके निःशेष भस्म किया है, ताते उसको शरीर से उत्क्रमण होने की अप्राप्ति है । वो ज्ञानवान् गमन की सर्व उपाधि के अभाव से जहां है वहां सत्रूपही होताहै । वो अविद्या काम कर्मादि सर्वको ज्ञानाग्नि से भस्म करनेवाला विद्वान् नदी समुद्रवत् सत्रूप समुद्र को प्राप्तहो सत्रूप ही होता है । तथाच । "यथा नद्यः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे

विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवन् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ ।

सो यह जिसको महासूक्ष्म कहा है सोई यह सर्व का आत्मा है अरु यह सर्व जिसका अपना आप है सोई सत्य है सो आत्मा है हे श्वेतकेतो ! सोई सत् सर्वात्मा तू है, इस प्रकार पिता ने कहा तब श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन् ! पुनः भी मुझको समझाय के कहिये पिता ने कहा तथास्तु ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार मरण के समय महासूक्ष्म सत् चैतन्य पर्यन्त सर्वजीवों की गति समान है, परन्तु जिस सत् बिषे गया हुआ अज्ञानी ज्योंका त्यों निकल आवता है अरु ज्ञानी जिस बिषे गयाहुआ पुनरावृत्ति से रहित सत् चैतन्य विज्ञानघन ही होता है, सोई अणुवत् महासूक्ष्म सर्वका सत् आत्मा है हे श्वेतकेतो ! सोई सत सर्वात्मा तू है । इस प्रकार जब पिता ने कहा तब श्वेतकेतु ने कहा। हे भगवन् सो महासूक्ष्म सत् आत्मा मैं ही हौं, अस्तु । परन्तु हे भगवन् मुझको पुनः एक संशय हुआ है कि उस महासूक्ष्म सत् चैतन्यबिषे यह ज्ञानी अज्ञानी सर्वजीवसमान प्राप्त होते हैं तहां ज्ञानी पुरुष तो उस सत्बिषे गयाहुआ पुनरावृत्ति से रहित सत्रूपही होता है। अरु अज्ञानी पुरुष उसको प्राप्त होके भी पुनः वहां से निकल इस संसार के भ्रमबिषे भ्रमते हैं तिसके कारण को जानना मैं इच्छताहौं, अतएव मेरे इस संशय की निवृत्ति के लिये पुनः भी आप दृष्टान्त द्वारा मुझको समझाय के कहिये । इस प्रकार जब श्वेतकेतु ने प्रश्न किया तब

उद्दालक ने कहा तथास्तु, हे सौम्य! तेरे संशय की निवृत्ति के लिये पुनः कहता हौं सावधानहो के श्रवण कर ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः॥ १५ ॥

अथ छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके षोडशः खण्डः प्रारभ्यते।

पुरुषꣳ सौम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्त्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथहन्यते ॥१॥

अब षष्ठप्रपाठक में सोलहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे सौम्य! चौर्यकर्म के कर्त्ता पुरुषको 'राजकीयपुरुष (सिपाही) हाथ पकड़के लेजाता है (तब वो कहता है मुझको क्यों लेजातेहौ, तब वो कहते हैं) तैंने इसकी चोरी किया है, वो कहता है मैंने चोरी नहीं किया, तब उसकी परीक्षा के लिये परशु (लोहमयपिण्ड) को तपावते हैं, यदि वो उस चौर्यकर्म का कर्त्ता होताहै तब वो अपने आत्मा को असत् करता है, तब वो अनृताभिसन्ध चोर पुरुष अनृत करके अपने आत्मा को अन्तर्द्धाय उस तप्तलोहपिण्ड को ग्रहण करता है तब वो जलता है तब राजपुरुष उसको मारते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! किसी एक धनवान् पुरुष के यहां तस्कर ने चोरी किया परन्तु उस धनी पुरुष ने उसको चोरी करते देखा नहीं तथापि चोरके भ्रम से उस धनी ने वा राजकीय पुरुष (सिपाही) ने उन दोनों पुरुषों के हाथ बाँध राजा के पास लेचलने को उद्यतहो उनसे कहने लगे कि जो तुमने इसका धन चोराया है सो देदेवो तब उन दोनों ने कहा हे भाई! हमने इसका कुछ भी चोराया नहीं। तुम इसके कहने से हमको बन्धन में क्यों करते हौ, तब पुनः राजपुरुषों ने कहा कि तुमने चोरी किया है हे सौम्य! उन दोनों पुरुषों के मध्य (कि जिन

को चोर के भ्रम से पकड़लिया) एक चोर था अरु दूसरा अचोर (सत्य) था परन्तु चोर के भ्रम से पकड़ दोनों को लिये, तब पुनः राजकीयपुरुष ने कहा कि यदि तुमने चोरी नहीं किया तथापि हम तुमको तुम्हारी परीक्षा के लिये राजा के पास लेजावेंगे जो तुम उस परीक्षा में सत्य ठहरोगे तो बन्धन से मुक्त होवोगे अरु जो चोर ठहरोगे तो ताड़ना अरु दण्ड पावोगे। ऐसा कह राजकीयपुरुष उन दोनों को राजा के पास लेगये अरु उनके साथ वो धनीपुरुष भी गया, उन राजपुरुषों ने उन सर्व को राजा के समक्ष खड़े करादिये तब उस धनी पुरुष ने कि जिसका धन चोरों ने हरण किया था राजा से विनय किया कि हे राजन्! इन पुरुषों ने हमारा धन हरण किया है परन्तु पूछने से हमको यह बतावते नहीं अतएव आप इनसों पूछिये। तब राजा ने उन दोनों में से एक को प्रथम पूछा कि तूने इसका धन चोराया होय तो हमारे समक्ष सत्य २ कहदे, तब उसने कहा हे राजन्! मैंने इसका कुछ भी चोराया नहीं अरु हम जानते भी नहीं कि चोरी क्या होती है, तब उससे राजा ने पुनः कहा कि अब तू सत्य क्यों नहीं कहता जो सत्य न कहेगा तो तुझको दण्ड होगा, ताते जैसा होय तैसा कहदे, तब पुनः भी उसने वोही उत्तर दिया परन्तु था वो चोर राजा के समक्ष अपने चौर्यकर्म को छिपावता था। तब राजा ने अपने भृत्यों को आज्ञा किया कि हे भृत्यो! यह चोर है इस प्रकार कहने का इनका स्वभाव ही होता है अतएव अब इसके हाथपर रखने के लिये एक लोहमयपिण्ड को तपावो जब वो लोहपिण्ड इसके हाथ पर रक्खा जावेगा तब यह चोर वा सत्य जैसा होगा तैसा आपही प्रकट हो आवेगा, इस प्रकार जब राजाने कहा तब राजा की आज्ञा से भृत्यलोग लोहपिण्ड तपावने लगे अरु पुनः भी उन राजपुरुषों ने उस चोर से कहा कि अबभी तू अपने किये चौर्य कर्म को राजा के समक्ष कहदे न तु राजा तुझको दण्ड देवेगा, तब उस चौर्यकर्म के कर्त्ता चोरपुरुष ने कहा कि जो तुमको राजा की आज्ञा होय सोई करो हमने तो चोरी त्रिकाल में भी किया नहीं। हे सौम्य! इसप्रकार कहके वो चोरपुरुष अपने अन्तर

विचारने लगा कि जो यह सर्व मुझको धमकावते हैं सो इस लिये धमकावते हैं जो यह किसी प्रकार कहदेवे सो इनका स्वभावही होता है, अरु यह जो मेरे लिये लोह का पिण्ड तपावते हैं सो मेरे हाथपर रखेंगे नहीं क्योंकि कोई २ राजा दयालु भी होते हैं, ऐसा विचार वो चोरपुरुष अपने मनमें कहता हुआ। हे सौम्य ! जो पुरुष सत्य होता है सो अपने मनमें उक्त प्रकार का विचार कर अनृताभिसन्ध होता नहीं वो अपने सत्यके आश्रय निर्भय रहता है। हे सौम्य ! जब उस चोरपुरुषने चोरी को स्वीकार (कबूल) न किया तब उस राजा ने लोहका पिण्ड अग्नि बिषे सम्यक्प्रकार तपवाय उस चोरके हाथ में धरारखवाय सहित मन्त्र के वो गोला रखवाया तब वो अग्नि करके तप्त लोहपिण्ड उस अनृताभिसन्ध चोर पुरुष के हाथ को जलाय आप पृथिवी पर गिरपड़ा, तब उस राजा ने चोर के हाथ जले देख उसको चोर निश्चयकर और भी ताड़ना करवाय कारागार में डाल उसका गृहधनादि सर्व लूटलिया, अरु अन्य लौकिक पुरुषों ने भी उस अनृताभिसन्ध चोर पुरुष के निन्दित कर्मको देख बहुत से धिक्कारी के वचन कहे ॥ १ ॥

अथ यदि तस्याकर्त्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्द्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दाह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

हे सौम्य ! यदि उस चौर्यकर्म का अकर्त्ता होता है तो उस करके ही अपने आत्मा को सत्य करता है सो सत्याभिसन्ध हुआ सत्य करके अपने आत्मा में अन्तर्द्धाय तप्त लोहपिण्ड को ग्रहण करता है तब सो जलता नहीं तब उसको छोड़ देते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! जो सत्य पुरुष है कि जिसको चोर के भ्रम से पकड़ लिया है, अरु जो चौर्यकर्मका कर्त्ता होता नहीं तिसको भी वो राजा

चोरवत् धमकायके पूछता है कि जो तैंने इस धनीका धन चोराया होय तो हमारे समक्ष सत्य २ कहदे नतु तेरे हाथमें भी लोहपिण्ड तपायके रक्खा जावेगा। तब वो सत्यपुरुष कहता है कि मैंने तो चोरी किया नहीं अरु मैं जानता भी नहीं कि चोरी किसको कहते हैं। इस प्रकार जब वो सत्यपुरुष कहता है तब उसकी परीक्षा के लिये वो राजा लोहमय पिण्डको अग्नि बिषे सम्यक् प्रकार तपाय के उसके हाथपर रखवावता है। हे सौम्य! वो राजा जब उस सत्यपुरुष के हाथ पर रखनेके लिये लोहपिण्डको तपवावताहै तब वो सत्याभिसन्ध (सत्य को अनुसन्धान करनेवाला) पुरुष अपने चित्तबिषे विचारता है कि यह राजा एक तो क्या किन्तु शत लोहपिण्ड तपाय के भी मेरे हाथ में धरेगा तो भी यह अग्निदेव मुझको जलावने का नहीं क्योंकि मैं सत्य हौं मैंने चोरी किया नहीं। इस प्रकार वो सत्यपुरुष सत्याभिसन्ध हुआ अपने आपको सत्य करता है, अरु वो राजा उसके हाथ पर भी चोरवत् तप्तलोहपिण्ड धरवावता है, तब वो सत्यधर्मा अग्निदेव उस सत्यपुरुष को जलावता नहीं अर्थात् वो सत्याभिसन्ध पुरुष तप्तलोहपिण्ड करके जलता नहीं, तब उस सत्यपुरुष को राजा छोड़देता है। अरु अन्य पुरुष भी उस सत्याभिसन्ध पुरुष की प्रशंसा करते हैं। हे सौम्य! उस तप्त लोहपिण्डका उन सत्याभिसन्ध अरु असत्याभिसन्ध दोनों पुरुषों के हस्ततल (हथेली) को समान स्पर्श होते सन्ते भी उस चौर्यकर्म के कर्त्ता असत्याभिसन्ध पुरुष का हाथ जलता है नतु सत्याभिसन्ध का अर्थात् उस सत्याभिसन्ध पुरुष का हाथ अग्निदेव जलावता नहीं ॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्यविजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठःप्रपाठकः समाप्तिमगात् ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ।

सो जैसे नहीं जलता, सोई महासूक्ष्म सर्वका आत्मा जिसका यह सर्व अपना आप है सोई सत् है सोई सत् आत्मा हे श्वेतकेतो! तू है, इस प्रकार जब पिता ने उपदेश किया तब पुत्र श्वेतकेतु ने कहा सो स्पष्ट मैंने जाना है, द्विवचन अध्याय समाप्त्यर्थ है ॥ ३ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य! सो जैसे सत्याभिसन्ध पुरुष तप्तलोहपिण्ड के ग्रहण करने करके जलता नहीं अरु तिससे इतर असत्याभिसन्ध पुरुष तप्तलोहपिण्ड के ग्रहणरूप क्रिया करके जलता है। तैसेही सत् ब्रह्मको सत्याभिसन्ध करनेवाला अरु उससे इतर असत्य संसाराभिसन्ध करनेवाला यह दोनों पुरुष अपने शरीरपात (मरणकाल) समय सत् चैतन्य को समान प्राप्त होते हैं, परन्तु जो अपने आप आत्मा को यथार्थ अनुभव करनेवाला सत्याभिसन्ध है सो सत् चैतन्य ब्रह्म को प्राप्त होके पुनः व्याघ्रादिभाव वा देव मनुष्यादिभाव को प्राप्त होता नहीं, वो सत् विषे गयाहुआ पुनरावृत्ति से रहित सत्ही होता है, अरु जो यथार्थ आत्मानुभवसे रहित अविद्वान् असत्य देहादि अनात्म विकाराभिसन्ध पुरुष हैं सो सत् विषे गयेहुए भी पुनः सत् से निकल व्याघ्रादिभाव वा देव मनुष्यादिभाव "यथा कर्म यथाश्रुतं" कोही प्राप्त होतेहैं॥ हे सौम्य! जो सर्वबन्धनों से मुक्त आचार्यवान् सत्याभिसन्ध, समस्त जगत् का मूल (कारण, अधिष्ठान) आयतन (आश्रय) अरु प्रतिष्ठा (लयस्थान) है अरु जो सर्वप्रजा का आत्मा अपना आप है अरु सर्वप्रजा जिसका आत्मभूत अपना आप है अरु जो यह अमृत अभय है अरु जो अद्वितीय शिव (आनन्दघन) है सोई सत् है, हे श्वेतकेतो! सोई सत् आत्मा है सोई सत् आत्मा तू है। इस प्रकार उद्दालक पिता ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को दृष्टान्त युक्तिपूर्वक नवबार सत् आत्मा का उपदेश किया तब वो श्वेतकेतु सर्वसंशय विपर्यय से रहित अपने आपको सत्चैतन्य यथार्थ अनुभवकर कहता हुआ कि हे भगवन्! अब मैंने आपकी

कृपा से अपने आप सत्य स्वरूप को ज्यों का त्यों स्पष्ट जाना है सो सर्वात्मा सत् मैंही हौं ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! यह आपने दृष्टान्त कहाहै अब इस का दार्ष्टान्तभूत सिद्धान्त कृपा करके कहिये जो यहां चोर कौन है? अरु सत्यपुरुष कौन है ? वस्तु क्या है ? राजा कौन है इत्यादि सर्व समझाय के कहिये ॥ गुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! हे प्रियदर्शन ! अब उक्त दृष्टान्त का दार्ष्टान्तभूत सिद्धान्त को भी सावधान होके श्रवण करो । हे शिष्य ! जो पुरुष अन्तर से नाना प्रकार की कामनाओं को लेरहे हैं अरु बाहर लोक बिषे अपने को विरक्त कहावते हैं। अथवा जो पुरुष संस्कृत वा भाषा के दो एक ग्रन्थ देखके लोकों वेदान्ती ज्ञानी अपने को विख्यात करते हैं अरु यथार्थ आत्मानुभव से शून्य हैं, अरु अन्तर बिषे नाना प्रकार की वासनाओं को लेरहे हैं सो पुरुष उस सत्राजा के दरबारके चोर हैं ऐसा जानो । अथवा जो पुरुष अपने अन्तःकरण बिषे त्रिगुणात्मक विषयों की वासना अरु कर्तृत्व भोक्तृत्वभाव छिपाय के लेरहे हैं अरु बाह्य लोकदृष्टिमात्र अपनी विरक्तता को प्रकटकर साधु कहावते हैं उन पुरुषों को तुम चोर जानो अथवा जो पुरुष अपने अन्तर पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा इन तीनों एषणाको छिपाय के लेरहे हैं अरु बाह्य संन्यासियों का स्वांग धारण किये फिरते हैं कहते कुछ और हैं करते कुछ और हैं अन्तर में कुछ और है, ऐसे पुरुषों को भी तुमने उस सत् राजा के दरबार के चोर जानने हे सौम्य ! ऐसे चोर पुरुष जब सत्राजा के दरबार में पकड़ेजाते हैं तब वो सत् राजा इनसे पूछता है जो तुम वहां से छिपाय के कुछ ले आये हौ, वा सर्व को त्याग के खाली आये हौ, अब यहां सत्य कहदेओ, तब वो पुरुष ऐसा कहते हैं जो हम वहांसे छिपाय के कुछ भी नहीं लेआये खाली आये हैं । हे सौम्य ! इस प्रकार ये चोर पुरुष जब सत् राजा के दरबार में असत्य बोलते हैं तब उन पुरुषों की मन्द वृत्ति जो अन्त के समय अनेक काम कर्म विषय वासना के संस्कारों

को अपने बिषे लेके प्राण बिषे लयहुई है सो वहां सत् राजा के दरबार बिषे प्रकट होय के कहती है जो हे राजन् ! यह पुरुष असत्य कहता है ताते जब आप इसको दण्ड दीजियेगा तब इसका सत्य असत्य आपही प्रकट हो आवेगा दण्डदिये विना ये सत्य २ कहने का नहीं । हे सौम्य ! इस प्रकार जब उक्त मनोवृत्ति सत् राजा के दरबार में प्रकट होके कहती है तब तिसको श्रवण कर वो सत् राजा भी तीनों गुणों की साम्यता मायारूपा लोहपिण्ड आध्यात्मिकादि त्रिविध तापरूप अग्निबिषे तपायके इन चोर पुरुषों के हाथपर रखवावता है । हे सौम्य ! जिस काल में वो मायारूपा तप्त लोहपिण्ड इन पुरुषों के हाथ पर धरागया तिसही काल आध्यात्मिकादि तापोंने इनको जलाया तब तिस ही माया के कार्य जे पञ्चविषयात्मक नाना नामरूप तिनकी जो कामना कि जिसको यहां से चोरायके लेगये हैं सोई वहां स्वप्नवत् स्फुरण हो प्रकट हो आवती हैं, तब वहां भोगों की वासनात्मक वृत्ति सत्राजा की आज्ञानुसार उन पुरुषों को अन्य देहकी प्राप्तिरूप जगत् में फेंक गर्भवासरूप कारागार में डाल देती है, तब जिस अग्नि बिषे तपाहुआ मायारूपी लोहपिण्ड सत् राजा के दरबार में इन्हों ने उठाया है सोई अग्नि इस असत्यवादी चोरों को अद्यावधि रात्रि दिन जलावताही रहता है, अरु उन चोर जीवों की संसार बिषे निन्दाही होती रहती है जो देखो इसने पूर्वजन्म बिषे कोई बड़े भारी पाप किये हैं सो अब तिन पापों का फल भोगता है अरु यह इसही योग्य है, इत्यादि प्रकार लोक बिषे परस्पर में एक दूसरे की निन्दा करते हैं । हे सौम्य ! उस सत् राजा का बड़ा भय अरु प्रताप शासन है, देखो सत् के दरबार बिषे असत्य बोलने के अर्थात् सत्के त्यागने के अपराध से इन जीवों को त्रिविध तापरूप अग्नि बिषे जलतेहुए कल्प कल्पान्तर व्यतीत होगये आज पर्यन्त भी इनको शान्ति की प्राप्ति हुई नहीं ॥ हे सौम्य ! माया अरु तिसका कार्य आकाशादि पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, यम, कुबेर, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, पिपीलिकादि जीवों में से जो कोई किसी प्रकार की कामना को अपने

अन्तर चोराय के सत् राजा के दरबार बिषे जाते हैं सो सर्व उक्तप्रकार वहां से फेंके जाते हैं । अतएव ब्रह्मादि सर्वदेवता उस सत् राजा की आज्ञानुसार अपने सत्य धर्म पर खड़ेहुए हैं अरु उसही के भय से अपने २ कार्य में प्रवृत्त होरहे हैं । तथाच । " भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः " " भिषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदयति सूर्यः " " एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि " इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से ॥ शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! अब उन चोरों को यहां कैसे जानिये जो यह सत्राजा के दरबार के चोर हैं ॥ श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! यह जो तुमको स्थावर जंगम जीव दृष्ट आवते हैं सो सर्वही उस सत् राजा के दरबार के चोर हैं, क्योंकि यह सर्व सत् राजा के दरबार से निकाले हुए इस जाग्रत्रूप जगत् बिषे आये हैं, हे सौम्य ! अब इनको ऐसे जानो जो पुरुष जिस कामना को अपने बिषे लेके उसही के कर्म में प्रवृत्त रहते हैं सो पुरुष उसही कामना के संस्कार पूर्व शरीर में अपने बिषे लेके सत् राजा के दरबार बिषे गये हैं सोई कामना इनको सत् राजा के दरबार में चोर ठहराय वहां से निकाल इस जाग्रत्रूप जगत् में ले आय त्रिविध तापरूप अग्नि करके जलावती ही रहती है । हे सौम्य ! जैसे यह जीव जिन काम कर्मों के संस्कार अपने बिषे लेके सुषुप्ति बिषे जाते हैं सो जागके पुनः उसही काम कर्मों को करते हैं । तैसेही इस त्रिगुणात्मक जगत् बिषे जो जीव जिन काम कर्मों के संस्कार अपने बिषे लेके मरणसमय उक्त क्रमसे सत् बिषे जाते हैं सो अपने उनहीं संस्कारों को लेके पुनः इस जाग्रत् जगत् बिषे आय उनहीं के अनुसार कर्मों को करते हैं । अतएव हे सौम्य ! अपने पूर्व संस्कारों करके स्वभावही से जिन काम कर्मों बिषे लगेहुए हैं सो पुरुष पूर्व जन्म बिषे उनहीं कामकर्मों के संस्कारोंको चोरावनेवाले चोर हैं, सो चाहे सात्त्विकी के होवें चाहे राजसी के होवें चाहे तामसी के होवें इस विषय में नियम नहीं । ताते यह सर्वही जीव चोर हैं, इसही करके यह त्रिविध तापरूप अग्नि करके जलते ही रहते हैं अरु लोक लोकान्तर में इनकी निरादरी ही होती है किसी भी स्थान बिषे इनको

शान्ति की प्राप्ति होती नहीं। जैसे वायु तृण को अधः ऊर्ध्व सर्वत्र भ्रमावता है कहीं भी ठहरने देता नहीं, तैसेही नाना कामनारूप वायु इन जीवरूप तृणों को स्वर्ग नरकादि अधः ऊर्ध्व को भ्रमावताही रहता है कहीं भी विश्राम लेने देता नहीं ॥ हे सौम्य! इस ब्रह्माण्डबिषे सत्य पुरुष तो एक ब्रह्मवेत्ता है अन्य नहीं क्योंकि "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से वो ब्रह्मवेत्ता सत् चैतन्य ब्रह्मस्वरूप होता है, सो पुरुष जहां जाता है सत्कार, प्रतिष्ठा, पूजा, आदर को पावता है "ब्रह्मलोके महीयते" इत्यादि प्रमाण से, क्योंकि वो मोक्षादि सर्वकामना से रहित निष्काम हुआ है, ऐसे पुरुष सतबिषे गयेहुए फेरके आवते नहीं। वो नदी समुद्रवत् सत साथ मिलके सतरूपही होते हैं ॥ शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! वो ब्रह्मवेत्ता आचार्य भी अन्यपुरुषोंवत् इस संसारबिषेही पायेजाते हैं ताते वो भी पूर्वजन्म के चोर होवेंगे आप उनको सत् कैसे कहते हो ॥ श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य! यह जो ब्रह्मवेत्ता आचार्य तुमको दृष्ट आवते हैं कि जिनकी निष्ठा व्यवधानसे रहित सर्वदा अपने सत्स्वरूप बिषे ही रहती है अरु वो जो बोलते हैं सत्यही बोलते हैं, ऐसे जे सतनिष्ठ सत्यवादी आत्मवेत्ता पुरुष हैं सो पूर्वजन्म बिषे अपने आप सत् आत्मस्वरूप की प्राप्ति की कामना से आत्मकामा हुए विवेकादि साधनसम्पन्न होय आत्मा का श्रवण मनन करते हैं अरु तहां उनको आत्म साक्षात्कार हुए विनाही उनका देहपात होताहै तब वो आत्म प्राप्ति की कामना के संस्कार अपने बिषे लेके उक्त क्रम से सत राजा के दरबार बिषे जाते हैं सो उसही कामना को लेके फिर यहां आवते हैं, अरु उसही कामना के आश्रय यहां श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य साथ मिल तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का यथार्थ ज्ञानपाय सम्यक् आत्मसाक्षात्कार स्थिति पाय यहांही सत्चैतन्य विज्ञानघन सर्वात्मा होते हैं, अरु यावत् उनके देह का प्रारब्ध अपना भोग देके नाश नहीं होता तावत् जीवन्मुक्त हुए इस संसार बिषे पद्मपत्र वा आकाशवत् सर्व से असंग हुए विचरते हैं, अरु देह प्रारब्ध भोग के आवान्तर जो कोई मुमुक्षु पुरुष उनकी शरण आय प्राप्तहो अपने सर्व दुःखों को स्पष्ट कहता है

तब वो परमदयालु आचार्य उसको दुःखी देख प्रथम उसके विवेकरूप चक्षु से अज्ञानरूप पट्टीखोल पश्चात् उसको नाना प्रकार की कामना-रूप अन्य बन्धनों से छोड़ाय आत्मा के श्रवण मननरूप मार्गपर चला-वते हैं, तब वो मुमुक्षु उस मार्गपर चलता हुआ प्रथम निदिध्यासनरूप ग्राम में निवासकर पश्चात् अपने आप सत्आत्मा के साक्षात्काररूप नगर को प्राप्तहो 'अहं ब्रह्मास्मि' भावरूप राजसिंहासन पर बैठ आ-वागमन से रहित शान्त आत्मा होता है । हे सौम्य ! ऐसे जीवन्मुक्त ब्रह्मवेत्ता आचार्य देह प्रारब्ध भोगाय विदेहमुक्त हो सत्बिषे गये सत्-रूपही होते हैं वो पुरुष सत्बिषे गये फेरके आवते नहीं ॥ हे सौम्य ! जिसको वेदने "अणोरणीयान्" इत्यादि स्त्रवाक्य से अणु से भी अणुतर महासूक्ष्म सत् आत्मा कहा है सोई परब्रह्म सत्रूप सर्वात्मा कहा है हे सौम्य ! सोई महासूक्ष्म सत् सर्वात्मा तूही है, तुझसे इतर तेरा सत् आत्मा अन्य कोई नहीं ॥ शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! सो सत् आत्मा मैंहीहौं अब मैंने आपकी कृपा उपदेशसे अपने आप सत् आत्म-स्वरूपको यथार्थ साक्षात् ज्यों का त्यों अनुभव कियाहै ताते जो आप अरु वेद ने कहा है सो सत्यं, सत्यं, सत्यं, सत्यही है ॥ हे भगवन् ! यह जो नामरूपात्मक लीला रचीहुई है सो सर्व मेरी सत्ता की रचीहुई है अरु यह बर्तती भी मेरी सत्ता के आश्रय है, अरु परिणाम में लय मेरी सत्ताबिषे ही होती है । हे प्रभो ! अब मेरी सत्ता को मैंने यथार्थ अनुभव किया है क्योंकि इस सर्व नामरूपात्मक लीला का अधिष्ठान प्रकाशक साक्षी आत्मा मैंही हौं मुझसे इतर इसका अधिष्ठानप्रकाशक साक्षी अन्य कोई नहीं, ताते यह सर्व नामरूपात्मक जगत् मेरे बिषे कहनेमात्र है मैंही अपनी इच्छा से इस प्रकार सुशोभित हुआ हौं अतएव सर्व सत्ताओं का सत् एक अद्वितीय आत्मा मैं हीहौं 'सत्हौं, सत्हौं, सत्हौं' ॥

हे भगवन् ! पूर्व श्वेतकेतु अपने को क्या मानके पिता के समीप आया था अरु अब पिता के उपदेशसे अपने आपको क्या मानताहुआ सो भी आप कृपा करके कहिये ॥ श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! पूर्व श्वेत-

केतु अपने को यह मानके आया था कि मैं श्वेतकेतु हौं उद्दालक का पुत्र हौं मैं चारो वेद पढ़ सर्व दिशाका जय करके आया हौं मेरे समान विद्या बिषे और कोई नहीं अतएव अब मैं किसके आगे नमस्कार करूंगा किन्तु किसी के भी आगे नहीं । हे सौम्य ! इस प्रकार असत्य अनात्म अहङ्कार को अपने बिषे धार नम्रभाव से रहित हुआ वो श्वेतकेतु शुष्ककाष्ठवत् अपने पिता के समक्ष आय खड़ा हुआ । तब उसके पिता ने उसको नम्रभाव से रहित शुष्ककाष्ठवत् महाअहङ्कारी देख उसको अपने शुद्धकुल बिषे कलङ्करूपजान उसके अनात्म असत्य अहङ्कार को दूरकरने के लिये उससे प्रश्न किया कि हे पुत्र ! तू उस विद्या को पढ़ा है वा नहीं कि जिस एक के श्रवण से अश्रवण कियाभी श्रवण किया होता है अरु जिस एक के मनन करने से अमनन किया भी मनन किया होता है अरु जिस एक के जानने से अविज्ञात भी जाना जाता है । तब श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! उस विद्या को मैं नहीं पढ़ा आप उसको कृपाकरके कहिये । तब उद्दालक ने पूर्वोक्त तेज जल अन्न इनतीनों तत्त्वों के स्थूल सूक्ष्म कार्य कारणात्मक सर्वसंघात को कहके कहा कि हे सौम्य ! इस नामरूपात्मक लीला को प्रकट करने की इच्छा से जिस सत्चैतन्य ने आदर्श बिषे पुरुष के अरु जलादिकों बिषे सूर्यादिकों के प्रतिबिम्बवत् प्रवेश किया है, ऐसा कह पश्चात् उस श्वेतकेतु शब्द के वाच्य संघातविशिष्ट चैतन्य को स्थूल सूक्ष्म सर्व उपाधि से पृथक् करके कहा कि हे श्वेतकेतो ! जिस सत् चैतन्य आत्मा ने इस नामरूपात्मक लीला के प्रकट करने के लिये इस संघात को प्रकटकर प्रवेश किया है सो महासूक्ष्म सत् चैतन्य सर्वात्मा तूही है ॥

इस प्रकार जब उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा तब तिसके श्रवण से वो श्वेतकेतु प्रथम तो उस सर्वात्मा को न जानके कहता हुआ कि हे भगवन् ! पुनः भी मुझको समझाय के कहिये, तब पिता ने उसके संशय विकल्प की निवृत्ति के लिये अरु सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिये दृष्टान्त युक्तिपूर्वक नव बार सत् आत्मा का उपदेश किया कि हे श्वेतकेतो ! जो महासूक्ष्म सत्चैतन्य सर्वात्मा है सोई सत्चैतन्य

सर्वात्मा तू है ॥ हे शिष्य ! इस प्रकार जब उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को नव बार उपदेश किया तब वो श्वेतकेतु अपने आप सत् आत्मा को यथार्थ अनुभव कर पिता से कहता हुआ कि हे भगवन् ! अब मैंने अपने आप सत् स्वरूप को सम्यक्प्रकार ज्यों का त्यों जाना है मैं ही सत् आत्मा हौं मुझसे इतर मेरा सत् आत्मा और कोई नहीं 'सत्यं, सत्यं, सत्यं' ॥ शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! श्वेतकेतु को सत् की प्राप्त बिषे क्या लाभ होता हुआ ?॥ श्रीगुरुरुवाच ॥ हे शिष्य ! उस श्वेतकेतु को सत् की प्राप्ति बिषे यह लाभ होता हुआ जो त्वंपद के वाच्य जीवत्वभाव का अभाव अरु तत्पद के वाच्य सत् चैतन्य सर्वात्मभाव की प्राप्ति, उस तत्पद के वाच्य सत् बिषे त्वं आरोपमात्र था तिस आरोप का अभाव होके जो अवशेष तत्रहा सोई तत् सत् श्वेतकेतु ज्योंका त्यों होता हुआ । हे सौम्य ! जो सत् मन वाणी का विषय नहीं सो सत् आत्मा श्वेतकेतु आपही था सो पितारूप आचार्य के उपदेश द्वारा अपने आप को आपही श्रवण करता हुआ, अपने आपको आपही मनन करता हुआ, अरु अपने आपको आपही साक्षात् विषय जानता हुआ, इस प्रकार श्वेतकेतु अपने आप बिषे द्वैत के अभावपूर्वक अपने आपको सत्चैतन्य सर्वात्मा अनुभव करताहुआ ॥ शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! जब वो श्वेतकेतु आपही सत्स्वरूप था तब पिता से वारंवार क्यों प्रश्नकरता हुआ, अरु उस सत् का स्वरूप कैसा है ? सो भी आप कृपा करके कहिये ॥ श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! वो श्वेतकेतु प्रथम से सत्स्वरूप तो थाही परन्तु उसको अज्ञानकृत अनात्माबिषे अहंभाव होनेसे वो अपने आपको भूलाथा, अरु तिस करके अपनेको अहंकर्त्ता अहंभोक्ता अहंजीव इत्यादि मानता था, सोई उसके आगे अनात्म अहंकाररूप परदा था ताते वो विवेकशून्य था, अतएव उसके पिता ने उसके उक्त आचरण को गिरायके कि जिसके प्रतिभास से अनात्म बिषे आत्मप्रतीति थी, आप उदालक तूष्णीं हो रहा क्योंकि वो श्वेतकेतु सत्स्वरूप तो आगेही सिद्ध था, उसके पिता ने उससे यह नहीं कहा कि हे श्वेतकेतो ! वो सत् किसी अन्य स्थान में है

तिसको तुम अन्वेषण करो । उसके पिता ने तो उसके सर्व विकल्पों को मिटायके यही उपदेश किया कि हे श्वेतकेतो ! सो सत् आत्मा तू है, तब उसने भी अन्त बिषे यही कहा कि सो सत् आत्मा मैंही हौं अब मैने अपने आपको अनुभव कियाहै ॥ शिष्य उवाच ॥ हे भगवन् ! जब वो श्वेतकेतु सत्स्वरूपही था तब वो अपने आप सत्स्वरूप को भूला कैसे ? सो भी आप कृपाकरके कहिये ॥ श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! अब इसको हम एक दृष्टान्तद्वारा कहते हैं तिसको भी श्रवण करो, हे प्रियदर्शन ! जैसे यह जीव अपने को जीव मानते सन्ते भी अपने जीवभाव से भूलेहुए हैं क्योंकि यह जीव साक्षात् अपने देह इन्द्रिय मन प्राणादिकों से पृथक् होके ऐसा कहते हैं कि हे भाई ! अब हमारा शरीर दुर्बल अशक्त वृद्ध होगया है, हमारी सर्व इन्द्रियां शिथिल होगई हैं, प्राण व्याकुल होरहा है, हमारा मन अमुक वस्तु को इच्छता है, इस अवस्था में हमारी बुद्धि विवेकशून्य जड़वत् होरही है कुछ भी समझ बिषे आवता नहीं । इत्यादि प्रकार सर्व जीव बुद्धिआदिकों से आपको पृथक् भी कहते हैं तथापि अपने जीवभाव को जानते नहीं । हे शिष्य ! तैसेही यह मलिन अन्तःकरण अनात्माभिमानी अज्ञ पुरुष उपनिषदादि सत्शास्त्र को श्रवण विचार करके भी अपने आप वास्तविक सत्यस्वरूप को जानते नहीं तिसका कारण यह भी है कि मन इन्द्रियों के साथ मिल अनादिकाल से विषयादिकों के सम्मुख बहिर्मुख होरहे हैं, जब यह आत्मा की ओर अन्तर्मुख होवें तब अपने सत्यस्वरूप को यथार्थ ज्यों का त्यों अनुभव करके जाने, परन्तु इनको अन्तर्मुख होना दुर्लभ है क्योंकि इनका बहिर्मुख स्वभाव अनादिकाल से होरहा है । हे सौम्य ! यह सर्व पुरुष अपने आपको अनादिकाल से जानबूझ के भूलेहुए हैं, क्योंकि सज्ञात सत्पुरुष अरु सत्शास्त्रद्वारा अपने सत्चैतन्य आत्मस्वरूप को श्रवण करते हैं अरु तिस श्रवण के अनुसार विचारते भी हैं तथापि मानते नहीं जब इनके पूर्व जन्मों के अतिउत्तम मोक्ष करनेहारे पुण्य कर्म एकत्र होय अपना फल देने के लिये सम्मुख होते हैं तब इनके अन्तःकरण बिषे असाधारण वैराग्यपूर्वक आत्मजिज्ञासा उत्पन्न

कर इनको ब्रह्मवेत्ता आचार्य के समीप प्राप्त करते हैं, तब उस परम-दयालु आचार्य की कृपाकरके यह जीव अपने सत्चैतन्य आत्मस्वरूप को यथार्थ साक्षात् अनुभवकर परमनिर्वाण ब्रह्मानन्दशान्ति को प्राप्त होते हैं। अतएव हे सौम्य ! अब तुमभी ब्रह्मनिष्ठ आचार्य साथ मिल अपने सत्यस्वरूप को प्राप्त होवो ॥ अलम् ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ६ ॥
हरिः ॐ तत्सत् ॥

अथ सामवेदीयछान्दोग्योपनिषदः सप्तमोत्तरार्द्धस्य तृतीयप्रपाठकस्य भाषा टीका प्रारभ्यते ॥

इस प्रपाठक में भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार अरु देवऋषि नारद के संवादरूप आख्यायिकाद्वारा मध्यम अधिकारी के परमश्रेयार्थ मुख्य आत्मविद्या अरु तिसकी सर्वोच्चमता प्रकाशित है। अरु इस विषे भगवान् सनत्कुमार ने नारद के प्रति सोपानारोहण क्रम करके आत्मोपदेश किया है । अर्थात् जैसे कोई पुरुष ऊंचे स्थानपर चढ़ता है तब नसेनी (सीढ़ी वा जीने) के नीचे के पाद रखने के दण्डे से क्रमसाथ चढ़ताहुआ ऊपर के स्थान को प्राप्त होता है। तैसेही परमाचार्य योगेश्वर भगवान् सनत्कुमार ने नारद को नाम से लेके प्राणपर्यन्त पञ्चदश उपासना कहके पूर्व पूर्व से उत्तरोत्तर को अधिकतर देखाय प्राण से पूर्व पूर्वों की अपेक्षा प्राण को सर्व का आश्रय होने से उसकी सर्व से अधिकता देखाय पश्चात् भूमा का उपदेश किया है ॥

इति ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठके प्रथमः खण्डः प्रारभ्यते।

ॐ ॥ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं

नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्द्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥

अब सप्तम प्रपाठक में प्रथम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

सनत्कुमार से नारद ने कहा कि हे भगवन् ! मुझको उपदेश करिये, सनत्कुमार ने कहा जो तू जानता है सो मुझ से कह तिसको श्रवण किये पश्चात् मैं कहोंगा ॥ १ ॥

भावार्थ ।

श्रीगुरुरुवाच ॥ हे सौम्य ! एक समय देवऋषि नारद जो सर्वविद्या सम्पन्न था सो आत्मविद्या की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) अपने चित्त बिषे धार विचारता हुआ कि मैं वेदादि सर्वविद्या पढ़ाहौं परन्तु चित्त बिषे शान्ति नहीं अतएव अब आत्मविद्या अध्ययन करनी चाहिये वो शान्ति का कारणहै तिस विना शान्ति होनेकी नहीं, परन्तु वो विद्या किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आत्मानुभवी आचार्य से अध्ययन करनी योग्यहै, सो उक्त प्रकार के आचार्य भगवान् सनत्कुमार हैं, अरु वो मेरे ज्येष्ठ भ्राता भी हैं अतएव जैसा वो उपदेश करेंगे तैसा और कोई भी करने का नहीं, ऐसा विचार वो नारद अपने ज्येष्ठ भ्राता योगेश्वर ब्रह्मनिष्ठ सनत्कुमार के समीप प्राप्तहोय प्रणामकर विनयपूर्वक यह कहता हुआ कि हे भगवन् ! आप आत्मविद्या जानते हो सो मुझ को अध्ययन कराइये अर्थात् आत्मविद्या मुझ को उपदेश करिये । हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब सर्वविद्यासम्पन्न सो सर्वविद्या के अहंकार को त्याग नम्रभावपूर्वक आत्मविद्या का जिज्ञासु होय यथानाय (समिधादि ग्रहणाकर) अपने निकट आय प्राप्त हुआ जो देवऋषि नारद तिसको सनत्कुमार कहतेहुए कि हे नारद ! जो कुछ तुझने अध्ययन किया है सो सर्व प्रथम मुझको कह सुनाव तिसको मैं भलीप्रकार जानलेवोंगा तब तिसके उपरान्त जो कुछ मुझको कहना होगा सो सर्व तेरे प्रति कहोंगा ॥ १ ॥

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदछं सामवेदमा-
थर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य-
छं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्म-
विद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याछं सर्पदेवजन-
विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

सो नारद स्पष्ट कहता हुआ हे भगवन् ! ऋग्वेद मैंने अध्ययन किया है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्वणवेद, पञ्चम इतिहास, पुराण (भारत) वेदों का वेद (व्याकरण) श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, दैवी उत्पातशास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदों का ब्राह्मण भाग वा शिक्षा, कल्पादि वेदाङ्ग, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र, गारुड़ीविद्या, गन्धर्वविद्या, शिल्पविद्या । हे भगवन् ! यह सर्व मैंने अध्ययन किया है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्तप्रकार जब भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार ने देव ऋषि नारद से कहा कि जो कुछ तुझ ने अध्ययन किया होय सो सर्व प्रथम मुझसे कह सुनाव तिसके श्रवण किये पश्चात् जो कुछ मुझे कहना होगा तुम्हारे प्रति कहोंगा । इस प्रकार जब योगेश्वर ब्रह्मवेत्ता सनत्कुमार ने कहा तब वो देवऋषि नारद कहता हुआ कि हे भगवन् ! मैंने ऋग्वेद अध्ययन किया है सो सर्व मुझको अर्थ सहित याद है, तैसेही यजुर्वेद भी मैं पढ़ाहौं सो भी मुझको स्मरण है, सामवेद भी मुझको स्मरण है, अरु चतुर्थ अथर्वण वेद भी मैं पढ़ाहौं सो स्मरण है, हे भगवन् ! सर्ववेदों का समुच्चय जो पञ्चम प्राचीन इतिहास भारतहै सो भी मैं पढ़ाहौं, अरु जिसकरके पदविभाग से वेदादिक सर्व के अर्थ जाने जाते हैं ऐसा जो वेदों का वेद व्याकरण सो भी मैं पढ़ाहौं, अरु पितरों के लिये श्राद्धादिकों का बोधक जो श्राद्धकल्प सो भी मैं पढ़ा हौं, हे भगवन् ! गणितशास्त्र कि जिसकरके सूर्यादिकों की गति

अरु ग्रहों का वेध ग्रहण आदिक जाने जाते हैं सो भी मैं पढ़ा हौं, अरु जिस शास्त्र से दैवी उत्पात दुर्भिक्षादि जाने जाते हैं सो भी मैं पढ़ा हौं, अरु महाकालादि निधि शास्त्र भी मैं पढ़ा हौं, अरु वाकोवाक्य कहिये तर्कशास्त्र सो भी मैं पढ़ा हौं, अरु एकायन कहिये नीतिशास्त्र सो भी मैं पढ़ा हौं, अरु देवविद्या जो निरुक्त सो भी मैं जानता हौं, अरु ब्रह्मविद्या जो ऋग्, यजु, साम इन वेदत्रयी का ब्राह्मणभाग वा शिक्षा कल्पादि वेदाङ्ग सो भी मैं जानता हौं, अरु भूतविद्या कहिये भूततन्त्र (तन्त्रविद्या) सो भी मैं पढ़ा जानता हौं, अरु क्षत्रविद्या कहिये धनुर्विद्या जिसकरके अस्त्र (समन्त्र) शस्त्र (अमन्त्र) बाणादि शस्त्र चलावने की क्षत्रियों की विद्या सो भी मैं पढ़ा जानता हौं, अरु नक्षत्रविद्या ज्योतिषशास्त्र जिसकरके जीवों का भविष्यत् शुभाशुभ जाना जाता है सो भी मैं पढ़ा हौं, अरु सर्प देवजनविद्या कहिये सर्पादिकों के विष उतारने की गारुड़ीविद्या, अरु नृत्यगायन आदि गन्धर्वविद्या, अरु गृहादि रचने की शिल्पविद्या मैं जानता हौं । हे भगवन् ! इत्यादि सर्वविद्या मैंने अध्ययन किया है अरु सर्वही मुझको स्मरण है (तथापि शान्ति नहीं) ॥ २ ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृश्येभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवञ्छोकस्य पारं तारयत्विति होवाच तं यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

हे भगवन् ! सो मैं मन्त्रवेत्ताही हौं आत्मवेत्ता नहीं, हे भगवन् ! मैंने आप सारिखे आत्मवेत्ता से ही श्रवण किया है कि आत्मा का जानिवाला शोक से तरजाता है, हे भगवन् ! सो मैं शोक को प्राप्त हुआ हौं मैं तिस मुझको हे भगवन् ! आप शोक के पार को प्राप्त करो । इस प्रकार जब नारदने कहा तब सो सनत्कुमार कहतेहुए कि जो कुछ तैंने अध्ययन किया है सो सर्व यह नाममात्रही है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

नारद उवाच ॥ हे सौम्य ! नारद कहता हुआ कि हे भगवन् ! मैं कि जिसने उक्त सर्व विद्या अध्ययन किया है तिन सर्वविद्या के जा- नते सन्ते भी मैं केवल मन्त्रवेत्ताही हौं अर्थात् उक्त सर्व विद्याओं का केवल शब्दार्थमात्र जाननेवाला मैं हौं । अरु सर्वही शब्द अभिधान (नाम) मात्रहीहै सो सर्वमन्त्रके अन्तर होताहै ताते मैं मन्त्रवेत्ता अर्थात् मन्त्रवेत्ता कहने से केवल कर्मवेत्ताही हौं । तथाच । "मन्त्रा कर्माणीति" । मैं आत्मवेत्ता (आत्मानुभवी) नहीं ॥ शङ्का ॥ नन्ु आत्मा भी तो मन्त्र करके प्रकाशित (प्रतिपाद्य) है तब कैसे नारद मन्त्र वेत्ताही है आत्मवेत्ता नहीं ॥ समाधान ॥ हे सौम्य ! तुम जो शङ्का किया सो नहीं क्योंकि नाम नामीका वा प्रतिपाद्य प्रतिपादक का जो भेद है तिसको विकारी होनेसे, अरु शुद्ध आत्मा बिषे उक्त वि- कार कोई नहीं ॥ शङ्का ॥ ननु जिसको तुम निर्विकार आत्मा कहते सो भी 'आत्मा' इस शब्द करके कहा जाताहै ॥ समाधान ॥ यह शङ्का बने नहीं क्योंकि "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" "यत्र नान्यत्पश्य- तीति" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से आत्मा को वाणी आदिकों का विषय न होनेसे आत्माबिषे अभिधेय अभिधान नहीं ॥ शङ्का ॥ जो ऐसे ही है तो कैसे । "आत्मा वै अधस्तात् स आत्मेति" । इत्यादि श्रुति शब्द करके अर्थात् नाम करके आत्मा को कहती हैं ॥ समाधान ॥ हे वादिन् ! यह जो तैंने कहा सो दोष नहीं क्योंकि देहयुक्त प्रत्यगात्मा भेद का विषय होनेसे आत्मा शब्द की प्रवृत्ति है ॥ :—अर्थात् अनात्म देह बिषे व्याप्त जे प्रत्यगात्मा तिसको देहरूप अनात्मा के सम्बन्ध से पृथक् करके लखावने के लिये आत्मा शब्द से कहते हैं वास्तव करके उस अशब्दबिषे आत्मा आदि शब्दों की प्रवृत्ति बने नहीं—: ॥ जैसे अदृश्यमान राजा के दृश्यमान जे छत्र, ध्वज, पताकादि तिनके देख- से अदृश्यमान राजा के बिषे यह राजा दृश्य आवता है इस शब्द की प्रवृत्ति होती है, तहां इस शब्द का प्रयोग होताहै कि 'यह कौन राजा है, दृश्यमान जे राजा के विशेष छत्र ध्वज पताकादि तिनके निरूपण

करके अदृश्यमान जे राजा तिस बिषे यह कोई राजा है इस प्रकार की प्रतीति होवेहै । तैसेही देहादिक जे अनात्मा आत्मशब्द का वाच्य तिस बिषे शब्द की प्रवृत्ति होती है, अशब्द आत्मा निर्विशेष चैतन्यबिषे नहीं, अरु अनात्मा जड़ देहादिकों के सर्व व्यापर में प्रवृत्त देखने से यह कथन होताहै कि इन जड़ देहादिकों की स्वस्वव्यापार में प्रवृत्ति है सो किस सत्ता की कीहुई है, इनकी प्रवर्त्तक कोई चैतन्य सत्ता है । इस प्रकार शब्दादिकोंका विषय जे देहादिक तिनबिषे शब्द की प्रवृत्ति होनेसे तद्विशिष्ट आत्मा में भी शब्द की प्रवृत्ति है, स्वयंशुद्ध आत्माबिषे शब्दादिकों की प्रवृत्ति नहीं । अतएव नारद केवल वेदादिकों के मन्त्र के शब्दार्थ अरु तिन मन्त्रों का जिन कर्मों बिषे विनियोग है तिनहीं का ज्ञाता है आत्मवेत्ता नहीं-॥ एतदर्थही नारद ने कहा कि हे भगवन्! मैं केवल मन्त्र करके लक्षित जे कर्म तिनहीं का जाननेवाला हौं । अर्थात् मन्त्र करके लक्षित जे कर्म तिनहींका कार्यरूप विकार यह समस्त प्रपञ्च है, अरु मैं कर्मोंका वेत्ता हौं ताते मैं विकारवित् (जाननेवाला) हौं, मैं आत्मवेत्ता नहीं, अर्थात् मैं अपने आप आत्मस्वरूप को जानने वाला आत्मज्ञ नहीं । हे भगवन्! मैंने आप सारिखे वेदवेत्ता आचार्योंसे इस प्रकार के श्रुति वाक्य श्रवण किये हैं कि । "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" । जहांसे वागादि इन्द्रियां निवृत्त होती हैं (फिर आवती हैं) अर्थात् जो आत्मतत्त्व मन इन्द्रिय आदिकों का विषय नहीं, तिस आत्मतत्त्व को । "आचार्यवान् पुरुषो वेद" । आचार्यवान् पुरुष सम्यक् प्रकार जानताहै । अरु आत्मवित् पुरुष सर्वशोकों से तरजाता है । हे भगवन् ! सो मैं (जो केवल विकारवेत्ता हौं) सो अकृतार्थ बुद्धिकरके सर्वदा अन्तर से तापायमान ही रहता हौं, हे भगवन् ! तिस शोकाविष्ट मुझ को आप आत्मविद्या उपदेश करके इस दुस्तर शोकसागर से पारकरिये, अर्थात् मुझ को कृतार्थ बुद्धि उपजाय अभयपद को प्राप्तकरिये, अब मेरे परम आचार्य आपही हौ ॥ हे सौम्य ! इस प्रकार देवऋषि नारद ने अपने को कृतार्थ बुद्धि की प्राप्तिपूर्वक अतिदुस्तर शोकसागर से पार अभयपद प्राप्ति के लिये ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ योगेश्वर भगवान् सनत्कुमार आचार्य

से प्रार्थनाकिया तब उसको श्रवणकर भगवान् सनत्कुमार कहतेहुए कि हे नारद ! जो किञ्चित् तैंने अध्ययन किया है अरु जिसका तुम्ह को अर्थज्ञानहै सो सर्व नाममात्रही है—॥ अर्थात् ऋग्वेदादि विद्या अध्ययन करके जो तैंने जानाहै सो सर्व नाममात्र ही जाना है, अरु। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"। इत्यादि श्रुति प्रमाण से नाम जो है सो केवल वाचारम्भणमात्रही है ॥ ३ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणश्च तुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशि दैवी निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूत विद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पजनदेवविद्या नामैवैतन्ना मोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्वणवेद, पञ्चम प्राचीन इतिहास (भारत) व्याकरण, श्राद्धकल्प गणितविद्या, दैवी उत्पातविद्या, निधिविद्या, तर्कविद्या, नीतिविद्या, नि रुक्त, ब्राह्मणभाग वा शिक्षा, कल्पादि वेदाङ्ग, भूततन्त्रविद्या, धनुर्विद्या ज्योतिषविद्या, गारुड़ीविद्या, गन्धर्वविद्या, शिल्पविद्या यह सर्व नामही है यह नाम उपास्य (उपासना करने योग्य) है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब नारदजी ने अपनी अध्ययन करी ऋ ग्वेदादि सर्वविद्या भगवान् सनत्कुमार को कह सुनाई तब ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ सनत्कुमारों ने विचार किया कि यह नारद अनेक प्रकार की विद्या पढ़ा है अरु उन विद्याओं बिषे कहे जे नाना सिद्धान्त सो सर्व संस्काररूप से इसके अन्तःकरण बिषे स्थित हैं ताते तिनके अनुसार इसके अन्तःकरण बिषे अनेक प्रकार के संशय विकल्प स्थित हैं, यावत् उन सर्वका अभाव होगा नहीं तावत् इसको आत्मसाक्षात्कार भी होने का नहीं । अरु यह नारद अन्य सर्व आचार्य को त्यागके श्रद्धापूर्वक

समित्पाणि हुआ मेरे निकट आया है ताते इसको आत्मोपदेश करके शोकसागर से पार भी अवश्य करना है, अतएव इसको बाह्य स्थूल नामोपासना से लेके अन्तर सूक्ष्म प्राणोपासना पर्यन्त देखाय उन सर्व को गिराय इसके सर्व संशयादि दूरकर पश्चात् इसको सर्वका आश्रय महासूक्ष्म भूमाख्य सत् चैतन्य आत्मा का उपदेश करें। हे सौम्य! इस प्रकार विचार भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार नाम ब्रह्म की उपासना से प्रारम्भ प्राण ब्रह्म की उपासना पर्यन्त कहेंगे तहां पूर्व २ उपासना को कह तिसका फल देखाय पश्चात् उसको उत्तरोत्तर उपासना से गिराय पूर्व २ से उत्तरोत्तर की विशेषता देखाय नारद के सर्व संशय दूरकर प्राणोपासना की मुख्यता देखाय तिसके पश्चात् सर्वाधिष्ठान भूमाख्य सत् आत्मोपदेश कर उस नारद को अकृतार्थता बुद्धिरूपा शोकसागर से पारकरेंगे तहां प्रथम नामोपासना कहते हैं—॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! ऋग्वेद आदि यावत् विद्या तू पढ़ा है सो सर्वनामही है, अरु नाम जो है सो ब्रह्मबुद्धि करके उपास्य है अर्थात् जैसे शालग्रामादि प्रतिमा विष्णुआदि देवता बुद्धि करके उपासनीय हैं तैसे नाम भी ब्रह्म बुद्धि करके उपासनीय है ॥ ४ ॥

सयो नामब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो नामब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अक्षरार्थ।

सो जो नामब्रह्म की उपासना करता है यावन्नामका विषय है तिस विषे जैसी कामना होती है सोई उसको प्राप्त होता है जो नामब्रह्म को उपासता है हे भगवन्! यह नाम ही ब्रह्म है वा इसका कोई और ब्रह्म है, हां नाम का भी कोई और ब्रह्म है, हे भगवन्! तिसको भी आप मेरे प्रति कहिये ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई नाम ब्रह्म की उपासना करता है तिसको जो फल प्राप्त होताहै सो श्रवण कर यावत् नाम का विषय है तहां तिस नाम के विषय बिषे जैसी कामना होती है, अर्थात् नाम के विषय बिषे जिस वस्तु की कामना होती है, सोई उस को प्राप्त होता है । जो नामब्रह्म की उपासना करता है । हे सौम्य ! इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! यह नाम ही ब्रह्म है किंवा इस नाम का भी कोई और ब्रह्म है । इसप्रकार जब नारद ने प्रश्न किया तब पुनः सनत्कुमार ने कहा हां नाम का भी कोई और अधिकतर ब्रह्म है, तब पुनः नारद ने कहा है भगवन् ! सो भी आप मुझको कहिये ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते ।

वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाक्योवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या, देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो विज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधुनासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्येति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में द्वितीयखण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! वागिन्द्रिय नाम का भूय (अधिक-

(ब्रह्म है। अर्थात् नाभिका, हृदय, कण्ठ, जिह्वा, तालु आदि स्थाना बिषे स्थित होत समस्त स्वर व्यञ्जनादि अक्षरों की अभिव्यञ्जक (प्रकाशकरनेवाली) है तिसको वागिन्द्रिय कहते हैं, अरु नाम जो है सो वर्णात्मक ही है, अतएव वाग् को नाम का भूमा कहते हैं। क्योंकि लोक बिषे कार्य का भूमा कारण को ही देखते हैं। जैसे पुत्र से पिता अधिकतर होताहै तैसे॥ प्रश्न॥ हे भगवन्! कैसे वाणी नाम का भूमा है॥ उत्तर॥ हे नारद! वाणी करके ही ऋग्वेद जाना जाता है कि यह ऋग्वेद है॥ :—अर्थात् ऋग्वेद का अध्ययन करता पुरुष जब वाणी करके ऋग्वेद का उच्चारण करता है तब जाना जाता है कि यह ऋग्वेद है—:॥ हे नारद! तैसेही यजुर्वेद सामवेद आदि सर्व वेदशास्त्र इतिहास पुराणादि वाणी करके ही जानाजाता है अर्थात् यावत् वाणी का विवर्त्त शब्दमात्र है सो सर्व वाणी से उच्चारित हुआ ही जानाजाता है, अरु हृदय का विषय अर्थात् जिस वार्त्ता के कहने की हृदय में इच्छा होती है, तिस को जब वाणी करके प्रकट कहता है तबहीं वो स्पष्ट जानाजाता है अरु तैसेही तिससे विपरीत अहृदयज्ञ इत्यादि सर्व वाणी करके ही जाना जाता है॥ हे नारद! जो कदापि वाणी न होवे तो अध्ययन का अभाव होवे अध्ययन के अभाव से अर्थ के श्रवण का अभाव होवे तिस अर्थ श्रवण के अभाव से न धर्म जाना जाय न अधर्म जाना जाय न सत्य जाना जाय न असत्य जाना जाय न साधु (श्रेष्ठ) जाना जाय न असाधु (अश्रेष्ठ) जाना जाय न हृदयज्ञ जाना जाय न अहृदयज्ञ जाना जाय। एक वाणी करके ही यह सर्व जाना जाता है, अर्थात् यावत् नामों के विषय हैं सो सर्व नाम करके ही जाना जाता है अरु सो नाम वाणी करकेही प्रकट होता है, अतएव यावत् नामका विषय है सो सर्व नाम सहित वाणी करकेही जाना जाता है। ताते हे नारद! यह वाणी ब्रह्मबुद्धि करके उपासना करने योग्य है। जैसे प्रतिमा देवबुद्धि करके॥ १॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचोगतं तत्रास्य यथा

कामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई (। "वाग्वै ब्रह्मेति"।) इस श्रुत्यन्तर के प्रमाण से भी, वाणी ब्रह्म की अर्थात् वाणी विषे ब्रह्म बुद्धि करके उपासना करताहै तिसको जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण करो हे नारद ! यावत् वाणी का विषय है तहां जिस विषय विषे जैसी कामना होती है सोई उसको प्राप्त होता है जो वाणी ब्रह्म को उपासता है । इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! यह वाणी ही ब्रह्म है अथवा इस वाणी का भी कोई अधिकतर ब्रह्म है । तब पुनः सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद ! इस वाणी का भी कोई और ब्रह्म है, इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब पुनः नारद ने कहा कि हे भगवन् ! जो वाणी का भी कोई अधिकतर ब्रह्म है तो हे भगवन् ! सो भी मुझको कहिये॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके तृतीयः खण्डः प्रारभ्यते ।

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वेवाकोले दौ वा क्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचञ्चनाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोका मनो हि ब्रह्म मन उपास्येति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में तृतीय खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! मन जो अन्तःकरण है सो वाणी का भूमा (अधिकतर) है क्योंकि मनही वाणी को वक्तृत्व व्यापार बिषे प्रेरणा करे है, अरु मन को वाणी बिषे व्याप्त होने से मन वाणी का भूमा होता है जैसेही लोक बिषे किसी पुरुष की मुष्टि के अन्तर (भीतर) दो आंवले के फल अथवा दो बदरी (बेरी) के फल होवें अथवा दो भिलावें के फल होवें तिन बिषे मुष्टि व्यापी होती है, अर्थात् सो मुष्टिकेही अन्तर होते हैं। हे नारद ! इसही प्रकार वाणी अरु नाम इन दोनों को आमलादि फलोंवत् मन अनुभव करता है ॥:– अर्थात् मनके अधीन वाणी अरु वाणी के अधीन नामहै ताते इन दोनों का प्रवर्त्तक अनुभवकर्त्ता मन को होने से मन इनका भूय (अधिकतर) है–:॥ हे नारद ! तिस काल में पुरुष अन्तःकरण करके अर्थात् मनोपलक्षित विवक्षा बुद्धि करके प्रथम विचार करता है कि किस प्रकार मन्त्र को अध्ययन करों (वेद अध्ययन करना चाहिये) इस प्रकार प्रथम विवक्षा करके पश्चात् अध्ययन करता है । तैसेही प्रथम कर्म करने को विचारके पश्चात् कर्म करता है । अरु जो पुत्र पशु आदिकों की इच्छा होती है तब प्रथम इच्छा करता है कि अपने को पुत्र पशु आदि होना चाहिये पश्चात् तिनके लिये कर्म करके उनको प्राप्त होता है । तैसेही इस लोक व परलोक की इच्छा से प्रथम उन की प्राप्ति के उपाय की विवक्षा करलेता है तब उस उपाय से यथेष्ट लोक को प्राप्त होता है । हे नारद ! आत्मा को जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व है सो मन करकेही है अन्यथा नहीं, मन को आत्मा कहते हैं मनही लोक है, सत्य ऐसाही है मन बिषे लोक होता है क्योंकि जिस लोक को मन इच्छता है तिसकी प्राप्ति के उपाय को अनुष्ठान करने से मन तिसलोक को प्राप्त होता है ॥:–अर्थात् मन के अधीन वाणी है वाणी के अधीन मन्त्र हैं मन्त्र के अधीन कर्म है कर्माधीन लोक है, अतएव

लोक की प्राप्ति परम्परा करके मनके अधीनही है–॥ ताते मनही ब्रह्म है जिस करके ऐसा है तिसही करके मन उपासना करनेके योग्य है ॥१॥

सयो मनोब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो मनोब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनोभूय इति मनसो वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई (" मनो ब्रह्मेत्युपासीत् " इत्यादि अन्यश्रुतियों के प्रमाण से भी) मन को ब्रह्म जानके अर्थात् मनविषयक ब्रह्मबुद्धि करके, मनकी उपासना करता है तिस को जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण कर, हे नारद ! यावत् मन का विषय है तहां जिस विषय बिषे जैसी कामना होती है सोई उसको प्राप्त होता है, जो मनकी उपासना करता है (तिसको) हे सौम्य ! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद प्रश्न करता हुआ कि हे भगवन् ! यह मनही ब्रह्म है अथवा मनका भी कोई और ब्रह्म है। तब सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! इस मनका भी अधिकतर इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद पुनः कहता हुआ कि हे भगवन् ! जो इस मनका भी कोई अधिकतर (ब्रह्म) है तो हे भगवन् ! सो भी मेरे प्रति कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठके चतुर्थः खण्डः प्रारभ्यते।

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्येत्यथवाचमीरयति तासु नाम्नीरयतिनाम्नि मन्त्रा एकं भवति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

अब सप्तम प्रपाठकमें चतुर्थ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! संकल्प मनसे अधिकतर है (अर्थात् संकल्प जो कर्तृत्वसम्बन्धी अन्तःकरण की वृत्ति कि अब कर्म करना चाहिये) इस संकल्प से पश्चात् मन करके विचारता है कि अब यह कर्म करना युक्त है, ताते प्रथम संकल्प होता है पश्चात् मन के विचार बिषे आवता है जो अब अध्ययन करें, तिसके अनन्तर वाणी समर्थ होती है मन्त्रादिकों के उच्चारण करने बिषे तब उसका नाम होता नाम से सम्पूर्ण वेद है सो वेद नाम बिषे एक होते हैं (अर्थात् सामान्य आभ के बिषे सम्पूर्ण वेद है सो वेद मन्त्र अन्तर्गत होता है। अर्थात् सामान्य के अन्तर्गत विशेष होताहै) वेद में सर्वकर्म एक होते हैं (अर्थात् एक सामान्य वेदके अन्तर विशेष मन्त्र हैं अरु सामान्य मन्त्र के अनन्तर सर्व कर्म होते हैं)॥ १॥

तानि ह वैतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशञ्च समकल्पतामापश्च तेजश्च तेषाꣳ संक्लृप्तौ वर्षꣳ सङ्कल्पते वर्षस्य संक्लृप्तावन्नं सङ्कल्पते ऽन्नस्यसंक्लृप्तौ प्राणाः सङ्कल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्तौ मन्त्राः सङ्कल्पन्ते मन्त्राणाꣳ संक्लृप्तौ कर्माणि सङ्कल्पन्ते कर्मणाꣳ संक्लृप्तौ लोकाः सङ्कल्पन्ते लोकस्य संक्लृप्तौ सर्वꣳ सङ्कल्पते स एष सङ्कल्पः सङ्कल्पमुपास्स्वेति॥ २॥

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! तिन प्रसिद्ध इन मन्त्रादिकों का संकल्प आयन (स्थान वा आश्रय) वाले होनेसे संकल्पायन कहते हैं अर्थात् संकल्प में जिनका गमन कहिये लय होय तिनको कहिये

संकल्प एकायन अरु नामादि सर्वको संकल्पात्मक होनेसे सर्वका उत्पत्ति स्थान भी संकल्प ही है। अरु संकल्पही उनका स्थितिकाल में आश्रय है (अर्थात् नामादि सर्व का एक संकल्पही कारण है, संकल्पही आश्रय है अरु संकलपही लय का स्थान है) सर्व संकल्प से ही है। द्यौ (स्वर्गलोक) अरु पृथिवी को संकल्प ही करता है, तैसे वायु अरु इस भूताकाश को संकल्पही करता है, तैसे वायु आकाश के संकल्प से जल अरु तेज को संकल्प ही करताहै, तिनका संकल्प करके वर्षा को संकल्प करता है, वर्षा का संकल्प करके अन्नको संकल्प करता है, अन्नके संकल्प से प्राणको संकल्प करता है, क्योंकि अन्नमय ही प्राण है। प्राण को संकल्पकर उससे मन्त्रों को संकल्प करताहै (क्योंकि प्राण करकेही मन्त्रादिकों के उच्चारण करने में समर्थ होता है, अप्राणवान् से मन्त्र शब्दके वाच्य वेदादिकों के अध्ययनका संकल्प बने नहीं) मन्त्रों का संकल्प करके अग्निहोत्रादि कर्मों को संकल्प करता है, (अर्थात् वेद करके प्रकाशित अनुष्ठान करने के योग्य अग्निहोत्रादि कर्मों को संकल्प करता है) तिन कर्मों को संकल्प के तिनके फल स्वर्गादि लोकों को संकल्प करताहै, लोकों को संकल्प के सर्व जगत् को संकल्प करताहै, ताते हे नारद! सो यह द्युलोक से लेकर तृण पर्य्यन्त समस्त जगत् संकल्पही है संकल्प से इतर कुछ नहीं, ताते संकल्प ब्रह्मबुद्धि से उपास्य है ॥ २ ॥

स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते संक्लृप्तान् वै सलोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्सङ्कल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः सङ्कल्पाद्भूय इति सङ्कल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई संकल्प को ब्रह्मबुद्धि से उपासता है उसको जो फल प्राप्तहोता है सो श्रवणकर । हे नारद ! संकल्प ब्रह्मके उपासक को संकल्प करके रचित ध्रुवप्रतिष्ठित लोक की प्राप्ति होती है अरु वो भी वहां अपने संकल्पपर्यन्त ध्रुव प्रतिष्ठित होताहै, अरु उनलोकों की प्रजा भी अचल है अरु वो भी सर्व व्यथा (दुःख) से रहित अव्ययमान होताहै, अरु यावत् संकल्प से रचित संकल्प का विषय है तिन विषे इसकी जैसी कामना होती है सोई इसको प्राप्त होता है, जो संकल्प ब्रह्मकी उपासना करता है । इसप्रकार जब सनत्कुमारने कहा तब नारद ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! यह संकल्पही ब्रह्म है अथवा इस संकल्प का कोई और भी अधिकतरहै । तब सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! संकल्प का भी कोई अधिकतर है इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद पुनः कहता हुआ कि हे भगवन् ! जो इस संकल्प का भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो भी आप मेरे प्रति कहिये ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चमः खण्डः प्रारभ्यते ।

चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथसङ्कल्पयतेऽथमनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में पञ्चम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! चित्त संकल्प का भूय (अधिकतर) है जब चित्त चेतता है तब संकल्प होता है । अर्थात् यह वस्तु मुझ को प्राप्त है, इस प्रकार प्राप्तिकाल में वस्तु का अनुसंधान अन्तःकरण की जिस वृत्ति करके होताहै तिसको चित्त कहते हैं । सो चित्त जब

चेतता (वस्तुके अनुसंधान के सम्मुख होता) है तब संकल्प होता है जब संकल्प होता है तब तिसके अनन्तर मन में विचार होता है, जब विचार होता है तब पश्चात् वाणी प्रकट होती है, तब तिसके अनन्तर वचन का नाम होता है, तिस नाम बिषे मन्त्र शब्द के वाच्य ऋगादि वेद एक होते हैं॥ः—अर्थात् सामान्य नामके अन्तर्गत विशेष वेद होते हैं अरु सामान्य वेद के अन्तर विशेष मन्त्र होते हैं—ः॥ अरु मन्त्र बिषे कर्म होते हैं। अर्थात् सामान्य मन्त्र बिषे विशेष कर्म एक होते हैं॥१॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनामाहुर्यदयं वेद यद्वाऽयंविद्वान्नित्यमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तछं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्ते प्रतिष्ठितश्चित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! तिन प्रसिद्ध इन संकल्प से लेके नामपर्यन्त का चित्त एक आयन है । अर्थात् चित्त में जिनका गमन कहिये पर्यवसान (लय) होय तिनको कहिये "चित्तैकायनानि" अरु नामादिसंकल्पपर्यन्त सर्वको चित्तात्मक (चित्तसे रचित) होने से सर्व का उत्पत्तिस्थान भी चित्तही है, अरु चित्तही के आश्रय हैं । अर्थात् नाम से लेके संकल्पपर्यन्त सर्व चित्तही से उत्पन्न होतेहैं चित्तही के आश्रय बर्तते हैं, अरु चित्तही में लय होतेहैं ताते सर्व चित्तही है। हे नारद ! अब चित्तका माहात्म्य श्रवणकर, जिसकरके चित्त संकल्पादिकों का मूल है तिसही करके बहुत से शास्त्र अरु तिनके अर्थ का परिज्ञाता होत सन्ते भी जो चित्त विनाका होय, अर्थात् प्राप्तादि चेतयितृत्व रहित ॥ः—अर्थात् प्राप्तकरने योग्य वस्तु के अनुसंधान सामर्थ्य से रहित—ः॥ होय तो तिसके अर्थ जो चित्तवान् निपुण लोक हैं सो

ऐसा कहते हैं कि यह चित्त विना का पुरुष विद्यमान होतसन्ते भी है
नहीं यह असद्भूत् है । अरु जो कोई थोड़े शास्त्र का जाननेवाला होके
भी अनुसंधान लक्षणवान् चित्त करके युक्त होय तो निपुण लोक उस
को अचित्त पुरुष से श्रेष्ठ जानके उसके वचनों को श्रवण करते हैं अरु
उसके वचनोंको मानके प्रशंसा करते हैं। हे नारद ! तिसही करके यह
चित्त संकल्पादिकों का एकायन (लयस्थान) है, अरु चित्तही उनका
उत्पत्ति स्थान है, अरु चित्तही संकल्पादिकों की प्रतिष्ठा (आश्रय)
है। ताते चित्त उपासना करने योग्य है चित्त की उपासना करो ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान् वै स लोकान्ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चमःखण्डः ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई चित्तब्रह्म की उपासना
करता है उस चित्त के उपासक को जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण
कर। हे नारद ! चित्तब्रह्म के उपासक को चित्तकरके रचित व्यथा से
रहित ध्रुवलोककी प्राप्ति होती है अरु उन लोकों की प्रजाभी व्यथा से
रहित ध्रुव होती है, अरु वो उपासक उनलोकों को प्राप्तहो व्यथा से
रहित ध्रुव होता है, अरु यावत् चित्त करके रचित चित्त का विषय है
तिन विषे इसकी जैसी जिस वस्तु की कामना होती है सोई उसको
प्राप्त होता है, जो चित्त को ब्रह्म जानकर उपासना करता है 'तिसको'।
हे सौम्य ! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद ने प्रश्न किया
कि हे भगवन् ! यह चित्तही ब्रह्म है अथवा इसका भी कोई अधिकतर
है। तब सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! इस चित्त का भी कोई अधिक-

तर है। तब नारद ने पुनः कहा कि हे भगवन् ! जो इस चित्त का भी कोई अधिकतर है तो सोभी आप मुझको कहिये ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चमःखण्डः॥ ५ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते ।

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौ ध्यायतीवापो ध्यायतीव पर्वता ध्यायतीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महतां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में षष्ठखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! ध्यान चित्त का भूय कहिये अधिकतर है, अर्थात् शास्त्रोक्त देवताओं के स्वरूप के आलम्बन करके तिन के स्वरूपाकार चित्त जिस उपाय से होवे तिसको ध्यान कहते हैं॥ अर्थात् देवतादिकों के ध्यान से चित्त एकाग्र अचल होताहै तब अनु संधानात्मक होय आगे संकल्प को करता है, ताते ध्यान चित्तका अधिकतर है—: ॥ हे नारद ! ध्यान का माहात्म्य लोकबिषे प्रकट देखते हैं ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! लोकबिषे ध्यान का माहात्म्य प्रकट कैसे देखते हैं ? ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! जिस काल में योगी ध्याननिष्ठ होता है तिस काल में ध्यान का फल जो चित्त की निश्चलता तिसको प्राप्त होता है ॥ :—अरु निश्चल चित्त होने के प्रभाव से सिद्धियों को भी देखता है—: ॥ हे नारद ! जब इस प्रकार है तब ध्यान करके ही यह पृथिवी निश्चल हुई आवती है, ध्यान करकेही अन्तरिक्ष निश्चल है, ध्यान करकेही द्युलोक (स्वर्ग) निश्चल है, ध्यानकरकेही जल

निश्चल है ध्यान करकेही पर्वत निश्चल हुए हैं, ध्यानकरकेही देव मनुष्य हैं, अर्थात् देवता अरु मनुष्य ध्यान करके ही निश्चल चित्तहैं। अथवा शम आदिक दैवीसम्पदा लक्षणरूप स्वभाव ग्रहण करके सम्पन्न मनुष्य देवभाव को प्राप्तहोता है सो ध्यानबल करके निश्चल हुआ अपने स्वभावरूप देवभाव को त्यागता नहीं। हे नारद ! जब देवावि-शिष्ट ध्यान है तब तिसही करके इस लोक बिषे मनुष्यों के मध्य जो धन करके विद्या करके गुण करके महत्त्व (श्रेष्ठपने) को प्राप्त होते हैं सो ध्यान ही का फल है। हे नारद! ध्यान की बहुतसी पाद, कला, अंश हैं उन में से जो कदापि ध्यान की एक कलाको भी प्राप्तहोता है तो वह मनुष्यों के मध्य महत्त्वपने को पावता है॥ हे नारद! मनुष्यों के मध्य जो कोई ध्यान की एक कलासे भी रहित है (ध्यानका कर्त्ता नहीं) सो "कलहिनः" कलहके स्वभाववाला, अरु "पिशुनः" पराये दोषों को देखनेवाला, अरु "उपवादिनः" अर्थात् दूसरे के दोषों को उसके समक्षही कहने के स्वभाव होवे जिसका उसको उपवादी कहते हैं॥:-अर्थात् जो ध्यानकला से रहित होता है उसका चित्त स्थिर न होने से वो पुरुष उक्त दोषों करके युक्त होता है-:॥ अरु जो धना-दिकों के निमित्त से महत्त्व को प्राप्त हुए हैं सो अन्यों के लिये विद्या दान के आचार्य अरु ईश्वरवत् पूजनीय होते हैं। अतएव ध्यान का माहात्म्य प्रकट हुआ आवता है जो चित्त से अधिकतर है ताते ध्यान उपासना करने के योग्य है (ध्यान की उपासना करो)॥ १॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति॥ २॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षष्ठः खण्डः॥ ६॥

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! जो कोई ध्यान को ब्रह्म जानकर

उपासना करता है तिसको जो फल प्राप्त होता है सो श्रवणकरो। हे नारद! ध्यान के उपासक को जो कुछ ध्यान का विषय है (अर्थात् ध्यान करके साध्य है) सो सर्व प्राप्त होता है ॥:—अर्थात् ध्यान ब्रह्म की उपासना करने से चित्त की एकाग्र निश्चलता अरु तिस करके धन, विद्या, प्रतिष्ठा, पूजनीयता, अष्टसिद्धिफल ध्यानब्रह्म के उपासक को प्राप्त होता है—:॥ ध्यान के विषय विषे जिस उपासक को जिसकी कामना होती है तिसको सोई प्राप्त होता है, यह ध्यान ब्रह्म की उपासना का फल है। इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद प्रश्न करता हुआ कि हे भगवन्! यह ध्यानही ब्रह्म है अथवा इस ध्यान का भी कोई अधिकतर है। तब सनत्कुमार कहते हुए कि हे नारद! इस ध्यान का भी कोई अधिकतर है। इस प्रकार जब सनत्कुमार ने उत्तर कहा तब पुनः नारद कहता हुआ कि हे भगवन्! जो इस ध्यान का भी कोई अधिकतर है तो उसको भी आप मुझसे कृपा करके कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षष्ठःखण्डः ॥ ६ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके सप्तमः खण्डः प्रारभ्यते।

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चान्नञ्च रसञ्चेमञ्च लोकममुञ्च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अथ सप्तमप्रपाठक में सप्तमखण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! विज्ञान ध्यान का भूय कहिये अधिकतर है ॥ अर्थात् शास्त्रों के अर्थविषयक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, अरु शास्त्रों के अर्थविषयक यथार्थज्ञान ही ध्यान का कारण है क्यों कि ध्यान करने की रीति शास्त्र के अर्थज्ञान से ही होती है तातें विज्ञान ध्यान का अधिकतर है ॥ प्रश्न ॥ सो विज्ञान ध्यान का अधिकतर कैसे है ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! विज्ञान करके ही ऋग्वेद जाना जाता है जो यह ऋग्वेद है, इस प्रकार ऋग्वेद के लक्षणक्रम को जानने से तिसके अर्थक्रम का ज्ञान होता है, तैसेही यजुर्वेद, सामवेद, अरु चतुर्थ अथर्वणवेद, यह चार वेद अर्थसहित एक विज्ञानकरके ही जाना जाता है । अरु तैसेही इतिहासपुराण (भारत) जिसको पञ्चमवेद कहते हैं सो अरु वेदों का वेद (व्याकरण) 'पित्र्यं' श्राद्धकल्प, 'राशिं' गणितशास्त्र, 'दैवं' दैवी उत्पात ज्ञानशास्त्र, अरु 'निधिं' महाकालादि निधिशास्त्र । अरु 'वाकोवाक्यं' न्यायशास्त्र । अरु 'एकायनं' नीतिशास्त्र । 'देवविद्या' निरुक्त । 'ब्रह्मविद्या' ब्राह्मणभाग वा शिक्षाकल्पादि वेदाङ्ग । अरु 'भूतविद्यां' भूततन्त्रशास्त्र । 'क्षत्रविद्यां' धनुर्वेद । 'नक्षत्रविद्यां' ज्योतिषशास्त्र । अरु 'सर्पदेवजनविद्यां' गारुड़ीविद्या, गन्धर्वविद्या, शिल्पविद्या । यह सर्वविद्या उक्त लक्षणवान् विज्ञानकरके ही जानी जाती है ॥ हे नारद ! स्वर्गलोक, पृथिवीलोक, वायु, आकाश, जल, तेज यह सर्व विज्ञान करके ही जाना जाताहै । अरु देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, तृण, वनस्पति, भ्रमर, कीट, पतङ्ग पिपीलिका आदि सर्व स्थावर जंगम प्रजा सोभी एक विज्ञान करके ही जाना जाता है । हे नारद ! तैसेही 'धर्म' (शास्त्रविहितकर्म) 'अधर्म' (शास्त्रनिषिद्धकर्म) 'सत्य' (सत्यभाषण वा वस्तुका यथार्थज्ञान) 'असत्य' (सत्य से विपरीत) अरु 'साधु' (सत्यादिधर्मका साधनेवाला) 'असाधु' (धर्मादिसाधनरहित) 'हृदयज्ञ' अरु 'अहृदयज्ञ' अरु सर्वका आश्रय 'अन्न' अरु 'रस' 'यह लोक' 'परलोक' आदि जो कुछ यथार्थ

जाना जाता है सो सर्व एक विज्ञान करके ही जानाजाता है। अतएव हे नारद ! विज्ञान उपासना करने योग्य है, ताते विज्ञान की उपासना करो ॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै सलोकान् ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति यावद्विज्ञानस्यगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इतिविज्ञानाद्वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके सप्तमःखण्डः ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई जिज्ञासु पुरुष विज्ञान को ब्रह्मजानकर उपासना करताहै तिसको जो फल प्राप्त होता है सो श्रवणकर । हे नारद ! जो विज्ञानको ब्रह्मबुद्धि से उपासता है सो उन लोकों को प्राप्तहोता है कि जहां सम्पूर्ण बुद्धिमान् विज्ञानी रहते हैं। अरु उसको भी उस स्थान में सर्व विज्ञान प्राप्त होताहै । हे नारद! उस उपासक को यावत् विज्ञान के अन्तर पदार्थ हैं अर्थात् यावत् विज्ञान का विषय है, तिन सबों में से जिसकी कामना करता है सो उस को प्राप्त होताहै (अथवा यावत् विज्ञान का विषय है तिन सर्वका वो अधिष्ठाता होता है) इस प्रकार जब योगेश्वर सनत्कुमार ने कहा तब तिसको श्रवणकर नारद प्रश्न करताहुआ ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! यह विज्ञान ही ब्रह्म है अथवा इस विज्ञान का भी कोई और अधिकतर है ॥ उत्तर ॥ सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! इस विज्ञान का भी कोई अधिकतर है । इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब पुनः नारद कहता हुआ कि हे भगवन् ! जो इस विज्ञान का भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो भी आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके अष्टमः खण्डः प्रारभ्यते।

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथो त्राता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयःश्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकास्तिष्ठन्ति बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में अष्टमखण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद ! बल विज्ञान का अधिकतर है, अर्थात् बल जो है सामर्थ्य सो विज्ञान का अधिकतर है, हे नारद ! हे सौम्य ! अन्न के भोजन करने से उत्पन्न होता है जो मन अरु शरीर का सामर्थ्य उसको बल कहते हैं, भोजन के न करने से मन वागादिकों के निर्बल होने से वेदादिक कुछ भी स्मरण होवे नहीं॥ "न मा प्रतिभाति भो, इतिश्रुत्यन्तरे"॥ ताते हे नारद ! यह लोकबिषे प्रकट है कि एक बलवान् पुरुष सौ विज्ञानवान् को कम्पायमान (अपने वश) करता है जैसे एक सिंह बहुत से हाथियों को अरु जब शरीर बिषे बल होता है तब आचार्य की सेवा शुश्रूषा होती है अरु जब आचार्य की सेवा शुश्रूषा करता है तब सो सेवक आचार्य को प्रिय होता है, अरु जब आचार्य को प्रिय होता है तब आचार्य के निकटवर्त्ती होता है। अर्थात् आचार्य उस अपने प्रिय सेवक को अपने निकटवर्त्ती करता है, अरु जब आचार्य के निकट होता है तब उसको सूक्ष्मदृष्टि होती है। अर्थात् सूक्ष्म वस्तु के जानने की सामर्थ्यवाला होता है, अरु जब सूक्ष्म

दृष्टि होती है तब आचार्य के उपदेश के श्रवण करने का अधिकारी होता है, अरु जब आचार्य के उपदेश को श्रवण करने का अधिकारी होता है तब निश्चय का अधिपति होता है, अरु जब आचार्य के वाक्यों में दृढ़ प्रतीतिवाला होता है, तब (वेदादिकों का) ज्ञाता होता है, जब जाननेवाला होता है तब कर्मों का कर्त्ता होता है, अरु जब कर्मों का कर्त्ता होता है तब कर्मों के फल स्वर्गादि लोकों का अधिपति (जय करने वा पावनेवाला) होता है ॥ हे नारद! बल जो है सामर्थ्य तिस करके ही पृथिवी स्थित है, बलही से अन्तरिक्ष स्थित है, बलही से द्यौ (स्वर्ग) स्थित है, बल करकेही पर्वत स्थित हैं, अरु बल करकेही देवता अरु मनुष्य स्थित हैं, अरु बल करके ही पशु, पक्षी, तृण, वनस्पतियां स्थित हैं, बलकरकेही भ्रमर, कीट, पतङ्ग, पिपीलिका आदि जन्तु स्थित हैं, अरु बलकरकेही सर्वलोक स्थित हैं, (अर्थात् लोक परलोक अरु तदाश्रित स्थावर जंगम सर्वप्रजा स्थित हैं) अतएव हे नारद! बल उपास्य है (बलकी उपासनाकरो) ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्तिभगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठकेऽष्टमःखण्डः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! सो जो कोई बल को ब्रह्म जानकर उपासना करता है उस उपासक को जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण करो । हे नारद! जो पुरुष बल बिषे ब्रह्मबुद्धि करके तिसकी उपासना करता है तिसको यावत् बल का विषय (बलकरके साध्यवस्तु) है तिनमें से जिस वस्तु की जैसी कामना वो उपासक करता है सोई उसको उपासना के प्रभाव से प्राप्त होता है, जो बलको ब्रह्म जानकर उपासना करता है 'तिसको, हे सौम्य! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने

कहा तब नारद प्रश्न करता हुआ कि, हे भगवन्! यह बलही ब्रह्म है अथवा इस बलका भी कोई और अधिकतर है। इस प्रकार जब नारद ने प्रश्न किया तब सनत्कुमार ने कहा कि, हे नारद! इस बल का भी कोई अधिकतरहै। तब पुनः नारद ने कहा कि, हे भगवन्! जो इस बल का भी कोई और अधिकतरहै तो हे भगवन्! सो भी आप मेरे प्रति कहिये॥ २॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठकेऽष्टमःखण्डः॥ ८॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके नवमः खण्डः प्रारभ्यते।

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति॥ १॥

अब सप्तम प्रपाठकमें नवमखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! अन्न बल का भूय कहिये अधिकतर है, अन्न को बल का हेतु होने से॥ प्रश्न॥ हे भगवन्! अन्नको बल का हेतुपना कैसे है, इस प्रकार जब नारद ने प्रश्न किया तब सनत्कुमार उत्तर कहते हुए॥ उत्तर॥ हे नारद! जिस करके बल का कारण अन्न है तिसही करके अन्न बल का अधिकतर है यद्यपि कोई पुरुष दश दिवस भोजन न करे तब अन्न भोजन करने के उपयोग से होता जो बल तिस बल के अभाव हुए सो पुरुष मरजावे अरु जो कदापि जीवता भी रहे तथापि वो बल के अभाव से इन्द्रियादिकों के अशक्त हुए अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता, अविज्ञाता होता है॥ अर्थात् अन्न भोजन किये विना बलहीन हुआ पुरुष जो

कदापि जीवता भी है तो इन्द्रियादिकों के अशक्त हुए न तो यथार्थ देखता है न यथार्थ सुनता है न यथार्थ मनन करता है न यथार्थ स्मृति होती है न यथार्थ उससे कर्म होता है न वो यथार्थ कुछ जानता है, मृतकप्राय हुआ जीवता है, उसका सर्व व्यापार पूर्व से विपरीत हो जाता है। अरु जब बहुत दिवसपर्यन्त अन्न भोजन करता है तब पूर्ववत् द्रष्टा होता है श्रोता होता है मन्ता होता है ज्ञाता होता है कर्त्ता होता है विज्ञाता होता है। तातें हे नारद! अन्न को बल का हेतु होने से उसको ब्रह्म जानकर उपासना करो ॥ १ ॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो अन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके नवमःखण्डः ॥ ९ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! जो कोई पुरुष अन्न को ब्रह्मभाव से उपासता है उसको जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण कर। हे नारद! जो पुरुष अन्न को बल का हेतु होनेसे ब्रह्म जानकर उपासना करता है सो पुरुष उस लोक को प्राप्त होता है कि जहां अन्न जल के दान-कर्ता पुरुष प्राप्त होते हैं। अरु यावत् अन्न के अन्तर्गत (अन्न का विषय) वस्तु है तिस सर्व को अथवा तिनमें से जिसकी जैसी कामना करता है तिस अपनी कामना के अनुसार प्राप्त होता है, जो अन्न को ब्रह्म जानकर उपासना करता है। हे सौम्य! इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद ने प्रश्न किया कि, हे भगवन्! यह अन्नही ब्रह्म है अथवा इस अन्नका भी कोई अधिकतर है। तब सनत्कुमारने उत्तर कहा कि, हे नारद! इस अन्न का भी कोई अधिकतर है। इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारदने पुनः कहा कि, हे भगवन्! यदि

अन्न का भी कोई अन्य अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो भी आप मुझसे कृपा करके कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके दशमःखण्डःप्रारभ्यते ।

आपोवा अन्नाद्भूयस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्त्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद्द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकमाप एवेमा मूर्त्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥

अब सप्तम प्रपाठक में दशमखण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ जल अन्न का अधिकतर है क्योंकि जल अन्न का कारण है ताते । हे नारद ! जिस करके इसप्रकार है तिसही करके जिस काल में अन्नकी हितकारी सुन्दर (यथेष्ट) वृष्टि नहीं होती तब तिस काल में सर्वप्राण (सर्वप्राणधारी जीव) अतिदुःखित होते हैं ॥ प्रश्न ॥ किस निमित्त से सर्व प्राणधारी दुःखित होते हैं ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! जब जिस संवत्सर विषे यथेष्ट वृष्टि नहीं होती तब थोड़े अन्न के होनेसे वा थोड़े भी अन्नके होनेकी आशा के न होनेसे (दुर्भिक्ष के त्राससे) सर्व प्राणी अन्न का अभाव अनुमान कर (जो सर्व का जीवन है) अतिदुःखित होते हैं ॥ हे नारद ! जिस काल में अन्न की हितकारी सुन्दर यथेष्ट वृष्टि होती है तिस काल में सर्व प्राणी अति प्रसन्न सुखी होते हैं, क्योंकि धान्यादि अन्न की हितकारी यथेष्ट वृष्टि होने से उनको बहुत से अन्न होने की आशा अरु दुर्भिक्ष के भय की निवृत्ति होती है, ताते सुवृष्टि को देख सर्वप्राणी प्रसन्नचित्त

होते हैं ॥ हे नारद ! यह जो जल से संभव हुए मूर्त्त हैं अर्थात् जल ही भेदाकार मूर्त्तपरिणाम को पाया होने से यह पृथिवी, यह अन्तरिक्ष, यह द्यौ, जो पर्वत हैं जो देवता हैं जो मनुष्य हैं, अरु जो पशु पक्षी तृण वनस्पति हैं, अरु जो चतुष्पाद है अन्य सर्पादि कीट पतङ्ग पिपीलिकादि जो मूर्त्त है सो जलही इन मूर्त्ताकार से सुशोभित है। तातें हे नारद ! यह जल उपासना करने योग्य है इसकी उपासना करो ॥ १ ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते आप्नोति सर्वान् कामाꣳस्तृप्तिमान् भवति यावदपांगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्योभूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जो कोई पुरुष इस जल को ब्रह्म जानकर उपासना करता है तिसको जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण करो। हे नारद ! जो कोई पुरुष जलको ब्रह्मबुद्धि से उपासता है तिस उपासक के सर्वमनोरथ सिद्ध होते हैं अरु जो कुछ मध्य जल के है अर्थात् यावत् जल का विषय है सो सर्व उसको प्राप्त होता है। अथवा यावत् जल का विषय (कार्य) है तिनमें से जिस वस्तु की जैसी यह कामना करता है तिसके अनुसार इसको प्राप्त होता है जो जल को ब्रह्म जानकर उपासना करता है, तिसको, हे सौम्य ! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने जलब्रह्म की उपासना कही तब नारद ने प्रश्न किया कि हे भगवन्, हे नमस्कार करने के योग्य ! यह जल ही ब्रह्म है अथवा इस जलका भी कोई और अधिकतर है। तब पुनः सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! इस जलका भी कोई और अधिकतर है। तब पुनः नारद ने कहा हे भगवन् ! जो इस जल का भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो भी आप मेरे प्रति कृपा करके कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके दशमःखण्डः ॥ १० ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकादशःखण्डः प्रारभ्यते।

तेजो वा अद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमुपगृह्याकाशम
भितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति
तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापस्सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च
विद्युद्भिरह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति
वर्षिष्यति वा इति तेज तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते
तेजउपास्येति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में ग्यारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! तेज जल का अधिकतर है क्योंकि तेज जल का कारण है ताते, अरु जिस करके जल की योनि (उत्पत्तिस्थान) तेज है तिसही करके यह तेज वायु को रोकके अपने को निश्चल कर वायु को आकाश में व्याप्त करता है ॥ अर्थात् तेज (अग्नि) वायु को आकाश में अवरोध कर अपनी ऊष्मा को प्रकट करता है ॥ तिस काल में लौकिक पुरुष कहते हैं कि हे भाई ! इस समय वायु का अवरोध है अरु ऊष्मा (उमस) अधिक है अतएव प्रतीत होता है जो अब वर्षा होवेगी । हे नारद ! यह लोक बिषे प्रसिद्ध ही है जो कारण के अभ्युदय देखने से कार्य का अनुमान विज्ञान होता है । ताते तेजही वर्षा से पूर्व अपने ऊष्मारूप आत्मा को (अपने ऊष्मारूप स्वरूप को) प्रकट देखायके तिसके अनन्तर जलको प्रकट करता है ॥ अर्थात् हे नारद ! वायु के अवरोधपूर्वक ऊष्मा के अधिक होने से अरु मेघको दृष्टिगोचर न होके अन्य देशमें होनेसे उस मेघकी गर्जना अरु बिजली का वारंवार चमकना दूरसे देखके लौकिकपुरुष परस्पर में ऐसा कहते हैं कि हे भाई ! मेघकी गर्जना श्रवण होती है अरु यह बिजली भी अतिशीघ्र शीघ्र वारंवार चमकती है, ताते अवश्य वर्षा होवेगी। अरु यह अग्नि ही है जिसने प्रथम अपनेको ऊष्मा अरु विद्युत्‌रूप से

प्रकट देखाया है। अरु यह अग्नि जल का कारण होनेसे प्रथम अपने कारण रूप को देखाय तदनन्तर अपने कार्य जल को प्रकट करता है। ताते हे नारद! अग्नि जलका अधिकतर (कारण) होनेसे उपासना करने योग्य है अग्नि को ब्रह्म जानकर उपासना करो॥ १॥

सयस्तेजोब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वीवैसतेजस्वतोलोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्तिभगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति॥ २॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकादशःखण्डः॥ ११॥

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! जो कोई पुरुष तेज को ब्रह्म जानकर उपासना करता है उस उपासक को जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण करो। हे नारद! जो तेज को ब्रह्म जानकर उपासताहै सो आप निश्चय करके तेजवान् होता है अरु तेजवान् लोक को पावता है। अर्थात् जो सूर्यादिकत् स्वयंप्रकाश लोक है कि जहा तमका अभाव है तिस लोक को प्राप्त होता है। अर्थात् तेज ब्रह्म के उपासक का अन्तर बाह्य का अन्धकार दूर होता है अरु वो स्वयंप्रकाश तमवर्जित दिव्य लोक को पावता है। हे नारद! जो तेज के अन्तर्गत (तेजका विषय वा तेज करके प्रकाशित) वस्तु हैं उनमें से जिनकी जैसी कामना करता है सो उसको कामना के अनुसार प्राप्त होता है, जो तेज को ब्रह्म जानकर उपासता है। हे सौम्य! इसप्रकार जब सनत्कुमार ने तेज ब्रह्म की उपासना सहित फल के कहा तब नारद प्रश्न करता हुआ कि, हे भगवन्! यह तेजही ब्रह्म है वा इस तेज का भी कोई और अधिकतर है। तब सनत्कुमार ने कहा हे नारद! इस तेज का भी कोई और अधिकतर है। तब पुनः नारद कहता हुआ कि, हे भगवन्! जो इस तेज

का भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो भी आप मुझसे कृपा करके कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वादशःखण्डः प्रारम्यते ।

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौविद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेनशृणोत्याकाशेनप्रतिशृणोत्याकाशेरमत आकाशेन रमतआकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्येति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में बारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! आकाश तेज का अधिकतर है, क्योंकि वायु करके सहित तेज का कारण आकाश को होनेसे ॥:—अर्थात् पूर्व जो तेजको जलका अधिकतर कहा हैं तहां वायु सहित तेज को जानना क्योंकि तेज का अधिकतर (कारण) वायु है । तिसको यहां न कहके तेजका अधिकतर आकाश को कहा है अतएव यहां ऐसा जानना कि वायु करके सहित ही तेज का अधिकतर आकाश है—:॥ जैसे घटादिकों से मृत्तिका तैसे वायु करके सहित तेज का कारण आकाश है ॥:—अर्थात् तेज का कारण वायु है, तिस अपने वायुरूप कारण करके सहित जो तेज है तिस तेज का अधिकतर आकाश है—:॥ अतएव तेज का कारण जो वायु तिससे भी अधिकतर आकाश तेज का अधिकतरहै ॥ प्रश्न ॥ कैसे आकाश तेज का अधिकतर है॥ उत्तर ॥ हे नारद ! आकाश विषेही सूर्य चन्द्रमा दोनों तेजरूप अरु विद्युत् नक्षत्रगण अरु अग्नि, यह सर्व तेजरूप हुए आकाश के ही आश्रय आकाश के ही अन्तर्गत होते हैं । अर्थात् जो वस्तु जिसके अन्तर्गत होता है सो उस वस्तु का अधिकतर होता है (आश्रय होने से) जैसे सूर्य चन्द्रादिक यावत् आकाश के अन्तर्गत वस्तु हैं तिन सर्वका

अधिकतर आकाश है ॥ हे नारद ! आकाशही से एक दूसरे को शब्द करता (पुकारता) है अरु आकाशही से दूसरा श्रवण करता है ॥:- अर्थात् बाह्याकाश के आश्रय शब्द होता है, अरु श्रोत्रान्तर अन्तर आकाश से श्रवण होता है, अरु उभय आकाश की एकता से एक आकाशही में शब्द अरु श्रवण होताहै-:॥ अरु आकाश बिषेही अन्योन्य रमण करते हैं, अरु बान्धवादि वा स्त्री आदि के वियोग से आकाश बिषे ही रमण नहीं भी करते। अरु आकाश में ही उत्पन्न होता है आकाश बिना कुछ भी होता नहीं, ताते विशेष करके अंकुरादि आकाश केही आश्रय उपजते हैं ॥:-अर्थात् संयोग वियोग उत्पत्ति लय आदिक यावत् व्यवहार होता है सो सर्व आकाश केही आश्रय आकाशही में होता है अन्यत्र नहीं-:॥ ताते हे नारद ! यह आकाश उपासना करने योग्य है, आकाश को ब्रह्म जानकर उपासना करो ॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वैसलोकान्प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरगायवतोऽभिसिद्धयति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशभूय इत्याकाशाद्वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वादशःखण्डः ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई पुरुष आकाश को ब्रह्म जानकर उपासना करता है तिसको जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण करो। हे नारद ! जो पुरुष आकाश को ब्रह्म जानकर उपासना करता है सो उन लोकों को जो आकाशवत् हैं। अर्थात् आकाश अरु प्रकाश का नित्य सम्बन्ध होनेसे अवकाश प्रकाश अरु अपार आकाश होता है, अरु अभय अरोग होता है। जैसे लोकों को प्राप्त

अभय अरु अरोग है तैसेही वो उपासक होता है। हे नारद! जो कुछ आकाशके अन्तर्गत है उनमें जिसकी जैसी कामना वो उपासक करता है तिसको सो कामना के अनुसार प्राप्त होताहै, जो आकाश को ब्रह्म जानकर उपासना करता है तिसको, हे सौम्य! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने नारद से कहा तब नारद प्रश्न करता हुआ कि, हे भगवन्! यह आकाश ही ब्रह्म है वा इसका भी कोई और अधिकतर है। तब सनत्कुमारने उत्तर दिया कि, हे नारद! इस आकाशका भी कोई और अधिकतर है। इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद पुनः कहताहुआ कि, हे भगवन्! जो इस आकाशका भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन्! सोभी आप मुझसे कृपा करके कहिये॥ २॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वादशः खण्डः॥ १२॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः प्रारभ्यते।

स्मरो वा आकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथविजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून्स्मरमुपास्स्वेति॥ १॥

अथ सप्तमप्रपाठक में तेरहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! स्मरण (स्मृति) आकाश का अधिकतर है। अर्थात् स्मरण अन्तःकरण का धर्म है, जिस करके आचार्यादिकों से श्रवण किया वचन सदा अन्तःकरण बिषे रहे ऐसा जो स्मरण वा स्मृति सो आकाश का अधिकतर है, हे नारद! जो स्मृति है तो आकाशादि सर्व हैं अरु जो स्मृति नहीं आकाशादि कुछ भी नहीं, क्योंकि आचार्य से श्रवण किया आकाशादि वस्तु अरु तिनके

स्वरूप धर्म, गुण, लक्षण आदि सो जो स्मरण में हैं तो आकाशादि सर्व हैं अरु जो कदापि श्रवण किये उन आकाशादिकों का स्मरण नहीं तो आकाशादिकोंके विद्यमान होते सन्ते भी उस लेखे आकाशादि कुछ भी नहीं। अतएव हे नारद! आकाश का अधिकतर स्मरण है। हे नारद! इस लोकबिषे स्मरण का अधिकतरपना प्रकट ही दृश्य आवता है जिस करके तिस करकेही यद्यपि बहुत से पुरुषों का समूह एक स्थान बिषे स्थित होवे अरु वो अन्योन्यमें भाषण करे अरु उनके भाषण किये वचनोंका स्मरण न होवे तो मानों उस पुरुषने किञ्चिन्मात्र कुछ भी शब्द श्रवण किया नहीं अरु तैसेही जो स्मृति नहीं तो प्रतीति भी उनको नहीं क्योंकि स्मरणसे ही प्रतीति होती है तिसके अभाव से नहीं अरु स्मरण के अभाव से जानता भी नहीं अरु हे नारद! जिस कालमें यथार्थ स्मरण होता है तिस काल में श्रवणकर्ता होता है, प्रतीति का कर्त्ता होता है, जाननेवाला होता है। अर्थात् पूर्वकाल में श्रवणादि किया विस्मरण होजावे सो पुनः जिस काल स्मरण में आवे तिस कालमेंही वो श्रवणादि किया होता है। हे नारद! स्मरणसे पुत्र पशुओं को पावता है॥:—अर्थात् किसी पुरुष के पुत्रादिक चिरकाल से प्रदेश में होवें अरु उस पुरुष को उन पुत्रादिकों का स्मरण होवे तो उन पुत्रादिकों को प्रदेश में होतेसन्ते भी वो उस पुरुष को प्राप्त है, अरु जो उस पुरुष को अपने पुत्रादिकों का स्मरण नहीं अरु उसके पुत्रादि प्रदेश से आय प्राप्तहुए भी होवें तो भी उसकों स्मरण के अभाव से प्राप्त हुए भी पुत्रादिक अप्राप्त ही हैं—:॥ ताते हे नारद! जो आकाशका भी अधिकतर स्मरण को जान के स्मरणकी उपासना करो॥ १॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवन्ब्रवीत्विति॥ २॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके त्रयोदशःखण्डः॥ १३॥

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जो कोई पुरुष स्मरण को ब्रह्म जानकर तिसकी उपासना करता है तिस उपासक को जो फल प्राप्त होता है सो श्रवण करो। हे नारद ! जो पुरुष स्मरण को जो आकाश से अधिकतर है, ब्रह्म जानकर उपासना करता है तिसको यावत् स्मरण के अन्तर्गत है सो सर्व प्राप्त होता है। अथवा यावत् स्मरण के अन्तर्गत (स्मरण का विषय) है उनमें से जिसकी जैसी कामना वो उपासक करता है तिस कामना के अनुसार प्राप्त होता है। जो कोई स्मरण को ब्रह्म जानकर उपासना करताहै 'तिसको'। हे सौम्य! इस प्रकार जब सनत्कुमारने कहा तब नारद प्रश्न करताहुआ कि, हे भगवन्! क्या स्मरणही ब्रह्म है अथवा इसका कोई और अधिकतर है। तब सनत्कुमार ने कहा हां इस स्मरण का भी कोई और अधिकतर है। तब पुनः नारद ने कहा हे भगवन् ! जो इस स्मरण का भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो भी आप मुझसे कृपा करके कहिये ॥२॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके त्रयोदशःखण्डः॥ १३ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः प्रारभ्यते।

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वैस्मरोमन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छत इमञ्चलोकममुञ्चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अब सप्तम प्रपाठक में चौदहवें खण्डका आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! आशा स्मरण का अधिकतर है। अर्थात् अप्राप्त वस्तु की जो आकांक्षा तिसको आशा कहते हैं। ताते आशा, तृष्णा, कामना यह सर्व एकही के पर्याय नाम कहते हैं। अतएव आशा स्मरण का अधिकतर है, क्योंकि जिस वस्तु की आशा होती है तिस ही का स्मरण होताहै, ताते अन्तःकरण बिषे जब फलकी

आशा होती है तब कर्मोंका स्मरण होताहै तब तिन कर्मोंके करने के लिये प्रथम ऋग्, यजु, साम अरु अथर्व इन चारो वेदोंका सहित अङ्गों के अध्ययन करता है (क्योंकि वेदके अङ्गोंके अध्ययन किये विना कर्मों की विधि यथार्थ जानने में आवे नहीं) पश्चात् उस कर्मकी आज्ञा के अनुसार कर्मों को करता है, तब तिन कर्मोंके आश्रय पुत्र पौत्रादिकों को अरु गो अश्वादि पशुओं को अर्थात् इस लोक परलोक के विषय पदार्थों को अपनी आशा के अनुसार इच्छता है तब तिसके अनुसार कर्म करके तिसको प्राप्त होता है। अतएव हे नारद! यह आशा स्मरण का भी अधिकतर होने से उपासना करने योग्य है ताते आशाकी उपासना करो ॥ १ ॥

स य आशा ब्रह्मेत्युपास्ते आशायाऽस्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशायागतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य आशा ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वावभूयोऽस्तीति तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्दशःखण्डः ॥ १४ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! सो जो कोई पुरुष आशाब्रह्मकी उपासना करता है तिसको जो फल प्राप्त होता है, सो श्रवण करो। हे नारद! जो आशा को स्मरण से भी अधिकतर ब्रह्म जानकर उपासना करता है उसकी यावत् कामना है सो सर्व पूर्ण होती है अर्थात् वो उपासक धनादि जिस वस्तु की प्रार्थना (इच्छा) करता है सो आशा करकेही पावता है ॥:—नामसे स्मरणपर्यन्त पूर्व २ से उत्तरोत्तर जो अधिकतर है सो सर्व एक आशा करकेही सिद्ध होता है अन्यथा नहीं—॥ हे नारद! आशाब्रह्म के उपासक को यावत् आशा के अन्तर्गत पदार्थ

आशा का विषय, आशा से प्राप्त होने योग्य) है तिनमें से जिसकी कामना करता है सो उसको कामना के अनुसार प्राप्त होता है, जो आशा ब्रह्मबुद्धि से उपासता है तिसको, हे सौम्य! इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद प्रश्न करताहुआ कि हे भगवन्! यह आशा ब्रह्म है अथवा इस आशाका भी कोई और अधिकतर है । तब सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि हे नारद ! हां इस आशाका भी कोई और अधिकतर है इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब तिसको श्रवण कर नारद कहता हुआ कि, हे भगवन् ! जो इस आशा का भी कोई और अधिकतर है तो हे भगवन् ! सो आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः प्रारभ्यते ।

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वᳬं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणोहपिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में पन्द्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

प्राण आशा का अधिकतर है जैसे अरा नाम काष्ठ (रथचक्रकी) नाभि बिषे अर्पित होते हैं, तैसे प्राण बिषे (इन्द्रियादि) सर्व अर्पित है, प्राण जो है सो प्राण करके आवता है प्राण जो है सो प्राण को देता है प्राण के लिये देता है प्राणही प्रसिद्ध पिता है प्राण माता है प्राण भ्राता है प्राण स्वसा है प्राण आचार्य है प्राण ब्राह्मण है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद ! प्राण आशाका अधिकतर है । क्योंकि नाम से लेके आशापर्यन्त कार्य कारणता करके वा निमित्त नैमित्तिकता

करके उत्तरोत्तर अधिकतरत्व करके स्थित है ॥:—अर्थात् पूर्व २ का
त्तरोत्तर कारण वा निमित्त है अर्थात् कर्म का कारण मन्त्र का कारण
नाम नाम उच्चारण का कारण वा निमित्त वाणी वाणी के प्रवृत्त होने
का निमित्त कारण मन। इस प्रकार पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर जो जिसका
कारण वा निमित्त है सोई उसका अधिकतर है—॥ सो नाम से आशा
पर्यन्त सर्व जैसे सूत्रबिषे मणिगण तैसे प्राणबिषे परोये हुए प्राणके आ
श्रय स्थित है॥:— वागादि इन्द्रियों का सर्व व्यापार प्राण के आश्रय
होताहै प्राण विना किसीका भी व्यापार बने नहीं 'जैसे सूत्र से पृथक्
हुए मणिगण बिखरजाते हैं तैसेही प्राण विना वागादि सर्व इन्द्रियें
बिखरजाती हैं किसी भी कार्य में समर्थ होवें नहीं, ताते इन्द्रियादि
सर्व प्राण बिषे ग्रथित (परोये) हुए स्थित हैं—॥ ताते हे नारदजी!
ऐसा जो प्राण है सोई आशा का अधिकतर है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन्
इस प्राण को आशा का अधिकतरपना कैसे है सो आप कृपा कर
आज्ञा करिये ॥ हे सौम्य ! इस प्रकार जब नारद ने प्रश्न किया त
सनत्कुमार उत्तर कहतेहुए ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! अब हम तुमको प्राण
का अधिकतरपना एक दृष्टान्त द्वारा कहता हौं तिसको श्रवण कर
हे नारद ! जैसे लोकबिषे निश्चयकरके रथके चक्र (पहिये) के अरानाम
काष्ठदण्ड रथचक्र की नाभि (मध्य के काष्ठ) बिषे समर्पित कहिये स
म्य इसप्रकार प्रवेश को पाय स्थित होते हैं हे नारद ! तैसेही इस लिङ्ग
संघात प्राणबिषे कि जो देहबिषे मुख्य है, अरु जिस बिषे सत् चैतन्य
परादेव ने इस नाम रूप के प्रकट करने की इच्छा से जैसे आदर्श बिषे
पुरुष का अरु जलादिकों बिषे सूर्यादिकों का प्रवेश होता है तैसे अपने
आभास जीवरूप से आपही प्रवेश करता है। अरु जैसे किसी महाराजा
का तैसे सर्वाधिकारी ईश्वर का ॥:—अर्थात् जैसे किसी महाराजाधिराज
चक्रवर्ती राजा का सर्वाधिकारसम्पन्न मुख्य प्रधान होता है—॥ तैसेही॥
"कस्मिन् न्वह उत्क्रान्तेउत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्र
तिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत इति" ॥ यह प्रश्न उपनिषद की श्रुति
प्रमाण सर्वके प्रथम के एक अद्वैत सत् परमात्मा ने विचार किया कि

के उत्क्रमण (निकलने) से मेरा उत्क्रमण हो अरु किसके स्थिर से मेरा स्थित रहना हो अर्थात् गति स्थिति से रहित सर्वविवर्जित जो मैं तिस मेरी किसके निमित्त से गति स्थिति हो, ऐसा वार अपनी गति स्थिति के लिये अरु अन्य दर्शन श्रवणादि व्यापार सिद्धि के लिये प्रथम अपना मुख्य प्रधान स्थानापन्न प्राण को सृ हुआ जो चैतन्य परमात्मा की छायावत् है। अथवा जिस प्राण अपनी छाया (आभास) रूप से प्रवेश किया है। वा जो राजा प्रधानवत् परमात्मा की छाया इन्द्रियादि सर्वसंघात का ईश्वर है॥ नारद! सो जैसे रथके चक्र (पहिये) के अरा नाम काष्ठ बिषे नेमि पहिये के ऊपर का काष्ठचक्र जो मार्ग से स्पर्श करता घूमता चलता) अर्पित होता है, अरु वो अरा चक्र के मध्य की नाभिबिषे अर्पित ते हैं। हे नारद! तैसेही इतनी भूतमात्रा (शब्दादितन्मात्रा अरु थिव्यादि महाभूत बिषे) अरु प्रज्ञामात्रा (शब्दादि विषय अरु बुद्धि षे अरु तिनकी जनक इन्द्रियों बिषे प्राण प्रवेशित है। अथवा प्राण- रूप सूत्र बिषे उक्त भूतमात्रा अरु प्रज्ञामात्रा समष्टि व्यष्टि सर्व) अ- र्पित हैं॥ तथा च॥ "प्रज्ञामात्रा प्राणे अर्पिता स एव प्राणएव प्रज्ञा तेति। कौशीतकी उपनिषद् बिषे"॥:—अर्थात् जैसे रथचक्र की नाभि के आश्रय अरा अरु अराओं के आश्रय चक्र की नेमि होती है तहां जो चक्र के मध्य की नाभि टूटजाय तो तदाश्रित अरा अरु अराश्रित नेमि यह सर्व छिन्न भिन्न होजावे, तैसेही हे सौम्य! प्राणरूप नाभि के आश्रय मन इन्द्रियादि अरा अरु तदाश्रित शरीररूपा नेमि अपने २ व्यापार में चलते हैं, अरु जो कदापि उनसे प्राणरूप नाभि पृथक् हो जावे तो यह सर्व अरा नेमि छिन्न भिन्न होके अभाव होजाय, अतएव यह सर्व प्राण ही के आश्रय है—:॥ अतएव हे सौम्य! जिस यह प्राण बिषे सर्व समर्पित हैं सो यह प्राण अपर तन्त्र है (परतन्त्र नहीं) प्राण अपनी स्वशक्ति करकेही जो २ आवता है प्राण बिषे जो गमनादिकिया है सो अन्य किसीकी भी करीहुई नहीं किन्तु प्राण अपनीही सा- मर्थ्य से गमनादि क्रिया करता है। अरु सर्वक्रियाकारक फल इनका

जो भेद है सो प्राणही है अर्थात् प्राण से बहिर्मुख कुछ भी नहीं, यह इस प्रकरण का अर्थ है ॥ अतएव हे नारद ! प्राण जो है सो प्राण को (अपने आत्मभूत को) देता है अर्थात् प्राण जो देता है अपने से उद्भूतहुए वा प्राणधारी को देता है । अरु जिसके लिये देता है सो भी प्राणहीहै, एतदर्थ प्राणही पिताहै प्राणही माता है प्राण ही भ्राता है प्राणही स्वसा है प्राणही आचार्य है प्राणही ब्राह्मण है॥:- अर्थात् माता, पिता, भ्राता, भगिनी, आचार्य, ब्राह्मण यह सर्व जो धनादि देने के पात्र हैं सो भी सर्व प्राणही है अरु इनके लिये जो कुछ दियाजाता है सो भी प्राणही है, अरु जो देताहै सो भी प्राणही है, प्राण विना कुछ भी नहीं ॥ प्रश्न ॥ नारद उवाच, हे भगवन् ! पिता आदि शब्दों का प्रसिद्ध अर्थका विषय जे देह तिस बिषे प्राण शब्दका विषयपना कैसेहै सो आप कृपा करके कहिये ॥ उत्तर ॥ सनत्कुमारउवाच॥ हे नारद ! जिन शरीरों बिषे पिता आदि शब्दों का प्रयोग है सो प्राणके होते सन्तेही है प्राण के उत्क्रमण हुए शरीरों बिषे पिता आदि शब्दोंका प्रयोग अघटित है ॥:-अर्थात् यावत् शरीर में प्राण रहता है तावत् वो शरीर पिता आदि नामों से कहाजाता है, अरु जब शरीर से प्राण निकल गया अरु शरीर विद्यमान भी रहा तथापि उस शरीर बिषे पिता आदि शब्दों का प्रयोग बने नहीं, अरु यदि उस शरीर को पिता आदि शब्दों से कहते भी हैं तो भी मेरा पिता मरगया इस प्रकार मृतक विशेषणयुक्त ही पिता शब्द का प्रयोग मृतकशरीर बिषे होता है, ताते पिता आदि शब्दों का विषयत्व मुख्यता करके प्राणबिषेही घटित है-॥१॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वा चार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसि ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

सो यदि पिता को वा माता को वा भ्राता को वा स्वसा को वा आचार्य को वा ब्राह्मण को किञ्चित् निन्दा के वाक्य कहै तब उसको विवेकी पुरुष धिक्कार कहते हैं तू निश्चय करके पिता, माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य अरु ब्राह्मण इनका हननकर्त्ता है॥ २॥

भावार्थ।

नारद उवाच॥ हे भगवन्! पितादि शब्द का विषयपना प्राण को कैसे है॥ उत्तर॥ सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! अब इसको भी श्रवण करो, जो कोई पुरुष अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य, ब्राह्मण जे पूजने योग्य हैं तिनको अनकहना वचन (मर्मभेदी वाक्य) कहै कि जिस करके श्रोता के अन्तःकरण बिषे अतिखेद उपजे, तब उस वक्ता के निकटवर्त्ती विवेकी पुरुष (जो उसको मर्मभेदी कठोर वाक्य कहने के जाननेवाले हैं) सो उसको कहते हैं कि तूने यह अतिनिन्दित कर्म किया है ताते तुझको धिक्कार है, मानो अपने पिता आदिकों का हननकर्त्ता तुही है, माता का हननकर्त्ता तुही है, भ्राता का हननकर्त्ता तुही है, स्वसा का हननकर्त्ता तुही है, आचार्य का हननकर्त्ता तुहीहै, ब्राह्मण का हननकर्त्ता तुहीहै। अर्थात् जिन प्राणधारियों को दुर्वचन कहके तू उनके अन्तःकरण बिषे खेद उपजावता है तिनका मानो तू हननकरनेवाला है, अतएव तुझको धिक्कार है। हे नारद! इस प्रकार प्राण के माहात्म्य को जाननेवाले जे विवेकी पुरुष हैं सो उस निन्दक अविवेकी पुरुष के प्रति कहते हैं। हे सौम्य! इस श्रुति के कहने का तात्पर्य यहहै जो कोई पुरुष अपने माता पिता आदि ज्येष्ठ श्रेष्ठों को न कहने योग्य दुर्वाक्य कहके उनके प्राण को दुःख देताहै सो अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठों के हननरूप पापकर्मों का कर्त्ता होता है तिसही करके वो प्राण के वेत्ता विवेकी पुरुषों करके धिक्कार करने योग्य होताहै। अतएव अपने माता पिता आदि ज्येष्ठ श्रेष्ठ पूजनीय

पुरुषों को, अरु साधारण सर्वप्राणधारियोंको दुर्वाक्य कहके उनके चित्त को खेद कदापि उपजावना (देना) नहीं ॥ २ ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाच्छूलेन समासं व्यति सन्दहेन्नैवेनं ब्रूयुःपितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

हे नारद ! यद्यपि पितृ आदि अन्य शूल (व्यथा) करके शरीर को त्यागते हैं तब उनके मृतकशरीरों को वोही पुरुष दग्ध (भस्म) करता है अरु प्राण उस मृतकशरीर बिषे नहीं होते तब उसको कोई भी ऐसा नहीं कहता जो तू पितादिकों का हननकरनेवाला है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जब उस निन्दक पुरुष के कि जो अपने माता पिता आदिकों को दुर्वाक्य कहके मर्मवेधी क्लेश का देने वाला है, पिता आदिक जब शरीर को त्यागते हैं तब वोही पुरुष उन के शरीरों को दाह भस्म करने रूप अतिक्रूरकर्म को करता है तथापि उन मृतक हुए शरीरों में प्राण के न होने से उस पुरुष को कोई भी विवेकी पुरुष ऐसा नहीं कहता जो तूने यह अपने पिता आदिकों के शरीर दाह करने रूप निकृष्ट कर्म किया है तू अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य, ब्राह्मण आदिकों का हननकर्त्ता है ॥ अतएव हे नारद ! पिता, माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य, ब्राह्मण आदि सर्व प्राणही हैं शरीर नहीं ॥:—हे सौम्य ! उक्त श्रुति के कहने से यह जानना जो किसी भी प्राणधारी को किसी भी प्रकार का खेद देना नहीं, अरु किसी भी अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठों को दुर्वाक्य कहके उनके प्राण को क्लेश देना नहीं क्योंकि दुर्वाक्य कहके जो अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठों को क्लेश पहुँचावना है

कोई उनका हनन करना है ताते किसी भी प्राणधारी को कायिक, वाचिक, मानसिक अर्थात् काया, वाचा, मनसा करके खेद देना नहीं ॥ ३ ॥

प्राणोह्येवैतानि सर्वाणि भवति सवा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तञ्चेद् ब्रूयुरति वादयसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ ।

सो जो कोई इस प्रकार इस प्राण को श्रेष्ठ जाने जो प्राणही यह सर्व होता है ऐसा देखे ऐसा मनन करे ऐसा जानके कहै सो अतिवादी होता है । अरु जो कोई उसको कहै जो तू अतिवादी है, तब वो कहता है जो इसको अङ्गीकार कर कहो जो मैं अतिवादी हौं ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! सो जो कोई निश्चय करके सम्यक् प्रकार प्राण का जाननेवाला है जो प्राणही यह सर्व हुआ है ऐसे जैसा श्रुति ने कहा है तैसे प्राणविद्या के फल को प्रत्यक्ष देखता है अरु प्राण की उपपत्ति (समीप प्राप्ति से मनन करता है, अरु प्राण की उपपत्ति से संयोग करके यह ऐसेही है इस प्रकार निश्चय मनन विचार से प्राण को जानता है, क्योंकि सम्यक् मनन विचार से ही उत्पन्न हुए विज्ञान करके ही शास्त्र का अर्थ निश्चित देखा होता है, अथवा मनन विज्ञान दोनों करके ही सम्यक् प्रकार शास्त्र का अर्थ निश्चय अरु देखा (अनुभव किया) होता है । अतएव इस कहे प्रकार प्राण के माहात्म्य का यथार्थ अनुभव करनेवाला अतिवादी होता है अर्थात् नामसे आदि लेके आशापर्य्यन्त जो पूर्व २ से उत्तरोत्तर अधिकतर हैं तिन सर्व को उल्लङ्घन करके सर्व से अधिकतर प्राण के माहात्म्य को कहने के स्वभाववाला होता है । अरु जो कोई विवेकी पुरुष उसको ऐसा कहै कि तू अतिवादी है, अर्थात् सर्वदा सर्व करके प्राण जो सर्वात्मा

सर्व से ज्येष्ठ श्रेष्ठ है तिसके कहने के स्वभाववाला होने से तू अतिवादी है, क्योंकि नाम से आशापर्यन्त सर्व से पृथक् सर्वका अधिकतर वर्त्तमान प्राण को ही कहता है ताते। हे सौम्य! इस कहे प्रकार प्राण के देखने का स्वभाव है जिसका उसको लोक अतिवादी कहते हैं, कि तू अतिवादी है। तब वो उक्तप्रकार का प्राणवित् पुरुष ब्रह्मा से तृणपर्यन्त समस्त जगत् का आत्मा प्राण मैं हूं, इस प्रकार कहता है कि मैं अतिवादी हौं॥ प्रश्न॥ हे भगवन्! ऐसा वो क्यों कहता है॥ उत्तर॥ हे नारद! यथोक्त प्रकार प्राण को यथार्थ जानके अहमग्रे उपासना करनेवाला उपासक है सो ब्रह्मा से तृणपर्यन्त समस्त जगत् के ईश्वर प्राण को अपना आप आत्मा जानता है ताते अपने आपको अतिवादी कहता है॥ ४॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः॥ १५॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षोडशःखण्डः प्रारभ्यते।

एष तु अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यन्त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षोडशः खण्डः॥ १६॥

अब सप्तमप्रपाठक में सोलहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

हे नारद! यह तो सत्य को जाने तिसको अतिवादी कहते हैं॥ नारद उवाच॥ हे भगवन्! सो मैं उस सत् को जानने की इच्छा करता हौं॥ सनत्कुमार उवाच॥ वो सत्यभाषण अरु सत्य के विज्ञान से जानने योग्य है॥ नारद उवाच॥ हे भगवन्! मैं विज्ञान के जानने को इच्छता हौं॥ १॥

भावार्थ।

हे सौम्य! उक्त प्रकार जब सनत्कुमार ने नारद के प्रति प्राण का

र्व से अधिकतरपना सहित प्राणविद्या के माहात्म्य को वर्णन किया न सो यह नारद (जो सनत्कुमार के पास आत्मविद्या के लिये जिज्ञासापूर्वक आया है) सो अपने उपास्य प्राणात्मा को सर्व से अधिकतर श्रवण कर उसको सर्व से अधिकतर जान उससे अधिकतर अन्य कोई नहीं ऐसा निश्चय कर आगे प्रश्न करने से उपराम तूष्णीं होताहुआ ॥:— अर्थात् नारद पूर्वप्राण को ही सर्वसे अधिकतर परमश्रेय जानता मानता था परन्तु तिसके जानने मानने से अपने को कृतकृत्य शान्तात्मा न मानता था प्राण को चञ्चल अरु जड़ अनात्म धर्मवान् होने से, ताते सनत्कुमारके पास प्राप्त हो आत्मज्ञानार्थ प्रश्न करताहुआ, तब सनत्कुमार ने सोपानक्रम से प्रथम नामादिकों को ब्रह्म जानके उपासना कर्त्तव्य कहा अरु जिसको २ सनत्कुमार ने ब्रह्मभाव से उपास्य कहा तहांही तहां नारद ने प्रश्न किया कि, हे भगवन्! यही अधिकतर है वा इसका भी कोई और अधिकतर है जो होय तो सो भी आप मेरे प्रति कहिये। अरु जब सनत्कुमार ने प्राण को अरु तिसके माहात्म्य को नामादि सर्वसे अधिकतर सर्वात्मा कहा तब तिसको श्रवण कर अपने उपास्य प्राणात्मा को सर्व से श्रेष्ठ जान इससे परे और कोई नहीं ऐसा निश्चय कर आगे को प्रश्न करने से उपराम तूष्णीं होता हुआ, ताते नारद पूर्वसे प्राण को ही सर्वात्मा ब्रह्म जानकर उपासना करनेवाला प्राण का उपासक था—:॥ प्राण के माहात्म्य को श्रवण कर पुनः यह प्रश्न नारद ने पूर्ववत् न किया कि हे भगवन्! इस प्राण से भी कोई और अधिकतर है (जो होय तो सो भी आप मुझसे कहो) प्रश्न करने से उपराम तूष्णीं होताहुआ ॥ तब नारद को प्रश्न करने से उपराम हुआ देख सनत्कुमार ने विचार किया कि यह नारद विकारभूत अनृत (मिथ्या) प्राण के विज्ञान से सन्तुष्ट हो तूष्णीं हुआ है। परन्तु यह प्राणके विज्ञान से अपने को कृतार्थ मानके तूष्णीं हुआ है अतएव यह वास्तव में कृतार्थ हुआ नहीं, अरु यह कृतार्थ होने के लिये मेरे निकट आया है यह कृतार्थ तो सो होता जो परमार्थ सत्य को जानके तिसके कहने समानवाला अतिवादी होता है ताते इस नारद के प्रश्न किये विना

ही भूमाख्य परमतत्त्व का उपदेश कर इसको वास्तव से कृतार्थ करना चाहिये, अरु अतिवादी तो सो होता है जो मैं आगे कहोंगा तिसको सम्यक् प्रकार जानके कहने के स्वभाववाला होता है क्योंकि वो वस्तु प्राणादि सर्व से अतिशय अधिकतर है, ताते परमार्थ करके प्राणही को जानके तिसके कहने के स्वभाववाला अतिवादी होता नहीं, अरु मैंने जो प्राण के ज्ञाता को अतिवादी करके कहा है सो नामादि आशापर्यन्तके जाननेवाले की अपेक्षा से कहा है वास्तव से नहीं, जो भूमा नामवाले परमार्थतत्त्व को सम्यक् प्रकार जानके जो अन्य जिज्ञासुओं से कहता है सो अतिवादी होता है ॥ :—अर्थात् जो भूमानामवाला परमार्थतत्त्व शास्त्रों के संस्काररहित साधारण पुरुषों की वाणी आदिकों का विषय नहीं, अथवा "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से जिसके प्रतिपादन करने में असमर्थ वाणी जहां से लौट आवती है तिस तत्त्व को आचार्य द्वारा श्रवण मनन द्वारा यथार्थ अनुभव करके जो अन्य जिज्ञासु से कहता है तिसको अतिवादी कहते हैं—: ॥ हे सौम्य ! इस प्रकार विचार योगेश्वर परम ब्रह्मनिष्ठ भगवान् सनत्कुमार नारद प्रति कहते हुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! यह तो सो पुरुष अतिवादी होता है जो सत्यभाषणादि साधन सम्पन्न हुआ परमार्थ सत्य वस्तु का सम्यक् विज्ञानवान् हुआ सत्य को कहता है हे सौम्य ! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब तिसको श्रवणकर नारद कहताहुआ कि हे भगवन् ! जो परमार्थ सत्य वस्तु के विज्ञान करके कहता है सो परमार्थ से अतिवादी होता है तो सो मैं जो अपने को कृतकृत्यता के लिये आपकी शरण को प्राप्त हुआ हौं सो परमार्थ सत्य करके परमार्थ से अतिवादी होना इच्छता हौं, ताते जिस प्रकार मैं परमार्थ से सत्य के कहने के स्वभाववाला अतिवादी होवों सो आप मुझको उपदेश करिये । हे सौम्य ! इस प्रकार जब नारद ने कहा तब पुनः सनत्कुमार कहते हुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जो तू इस प्रकार सत्य करके अतिवादित्वपने को इच्छता है तो तब प्रथम परमार्थ सत्यही जानना योग्य है जो परमार्थ सत्य क्या है । इस

प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब वो नारद पुनः कहताहुआ कि, हे भगवन्! जो आप आज्ञा करतेहौ सो सत्यही है, हे भगवन्! मैं विशेष करके सत्य को जानने की इच्छा करता हौं ताते आप मुझको सत्य जनाइये ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके सप्तदशः खण्डः प्रारभ्यते।

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विजानन्त्येव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में सत्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जबहीं सत्य को जानताहै तब सत्य कहता है सत्य को न जानके जो सत्य कहताहै सो परमार्थ से सत्य को नहीं कहता ताते सत्य को जानके कहता है सोई सत्य का कहता है। ताते विज्ञान ही जानने योग्य है। हे भगवन्! मैं विज्ञान को जानना इच्छताहौं ॥ १ ॥

भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! जब यह जिज्ञासु पुरुष परमार्थ सत्य को विशेष करके जानता है कि यह परमार्थ से सत्य है अरु मिथ्या जो विकारजात वाचारम्भणमात्र (तेजआदि) तिस को त्यागके तिस नामरूप विकार बिषे ही स्थित वा विकार का आश्रय परमार्थ से एकही सत् सत्य है ॥:—अर्थात् जैसे नामरूपात्मक घटरूप उपाधि का आश्रय सत्य एक मृत्तिका ही है, तिस परमार्थ सत्यरूप मृत्तिका बिषे नामरूपात्मक घटरूप उपाधि जो केवल वाचारम्भणमात्र ही है तिसको त्याग के तिस उपाधि बिषेही स्थित अरु तिस उपाधि का आश्रय जो परमार्थ से सत्य एक मृत्तिका तिसको यथार्थ जानके कहता

है सोई सत्य कहताहै–॥ शङ्का ॥ ननु ॥ "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति" ॥ इस अन्य श्रुति करके प्राणादि विकार को भी सत्य कहा है ताते जो प्राण को सत्य कहता है सो सत्यवादी क्यों नहीं ॥ समाधान ॥ तू सत्य कहताहै परन्तु श्रुत्यन्तर में प्राणादि विकार को सत्य करके कहा है सो परमार्थ से सत्य नहीं कहा (उत्पत्ति विनाशवान् होने से) ॥ प्रश्न ॥ तब उसको सत्य कैसे कहाहै ॥ उत्तर ॥ विकारजात नामरूप कार्यको वा प्राणादिकों की सत्यता है सो उनके सत्य अधिष्ठान की सत्यता से है परमार्थ से नहीं हे सौम्य! विज्ञान उसको कहते हैं कि जो वास्तव में सत्य है तिसको सत्य अरु जो असत्य है तिसको असत्य यथार्थ जानना। अर्थात् उपनिषदों के सूक्ष्म रहस्यों को यथार्थ जानने से वास्तव करके सत्य है सो सत्य अरु असत्य है सो असत्य भासता है, अतएव उपनिषदों के यथार्थज्ञान को विज्ञान कहते हैं। ताते हे नारद! विज्ञानही प्रथम जानने योग्य है। हे सौम्य! इस प्रकार जब सनत्कुमार ने नारद से कहा तब नारद ने कहा कि, हे भगवन्! जो ऐसेही है तो मैं विज्ञान का ज्ञाता होना इच्छता हौं, तातें मैं विज्ञानको जानोंगा ॥ हे सौम्य! इस प्रकार सत्यादि पूर्व २ के उत्तरोत्तर हेतुहै। अर्थात् परमार्थ सत्य के जानने के विषय में विज्ञान हेतुहै विज्ञान की प्राप्ति के विषय में मनन हेतुहै ॥ इसप्रकार जानना ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके अष्टादशः खण्डः प्रारभ्यते।

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठकेऽष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में अट्ठारहवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! जबहीं यह जिज्ञासु पुरुष मनन

होता है तबहीं विज्ञान को प्राप्त होता है, न मनन करने से विज्ञान को पावता नहीं। अरु मनन उसको कहते हैं जो आचार्य से श्रवण किया है तिसको सहित विचार के अरु तर्क के अरु उक्तियों के दृढ़ करना, अतएव मनन करकेही विज्ञान को प्राप्त होता है॥ नारद उवाच॥ हे भगवन्! मैं मनन को जानने की इच्छा करताहौं मैं मनन करोंगा॥ १॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठकेऽष्टादशः खण्डः॥ १८॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकोनविंशः खण्डः प्रारभ्यते।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन् मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकोनविंशः खण्डः॥ १९॥

अब सप्तमप्रपाठक में उन्नीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच॥ हे नारद! जबहीं यह जिज्ञासुपुरुष श्रद्धा (अपने आचार्य के वाक्यपर दृढ़ विश्वास) करता है तब मनन को प्राप्त होता है, अरु आचार्य का वाक्य उपदेश, वोही होता है जो वेदोक्त होता है। अरु जो आचार्यों के वाक्य में विश्वास नहीं करता तो मनन को भी नहीं पावता। अतएव हे नारद! श्रद्धाही से मनन को प्राप्त होता है। अतएव श्रद्धा को जानना योग्य है। इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद कहता हुआ कि हे भगवन्! मैं श्रद्धा को जानना इच्छता हौं अर्थात् मैं श्रद्धा करोंगा॥ १॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकोनविंशः खण्डः॥ १९॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके विंशः खण्ड आरभ्यते।

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति

निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठित्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके विंशः खण्डः ॥ २० ॥

अब सप्तमप्रपाठक में बीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जब यह जिज्ञासु पुरुष निष्ठा को करता है तब श्रद्धा को प्राप्त होताहै अरु जो निष्ठा को नहीं करता तो पारमार्थिक श्रद्धा को पात्रता नहीं। तहां निष्ठा उसको कहते हैं आचार्य (गुरु) की शुश्रूषा (सेवा) अरु गुरु के कहे प्रमाण ब्रह्मचर्यादि साधनपूर्वक मनन विचार का दृढ़ अभ्यास करना। जब उक्त प्रकारकी निष्ठा को करताहै तब पारमार्थिक श्रद्धा को पात्रता है, अतएव हे नारद! निष्ठाही जानने योग्य है। इस प्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब नारद कहताहुआ कि हे भगवन् ! मैं निष्ठा को जानना इच्छता हौं, मैं निष्ठा करौंगा ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके विंशः खण्डः ॥ २० ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकविंशः खण्डः प्रारभ्यते।

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में इक्कीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जो कोई जिज्ञासुपुरुष जबहीं कृति को करता है तबहीं निष्ठादिकों को प्राप्त होता है। अर्थात् कृति का इन्द्रियों का संयम (दमन वा इन्द्रियों को विषयों से रोकना) अरु

...की एकाग्रता करनी, इसका नाम कृति है, सो यह कृति निष्ठा ...दिकों का कारण है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन्! इन उत्तरोत्तरों को पूर्व २ ...कारणपना कैसे है, सो आप कृपा करके कहिये ॥ उत्तर ॥ हे नारद! ...२ का उत्तरोत्तर को जो कारणपना है सो सत्यही है क्योंकि उत्त-...र बिषे निष्ठा आदिक जो कहे हैं तिनका संभव है ताते। अरु जो ...कृति को नहीं करता अरु निष्ठा करता है सो निष्ठा पारमार्थिकी ...ती नहीं, ताते उक्त कृति सेही निष्ठा होती है, अतएव कृति को ...नना योग्य है। हे सौम्य! इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब ...द ने कहा कि हे भगवन्! मैं कृतिको जानना इच्छता हौं मैं कृति ...जानोंगा (करोंगा) ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके एकविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वाविंशः खण्डः प्रारभ्यते।

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखंलब्ध्वा करोति ...खमेव लब्ध्वा करोति सुखंत्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ...खं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में बाईसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद! सो उक्तप्रकार की कृति भी तब ...ी है जब सुख का लाभ होताहै, अर्थात् जब यह पुरुष निरतिशय ...(परमानन्द) प्राप्ति की इच्छा करता है कि मुझको निरतिशय ...मानन्द सुख की प्राप्ति होय, तब कृति को अर्थात् अपनी इन्द्रियों ...निग्रह अरु चित्त की एकाग्रता को करताहै। जैसे लोकबिषे दृष्टफल ...सुखकी प्राप्ति की जब दृढ़ इच्छा होतीहै तब उसके उद्देश से उसकी ...प्ति के उपाय में प्रवृत्त होता है। अरु सुख के प्राप्ति की इच्छा विना ...ई है सो कृति निरतिशय सुखको साधक होती नहीं। अथवा जो

विना सुख लाभ की इच्छा के उक्त कृति को करता है तो वो भविष्यत् फल लाभके उद्देश से उक्त कृति में प्रवृत्त होना प्राप्तहोताहै ॥ हे सौम्य ! सत्से कृतिपर्यन्त उत्तरोत्तर बिषे सत्य जो है सो स्वयं आपही प्रकाशता है तिसके विज्ञानार्थ उक्तसाधनों से इतर कुछ भी प्रयत्न कर्तव्य नहीं। अर्थात् परमार्थ सत्यके जाननेवाला अतिवादी होताहै (प्राणके जाननेवाला नहीं) तिस परमार्थ सत्य के जानने का साधन (कारण) सत्य का विज्ञान है, तिस विज्ञान का साधन मनन है क्योंकि जब श्रवण की हुई वस्तु का मनन होता है तब तिसका यथार्थज्ञान होता है, तातें विज्ञान का कारण मनन है। अरु मनन का कारण श्रद्धा (विश्वास) है क्योंकि जब आचार्य के वाक्य में विश्वास होता है तब गुरु के वाक्य का मनन होता है। अरु श्रद्धा का कारण निष्ठा है अर्थात् जब गुरुके बिषे निष्ठा होती है तब विश्वास (श्रद्धा) होता है, अरु निष्ठा तब होती है जब उक्त प्रकार की कृति होती है अर्थात् जब इन्द्रियों का संयम अरु चित्तकी एकाग्रतारूप कृति को करताहै तब निष्ठा होती है, जब निष्ठा होती है तब श्रद्धा होतीहै, जब श्रद्धा होतीहै तब मनन होता है, जब मनन होता है तब विज्ञान होता है जब विज्ञान होता तब परमार्थ सत्य को जानता है तब उस परमार्थ सत्य को जानं तिसको कहने के स्वभाववाला अतिवादी होताहै । तातें सत्यादि पूर्व की प्राप्ति का कारण उत्तरोत्तर को जानना। अरु इनहीं साधनों बिषे परमार्थ से सत्य जो भूमानामवाला अपना आप आत्मसुख (परमानन्द) है सो स्वयं अपने आपको आपही प्रकाशता है, उसके प्रकाशनार्थ उक्त साधनों से अतिरिक्त कुछ भी प्रयत्न कर्त्तव्य नहीं। एतदर्थ यहां कहते हैं कि वास्तविक परमार्थ सत्य सुखही जानने योग्य है ॥ हे सौम्य ! इसप्रकार जब सनत्कुमार ने कहा तब उसको श्रवणकर नारद कहताहुआ कि, हे भगवन्, हे पूजाके योग्य ! मैं सुखके जानने की इच्छा करता हौं मैं पारमार्थिक सुख को जानौंगा ॥ हे सौम्य ! उक्त प्रकार भगवान् योगेश्वर परम ब्रह्मनिष्ठ सनत्कुमार ने अपने उपदेशात्मक वाक्यों से उस नारद को जो कि कृतार्थ होने के

[लि]ये अपने बिषे आत्मजिज्ञासा धार सनत्कुमार के समीप आयाहै, पारमार्थिक परमानन्द निरतिशय सुख के जानने की दृढ़जिज्ञासा उपजाय अपने वाक्य के सम्मुख किया, अरु सो नारद पारमार्थिक अतिशय सुख के जानने के लिये एकाग्र चित्तसे सम्मुख हुआ तब सो सनत्कुमार कहताहुआ ॥ः—हे सौम्य ! जैसे वस्त्र के सीवनेवाला दरजी जब अपनी सुई में डोरा परोवने को होता है तब प्रथम उस सुई के नक्के (छिद्र) को अपने नेत्र के सम्मुख करलेता है तब उस सुई के छिद्र में डोरा शीघ्र प्रवेश करता है । तैसेही आत्मोपदेष्टा गुरु अपनी युक्ति प्रमाण वाक्य से प्रथम जिज्ञासु के श्रोत्रेन्द्रिय को अपने उपदेशात्मक वाक्य के सम्मुख करलेता है तब उसको उपदेश करता है तब वो आचार्यका किया उपदेश जिज्ञासुके अन्तःकरण में शीघ्रही प्रवेश को पाय उसके कल्याणका कर्ता होताहै—ः॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके त्रयोविंशः खण्डः प्रारभ्यते ।

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखंभूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में तेईसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार सत्यसे कृति पर्यन्त पूर्व २ की प्राप्ति का उत्तरोत्तर को कारण कहके सनत्कुमार ने नारदकी चित्तवृत्ति को अपने वाक्य के सम्मुख एकाग्रकर कहतेहुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! निश्चय करके जो भूमा है कि जिससे अतिशय और कुछभी नहीं सोई सर्व से श्रेष्ठ निरतिशय परमानन्द सुख है, तिससे जो अन्य (नीचे) सातिशय है सो अल्प तुच्छ है अतएव तिस तुच्छ अल्प में सुख नहीं,

क्योंकि अल्प की हेतु अधिक तृष्णा है, अरु तृष्णा जो है सो दुःख का बीज है ॥ :—अर्थात् जो सुखस्वरूप भूमानामवाले आत्मा से इतर है सो सर्व असत्य अल्प है अरु जो अल्पहै सो सर्व तृष्णा का विषय होनेसे परिणाम में दुःखरूपहै क्योंकि तृष्णारूप बीजसे परिणाम दुःखरूपही फल उपजताहै। जैसे लोकबिषे ज्वरादि रोग दुःखका हेतु होनेसे उनसे दुःखही उपजताहै, तैसे तृष्णा को दुःख का बीज होने से जिनका हेतु तृष्णाहै तिनसे दुःखही उपजताहै, एतदर्थही कहाहै कि अल्प में सुख नहीं अल्प को नाशवान् होनेसे—:॥ अतएव हे नारद ! निश्चय करके भूमाही सुख है और नहीं क्योंके अपने आप सुखस्वरूप भूमाख्य आत्मा बिषे तृष्णादि दुःख के बीजों का असंभव है ताते। हे नारद! भूमाही तो जानने योग्य है। हे सौम्य ! इस प्रकार जब सनत्कुमारने कहा तब नारद कहताहुआ कि, हे भगवन् ! जो सर्व से अधिकता निरतिशय भूमाख्य सुख है तिसके जानने की मैं इच्छा करता हौं, मैं उस भूमा को जानोंगा ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः प्रारभ्यते।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में चौबीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जहां अन्यको देखता नहीं अन्य को सुनता नहीं अन्यको जानता नहीं सो भूमाहै, अरु जहां अन्यको देखता है अन्यको सुनता है अन्य

जो जानता है, सो अल्प है जोही भूमा है सो अमर है अरु जो अल्प है सो नाशवान् है । हे भगवन् ! वो भूमा किस बिषे रहता है । हे नारद ! वो कहीं नहीं रहता यदि रहता है तो अपनी महिमा बिषे रहता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब सनत्कुमार ने नारद को निरतिशय भूमाख्य सुख कहा तब तिसके जानने की इच्छावाला नारद सनत्कुमार से कहताहुआ कि हे भगवन् ! उस भूमा का लक्षण क्या है ? सो आप कहिये । इस प्रकार जब नारद ने प्रश्न किया तब सनत्कुमार उत्तर कहते हुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जहां अन्यको देखता नहीं (सो भूमा है) अर्थात् जिस भूमानामवाले तत्त्व बिषे चक्षुरादि बाह्यकरण अरु मनआदि अन्तःकरण करके देखने जानने योग्य अन्यवस्तु कुछ भी नहीं, क्योंकि जो दृष्टि से देखाजाता है सो दृश्य अन्यही होता है । अर्थात् उस भूमानामवाले अद्वैततत्त्व बिषे दृश्य, दर्शन, दृष्टि इत्यादि अन्य विशेषभाव नहीं । हे नारद ! तैसेही उस भूमाख्य तत्त्व बिषे अन्य को सुनता नहीं, क्योंकि उस बिषे अन्य श्रुतवस्तु का अभाव है । अर्थात् उस भूमानामवाले एक अद्वैततत्त्व बिषे दृश्य अरु श्रुत आदि विषय अरु चक्षुकर्णादि करणों का अभाव होने से न अन्य को देखता है न अन्य को सुनता है । तैसेही उस बिषे मननकरने योग्य वस्तु के अभाव से मनन भी होता नहीं, अथवा उसको मन का अविषय होने से मनन होता नहीं । तैसेही अन्य को जानता नहीं, उस बिषे अन्य ज्ञेयवस्तु के अभाव से अथवा उसको बुद्धि का अविषय होने से अर्थात् प्रायशः विज्ञान को मननपूर्वक होने से उस भूमाख्य तत्त्व बिषे मनन के अभाव से विज्ञानका भी अभाव है अर्थात् उस बिषे मनन करने योग्य अन्य वस्तु के अभाव से मनन के अभाव हुए मननपूर्वक होनेहार विज्ञानका भी अभावहै ॥:-हे सौम्य ! उस एक अद्वैत निर्विशेष भूमाख्य आत्मतत्त्व बिषे देखने सुनने मनन करने अरु जाननेयोग्य अन्य वस्तु के अभाव से न अन्य को देखता है न अन्य को श्रवण करता है न अन्य को मनन करता है न अन्य को जानता

है–: ॥ हे नारद ! उस एक अद्वैत भूमानामवाले आत्मतत्त्व विषे अन्य अन्य को देखता नहीं, अन्य को अन्य सुनता नहीं, अन्य को अन्य मनन करता नहीं, अन्य को अन्य जानता नहीं, क्योंकि उस विषे द्वैत का अभाव है। हे नारद ! इस प्रकार का लक्षण है जिसका सो कहिये भूमा ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! यह लोक प्रसिद्ध दर्शनादि विषयपने के अभावमात्र को भूमा का लक्षणपना कैसे है ? ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! उस भूमातत्त्व विषे दर्शनादिकों का अभाव कहनेसे उसको स्वविषय (अपने आपको विषय करने) पने का अभाव जानना क्योंकि भूमाख्य आत्मा ज्ञानस्वरूप है वो ज्ञानक्रिया का करता अरु ज्ञान का विषय नहीं, अतएव उस विषे ज्ञेयपने का अभाव है, ज्ञेयत्व अरु ज्ञातत्व को परस्पर में जड़ चेतन धर्मपना होने करके परस्पर में विरोधी होने से सो दोनों एकही वस्तुको आश्रय करें नहीं। अरु जो कदाचि उस एक अद्वैत भूमाख्य तत्त्वविषे दर्शनादि मानोगे तो क्रिया कारक फल भेद की प्राप्ति होवेगी ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! यदि उस भूमा विषे दर्शनादि व्यापार होने से क्रिया कारक फल भेद की प्राप्ति होवेगी तो तिस करके क्या दोष होवेगा ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! यदि उस भूमाविषे दर्शनादि व्यवहार से क्रिया कारक फल भेद की सिद्धि मानोगे तो संसार की अनिवृत्तिरूप महान् दोष की प्राप्ति होवेगी, अरु दर्शनादि व्यवहार क्रिया कारक फल का भेद ही संसार है, अरु तिस संसार की भूमाख्य आत्मतत्त्व विषे अनिवृत्ति हुई तब मोक्ष का अभाव आया। अतएव हे नारद ! उस निर्विशेष अद्वैत भूमा तत्त्व विषे अन्यको देखता नहीं, अन्यको सुनता नहीं, अन्यको मनन करता नहीं, अन्यको जानता नहीं। जैसे शून्य गृह में प्रवेश को पाया पुरुष अन्य को देखता सुनता मनन करता जानता नहीं तैसेही एक भूमा नामवाला तत्त्व अपने निर्विशेष स्वरूप विषे अन्यको देखता, सुनता, जानता नहीं ॥ शङ्का ॥ हे भगवन् ! जैसे शून्य गृह में प्रवेशको पाया हुआ पुरुष स्तम्भादिकों से अन्यको देखता सुनता जानता नहीं तैसे भूमा अपने आप विषे अनात्मा को न देखता सुनता जानता होगा, परन्तु अपने आपको

देखता सुनता जानता होगा ॥ समाधान॥ सो बने नहीं क्योंकि उस एक अद्वैत निर्विशेष भूमातत्त्व बिषे दृग् दर्शन दृश्यआदि भेद विशेषता नहीं क्योंकि ॥ "सदेकमेवाद्वितीयं तत्सत्यं" ॥ इस प्रकार एक अद्वैत निर्विशेष सत्यचैतन्य आत्मतत्त्वको निर्धार कियाहै ॥ तथाच ॥ "अदृश्ये नात्मे, न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य, विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्" ॥ इत्यादि श्रुतियों के प्रमाणसे उस एक अद्वैत भूमा नामवाले तत्त्वबिषे दर्शन दृश्य श्रवण श्रुत इत्यादि व्यापार की अनुपपत्ति (अप्राप्ति) है। अतएव हे नारद ! दर्शनादि संसार व्यवहार उस निर्विशेष भूमा तत्त्व बिषे है नहीं, यह सर्व कथन का सिद्धान्त जानना ॥ सोई निर्विशेष भूमानामवाला तत्त्व आत्मा है उस बिषे सर्व विशेषताके अभाव से वो भूमा स्वरूप है ॥ हे नारद ! जहां अन्यको देखता है जहां अन्य को सुनता है जहां अन्यको मनन करता है जहां अन्यको जानता है सो अल्प नाशवान् होता है, अर्थात् उस एक अद्वैत निर्विशेष भूमाख्य आत्मतत्त्व बिषे कि जिस बिषे नेत्रगोलक, चक्षुइन्द्रिय, दर्शनादि क्रिया अरु दृश्य पदार्थ, अरु तिस करके आया जो द्रष्टा विशेषण सो कुछ भी नहीं। अरु तैसेही श्रोत्रादि इन्द्रियों का अरु मन आदि अन्तःकरण का कुछ भी व्यापार नहीं। हे नारद ! जहां तिस सर्वाधिष्ठान भूमाख्यतत्त्व बिषे तिससे पृथक् करके नामरूपादि प्रपञ्च को देखते हैं, सुनते हैं, मनन करते हैं, जानते हैं सो नाशवान् है अथवा जो उस एक अद्वैत भूमातत्त्व बिषे नानात्व को देखता, सुनता, मानता, जानता है सो अति अल्प अज्ञानी नाशवान् (वारंवार मरण से भी मरण को पावने वाला) है। तथाच "। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यइह नानेव पश्यति" ।:— अथवा हे सौम्य ! "। यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति "। इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से जहां एक अद्वैत निर्विशेष भूमाख्य सत् चैतन्य आत्मतत्त्व विषयक अविद्या होती है तहां और का और देखता है और का और सुनता है, और का और मनन करता है और का और जानता है, सो नाशवान् अल्प असत्य है, अपने कारण अविद्या को अल्प असत्य नाशवान् होने से—: ॥ हे नारद !

जो वस्तु अविद्या काल भावी होती है सो अल्प नाशवान् होती है जैसे स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् होने के पूर्वकाल बिषेही भासते हैं जाग्रत् हुए अभाव होजाते हैं । तैसे भूमाख्य आत्मतत्त्व के यथार्थ सम्यक् ज्ञान होने के पूर्व अविद्या काल बिषे यह नामरूप क्रियात्मक प्रपञ्च जो केवल वाचारम्भणमात्र है सो आत्मा से इतरवत् देखा सुना जाना जाता है, आत्मज्ञान होने के पश्चात् नहीं ताते सो नाशवान् है अरु जो नामरूप क्रियात्मक प्रपञ्च से बिपरीत सर्वका प्रकाशक अधिष्ठान साक्षी भूमा है सो अमृत अविनाशी है ॥ हे सौम्य ! इस प्रकार जब भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार ने नारद के प्रति सुखस्वरूप परमानन्द भूमाख्य आत्मतत्त्व का उपदेश किया तब उसको श्रवण करके नारद ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! वो भूमा किस बिषे रहता है, इस प्रकार जब नारदने प्रश्न किया तब भगवान् सनत्कुमार कहतेहुए कि हे नारद ! वो भूमा वास्तव करके एक अद्वैत परिपूर्ण सर्वाधिष्ठान है अतएव वो कहीं नहीं रहता जो रहता है सो उस सर्वाधिष्ठान भूमासत्ता बिषे रहता है उसको सर्वका आश्रय सर्वाधिष्ठान होने से । अरु जो वो सोपाधि हुआ रहता है तो अपनी महिमा बिषे रहता है, महिमा कहिये अपने आप माहात्म्य बिषे वा विभूति बिषे रहता है । सोभी जो तू उसके रहने को इच्छता पूछता है तो, अरु जो वास्तव से पूछे तो भूमा अन्याश्रित नहीं (अन्यके आश्रय विना) है अतएव वो कहीं भी नहीं रहता । जो अन्य के आश्रय रहता है सो अल्प परिच्छिन्न नाशवान् होता है ताते भूमा अन्य के आश्रय विना अपने आप बिषे आपही रहता है ॥ हे भगवन् ! यदि वो भूमा अपनी महिमा बिषे रहता है तो सो महिमा क्या है ? सो आप कृपा करके कहिये ॥ १ ॥

गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्य्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

अक्षरार्थ।

यह गो, अश्व, हस्ति, हिरण्य (सुवर्ण), दास, भार्या, क्षेत्र, गृह इत्यादि महिमा है तिस बिषे रहता है सो हम ऐसा नहीं कहते क्योंकि अन्य २ बिषे प्रतिष्ठित होता है अरु भूमा से इतर कोई है नहीं, तब क्यों ऐसा कहते हौ, तेरे प्रश्न के उत्तर के अर्थ व्यवहार सत्ता से कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ।

हे सौम्य ! पूर्वोक्तप्रकार जब नारद ने सनत्कुमार से प्रश्न किया कि वो सुखस्वरूप भूमा किस बिषे रहता है, तब सनत्कुमार ने उसके उत्तर के लिये व्यवहारसत्ता को स्वीकार करके कहा कि, हे नारद ! वो भूमा अपनी महिमा बिषे रहता है। तब तिसको श्रवणकर पुनः नारद ने प्रश्न किया कि, हे भगवन् ! यदि वो भूमा अपनी महिमा बिषे रहता है तो उसकी महिमा क्या है ? सो आप कहिये, तब सनत्कुमार पुनः उत्तर देतेहुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! यह जो लोक बिषे गो, अश्व, हस्ति, रथादि पशुयान, अरु सुवर्ण,रत्नादि धन,अरु क्षेत्र उपलक्षण करके भूमि, ग्राम, राज्यादिक अरु आयतन (गृह), आराम (बाग) आदिक अरु दास, दासी सेवकादिक अरु भार्या उपलक्षण करके स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब इन सर्व को महिमा (विभूति) कहते हैं ॥ तिस अपनी महिमा बिषे वो भूमा रहता है ॥:—अर्थात् हे सौम्य ! पूर्व षष्ठ अध्याय बिषे भूमाख्य सत् चैतन्य परमात्मदेवने अपने बिषे बहुत रूप होने की इच्छाकर तेजादि तीन तत्त्वों को प्रथम उत्पन्न किया, पश्चात् सर्वके नाम रूप पृथक् २ प्रकट करने की इच्छासे तीनों तत्त्वों में आभासरूप से प्रवेशकर उनका त्रिधाकरण कर उनके पृथक् २ त्रिवृत् करण से सर्व के नामरूप को पृथक् २ प्रकटकर तिन सर्व बिषे अपने आभासरूप से प्रवेश कर सर्व के नामरूप का सिद्धकर्ता सर्वात्मा हुआ स्थितहै, ऐसा कहा है। अतएव व्यवहार सत्ता से जीवरूप करके भूमाही अपनी नाम रूपात्मक उक्त महिमा बिषे प्रतिष्ठित है—: ॥ हे नारद ! परमार्थदृष्टि से वो भूमा कहीं भी रहता नहीं क्योंकि जो अन्य के आश्रय रहता है सो अल्प

परिच्छिन्न विकारी नाशवान् होता है, अतएव भूमा किसी बिषे किसी के आश्रय रहता नहीं न किसी महिमा विभूति करके प्रतिष्ठित होता है ताते भूमा अविनाशी अमृतरूप अपने बिषे आप स्थित है। अरु जो रहता है सो सर्वाधिष्ठान भूमा बिषे भूमा के आश्रय रहता है अरु भूमा करके प्रतिष्ठित होताहै, ताते अन्य के आश्रय रहनेवाला, नामरूप क्रियात्मक जगत् सो वाचारम्भणमात्र होनेसे अल्प नाशवान् है ॥२॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चविंशः खण्डः प्रारभ्यते।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमित्यथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहंपश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में पच्चीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ व भावार्थ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार जब भगवान् सनत्कुमार ने नारद से कहा कि, हे नारद ! वास्तव परमार्थदृष्टि करके वो भूमा कहीं भी रहता नहीं, तब नारद ने प्रश्न किया कि, हे भगवन् ! भूमा के कहीं भी न रहने का हेतु क्या है ? सो आप कृपा करके कहिये, तब सनत्कुमार उत्तर कहते हुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! निश्चय करके जिस कारण से भूमा नीचे है तिससे इतर नीचे कुछ भी नहीं कि जिस बिषे भूमा रहै वा होवे, अर्थात् जिस बिषे वो भूमा रहे ऐसा उससे इतर कुछ भी है नहीं अतएव नीचे भूमाही है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! तो वो भूमा ऊपर किसी बिषे रहता होवेगा ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! ऊपर भी भूमाही है उससे इतर कुछ नहीं कि जिस बिषे वो रहै। हे नारद ! तैसेही पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर वो भूमाही है तिससे व्यतिरेक कुछ भी नहीं

कि जहां वा जिस बिषे वो भूमा रहै ताते सर्व ओर भूमाही है ॥ प्रश्न ॥ हे भगवन् ! जिस वस्तुके नीचे, ऊपर, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर अन्य स्थान नहीं कि जिस बिषे वो भूमा रहै परन्तु उस वस्तु बिषे तो वो भूमा रहता होवेगा ॥ उत्तर ॥ हे नारद ! उस भूमा से इतर कुछ भी वस्तु नहीं कि जिस बिषे वो रहै, अर्थात् यह जो नामरूप क्रियात्मक जगत् भासता है सो वो एक अद्वैत भूमाही इस प्रकार से सुशोभित हो भासता है वास्तव करके उस भूमा से इतर कुछ भी नहीं । अतएव हे नारद ! नीचे, ऊपर, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर अरु तिनके मध्य जो है सो एक अद्वैत भूमाख्यं तत्त्वही है ॥ हे सौम्य ! इस प्रकार उस एक अद्वैत परिपूर्ण भूमाख्य तत्त्व का नारद के प्रति परोक्षता से उपदेश कर पुनः वो सनत्कुमार विचार करतेहुए कि इस मेरे परोक्षता से भूमा के बोधक उपदेश को श्रवणकर इस नारद को यह शङ्का होवेगी कि इस जीवतत्त्व से इतर कोई भूमानामवाला तत्त्व सर्वओर सर्वरूप से रहता होवेगा, सो ऐसी शङ्का किसी को भी न हो ऐसा विचार ॥ तिस के अनन्तर भगवान् सनत्कुमार अहंकारादेश (अहंपूर्वक उपदेश) करतेहुए ॥ :-अर्थात् अहं शब्द का विषय चैतन्य आत्मतत्त्व का उपदेश करते हुए कि जिस करके किसी भी मुमुक्षु की बुद्धिबिषे द्वैत की भ्रान्ति न होवे ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! मैं ही नीचे हौं मैं ही ऊपरहौं मैं ही पूर्वहौं मैं ही पश्चिम हौं मैं ही दक्षिण हौं मैं ही उत्तरहौं । हे नारद ! विशेष क्या कहौं ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, दायें, बायें जो कुछ यह सर्वशब्द का विषय है सो सर्व एक मैं ही हौं मुझसे इतर नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायें, बायें कहीं भी और कुछ भी नहीं, (इस प्रकार से अपने आप को अनुभवकर) ॥ १ ॥

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टा दात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मादक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमितिस वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मामिथुनआत्मानन्दः स

स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाछं सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

अक्षरार्थ ।

हे नारद ! अब तिसके अनन्तर आत्मआदेश को श्रवण करो । निश्चय करके आत्माही नीचे है आत्माही ऊपर है आत्मा ही पश्चिम है आत्मा ही पूर्व है आत्मा ही दक्षिण है आत्मा ही उत्तर है, आत्मा ही यह सर्व है सो विद्वान् इस प्रकार देखता हुआ मनन करताहुआ जानताहुआ आत्मरति आत्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द होताहै सो स्वराड् होता है तिसका सर्व लोकबिषे काम पूर्ण वा प्राप्त होताहै अरु जो उक्त प्रकार से अन्यथा जानता है सो अन्य राजावाला होता है अरु क्षयलोकवाला होता है तिसको सर्वलोक बिषे अकाम होता है (उसकी कहीं भी कामना सिद्ध नहीं होती) ॥ २ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! उक्त प्रकार भगवान् सनत्कुमार नारद को अहंकारादेश करके भूमाख्य तत्त्व का उपदेश कर पुनः विचारते हुए कि जो पुरुष यथार्थ आत्मानुभव से शून्य बहिर्बुद्धि अविवेकी हैं तिनको अहंकार का विषय देहादि अनात्म भासता है अतएव इस अहंकारादेश करके देहादि संघात उपदेश किया होगा इस प्रकार की शङ्का किसी को भी मतहो, ऐसा विचार के तिसके अनन्तर केवल एक शुद्ध सत्यस्वरूप करके सर्वत्र एक आत्मादेश (आत्मोपदेश) कहतेहुए ॥ सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! जो सजातीय, विजातीय, स्वगत, भेदरहित एक अद्वितीय अविद्यादि मलरहित परमशुद्ध निर्विशेष सत् चैतन्य परमानन्दस्वरूप आत्मा है सो आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपरहै, आत्मा ही पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर है अर्थात् सर्वत्र सर्व जो है सो एक अद्वैत

अविनाशी अखण्ड आकाशवत् परिपूर्ण अरु अजड़ शून्यता-रहित होने से आकाश से विलक्षण महासूक्ष्म चैतन्य आत्मा है तिससे रञ्चकमात्र भी कुछ नहीं, इस प्रकार के अपने आपको जो देखता अर्थात् आत्मवेत्ता आचार से श्रवण करताहै, पुनः तिसको मनन करता है, पुनः तिस श्रवण मनन कियेहुए अपने आत्मा को सम्यक् प्रकार जानता (अनुभवकरता) है। सो आत्मविद्विद्वान् आत्मरति आत्मक्रीड़ होता है, अर्थात् आत्माही विषे है रमण जिसका सो कहिये आत्मरति, अरु तैसेही आत्मा के साथही है क्रीड़ा नतु स्त्री आदिकों के साथ सो कहिये आत्मक्रीड़। अथवा आत्मा विषे ही है चित्त का अनुसन्धान सर्वदा जिसका तिसको कहिये आत्मरति, अरु जैसे लोकविषे जिन पुरुषों को स्त्रियों के साथ विहार करते देखते हैं तिनको क्रीड़ कहते हैं, तैसेही सविकल्प समाधिरूपा स्त्री के साथ विहार क्रीड़ा है जिसकी तिसको कहिये आत्मक्रीड़॥ हे नारद ! जैसे लोक में पुरुष विषय सुख के लिये स्त्री आदिकों में रति अरु क्रीड़ा करते हैं तैसेही परमानन्द सुख की प्राप्तिके लिये आत्मवेत्ता विद्वान् की अपनी आप आत्मसत्ता के साथ सविकल्प वा निर्विकल्प समाधिरूप एकान्त स्थान विषे रति क्रीड़ा होती है। अरु मिथुन कहिये द्वन्द्वजनित सुख अर्थात् स्त्री पुरुषके संयोग निमित्तक जे सुखहैं सो दूसरे की अपेक्षावाला होता है अरु विद्वान् का जो आत्मसुख है सो दूसरे की अपेक्षा से रहित नित्य सुख है, अतएव सो विद्वान् का परमानन्द सुखहै॥:-हे सौम्य ! जैसे स्त्री अरु पुरुष दोनों के संयोग से विषयानन्द सुख होता है तैसे विद्वान् कहिये शास्त्र संस्कार बुद्धि युक्त आभास (चिदाभास जीव) सो जब सज्ञात निर्विकल्प समाधिरूप एकान्त गृह में वा विचार समाधिरूप एकान्त गृह में अपनी बिम्बरूपा सामान्य चैतन्य सत्ता के साथ अभेद एकता को प्राप्त होता है तब तिसको निरपेक्ष अविनाशी अखण्ड नित्य परमानन्द सुख प्राप्त होता है॥ हे नारद ! शब्द, स्पर्शादि विषय भोग निमित्त का जो क्षणिक सुख है सो अल्प नाशवान् है सो अविद्वान् विषयलम्पटों का सुख है,

तैसा आत्मवेत्ता विद्वान् का सुख नहीं विद्वान् का सुख शब्दादि विषय निरपेक्ष परमानन्द सुख है । हे नारद ! उक्तप्रकार के लक्षणवाला विद्वान् जीवतेही अपने स्वाराज्य पद (सर्वोत्तमपद) विषे राज्याभिषेक पाया होता है, अरु सो देहके पातहुए भी स्वराट् होताहै । हे नारद जब इस प्रकार होता है तब तिसही करके सर्वलोक सब शरीरों विषे सर्वकाम पूर्ण होताहै वा सर्वकाम का कर्त्ता होताहै । अर्थात् उस आत्मभूत विद्वान् को सर्वत्र सर्व का आत्मा होने से स्वैही प्राप्त (अपना आप) होता है ॥ हे नारदजी ! 'अथ, पुनः उक्त प्रकार के आत्मभूत विद्वान् से इतर अविद्वान् उक्तप्रकार के आत्मदर्शन से अन्यथा (विपरीत) भाव से आत्मतत्त्व को देखता है अर्थात् कहे प्रकार से आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार नहीं जानता सो अन्य राजावाला होताहै॥:-अर्थात् पराधीन अन्य के भययुक्त होता है-:॥ अथवा अन्य कहिये दूसरा है राजा (स्वामी) जिसका तिसको कहिये अन्य राजावाला॥:-अर्थात् जो अविद्वान् आत्मरति न होके केवल अपने देहमात्र मेंही रतिमान् होताहै, अरु आत्मक्रीड़ न होके स्त्री आदिकों में क्रीड़ावाला होता है, अरु जो आत्मानन्द को न प्राप्तहोके विषयानन्द में ही रहता है । सो अज्ञ अन्यस्वामीवाला होके तिसके भयमेंही रहता है ॥ अरु जो उक्त प्रकार का आत्मदर्शी विद्वान् है सो स्वयं आपही राजा होता है उसका अन्य ईश्वरादि स्वामी कोई नहीं वो सर्वका स्वामी सर्व करके पूजनीय सदा निर्भय पद में स्थित रहता है-: ॥ अरु वो अविद्वान् क्षयलोकवाला होता है अर्थात् अन्त में वो नाशवान् लोकको पावताहै क्योंकि भेददर्शन का फल अल्प है अतएव जो अल्प है सो नाशवान् है ऐसा मैंने पूर्व कहाहै हे नारद ! जिस करके वो अविद्वान् पुरुष भेददर्शन के कारण क्षय (नाशवान्) लोकवाला होता है तिसही हेतु से उसका किसी भी लोक वा शरीर विषे काम पूर्ण नहीं होता अर्थात् उस अविद्वान् की कहीं भी कामना समाप्त होही नहीं ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके पञ्चविंशःखण्डः ॥ २५ ॥

अथ छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षड्विंशःखण्डः प्रारभ्यते ।

तस्य हवा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजा आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत काश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आवि तिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञान त्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतो क- र्याण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

अब सप्तमप्रपाठक में छब्बीसवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! तिस प्रसिद्ध विद्वान् का जो (अ- स्वस्वरूपरूप) स्वाराज्य पद को प्राप्त हुआ है ॥ अर्थात् जो आत्म- ज्ञा विद्वान् सर्वत्र अपने आपही को देखता है, अपने आप ही को निश्चय करता है, अपने आपही को जानता है, अपने आपही में रत अपने आप सेही क्रीड़ा करता है, अपने आपमें ही सदा आनन्दित रहता है उसही विद्वान् के आत्मा से प्राण उत्पन्न हुआहै, "। एतस्मा- ज्जायते प्राणो ।" उसही के आत्मा से आशा है, उसही के आत्मा से स्मृति होती है, उसही के आत्मा से आकाश होता है, " एतस्मादा- त्मन आकाशः संभूतः " अरु उसही के आत्मा से तेज होताहै "।तत्ते- जोऽसृजत ।" उसही के आत्मा से जल उसही के आत्मा से आविर्भाव तिरोभाव (उत्पत्ति प्रलय वा प्रकट होना छिपना) होता है उसहीके आत्मा से अन्न होता है, उसही के आत्मा से बल होता है, उसही के आत्मा से विज्ञान उसही के आत्मा से ध्यान होताहै, उसहीके आत्मा से चित्त होता है, उसही के आत्मा से संकल्प उसही के आत्मासे मन होता है, उसही के आत्मासे वाणी उसही के आत्मा से नाम होताहै, अरु उसही के आत्मा से वेदों के मन्त्र अरु उसही के आत्मा से

सम्पूर्ण कर्म्म होता है, हे नारदजी ! और विशेष क्या कहिये उसही विद्वान् के ही आत्मा से ही यह सर्व नामरूप क्रियात्मक जगत् उत्पन्न स्थित लय होता है। क्योंकि जिस आत्मपद को वो विद्वान् प्राप्तहुआ है सो सर्व जगत् का मूल सर्वात्मा है ताते ॥ १ ॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधाचैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्दइत्याचक्षते ॥ २ ॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षड्विंशःखण्डः ॥ २६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमःप्रपाठकः ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

सनत्कुमार उवाच ॥ हे नारद ! तिस कही हुई उक्त विद्या के अर्थ बिषे यह श्लोक (वेदका मन्त्र) भी प्रमाण होता है। उक्त प्रकार के भूमाख्य अपने आप आत्मतत्त्व का सम्यक्प्रकार यथार्थ अनुभवी विद्वान् अपने बिषे मृत्यु को देखता नहीं (अमरभाव को प्राप्तहुआ है ताते) अरु ज्वरादिरोग निमित्त के दुःखों को भी अपने बिषे देखता नहीं (देहादि संघात अरु तिनके धर्मों से पृथक् हुआ है ताते) अरु सर्व को अपना आप आत्मा देखता है, अतएव सर्वको प्राप्त होता है। अर्थात् सर्वात्मभूत विद्वान् को सर्वका आत्माहोने से उससे इतर उसके प्राप्त होने योग्य कुछ भी अवशेष रहता नहीं अतएव सर्वथा सर्वही उस को प्राप्त है। हे नारद ! आत्मभूत विद्वान् सर्वसृष्टि भेदकी उत्पत्ति से पूर्व एक, अद्वितीय होताहै सो एक हुआही तीन भेद को पावता है॥

अर्थात् सो सत् आत्मा सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय हुआ भी अपने बहुतरूप होनेकी इच्छा से तेज़, जल, पृथिवी प्रथम इन तीन कारण भेद को पावता है—: ॥ हे नारद ! सोई आत्मा पांच प्रकारके भेद को पावता है ॥:—अर्थात् ऐतरेय आदि उपनिषदों के प्रमाण से आकाशादि पञ्चभूतरूप पांच प्रकार का होता है—: ॥ अरु सोई आत्मा सात प्रकार का होता है अर्थात् महत्तत्त्व अहङ्कार अरु पञ्चतन्मात्रा इन सात प्रकार का होता है—: ॥ अरु सोई आत्मा नव प्रकारका होताहै ॥:— अर्थात् तैत्तेय उपनिषद् के प्रमाण से आत्मा से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, औषध, अन्न, वीर्य, पुरुष (शरीर) इस क्रम से नव होतेहैं एतदर्थ आत्मा नव प्रकार का भी होता—: ॥ हे नारदजी ! एक अद्वैत आत्मा सृष्टिकाल बिषे अपनी इच्छा से तीन वा पांच वा सात वा नव वा कारणभूत हुआ अनेक प्रकार के कार्यभेद से आप ही स्थित होता है (जैसे एक मृत्तिका कार्यकाल बिषे घट शराव आदि अनन्त भेद भाव से सुशोभित होती है तैसे) अरु सोई आत्मा संहार (प्रलय) काल बिषे सर्वको अपने बिषे लय करके पारमार्थिक एकरूपता कोही प्राप्त होताहै (अर्थात् वो भूमानामवाला सत् चैतन्य देव एक अद्वैत ज्ञानस्वरूप स्वतन्त्र है, अतएव वो अपनी इच्छा से सर्व कार्य कारणात्मक अनेक प्रकार का होते सन्ते भी वास्तव से एकहीहै, तिस एक अद्वैत सर्वके मूलकारण परमात्मा बिषे कार्य कारणात्मक सर्व प्रपञ्च केवल कहने मात्रही है ' मृत्तिका बिषे घट सराव आदिकोंवत् ' । हे नारदजी ! ऐसे अपने आप आत्मस्वरूप के अथवा उक्तविद्या सम्यक् प्रकार दर्शन के वा धारण होनेका कारण (उपाय) श्रवण करो । हे नारदजी ! जैसे अपने मुख को स्पष्ट देखने के लिये आदर्श (दर्पण) का सम्यक् प्रकार शुद्ध होना कारण है, तैसेही अपने आप आत्मस्वरूप के साक्षात् यथार्थ स्पष्ट अनुभव होने के अर्थ बिषे अन्तःकरणरूप दर्पण का शुद्ध होना कारण है; सो अन्तःकरण तब शुद्ध होता है जब आहार भोजन शुद्ध होता है, सो आहार तब शुद्ध होताहै जब व्यवहार शुद्ध होताहै अर्थात् जिस द्रव्य से अन्नादिक भोजन सामग्री

क्रय (खरीदना) होवे सो धन धर्मपूर्वक न्याय करके उपार्जित होवे, पश्चात् वो अन्न चाल पछोड़ बीन के शुद्धसंस्कृत किया होवे, पश्चात् पवित्र किये स्थान में पवित्रता से उस अन्न का पाक हुआ होवे, तिसके पश्चात् उस पक्व अन्न से बलिवैश्वदेवादि भूतयज्ञ अरु अतिथि को भोजन देनेरूप मनुयज्ञ किया होवे । इस प्रकार के शुद्ध संस्कृत अन्न के भोजन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, क्योंकि "अन्नमयꣳहिसौम्यमनः" इत्यादि इसही उपनिषद् के षष्ठ अध्यायबिषे कहा है, तहां, मन उपलक्षण करके अन्तःकरण को अन्न का कार्य होनेसे आहार के शुद्ध हुए सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध होता है । अरु अन्तःकरण के शुद्धहुए शुभ अशुभ कर्तृत्व अकर्तृत्व आदिकों का विवेक होता है, तब तिस विवेक से अशुभ व्यापार से मन उपराम हो शुभ व्यापार में प्रवृत्त होता है, अरु जब मन शुद्ध हुआ श्रवणादि शुभमार्ग में प्रवृत्त होताहै, तब इन्द्रियां विषयों से उपराम हुई अन्तर्मुख होती हैं । अर्थात् उस शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष को विषयादि किसी भी पदार्थ में रागद्वेष होता नहीं, अरु रागद्वेष के अभावहुए काम, क्रोध, लोभ, मोहादि दोषोंका भी अभाव होता है । अरु इसही हेतुसे वो विद्वान् किसी भी पदार्थ में आसक्तहुआ बन्धवान् होता नहीं "लिप्यते न स पापेभ्यः पद्मपत्रमिवाम्भसि" गीता बिषे । अतएव हे सौम्य! उक्तप्रकार के साधनों से उक्तप्रकार का शुद्ध अन्तः करण जिस पुरुष का होता है तिस शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष के प्रति आचार्य करके उपदेश करीहुई ब्रह्मविद्या अचल स्थिति को पावती है, अर्थात् उक्त प्रकार के शुद्धहुए अन्तःकरणवाले पुरुष को आचार्य करके एकवार भी उपदेश करीहुई ब्रह्मविद्या विस्मृति को पावती नहीं ॥ हे सौम्य! पूर्व कहा जो सत्य से सुखेच्छा पर्यन्त पूर्व २ की प्राप्ति में उत्तरोत्तर साधन तिन सर्व साधनों की प्राप्ति का मूल उक्त प्रकार के शुद्ध आहार का होनाहै, क्योंकि आहार के शुद्ध हुए अन्तःकरण की शुद्धि अरु अन्तःकरण की शुद्धि से उक्तसाधनों की प्राप्ति अरु उक्तसाधनों के हुए भूमाख्य सत् चैतन्य आनन्दघन अपने आप आत्मा की साक्षात्कार (ब्रह्म-

मात्र) रूपप्राप्ति होती है, अतएव सर्वसाधनों का मूल जो आहारशुद्धि सो अवश्य कर्तव्य है ॥ हे सौम्य ! यहां पर्यन्त भगवान् योगेश्वर परमब्रह्मनिष्ठ आत्मवेत्ता सनत्कुमार ने आत्मजिज्ञासु नारद के प्रति वेदान्त (उपनिषद्) शास्त्र का तात्पर्यार्थ अशेष उपदेश किया, अब श्रुति भगवान् सनत्कुमार नारद के संवादरूप आख्यायिका को समाप्त करे है ॥ हे सौम्य ! जिस शुद्धहुए अन्तःकरणवाले अधिकारी पुरुष के लिये यह (विद्या) होती है, अर्थात् जैसे रेह वा साबुन आदि क्षार से प्रथम वस्त्र के मैल को सम्यक् प्रकार अशेष दूरकरके पश्चात् उस वस्त्रपर केसरका रङ्ग देते हैं तब उस शुद्धहुए वस्त्रपर केसरका रङ्ग अति उत्तमतासे अति शीघ्र चढ़ता है, तैसे ही भगवान् सनत्कुमारने आत्मजिज्ञासु देवऋषि नारद के (जोकि अपने को कृतार्थ होने के लिये भगवान् सनत्कुमार के समीप प्राप्त हुआ है) तिसके अन्तःकरण से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिक अथवा संसार के प्रवर्त्तक अन्य विद्याओं के (जोकि ॥ " अन्यावाचो विमुच्यन्ते " ॥ " नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् " ॥ इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से मुमुक्षु करके त्यागने योग्य है) संस्काररूप कषाय (दोष) को प्रथम विज्ञान वैराग्य के सम्यक् अभ्यासरूप क्षार करके भली प्रकार प्रक्षालन कर उस नारद के अन्तःकरण बिषे आत्मविद्या देने की योग्यता देख पश्चात् सत् चैतन्य परमानन्द आत्मतत्त्व के उपदेशरूप अलौकिक केसर का रङ्ग चढ़ाय उस को संसारबिषे परमशोभनीय देवादिकों करके पूज्य वन्दनीय किया अरु जिस अविद्यात्मक अकृतार्थताजन्य शोकसागर के पार आत्मतत्त्व के प्राप्त होने के लिये वो सर्व वेदादि विद्यासम्पन्न ब्रह्मऋषि नारद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ योगेश्वर भगवान् सनत्कुमार की शरण को प्राप्त हुआ तिस महाशोकसागर के पार भूमाख्य परमार्थ आत्मतत्त्व को देखाय प्राप्तकरतेहुए । अर्थात् भगवान् सनत्कुमार शुद्ध अन्तःकरणवाले साधनसम्पन्न नारद को भूमाख्य आत्मविद्यारूप दृढ़ नौकापर दृढ़ विश्वासतारूप से आरोपकर आत्मोपदेष्टा आचार्यरूप से आप उस नौका को चलाने वाले कैवर्त्तक (मल्लाह) होय उस पार कामी नारद को अविद्या-

त्मक अथाह अपार शोकसागर से कि जिस शोकसागर से पारहोने के लिये सिवाय एक ब्रह्म आत्मा की अभेदबोधक विद्यारूप नौका के अरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ उपदेष्टा आचार्यरूप कैवर्त्तक के अन्य कोई भी उपाय समर्थ नहीं। पारकरते हुए॥ तब वो नारद भगवान् सनत्कुमार से सोपान आरोहणवत् नाम से लेके प्राणपर्यन्त सर्व की उपासना अरु तिनके फलको जानके तिनको उल्लङ्घन करके पश्चात् आचार्य भगवान् सनत्कुमार से भूमाख्य अपने आप आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार साक्षात् सोहमस्मिभाव से अनुभव पाय अज्ञानजन्य अकृतार्थतारूप महाशोकसागर से तर कृतकृत्य शान्त आत्मा निर्भय पद को प्राप्त होय अपने आत्मोपदेष्टा भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम स्तुति बन्दनाकर उनसे आज्ञा ले जीवन्मुक्तता को पाय ब्रह्मलोकादि लोक लोकान्तर बिषे निर्भय निःशङ्क विचरता यथाधिकारियों को उपदेश करता स्वतन्त्र विचरनेलगा॥ हे सौम्य! यहां जो मूल श्रुति के अन्तबिषे कहा है कि॥ "तꣳस्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते"॥ सो इस सप्तम प्रपाठक की परिसमाप्ति के लिये जानना॥२॥

इति छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके षड्विंशः खण्डः॥ २६॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः॥ ७॥

हरिःॐतत्सत्॥

अथ छान्दोग्योपनिषद्यष्टमप्रपाठके प्रथमः खण्डः प्रारभ्यते।

हरिः ॐ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥ १॥

अब छान्दोग्य उपनिषद् अष्टमप्रपाठक में प्रथमखण्डका आरम्भकरते हैं।

अक्षरार्थ।

इस शरीर में जो यह छोटा सा कमल के सदृश गृह है इस गृह में आकाशरूप ब्रह्म है उस आकाशरूप ब्रह्म के मध्य में जो वस्तु है वह हेरनेयोग्य है और वह विशेष रीति से जानने योग्य है॥१॥

भावार्थ ।

आचार्य उवाच ॥ हे सौम्य ! यह पांच भूतों से बनाया हुआ शरीर ब्रह्म का पुर है (जैसे किसी राजा की राजधानी को उस राजा के मन्त्री आदि रहने के कारण से पुर कहते हैं इस ही तरह यह शरीर भी ब्रह्म-रूप राजा के अनेक इन्द्रिय मन बुद्धिरूप स्वामी के कार्य करनेवाले इन्द्रियों से युक्त है इस लिये शरीर में ब्रह्मपुर का आरोप है) इस ब्रह्मपुर में जो यह छोटा सा हृदय कमलरूपी गृह है वह जैसा पुर में राजमहल राजा की प्राप्ति का स्थान है तैसेही इस शरीररूपी ब्रह्मपुर में हृदय कमलरूप गृह ब्रह्मप्राप्ति का स्थानहै इस देह में सद्रूप ब्रह्मही नाम और रूप इन स्वरूपों की प्राप्ति के लिये जीवरूप आत्मा के साथ प्रवेश हुआ है इस लिये इस हृदयकमलरूप गृह में सब इन्द्रियों को बाहर के विषयादिकों से रोककर ब्रह्मचर्यादि साधनों से युक्त होकर सगुणब्रह्म का ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होवे है इसही हृदयकमलरूप गृह के भीतर आकाश नाम का ब्रह्म है " अर्थात् आकाश जैसा शरीर-धारी नहीं है सब जगह है और सूक्ष्म है ऐसाही ब्रह्म है इसही से ब्रह्मको आकाश का सादृश्य दिया है " उस आकाशाख्य ब्रह्म बिषे जो वस्तु है वह साक्षात् करने योग्य है और वहही जाननेयोग्य है ॥ १ ॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकंवेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ २ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

शिष्य उवाच ॥ पहिले कहेहुए उपदेश में यदि शिष्य पूछे कि हे गुरुजी, महाराज ! इस शरीररूपी ब्रह्मपुर में छोटासा हृदय कमलरूप गृह है और उस गृह में छोटासा आकाश है तो ऐसे अल्पस्थान में कौनसी वस्तु रहसक्ती है यदि बदरफल के बराबर कोई वस्तु रह भी सक्ती है तो ऐसी वस्तु के सेवन से वा जानने से कौनसा फल जानने वाले को होसक्ता है इस लिये जो उस हृदयकमल में वस्तु है उसके

अन्वेषण में और जानने में कुछभी फल नहीं है। ऐसे शिष्य के वचन सुनकर आचार्य उत्तर देवे हैं ॥ २ ॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

जितना यह आकाश है उतनाही हृदयकमल के भीतर आकाश है इसही में स्वर्ग और भूमि दोनों हैं और उसीही आकाश में अग्नि, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, बिजली तथा नक्षत्र यह सब विद्यमान हैं जो यहां इस स्थूलाकाश में हैं और जो नहीं हैं वह सब इस हृदयपुण्डरीकवाले आकाश में हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे सौम्य ! तुम जो कहते हो कि हृदयकमल के भीतर जो आकाश है वह छोटा है तौ उसमें जो ब्रह्म है वह भी अल्पही होगा यह असत्य है क्योंकि हमने हृदयकमल में रहनेवाला आकाश हृदयकमल से छोटा है इस अभिप्राय से " दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः " यह वचन नहीं कहा है किन्तु छोटे से हृदयकमल में हृदयकमल के आकाश से व्याप्त एक अन्तःकरण है उस शुद्ध अन्तःकरण में इन्द्रियों को रोकेहुए योगियों को स्वच्छ जल तथा शुद्ध जल में जैसे प्रतिबिम्बरूप का ज्ञान होता है ऐसे ज्योतिरूप ब्रह्म प्राप्त होता है इस अभिप्राय से हमने उक्त वचन कहा है। वास्तव में जितना बड़ा प्रसिद्धि में आकाश है उतना ही हृदयकमल के भीतर है कि जिसमें हम ब्रह्म को कहते हैं। केवल आकाश के तुल्य ब्रह्म का परिमाण है इससे ही हमने ब्रह्म के साथ आकाश का सादृश्य नहीं दिया है किन्तु आकाश के विना ब्रह्म के योग्य और कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता इससे आकाश का दृष्टा-

है । यदि ब्रह्मका आकाश के विना दूसरा दृष्टान्तही नहीं है तो आकाश के तुल्य है ऐसाही क्यों नहीं कहते । यह आपका वचन ठीक है परन्तु ब्रह्म में आकाश स्वर्ग और पृथिवी यह सब विद्यमान है तो ब्रह्म आकाश के तुल्य कैसे हो सक्ता है । इसमें श्रुति का प्रमाण है । तस्मादिति । जिस ब्रह्म से यह आकाश पैदाहुआ है । और बुद्धिरूप उपाधि से युक्त इस ब्रह्माकाश के भीतरही स्वर्ग और पृथ्वी यह दोनों विद्यमान हैं और इस ब्रह्माकाश के भीतरही अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, बिजली तथा नक्षत्र यह भी सब विद्यमान हैं । और जो इस देहवान् आत्मा का इस संसार में आत्मीयपने से विद्यमान है और जो आत्मीयपने से नहीं विद्यमान है वह सब इस ब्रह्म में स्थित है ॥३॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरावाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

ऐसे कहनेवाले आचार्य को शिष्य कहे कि महाराज ! इस ब्रह्मपुर में सब वस्तु स्थित हैं और सब पृथ्व्यादि पांच महाभूत और समग्रकाम विद्यमान हैं और यह शरीर बुढ़ापे को प्राप्त होता है और नष्ट होता है तो इसके नाश हुए बाद क्या शेष रहेगा अर्थात् कुछ नहीं रहेगा ॥४॥

भावार्थ ।

शिष्य पूछै है कि हे महाराज ! इस ब्रह्मपुर के भीतर जो आकाश है उसमें पांच महाभूत और सब काम विद्यमान हैं तो जब इस शरीर की वृद्धावस्था आती है तथा शस्त्रादिकों से नष्ट होजाता है तो फिर क्या अवशेष रहेगा । जैसे घट में रहनेवाला दूध घट के नाश होने बाद नहीं रहता इसीतरह शरीर के नाश हुए बाद शरीर के आश्रय से रही हुई वस्तु भी नहीं रहसक्ती है तो शरीर के नाश के अनन्तर कुछ भी नहीं रहेगा ॥ ४ ॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ।

आचार्य कहै है कि यह ब्रह्म इस शरीर के बुढ़ापा से जीर्ण नहीं होता है और शरीर के नाश से इसका नाश भी नहीं होता है यह सत्य ब्रह्मपुर है इस में सब काम स्थित हैं। और यह ब्रह्म कैसा है कि इस में पाप नहीं है इसका बुढ़ापा नहीं है इसकी कभी मृत्यु नहीं होती तथा इसको शोक नहीं है और इसको भोजन की इच्छा भी नहीं है तथा कभी जल पीने की इच्छा भी नहीं होती और इसके काम सब सत्य हैं और यह आत्मा सत्यसंकल्प है जैसे इस संसार में प्रजा अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करती हैं और वो जिस २ ग्राम की तथा क्षेत्र की रक्षाके लिये आज्ञा करताहै उस २ ही ग्राम वा क्षेत्र की रक्षाकरता हुआ उपजीवन करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ।

आचार्य पूर्वोक्त प्रकार से शिष्यों के वाक्य सुनकर शिष्यबुद्धि का भ्रम दूर करने के लिये कहे है कि हे सौम्य! इस पाञ्चभौतिक शरीर की जरा अवस्था के साथ यह अन्तराकाश नामक ब्रह्म जिसमें यह सब प्रपञ्च विद्यमान है वह जीर्ण नहीं होता है अर्थात् शरीर के नाश से ब्रह्मका नाश नहीं होता। जैसे यह शरीर शस्त्रादिकों के प्रहार से नष्ट होताहै वैसे यह ब्रह्म शस्त्रादिकों के प्रहार से भी नहीं नष्ट होता जैसेही आकाश प्रहारादिकों से नहीं नष्ट होता है। और तौ क्या कहै कि यह ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म तथा शब्द स्पर्श से रहित होकर शरीर की इन्द्रियों

से पैदा हुए विषयादिकों के दोषों से भी नहीं स्पृष्ट होताहै यह ही ब्रह्म-पुर सत्य है अर्थात् ब्रह्मपुर शब्द के दो अर्थ हैं "एक तौ ब्रह्महीपुर और दूसरा ब्रह्म का पुर" तहां पहिला जो ब्रह्मपुर शब्द का अर्थ है वह तौ सत्य तथा नित्य है क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता और इन्द्रियों के पुण्य तथा पापादिकों का स्पर्शही नहीं होता और दूसरा जो ब्रह्मपुर शब्द का अर्थ शरीररूपहै वह अनित्यहै और उसका नाश होताहै और मिथ्या है केवल ब्रह्म का उपलक्षक है इस लिये इसका नाम ब्रह्मपुर कहते हैं व्यवहारके लिये। और सत्य ब्रह्मपुर वहही है जो नित्य तथा अशब्द और अस्पृष्ट है इस वास्ते इस हृदयकमलसे उपलक्षित ब्रह्मपुर में सब काम हैं जिनको तुम बाहर प्रार्थना करतेहो वे सब काम इसी तुम्हारी आत्मा में विद्यमानहैं इस लिये उस ब्रह्मकी प्राप्ति का उपाय ही करना चाहिये संपूर्ण बाहर के विषयों में तृष्णा को छोड़ करिके। यह आत्माही तुम्हारा स्वरूपहै उस आत्मा के लक्षण में तुमको कहताहूं सो सुनो यह आतमा धर्म और अधर्म इनसे रहितहै और जरा अवस्था तथा मृत्यु करिकै शून्य है और इस आत्मा को प्रियवस्तु के वियोग से कभी दुःख नहीं होता और इसको भोजन की इच्छा भी नहीं है तथा जलादि पानकी भी इच्छा नहीं है॥ अब यहां शङ्का करतेहैं कि जराको आदि लेकर शोकपर्यन्त जितनी वस्तुओं का निषेध किया वह संपूर्ण धर्म तथा अधर्म का फल है तौ जरा का कारण है अधर्म तब अधर्मरूप कारण के निषेध से कार्यरूप जरा का भी निषेध सिद्धही था फिर जरादि कार्य का निषेध निष्फल है उत्तर यद्यपि कारण के निषेध से कार्य का निषेध सिद्धही था तथापि कई स्थानों में देखते हैं कि कारणके विना भी स्वाभाविक कार्य रहता है जैसा ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है और धर्मरूप कारण के विना आनन्दरूप कार्य ब्रह्म में स्वाभाविक है तैसेही अधर्मका कार्य जरादिकों के विना स्वाभाविक जरादि दुःख होवे इस लिये जरादिकों का धर्माधर्मों से अलग२ निषेध किया है। और धर्मा-धर्म का जो निषेध किया है उससे जितनें दुःख पापके करनें से होतेहैं उन सबोंका निषेध किया है क्योंकि भिन्न२ पापों के भिन्न२ दुःखों

का निवारण करना दुस्तर है। इस आत्मा के काम सब सत्य हैं और संसारी मनुष्यों के काम असत्य हैं और इस आत्मा के संकल्प भी सत्य हैं। अब इसमें शङ्का करते हैं कि आत्मा अद्वैत है तथा मायाके प्रपञ्च से रहित है तो कामसंकल्पादि माया के प्रपञ्च उसमें कैसे रहसक्ते हैं (उत्तर) यह है कि "चित्र गायवाला मनुष्य है" इस वाक्य में जैसा चित्र गायवाला यह पद मनुष्य का विशेषणहै इसी तरह त्रिगुणमाया का रजोगुण तथा तमोगुण के स्पर्श से शून्य केवल शुद्ध सत्त्व के निमित्त से ब्रह्म में काम संकल्पादि हैं। जो मनुष्य स्वर्ग के राज्य की इच्छा करें वे पूर्वोक्त स्वरूपवाले आत्मा का गुरु से तथा शास्त्र से ज्ञानसंपादन करें। जो आत्मस्वरूप नहीं जानना चाहैं तो क्या दोष है ? इसमें दृष्टान्त द्वारा दोष दिखाते हैं। जैसे इस संसार में प्रजा को स्वामी की परतन्त्रता से स्वामी जिस २ कार्य के लिये कहै वह २ ही कार्य करना पड़ता है यदि स्वामी की आज्ञा ग्राम वा क्षेत्र की रक्षा करने के लिये होवे तो अनुचर को ग्राम की वा क्षेत्र की रक्षा करनी पड़ती है तैसेही जो शास्त्र से वा गुरुमुख से आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न नहीं करता है वह मनुष्य पुण्य तथा पाप फल के परतन्त्र होकर पुण्य पापके फलों को भोगता है और स्वातन्त्र्य से आनन्द का अनुभव नहीं करसक्ता ॥ ५ ॥

तद्यथेह कर्मजितोलोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितोलोकः क्षीयते तद्यइहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्चसत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारोभवत्यथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान्कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारोभवति ॥ ६ ॥

इति छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो मनुष्य आत्मज्ञान से विमुख होकर केवल कर्म ब्रह्म की उपासना करते हैं उनको कर्म के अधीन रहना पड़ता है दूसरे कर्म का

फल नष्ट भी होता है अर्थात् सुकृत का फल जितना सुकृत है उतनेही दिनोंतक भोग सके हैं अधिक नहीं इसी प्रस्ताव को दूसरे दृष्टान्त से कहते हैं। जैसे इस संसार में अपने स्वामी की आज्ञा पालन करने वाली प्रजा की सेवा से प्राप्त हुआ अधिकार पराधीन है और स्वामी के क्रोध होनेसे नष्ट होजाता है तैसेही अग्निहोत्रादि पुण्य से संपादन कियाहुआ स्वर्गादि लोक भी अग्निहोत्रादिजनित पुण्य के अधीन होने से नष्ट होता है इस लिये इस लोक में ज्ञान और कर्म के समझने की योग्यता को संपादन करके जो मनुष्य आत्मस्वरूप को शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा नहीं जानकर इस लोक से लोकान्तर में जाते हैं तथा जो मनुष्य सत्य सत्यसंकल्प तथा कार्य इनको अपनी आत्मा में नहीं जानकर लोकान्तर में जाते हैं वे मनुष्य सबलोकों में पराधीन होकर रहते हैं। जैसे राजा की आज्ञा का पालन करनेवाली प्रजा सब जगह पराधीन रहती है। और जो मनुष्य इस लोक में शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा आत्मस्वरूप को जानकर तथा सत्य और काम इनको अपनी आत्मा में जानकर लोकान्तर में जाता है उसका सब लोकों में कामचार रहता है जैसे इस संसार में चक्रवर्ती राजा का सब जगह कामचार होता है अर्थात् सब जगह उसकी आज्ञा माननीय होती है॥ ६॥

इति छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके प्रथमः खण्डः॥ १॥

अथ अष्टमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते।

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्यपितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते॥ १॥

अब आठवेंप्रपाठक में द्वितीयखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जो वह पितृलोक की इच्छा करता है तो संकल्पमात्र सेही पितर उसके सम्बन्धी होते हैं उस पितृलोक के भोग से वह प्रसन्न होकर पूजनीय होता है॥ १॥

भावार्थ ।

आत्मज्ञानी का सब लोकों में कामचार होता है अर्थात् जो मनुष्य कर्म से पुण्य व पाप का संपादन करता है वह उस पुण्य व पाप के अनुकूल जो लोक होगा उसी में जासकेगा और जो आत्मज्ञानी है वह जिस लोक में जाने की इच्छा करेगा उसी लोक में जासकेगा सोही कहते हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उपायों से युक्त होकर अपने हृदय में आत्मा का साक्षात्कार करिके शरीर के त्याग किये पीछे अपने पिता के साथ सम्बन्ध होना इसी को सुख मानता हुआ पितृलोक की इच्छा करता है तो उसकी इच्छामात्र सेही पिता उसके सम्बन्धी होतेहैं क्योंकि वह आत्मज्ञानी होनेसे ईश्वर की तरह शुद्ध सत्त्व और सत्यसंकल्प है इस वास्ते पितृलोकके भोगसे अपने अभिलषित वस्तु को प्राप्तहोकर अत्यन्त महिमा का अनुभव करता है ॥ १ ॥

अथ यदि मातृलोककामोभवति संकल्पादेवास्यमातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ २ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उपायों से युक्त होकर अपने हृदयमें आत्मा का साक्षात्कार करिके शरीरके त्याग किये बाद अपनी माताओं के साथ सम्बन्ध होने को ही सुख मानता हुआ मातृलोक की इच्छा करता है तो उसकी इच्छामात्र से ही माता उसके साथ सम्बन्ध करती है इस वास्ते मातृलोक के भोग से अपने अभिलषित वस्तु को प्राप्त होकर अत्यन्त महिमा का अनुभव करता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते॥ ३ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो ब्रह्मज्ञानी शरीरत्याग किये पश्चात् अपने भाइयों के साथ सम्बन्ध होनेको ही सुख मानता हुआ भ्रातृलोक की इच्छाकरताहै वह इच्छामात्र

ही भ्राताओं के साथ सम्बन्ध करता है इस लिये भ्रातृलोकके भोग अपने अभिलषित वस्तु को प्राप्त होकर अत्यन्त पूज्य होता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो आत्मज्ञानी शरीर का त्याग किये बाद अपनी भगिनियों के साथ सम्बन्ध होने को ही सुख मानता हुआ स्वसृलोककी इच्छाकरता है वह इच्छामात्र से ही अपनी भगिनियों के साथ सम्बन्ध करताहै इस लिये स्वसृलोक के भोगसे अपनी अभिलषित वस्तु को प्राप्त होकर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होताहै ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायःसमुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते॥५॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो आत्मज्ञानी पुरुष शरीर को छोड़कर अपने मित्रों के साथ सम्बन्ध होने को सुख मानता हुआ सखिलोक में जानेकी इच्छा करता है वह इच्छामात्र से ही अपने मित्रों के साथ सम्बन्ध करता है इस लिये सखिलोक के भोग से मनवाञ्छित वस्तु को प्राप्त होकर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होताहै ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो ब्रह्मज्ञानी गन्धमाल्यनामकलोक में जाने की इच्छा करता है इच्छामात्र से ही इसके लिये गन्ध और माल्य प्राप्त होते हैं उस गन्धमाल्यलोकसे युक्त हुआ वृद्धिको प्राप्तहोताहै ॥ ६ ॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्न पाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते॥७॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जो ब्रह्मज्ञानी अन्नपाननामक लोक में जाने की इच्छा करता है तौ इसकी इच्छा से ही अन्न और पान प्राप्त होते हैं उस अन्नपाननामक लोक के सुख का अनुभव करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादितलोककामो भवति संकल्पा देवास्य गीतवादिते समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादितलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

अब जो यह आत्मज्ञानी गीतवादितलोक के सुखका अनुभव करने की इच्छा करता है तब इच्छा करतेही गीतवादित लोक प्राप्त होता है उस गीतवादित लोक के सुख का अनुभव करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

जब यह आत्मज्ञानी स्त्री की इच्छा करता है उसी क्षण में इसके पास स्त्रियां प्राप्त होती हैं उन स्त्रियों के सुख का अनुभव करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

इति छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ व भावार्थ ।

यह आत्मज्ञानी जिस २ समय जिन २ लोकों में जाने की इच्छा

करता है और जिन २ कामों की अभिलाषा करता है इस ब्रह्मज्ञानी की इच्छा के समयही वे २ लोक और वे २ काम प्राप्त होते हैं उन २ लोकों से युक्त हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

इति छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके तृतीयः खण्डः प्रारभ्यते ।

त इमेसत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳪंसत्यानाᳪं सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिहदर्शनाय लभते ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठक में तृतीय खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जिनका अभाव मिथ्या है ऐसे ये सत्यकाम हैं अपनी आत्मा में रहनेवाले इन सत्यकामों की सद्भाव में भी प्राप्ति नहीं है इस प्राणी की जो २ इष्ट वस्तु जाती है वह प्राणी उस वस्तु को यहां नहीं देख सक्ता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

अब साधकों को उत्साह देने के लिये दुःख द्वारा आत्मज्ञान का फल बताते हैं। हा बड़ेभारी खेद का अवसर है कि अपनी आत्मा में रहनेवाले और सुलभ तथा मिथ्या जिनके आच्छादन लगरहा ऐसे इन सत्यकामों को हमलोग मिथ्या जो स्त्रीभोग भोजनादि व्यापारों में अधिक अभिलाषा तथा इन्हीं की प्राप्ति के लिये स्वेच्छाचार में प्रवृत्त हुए इन सत्यकामों को नहीं प्राप्त होसक्के हैं। मिथ्या आच्छादन से हम उनको नहीं प्राप्त होते यह कैसे जाना देखो इस प्राणी के जो २ प्रिय पुत्र व भाई इसलोक को छोड़कर जाते हैं अर्थात् मृत्यु को प्राप्तहोते हैं उस अपने पुत्र को वा भाई को देखने के लिये इच्छा करता हुआ भी अपने हृदय पुण्डरीक के आकाश में विद्यमान है तौ भी नहीं देख सक्के हैं ॥ १ ॥

अथ ये चास्येहजीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामाहृनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥ २॥

अक्षरार्थ ।

जो इस प्राणी के पुत्रादि विद्यमान हैं तथा जो मृत्यु को प्राप्त होगये हैं तथा इच्छा करता हुआ भी जिन वस्तुओं को नहीं प्राप्त होता है उन सबको इस हृदय पुण्डरीकान्तर्गत ब्रह्म को प्राप्त होकर प्राप्त होता है क्योंकि प्राणीमात्र के सत्यकाम अज्ञान से आच्छादित हुए इस आत्मा में रहते हैं जैसे कोई मनुष्य द्रव्य को खड्डे में रखकर उस स्थान को भूल जाता है फिर उसको निकालने के समय ऊपर २ फिरता है और निधि स्थान को नहीं प्राप्त होता है तैसेही यह सब प्रजा प्रतिदिन लती हुई अज्ञान के वश से इस ब्रह्मलोक को नहीं जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

इस जीव के जो पुत्रादि विद्यमान हैं तथा जो मृत्यु को प्राप्त होगये हैं और जो इस संसार में वस्त्र अन्नपानादि वस्तुओं की इच्छा करता हुआ भी नहीं प्राप्त होता है वह सब इस हृदयाकाशरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर मनुष्य प्राप्त होता है क्योंकि इस हृदयाकाश में सत्यकाम विद्यमान है बड़े आश्चर्य की बात है कि हृदय में रहती हुई वस्तु को भी नहीं देख सक्के इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पृथ्वी के भीतर रक्खेहुए हिरण्यादिकों का स्थान नहीं जानने से निधि के समीप में फिरते हुए भी निधि को नहीं प्राप्त होते तैसेही अज्ञानवाली यह प्रजा हृदयाकाशरूप ब्रह्म को प्रतिदिन जाती हुई सुषुप्तिकाल में यह मैं इसकाल में ब्रह्मलोकभाव को प्राप्त हुआ हूं इस तरह नहीं जानती है क्योंकि अज्ञान से

ग्र इन्द्रियां बाह्य विषयों में आसक्त हुई भीतरी विषय को नहीं पहिं-
त सक्ती हैं इस लिये बड़े खेदकी बात है कि अपने में रहनेवाले
। को भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

**स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृदय
ति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥**

अक्षरार्थ ।

वो यह आत्मा हृदय शब्द से कहागया है उस आत्मा का यहही
र्वचन है कि यह आत्मा हृदय में है इस लिये हृदय आत्मा है ऐसे
नताहुआ मनुष्य प्रतिदिन स्वर्गलोक को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जो आत्मा धर्माधर्मादिकों से रहित है वह आत्मा हृदय पुण्डरीक
आकाश शब्द से कहागया है इस हृदय का यहही निर्वचन है कि
आत्मा अपने हृदय में है प्रतिदिन हृदय को आत्मा जाननेवाला
। हृदयकमल में रहनेवाला आकाशनामक ब्रह्मको प्राप्त होता है
। शङ्का करते हैं कि जो पुरुष हृदय को ब्रह्म नहीं जानता है वो
सुषुप्तिकाल में हृदयकमलरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है हां सत्य क-
ो हो परन्तु इनमें भेद है देखो ब्रह्म को जानता हुआ और नहीं जा-
ा हुआ भी मनुष्य ब्रह्म को सत्यही बताताहै परन्तु "तत्त्वमस्यादि"
यों से ब्रह्म को सद्रूप जानता हुआ पुरुष मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं हूं
। तरह से अपने को ब्रह्म मानता हुआ स्वर्गलोक को प्राप्त होता है
। जिन्होंने "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों का अर्थ नहीं जाना है केवल
प्तिकाल में ही सद्ब्रह्म को जानते हैं वे स्वर्गलोक को नहीं प्राप्त
ो हैं क्योंकि वे ब्रह्मको आत्मा से भिन्न जानते हैं अर्थात् "तत्त्वम
ादि" वाक्य ज्ञानके अनन्तर जो ब्रह्म को सत् मानता है उसकी अ-
ा का नाश होजाता है इससे वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है और
ल सुषुप्तिकाल में जो ब्रह्म को सत् मानता है उसकी अविद्या का
ा नहीं होता इसलिये वह स्वर्गलोक का भागी नहीं होता ॥ ३ ॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

अविद्या नाशके अनन्तर जो यह सुषुप्त पुरुष इस शरीर को छोड़कर परमात्मस्वरूप ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है यह संप्रसाद ही आत्मा है यह अमृत और अभयरूप ब्रह्म है इस ब्रह्म का नाम सत्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

सुषुप्तिकाल में सत्य अपनी आत्मा से संपन्न जो पुरुष जाग्रत् व स्वप्न अवस्था में विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुए कालुष्य को छोड़कर केवल आत्मरूप को प्राप्त होता है उसे संप्रसाद कहते हैं विवेक के अनन्तर जो यह "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों से ब्रह्म को सत्य जानता है वह इस पाञ्चभौतिक शरीर में यह शरीर मेरा है मैं यह कार्य करताहूं इत्यादि ममता को छोड़कर ज्ञान स्वभाववाला परमात्मसम्बन्धि तेज को अपना मानकर सत्य अपने स्वरूप को प्राप्त होता है वह ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है इसी को संप्रसाद कहते हैं और यह आत्मा अमृतरूप है अर्थात् इसका कभी नाश नहीं होता है इसी से इसको अभय कहते हैं क्योंकि जब आत्मा से भिन्न कोई है ही नहीं तो फिर भय किससे होता था और यह आत्मा ही ब्रह्महै किंच इस आत्मा का नाम सत्य है इसमें यह शङ्का करते हैं कि इस जगह आत्मा का नाम कहने की क्या आवश्यकता थी हां सत्य कहते हो परन्तु यहां आत्मा का नाम निर्देश करना केवल स्तुति के लिये है कि जिससे उपासक की रुचि होवे ॥ ४ ॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति त

तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति
नेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोक
ति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

वो यह ब्रह्म के तीन अक्षर हैं 'सतीय' उनमें जो स है वह अमृत-
है और जो ती है वह मर्त्य है और जो य अक्षर है वह अमृत और
दोनों अर्थों का बोधक है जो यं यह अक्षर है वह अमृत और
दोनों का नियामक है इससे इस यं को प्रतिदिन आत्मवस्तु
ननेवाला स्वर्गलोक को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

उस ब्रह्म के सकार तकार और यकार (सतीय) यह तीन अक्षर हैं
में जो सकार है वह अविनाशी सद्ब्रह्म का वाचक है इससे सकार
त है और जो तकार है वह मर्त्य है और जो यं अक्षर है वह अ-
मर्त्य दोनों रूपहै अर्थात् य जो अक्षरहै वह स और त दोनों अक्षरों
अपने अधीन करता है इस से यह स्तुति होती है कि ब्रह्म का नाम
अमृतत्वादि धर्मवाला है तो ब्रह्मके धर्मों की तो कथाही क्या की
इस से अवश्यही ब्रह्म को जानना चाहिये इस तरह से ब्रह्म को
नेवाला पुरुष स्वर्गलोक को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके चतुर्थः खण्डः प्रारभ्यते ।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय
छं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न
तं न दुष्कृत छं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहत
ा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठकमें चतुर्थ खण्ड का आरम्भ करते हैं।

तहां पहिले ब्रह्मचर्यादि साधनका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध स्तुति द्वारा वर्णन करते हैं॥

अक्षरार्थ।

अब जो यह आत्मा है वह सेतुरूप है धारण करनेवाला है इन लोकों का नहीं नाश होनेके लिये। इस सेतुको अहोरात्र नहीं उल्लङ्घन करते हैं इसको जरा नहीं प्राप्त होती है न मृत्यु प्राप्त होतीहै न शोक प्राप्त होताहै न सुकृत प्राप्त होताहै न दुष्कृत प्राप्त होताहै इस आत्म सेतु से सब पाप भी निवृत्त होजाते हैं पापसे रहित यह ब्रह्मही ब्रह्म लोक शब्द से कहा है॥ १॥

भावार्थ।

अब स्तुति करतेहैं। जो यह आत्माहै वह सेतुरूप है अर्थात् जैसे संसार में मृदादिसे बनाई गई वेदिका क्षेत्रादिकों की मर्यादाका बोधक है तैसेही यह ब्रह्म भी आत्मज्ञान होने में कारणीभूत मर्यादा का बोधक है। और जो जैसे कर्म करता है उसको उसकर्म के अनुरूपही वर्णाश्रमादि व्यवस्था देताहै ऐसे परमेश्वर ने यह सब जगत् धारण कर रक्खाहै। क्योंकि जो परमेश्वर इस जगत् को नहीं धारण करता तौ यह संसार नाश को प्राप्त होजाता इस लिये यह ब्रह्म सेतु और विधृति रूप है। परमात्मा के सेतुरूप होने में कारण दिखाते हैं जो परमात्मा सेतुरूप नहीं होता तौ कर्म के आश्रय से रहनेवाले इन लोकोंका नाश होजाता। अब वो सेतु कैसा है? सो बताते हैं उस सेतुरूप आत्माको प्राणीमात्र की आयुष्य को कहनेवाले अहोरात्रभी नहीं उल्लङ्घन करते हैं अर्थात् जैसे संसारी मनुष्यों की अहोरात्रादिकों से आयुका बोध होताहै तैसे इस आत्माका अहोरात्रादिकों से इयत्ता का बोध नहींहोता इसीलिये इसको न जरा प्राप्त होती है तैसेही इस सेतुरूप आत्मा को मृत्यु, शोक, धर्म, अधर्म यह कोई भी प्राप्त नहीं होते हैं यद्यपि आत्मा में जरादिकों का निषेध पहिले कहि आये परन्तु पहिले सामान्यरीति से

जरादिकों का निषेध कियाथा अब विशेषरीति से जरादि प्राप्ति का निषेध किया है। यहां तरति शब्द से प्राप्ति का निषेधरूप अर्थ लियाहै ॥ १ ॥

तस्माद्वा एत छं सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धःसन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्मा द्वा एत छं सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

तिस कारण से इस सेतु को पायकर अन्ध भी चक्षुष्मान् होता है दुःखी भी सुखी होता है रोगी भी होय तो नीरोगी होजाता है इस सेतु की प्राप्ति से रात्रि भी दिन होजाती है यह ब्रह्मलोक सदा एक सा होता है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

शरीरी को पाप का फल आन्ध्यादि होताहै और अशरीरी को नहीं होता इसीसे इस आत्मसेतुको प्राप्तहोकर अन्ध भी शरीरी अशरीरावस्था में चक्षुष्मान् होजाता है तैसेही देहावस्था में दुःखी भी होवे तौ वह इस सेतु से अशरीरावस्था को प्राप्त होकर सुखी होजाताहै तथा रोगादि युक्त भी होय तौभी नीरोगी होजाता है और आत्मामें अहोरात्र नहीं है तिससे इस सेतुको पायकर अन्धकाररूप रात्रि भी प्रकाशरूप दिन होजाती है विज्ञानरूप आत्मज्योति का स्वरूप सदा प्रकाशरूप है यह ब्रह्मलोक भी सदा एकरूप है ॥ २ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाछं सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

तिससे जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से जानै हैं उनहीं को यह

ब्रह्मलोक है उनकाही सब लोकों में यथेच्छाचरण होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

अब यह ज्ञान का फल किनको होताहै सो कहते हैं कि जो स्त्रियों में तथा विषयों में तृष्णा को छोड़कर शास्त्र वा आचार्य के उपदेश द्वारा ब्रह्मलोक को जानते हैं उन ब्रह्मचर्यादि उपायवाले ब्रह्मज्ञों को ही यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और जो ब्रह्मज्ञानी स्त्रियों में तथा विषयों में तृष्णा रखते हैं उनको कदापि ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं होती और उनका सब लोकों में यथेच्छाचरण नहीं होता और जो स्त्रियोंमें वा विषयोंमें तृष्णा नहीं रखतेहैं उनका सब लोकों में कामचार होताहै ॥ ३ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथाष्टमप्रपाठके पञ्चमः खण्डः प्रारभ्यते ।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठकमें पञ्चम खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जो यज्ञ ऐसा कहते हैं वह ब्रह्मचर्यही है ब्रह्मचर्य सेही जो जाननेवाला है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और जो इष्ट ऐसा कहाजाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है ब्रह्मचर्य सेही ईश्वर का पूजन करिके आत्मा को जाने है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जिस आत्मा की सेतुत्वादि गुणों से स्तुति किया है उसकी प्राप्ति के लिये शीघ्रही ज्ञान को उत्पन्न करानेवाला ब्रह्मचर्यादि उपायान्तर का विधान करते हैं । उस ब्रह्मचर्य की ही स्तुति करते हैं मनुष्यों की प्रवृत्ति होनेके लिये । जिसको लोक में परमपुरुषार्थ सिद्धि के लिये यज्ञ

कहते हैं उसीको शिष्ट मनुष्य ब्रह्मचर्य कहते हैं क्योंकि यम नियमादि ब्रह्मचर्यवाला पुरुषही यज्ञके फल को प्राप्त होसक्ता है इस वास्ते यज्ञ भी ब्रह्मचर्यही है यह जानना चाहिये । अब यहां शङ्का करते हैं कि यज्ञ ब्रह्मचर्य कैसे होसक्ता है ? उत्तर यह है कि यज्ञ का फल परंपरा सम्बन्ध से अर्थात् चित्तशुद्धि द्वारा ब्रह्मलोक है और ब्रह्मचर्य का फल भी ज्ञाता मनुष्य को ब्रह्मलोकही होताहै इस लिये फलद्वारा यज्ञ का ब्रह्मचर्य में अन्तर्भाव करते हैं । और जिसको इष्ट कहते हैं वो भी ब्रह्मचर्यही है क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप उपायसेही उस आत्मा का पूजन करके आत्माका अन्वेषण करताहुआ उस आत्मा को प्राप्त होताहै ॥ १ ॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

अब जो सत्त्रायण ऐसा कहाजाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है ब्रह्मचर्य से ही आत्मा की रक्षा को जानता है जिसको मौन कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्यही है ब्रह्मचर्य से ही आत्मा को जानकर ध्यान करता है ॥ २ ॥

भावार्थ ।

बहुत से यजमानों से किया हुआ वैदिक कर्म को सत्त्रायण कहते हैं अब जो सत्त्रायण इस नाम से कहाजाता है वह भी ब्रह्मचर्यही है क्योंकि दूसरे से अपनी आत्मा की रक्षाको ब्रह्मचर्यादि साधनसे जानता है इस लिये सत्त्रायण शब्द भी ब्रह्मचर्यका वाचक है और जिसको मौन कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप उपाय से युक्तही पुरुष शास्त्र तथा आचार्यके उपदेशसे आत्मा को जानकर फिर ध्यान करता है इसी हेतुसे मौन शब्दभी ब्रह्मचर्यका वाचक है ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष

ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणाऽनुविन्दतेऽथ यदरण्या यनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च हवैरायश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयछं सरस्तद श्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितछं हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

जो अनाशकायन इस नाम से कहाजाता है वो ब्रह्मचर्य ही है जिसको ब्रह्मचर्य द्वारा जानते हैं वह आत्मा नहीं नष्ट होता है और जिसको अरण्यायन कहते हैं वहभी ब्रह्मचर्यही है और इस ब्रह्मलोक में अर और एय नामके दो समुद्र हैं और यहां से तृतीय स्वर्ग में मण्ड से भरा हुआ मद पैदा करनेवाला सरोवर है उसी जगह ब्रह्मलोक में पीपल का वृक्ष है वहांही सोमको उत्पन्न करनेवाली वनस्पति है वहां ही अपराजिता नाम वाला ब्रह्म का पुर है तथा वहांही ब्रह्म का बनाया हुआ सुवर्ण का मण्डप है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

उपवास करने को अनाशकायन कहते हैं और अरण्य में वासको अरण्यायन कहते हैं यह दोनों ब्रह्मचर्य कैसे होसक्ते हैं उत्तर देते हैं दोनों शब्दों का अर्थान्तर करके । यहां अनाशकायन शब्द का अर्थ है नहीं नाश होना और अरण्यायन शब्द का अर्थ है अरण्य में गमन तो अब जो अनाशकायन शब्द से कहाजाता है वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य द्वारा जानते हैं वह ब्रह्मचर्य साधन वाले पुरुष की आत्मा कभी नष्ट नहीं होती तिससे अनाशकायन ब्रह्मचर्य ही है और जिसको अरण्यायन ऐसा कहते हैं वहभी ब्रह्मचर्यही है क्योंकि ब्रह्मचर्यवाला पुरुष अरण्यनामक समुद्र में रहता है तिसे अरण्यायन भी ब्रह्मचर्य ही है जो जाननेवाला है इस से यज्ञरूप है आत्मा की पूजा करने से इष्टरूपहै आत्माकी रक्षा करने से सत्रायणरूप

आत्मा का ध्यान करने से मौनरूप है नहीं नाश होने से अनाशका-त रूप है अरण्य में गमन से अरण्यायनरूप है यह ब्रह्मचर्य पुरुषार्थ साधनों से स्तुति कियागया है इसवास्ते ब्रह्मचर्यही प्रथम ज्ञान का सहकारिकारण है तिससे ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मचर्य की यत्नसे रक्षा करना उचित है। उस ब्रह्मलोक में 'अर' और 'ण्य' नामके दो समुद्र हैं और इसही ब्रह्मलोकमें भूलोक और अन्तरिक्ष लोकके आगे द्यौलोक है उसी में मण्ड से पूर्ण हर्षको उत्पन्न करनेवाला सरोवर है और वहां ही अश्वत्थ वृक्ष है तथा अमृत झिरानेवाला सोमसवन नाम वनस्पति है ब्रह्मचर्यादि साधनों से रहित पुरुषों करके नहीं जय कियाजावे ऐसा अपराजिता नाम ब्रह्मका पुर है और वहांही ब्रह्मा का बनाया हुआ सुवर्ण का मण्डप है ॥ ३ ॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा ᳪ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ।

उस ब्रह्मलोक में ये अर और ण्य नाम के दो समुद्र हैं इन को जो ब्रह्मचर्य द्वारा जाने हैं उनहीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा उनहीं का सब लोकोंमें कामचार होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ।

उस ब्रह्मलोक में जो ये 'अर' और 'ण्य' नाम के दो समुद्र बताये हैं उनको ब्रह्मचर्यादि साधन से जो जानता है उनहीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा उनहीं ब्रह्मचर्य साधनवाले ब्रह्मज्ञानियों का सब लोकों में कामचार होता है और जिनकी भोगादि बाह्य विषयों में बुद्धि लगरही है तथा ब्रह्मचर्यादि साधन से रहित हैं उनको कदाचित् भी ब्रह्मलोक तथा कामचार नहीं प्राप्त होता ॥ अब यहां कोई शङ्का करते

हैं कि जैसे लोक में राजादि महानुभाव मनुष्य की आप वरुण हैं आप इन्द्र हैं आप कुबेर हैं इस तरह से स्तुति करते हैं तैसेही मोक्ष का साधन जो ज्ञान है उसीका इष्टादि शब्दों से स्तुति करना उचित था और केवल अल्प स्त्री आदि विषयों में जो तृष्णा उसको दूर करनेवाला ब्रह्मचर्य की स्तुति करना युक्त नहीं था। सो यह उचित नहीं क्योंकि भोग विलासादि सांसारिक विषयों में जिनका चित्त आसक्त है उनको कदाचित् भी आत्मा का स्वरूप ज्ञान नहीं होसक्ता इस लिये ब्रह्मचर्य ही स्तुति करने योग्य है। देखो श्रुति में भी लिखा है कि स्वयंभू गमनशील इन्द्रियों को देता भया तिस से इन्द्रियां बाहर के विषयों को देखती हैं और आत्मा को नहीं देखतीं। इस लिये ज्ञान का सहकारि कारण विषयतृष्णा से निवृत्त करनेवाला ब्रह्मचर्य की स्तुति करना उचितही है। और ब्रह्मचर्य ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण है और उसकी यज्ञादिकों से स्तुति की है तो यज्ञादिकों को भी ब्रह्मलोक की प्राप्ति में कारण कहना चाहिये आप युक्तही कहते हैं परन्तु यहां यज्ञादिकों से ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है इस लिये यज्ञादिकोंसे ब्रह्मचर्य की स्तुति नहीं कीगई है किन्तु यज्ञादिक पुरुषार्थसाधक हैं इस लिये यज्ञादिकों से ब्रह्मचर्य की स्तुति की है जैसे ब्राह्मण लोग आप इन्द्र हैं, आप कुबेरहैं, इत्यादि रूप से राजाकी स्तुति करते हैं परन्तु इन्द्रादिकों के व्यापार की तरह निरंकुश कार्य करनेको नहीं कहते हैं तैसेही यज्ञादिकों से ब्रह्मचर्य की स्तुति करते हैं और दोनों का एक फल है यह नहीं कहते॥ ब्रह्मलोक में जो अर्णवादिक तथा संकल्पमात्र से पित्रादिलोक का भोग कहा है वह क्या संसारके द्रव्यों की तरह जलरूप तथा पार्थिवरूप है इसीतरहसे अर्णव वृक्षपुरी स्वर्णमण्डप ये भी सांसारिक द्रव्यों की तरह ही हैं अथवा मानसिक व्यवहारमात्र से हैं यदि अर्णवादि पदार्थ जलरूप और पार्थिवरूप बृहत् हैं तो हृदयकमल के आकाश में इनकी स्थिति नहीं होसक्ती और ब्रह्मलोक में मनोमय शरीरादिक हैं इस पुराण के वाक्य का विरोध आता है किंच 'वह ब्रह्मलोक दुःख से तथा शीतस्पर्शादिकों से रहित है' इस श्रुत्यर्थ का

विरोध आता है और जो अर्णवादिकों को मानसिक कहेंगे तो 'समुद्र, नदी, वापी, कूप, सरोवर, यज्ञ, वेद, मन्त्र यह सब मूर्तिमान् होकर ब्रह्मकी स्तुति करते हैं' इस पुराण वचन का विरोध आता है। अब यहां विचार करना चाहिये कि समुद्रादिक जिस आकार से इस भूमण्डल में हैं उसी आकार से ब्रह्मलोक में जाते हैं अथवा स्वरूपान्तर से यदि प्रसिद्धरूप से ही जाते हैं यह कहो तौ हो नहीं सक्ता क्योंकि समुद्रादिकों का मनुष्यादि की तरह गमन अप्रसिद्ध है इस लिये समुद्रादिक प्रसिद्ध आकार से भिन्न आकार को ग्रहण करके ब्रह्मलोक में जाते हैं यह कल्पना करनी चाहिये क्योंकि ब्रह्मलोक में मानस देह से मानस ही सागरादिकों का मानसरूप से सम्बन्ध होसक्ता है और ब्रह्मलोक का सब प्रपञ्च मानसिकही है तिससे सागरादिकों की मानसिक मूर्तिका ही कल्पना करना उचित है (इस जगह मानस वा मानसिक शब्द का मन से कल्पना कीहुई यह अर्थ है) देखो स्वप्न में स्त्री वा पुरुष के आकारवाली मानसिक मूर्ति देखते ही हैं यदि मानसिक आकारको स्वप्न के सदृश मानते हो तौ मानसिक आकार मिथ्याहै तौ मानसिक आकार भोग के योग्य नहीं होसक्ता दूसरे 'यह सब काम सत्य हैं' इस श्रुति के अर्थ का विरोध आता है ऐसा नहीं कहसक्ते हो क्योंकि देखो मिथ्या उसको कहते हैं कि जिसमें जैसा जिसका ज्ञान होवै उस ज्ञान का कारणान्तर से नाश होना जैसे रज्जु में सर्पत्वप्रकारक सर्प का ज्ञान होता है फिर वह ज्ञान सर्प की चेष्टा रज्जु में नहीं होने के कारण नष्ट होकर सत्य रज्जुविषयक ज्ञान को उत्पन्न करदेता है तौ वहां रज्जु में जो पहिले सर्प का ज्ञान हुआ वह मिथ्या है तैसे मानसिक वा स्वप्न में देखे हुए स्त्री पुरुषादिकों में स्त्रीत्व पुरुषत्वप्रकारक स्त्री पुरुष का बोध होता है और वैसाही देखने में आता है तौ यह ज्ञान मिथ्या नहीं होसक्ता और जो स्वप्न में देखा है उसमें नहीं देखा है ऐसा फिर बाधज्ञान नहीं होसक्ता तिससे यह ज्ञान मिथ्या नहीं होसक्ता इस लिये स्वप्न के तथा ब्रह्मलोक के पदार्थों को सत्य समझना चाहिये । मानसिक प्रतीतिही स्त्री पुरुषादि आकार से स्वप्न में दीखती है । जाग्रत् अवस्था

में अनुभव किये हुए ही स्त्री पुरुषादि आकार स्वप्न में दीखते हैं यह कहना तो निर्मूल है क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें जो विषयों की प्रतीति होती है वह भी मानसिक प्रतीति से ही होती है क्योंकि जाग्रत् अवस्था के विषयों को सत्यरूप आत्मवस्तु के देखने से तेज जल अन्नरूपता की प्राप्ति होती है तिससे । यह सब संसार संकल्प ही से बना है इस लिये यह ज्ञान का विकार है इस में श्रुति का प्रमाणभी है देखो वह परमात्मा आकाश और पृथ्वी को बनाता भया और उसी परमात्मा में प्राणियों की उत्पत्ति नाश और पालन होताहै तात्पर्य यहहै कि जाग्रत् अवस्था में जो विषय देखते हैं वे भी चित्त की कल्पना से ही होते हैं जैसे कुलाल घट बनाता है तो पहिले घट के स्वरूप का अपने चित्त में विचार करलेता है फिर बाहर घट के आकार को बनाता है और अपने चित्त में जो घट के आकार का विचार करता है वह पहिले बनाये हुए आकार को देखकर करता है तौ इस तरह से घट बनानेमें चित्त का संकल्परूप ज्ञान निमित्त कारण हुआ तौ इनका निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध होनेसे ज्ञानका विकार घट को नहीं कहसक्ता है ऐसा नहीं कहसक्केहौ क्योंकि सत्य सब वस्तु का देखना पूर्वकल्प में देखी हुई वस्तु के सदृश होता है और पूर्वकल्प में जो वस्तु का निर्माण किया जाता है वह भी उससे पहिले कल्प की वस्तु को देखकरही कियाजाता है तो इस कारण यह ज्ञानही अपनी माया शक्ति से विकार को प्राप्त होता है आकाररहित सद्वस्तु का दर्शन नहीं होसक्ता तिससे। यह सब वस्तुज्ञान का विकार है तौ भी इनका यह निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध अनिर्वाच्य (यह ऐसा है वा ऐसा नहीं है) है इस से विरोध नहीं होता इस लिये मानसिक और बाह्य विषयोंका परस्पर में कार्य कारणभाव सम्बन्ध है ही जैसा बीज और अंकुर का है । अब यहां शङ्का करतेहैं कि ज्ञान सत्यरूप है और जिस समय घटादिक सद्रूप ज्ञान से अलग होगये तौ उस समय घटादिकों की असत्य प्रतीति होगी अर्थात् घट बनने के पहिले और घट बनने के पश्चात् संकल्पाकार ज्ञान का घट के साथ सम्बन्ध नहीं रहा तौ घट है ही नहीं यह प्रतीति होगी

लोकव्यवहार नष्ट हुआ यद्यपि सब विषय जो बाहरहै सोही मानसिक ानसिक है सोही बाहर है तौ भी घटादि विषय कभी मिथ्या नहीं क्के हैं क्योंकि अध्यस्त (जो रहता है) की अधिष्ठान (जिसमें ता है) ही आत्मा होता है इससे घटादि विषय अत्यन्त मिथ्या हीं होसक्ता है अर्थात् घट निर्माण के पहिले घट ज्ञानरूप आत्मामें ताहै फिर वह उस ज्ञानरूप आत्मा के साथही बाहर प्रकट होताहै सि घटादि मिथ्या नहीं होसक्के हैं इससे लोकव्यवहार का नाश हीं होता। आप कहते हैं कि विषय कदाचित् भी मिथ्या नहीं हो- क्के हैं तौ स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का जाग्रत् काल में मिथ्यारूप से तीति होती है तौ यह अनुभव का विरोध आता है सत्य कहते हैं प- तु जाग्रत् अवस्था के ज्ञान की अपेक्षा से स्वप्न में देखे हुए पदार्थों मिथ्यापण है और स्वतः स्वप्न में देखे पदार्थ मिथ्या नहींहैं तैसेही ग्रत् अवस्था में देखे हुए पदार्थ स्वप्नावस्था में मिथ्यारूप से प्रतीत ते हैं और स्वतः वो पदार्थ मिथ्या नहीं हैं अर्थात् जो स्वप्न में दीखते हैं जाग्रत् अवस्थामें नहीं दीखता तिससे असत्यहैं इसीतरहसे जाग्रत् र्यभी स्वप्नावस्थामें नहीं दीखते तिससे असत्य हैं और ज्ञानसे तौ कभी भी असत्य नहीं हैं। तो फिर "वाचारम्भणं" इस श्रुति का रोध आता है सत्य कहते हैं परन्तु सब पदार्थों का जो विशेषाकार यह मिथ्या प्रतीति करानेवाला है इस लिये "वाचारम्भणं" यह ति है वो भी आकार विशेष से मिथ्या है और सद्रूप सब पदार्थ होते तिससे सत्य हैं क्योंकि सद्रूप आत्मा के ज्ञानके पूर्व सब पदार्थ कारहित होकर सत्यही थे जैसे स्वप्न में देखे हुए पदार्थ जाग्रत स्था के पूर्व वा तत्त्वतः सत्य ही हैं। इस लिये इन पदार्थों की सत्यता में ई भी विरोध नहीं है। इस लिये जैसे संसार के विषय सत्य हैं तैसे मानसिक ब्रह्मलोकके पदार्थ अरण्यादिक तथा संकल्पज पित्रादि काम सत्यही हैं। यदि ब्रह्मलोक के पदार्थ संसार के पदार्थों की तरह य हैं तो फिर ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये क्यों ज्ञान संपादन करने उपदेश देते हैं। ब्रह्मलोक के पदार्थ सांसारिक इन्द्रियों के विषय-

भोग की तरह अशुद्धिरहित हैं तिससे शुद्ध सत्त्वसंकल्प से पैदा होते हैं इस लिये ब्रह्मलोक के पदार्थों का सुख सत्य है और नित्य है वह कभी नष्ट नहीं होता है और सांसारिक विषयों का सुख अशुद्ध है और शीघ्रही नष्ट होजाते हैं तिस से ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये ज्ञान संपादन करना चाहिये। जो पदार्थ अज्ञानदशा में कार्य करने के कारण से सत्य प्रतीत होरहे हैं फिर ज्ञानदशा में सत्य कैसे हैं। देखो रज्जु में सर्पादिकों की कल्पना होती है फिर तत्त्व से उसको रज्जु समझने के अनन्तर भी उस रज्जु में सर्पादिकों का बोध रहताही है तैसेही संसार के सब विषय तत्त्वतः असत्यही हैं तौ भी अज्ञान से रज्जु में सर्प की तरह सत्य प्रतीत होते हैं और ब्रह्मलौकिक संकल्पसे पैदा हुए तौ सत्यही हैं संसार के जो पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं वह अज्ञान से प्रतीत होते हैं॥ ४॥

इत्यष्टमप्रपाठके पञ्चमः खण्डः॥ ५॥

इस श्रुतिके व्याख्यानमें जिन २ श्रुति स्मृति पुराण वचनों को लिखा है उनको लिखते हैं।

१ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्निति॥
२ मनोमयानि ब्रह्मलोके शरीरादीनि पुराणवचनम्॥
३ अशोकमहिममिति॥
४ समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपा यज्ञा वेदा मन्त्रादयश्च मूर्तिमन्तो ब्रह्माण मुपतिष्ठन्ते॥
५ त इमे सत्याः कामाः इति श्रुतिः॥
६ संकल्पमूला हि लोका इति॥
७ समक्लृपतां द्यावापृथिवी॥
८ अरा नाभौ॥
९ वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥

अथाष्टमप्रपाठके षष्ठः खण्डः प्रारभ्यते।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः॥ १॥

अब अष्टमप्रपाठक में षष्ठ खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

अब ये जो हृदय की नाडियां हैं वे पीतवर्णवाला सूक्ष्मरस के रस तथा शुक्लवर्णवाला सूक्ष्मरस से किञ्च नीलवर्णवाले सूक्ष्मरस से तवर्णवाले सूक्ष्म रस के रससे और लोहितवर्णवाले सूक्ष्मरस के रससे पूर्ण होकर स्थित है और यह सूर्य पिङ्गल, शुक्ल, नील, पीत और लोहित वर्णवाला है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जो पुरुष ब्रह्मचर्यादि साधनों से युक्त होकर सांसारिक भोग विलासादि विषयों को छोड़कर हृदयकमल में रहनेवाले सगुण ब्रह्म की उपासना करता है उसकी सुषुम्णा नाडी से गति होती है यह कहने के लिये नाडीखण्ड का आरम्भ करते हैं। ब्रह्म की उपासना का स्थान कमल के सदृश हृदय की जो ये नाडियां हैं वे सूर्य से किरणों की तरह हृदय के मांसपिण्ड से चारों तरफ निकल कर पिङ्गलादिवर्णवाले अन्नादिरसों के रस से पूर्ण हुई अन्नादिरसों के आकार को प्राप्त होती हैं इसीतरह शुक्ल, नील, पीत, रक्तवर्णवाले जिन २ पदार्थों के रससे पूर्ण होती हैं उन २ पदार्थों का वर्ण के सदृश वर्ण को प्राप्त होती हैं। उदर में अन्न रसका पिङ्गलादिवर्ण कैसे होता है सो कहते हैं इस शरीर में पित्त जो है वह सूर्य का तेज है उससे काला और पीला वर्ण का पाक होकर कफ होता है उस कफ के अल्पसंयोग से सूर्य का तेज जो पित्त है वह पिङ्गल वर्ण होजाता है इसी सूर्य तेज के संपर्क से अन्न और नाडियों का पिङ्गल वर्ण होता है उसी सूर्य के तेज का जब अधिकवात के साथ सम्बन्ध होता है तौ नीलवर्ण होजाता है इस नीलवर्ण के संपर्क से अन्नरस का और नाडियों का नीलवर्ण होजाताहै । और वह वही पित्ताख्य सूर्य का तेज काला और पीला वर्ण का पाक से कफको उत्पन्न करता है फिर उस कफका जब पित्ताख्य सूर्य तेज के साथ अधिक संपर्क होता है तौ शुक्लवर्ण होता है उस शुक्लवर्ण के संपर्क से

अन्नरस और नाडियों का शुक्लवर्ण होता है और जब वहही सूर्य का तेज वात कफ के साथ मिलता है तब पीतवर्ण होता है इसी पीतवर्ण के सम्बन्ध से अन्नरस नाडी पीत होती हैं। और जब सूर्य तेज के पाक से रुधिर अधिक होजाता है वह फिर पित्ताख्य सूर्य तेज के साथ मिलता है तब लोहितवर्ण होताहै इस लोहित से अन्न रस और नाडियों का लोहितवर्ण होजाताहै। और वर्णविशेष वैद्यकशास्त्र से जानलेवो। इस में श्रुति प्रमाण देते हैं 'आदित्यसम्बन्धादेव तत्तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषा इति' सूर्य के सम्बन्ध से ही पाक होता है फिर वो सूर्य का तेज जब नाडियों में प्रविष्ट होता है तब यह वर्ण विशेष उत्पन्न होते हैं। एक वर्णवाले आदित्य के पाक से अनेक वर्ण कैसे उत्पन्न होसक्ते हैं? यह नहीं कहसक्ते हो। क्योंकि यह सूर्य पिङ्गल, शुक्ल, नील, पीत और रक्त इत्यादि सब वर्णवाला है ॥ १ ॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ।

जैसे एक बृहत् मार्ग है वो दो ग्रामों को पहुँचाती है समीप के ग्राम को और दूर के ग्राम को इसी तरह ये सूर्य की किरणें सूर्यमण्डल को और पुरुष को दोनों को जाती हैं फिर इस सूर्य के मण्डल से विस्तृत होकर पिङ्गलादिवर्णवाली नाडियों में चली जाती हैं फिर वे इन नाडियों से इस आदित्य में जाती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ।

उस सूर्य का अध्यात्म नाडियों के साथ सम्बन्ध कैसे होता है? यह दृष्टान्त से कहते हैं। जैसा लोक में विस्तृत मार्ग दूर और समीप

के दोनों ग्रामों में पहुँचाता है तैसेही यह सूर्य की किरणें आदित्य मण्डल में और पुरुष में प्रवेश करती हैं इस सूर्य के मण्डल से विस्तृत होती हुई आत्मा में रहनेवाली पिङ्गलादि वर्णोंवाली नाडियों में प्रवेश करती हैं इन नाडियों से निकलकर फिर सूर्य में प्रवेश करती हैं ॥ २ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः संप्रसन्नः समस्तः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संप्रसन्नो भवति ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

जिस काल में यह समस्त जीव सोता है और प्रसन्न है उस समय स्वप्न को नहीं जानता है उससमय इन नाडियोंमें प्रवेश करता है उस आत्मा को उससमय धर्म वा अधर्म नहीं स्पर्श करता है और उसी समय सूर्य के तेज से व्याप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जिससमय यह जीवात्मा सोता है अर्थात् इन्द्रियों को अपने २ व्यापार से हटा लेता है इसी से बाह्य विषयों के संपर्क से उत्पन्न हुआ कालुष्य नहीं रहता है इसी से संप्रसन्न है इसी लिये जो स्वप्नमें मानसिक बाह्यविषयों का आकार जो प्रतीत होता है उसका अनुभव नहीं होताहै जब यह आत्मा इन्द्रियों को बाह्य विषयोंसे रोक लेता है उसी समय सूर्य के तेज से पूर्णहुई ऐसी इन नाडियों के द्वारा सूर्य का तेज हृदयाकाश को प्राप्त होता है उससमय वह जीवात्मा सत्य तेज से युक्त है इसीसे कोई भी धर्म वा अधर्मरूप पाप उस आत्मा का स्पर्श नहीं करता क्योंकि उससमय वो आत्मा अपने स्वरूप में विद्यमान है तिससे। हैन्द्रियों से युक्त आत्मा को सुख दुःखादि फल देनेसे पाप स्पर्शकरता है और सत्यरूप होकर जब आत्मा अपने स्वरूप से स्थित है तब उसको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करसक्ता क्योंकि दो पदार्थ भिन्न २ होवें तो एक दूसरे का स्पर्श करसक्ता है ऐसा सत्य आत्मा से भिन्न कोई

पदार्थही नहीं है तो कौन किसका स्पर्श करसक्ता है । अब यहां शङ्का करते हैं कि सुषुप्ति अवस्था के बाद स्वरूपावस्थान का नाश कैसे होता है ? वहां कारण यह है कि अज्ञान के कार्य और कर्मों का कारण अनादि अज्ञान है उस अज्ञान का ब्रह्मज्ञानरूप अग्नि से सुषुप्ति अवस्था में दाह नहीं होता इसी से सुषुप्त का फिर स्वरूप नाश होता है इस तरह से सुप्त पुरुष नाडियों द्वारा सूर्यतेज से व्याप्त होता है इसीसे इस की इन्द्रियां चक्षुरादिकों से बाह्यविषयों का भोग नहीं करसक्ती हैं। इस लिये यह इन्द्रियों के निरोध से आत्मा में अवस्थित होकर स्वप्न को नहीं जानता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतोभवति तमभित आसीना आहुर्जानासिमां जानासि मामिति सयावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

जब यह पुरुष मरता है तब उसकी जाति के उसको कहते हैं हमको जानते हो तब वो जबतक इस शरीरको नहीं त्याग करता तबतक जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

जब यह शरीर वृद्धावस्था से वा रोगादिकों से कृश होकर मृत्यु को प्राप्त होने के योग्य होजाता है उस समय उसकी जाति के उसके पास बैठकर कहते हैं तुम हमको जानते हो हम तुम्हारे पिता हैं हम को जानते हो हम तुम्हारे पुत्र हैं वो मरनेवाला जबतक इस शरीरको नहीं त्याग करता है तबतक पुत्रादिकों को जानता है ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेवरश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वाहोद्वामीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

जब यह शरीर इस शरीर का त्याग करताहै उस समय उनहीं सूर्य की किरणों से ऊपरको खींचाजाता है जब वह ॐकार का ध्यान करता है तब ऊर्ध्वलोक को जाताहै वह शीघ्रही मनकी तरह सूर्यलोक को पहुँचताहै यह सूर्यलोक ब्रह्मज्ञों का मार्ग है और इतरों का रोकनेवाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

प्रारब्ध के कर्मों के भोगने के बाद जो यह आत्मा इस शरीर से निकलता है उससमय सूर्यमण्डल से आकर नाडियों में प्राप्तहुई ऐसी इन किरणों से अपने २ कर्मोंसे प्राप्तहुए लोकको जाता है ब्रह्मज्ञानी से भिन्न मनुष्य । और जो ब्रह्मज्ञानी है वह ॐइस ॐकारसे आत्मस्वरूप का ध्यान करता हुआ ऊर्ध्वलोक को जाता है वो ब्रह्मज्ञानी अतिशीघ्रता से आदित्यलोक को जाता है क्योंकि यह आदित्यलोक ब्रह्मलोक में जानेवालों का द्वार है तिससे ब्रह्मज्ञानी आदित्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक को जाते हैं । इस लिये यह आदित्यमण्डल ब्रह्मलोक में जानेवालों का द्वार है और अज्ञानियों का इसी से निरोध होता है अर्थात् सूर्य तेज से प्राणवायु रुककर ऊर्ध्वलोक को नहीं जातीहै॥५॥

तदेष श्लोकः ॥

शतंचैका च हृदयस्य नाड्यस्तासांमूर्धानमभिनिःसृतैका ॥ तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ ।

इस देह में एक सौ एक नाड़ियां हैं उनमें एक नाड़ी ऊपर को गई है उस नाड़ीसे ऊपर को जाता हुआ प्राणवायु अमृतपने को प्राप्तहोता है । और इस शरीर में ऊपर नीचे जानेवाली कई नाड़ियाँ हैं वह सब संसार में ही गमन करती हैं और ऊर्ध्वलोक में नहीं ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

अब इस मन्त्र से शरीर की प्रधान नाड़ियों को कहते हैं इस शरीर में अनन्त नाड़ियां हैं तहां मांसपिण्डरूप इस हृदय की प्रधान नाड़ियां एक सौ एक हैं उनमें एक नाड़ी मस्तक के उपरिभाग को गई हुई है उसी को सुषुम्णा वा मूर्धन्या नाड़ी कहते हैं। इस नाड़ी से ऊर्ध्वलोक को जाता हुआ मनुष्य अमृतभाव को प्राप्त होताहै और कई प्रकार से कई तरह तिरछी ऊपर को जानेवाली नाड़ियां हैं वे संसार में जानेका द्वार हैं और उनसे जानेवाला अमृतभाव को नहीं प्राप्तहोता है ॥६॥

इत्यष्टमप्रपाठके षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथाष्टमप्रपाठके सप्तमः खण्डः प्रारभ्यते ।

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठक में सातवें खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जो आत्मा धर्माऽधर्मादि, जरा अवस्था तथा मृत्यु, शोक, भोजन की इच्छा जलपान की इच्छा इन सब से रहित है और सत्यकाम सत्य संकल्प है वो अन्वेषण करने के तथा जानने के योग्य है वो मनुष्य सब लोकोंको तथा सब कामों को प्राप्त होता है जो उस आत्मा को अन्वेषण करके जानता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

ज्ञान के बाद जो यह संप्रसाद शरीर की अहंता ममता (यह मेरा

मैं हूं मैं करता हूं) को छोड़कर परमज्योति को जानकर अपने स्व-
प को प्राप्त होता है यह आत्मा संप्रसादरूप अमृत अभय और ब्रह्म
तहां पूछे हैं कि संप्रसाद क्या वस्तु है ? और उसकी प्राप्ति कैसे
ती है कि जिससे इस शरीर में अहंता ममता को त्यागकर परम-
ज्योति को प्राप्त जानकर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है । और जिस
वरूप को प्राप्त होता है वह स्वरूप वा आत्मा कैसा है। और आत्मा
च्चिदानन्दरूप एक है और उसके शरीर सम्बन्ध से नानारूप दीखते
तो उस शरीरोपाधि से भिन्न जो उस आत्मा का स्वरूप है वह कैसा
यह सब विषय कहने को सप्तमखण्ड का आरम्भ है । और इस
खण्ड में जो प्रजापति और विरोचन का जो संवाद है वह शिष्य और
गुरु का अध्ययन अध्यापन कैसी रीति से होना चाहिये इस लिये है।
और ज्ञान की स्तुति के लिये है। जो आत्मा धर्माधर्मादि, जरा अवस्था,
जलकी इच्छा, शोक, मृत्यु, भोजन की इच्छा इन सबों से रहित है
और जिसका काम तथा संकल्प सत्य है और जिसकी प्राप्ति के लिये
हृदयकमल को स्थान कहा है और जिसमें रहनेवाले काम मिथ्या से
आच्छादित हुए सत्य हैं और जिसकी उपासना का सहकारि कारण
ब्रह्मचर्य को उपाय कहा है और जिसकी उपासना का फलभूत काम
की प्राप्ति के लिये सुषुम्णा नाड़ी से गति कही है उस आत्मा का
अन्वेषण करके जानना चाहिये । उस आत्मा के अन्वेषण से और
जानने से वो मनुष्य सब लोकों को प्राप्त होता है और सब कामों
को प्राप्त होता है कि जो मनुष्य शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा
उस आत्मा का अन्वेषण करके और तद्रूप को प्राप्त होता है वह
सब लोक सब कामों को प्राप्त होता है यह प्रजापति कहता भया ।
इस शास्त्र में विधि तीन तरह की होती है एक विधि १ नियमविधि २
परिसंख्याविधि तहां जो अर्थ किसी तरह से नहीं प्राप्त होता है । और
उसके लिये कहा जाय तो विधि होती है जैसे स्वर्ग चाहनेवाला याग
करे इस जगह स्वर्ग की चाहवाले को याग की विधि कही है यह
याग दूसरे किसी तरह से नहीं प्राप्त होता है तिससे स्वर्ग के लिये

याग करना यह विधि है और नियमविधि वो होती है कि जिस अर्थ की प्रतीति लोक से होती है उसकी फिर शास्त्र से भी प्राप्ति होती हो जैसे यहां ब्रह्मलोक प्राप्ति के लिये आत्मा का अन्वेषण करके जानना चाहिये यहां जो जाननेकी विधि है वह नियमविधि है क्योंकि आत्मज्ञान की लोकव्यवहार से भी प्रतीति होती है फिर शास्त्र में जो कथन है वह नियमविधि ही है ॥ १ ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुहन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

उस वचन को देवता और असुर दोनों जानते भये और कहते भये उस आत्मा का हम अन्वेषण करते हैं कि जिस आत्मा के अन्वेषण से सब लोकों को और सब कामों को प्राप्त होते हैं यह विषय इन्द्र देवताओं को और विरोचन असुरों को कहकर संन्यास धारण करके दोनोंही विद्या के विषय में ईर्ष्या करते हुए समिध को हाथ में ग्रहण करके प्रजापति के समीप आये ॥ २ ॥

भावार्थ ।

शिष्य गुरु के समीप विद्याध्ययन करने को किस प्रकार से जावे यह प्रजापति और इन्द्र के संवाद द्वारा कहते हैं । उस प्रजापति के वाक्य को देवता और राक्षस दोनों कर्ण परम्परा जानतेभये फिर वे देवता और असुर इस प्रजापति के वाक्य को सुनकर आपस में विचार करते भये कि जो तुमलोगों की आज्ञा होय तो जिसके लिये प्रजापति ने कहा है उस आत्मा का हम अन्वेषण करें कि जिस आत्मा का

अन्वेषण करके सब लोकों को और सब कामों को प्राप्त होवें यह सबसे विचार करके देवताओं का राजा इन्द्र देवताओं का और राज्य चिह्नों का त्याग करके केवल शरीर से प्रजापति के पास जाता भया तैसेही विरोचन भी असुरों को छोड़कर प्रजापति के समीप जाता भया। गुरु के समीप नम्रता से जाना उचित है क्योंकि त्रैलोक्य के राज्य से भी विद्या बृहत् है देखो अनेक विलासों का अनुभव करते हुए इन्द्र और विरोचनि गुरु के समीप गये तब वे परस्पर में ऐकमत्य नहीं रखकर विद्या के लिये ईर्ष्या करते हुए समिध भारको हस्त में लेकर प्रजापति के समीप आतेभये॥ २॥

तौहद्वात्रिंशतंवर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्तावबास्तमिति तौहोचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पःसोऽन्वेष्टव्यःस विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्यविजानातीतिभगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावबास्तमिति॥ ३॥

अक्षरार्थ।

वे इन्द्र और विरोचनि दोनों बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहतेभये तब उनको प्रजापति ने कहा कि तुम क्या इच्छा करते हो और क्यों यहां रहते हो तब वे कहतेभये कि जो आत्मा धर्माधर्मादि जरा अवस्था, मृत्यु, शोक, भोजनेच्छा तथा जलपानेच्छा इन सब से रहित है और जिसके काम तथा सङ्कल्प सत्य हैं वो आत्मा अन्वेषण के तथा जानने के योग्य है और जो जानता है व जो उस आत्मा को विद्या के द्वारा जानता है वो सब लोकों को तथा सब कामों को प्राप्त होता है यह आपके वाक्य से जानते हैं उस विद्या के जानने की इच्छा से हम यहां निवास करते हैं॥ ३॥

भावार्थ ।

वे दोनों प्रजापति के समीप जाकर बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके प्रजापति की सेवा करतेभये तब प्रजापति अभिप्राय जानकर उनसे कहा किस प्रयोजन से तुम यहां निवास करते हो तब उन्होंने कहा कि जो आत्मा धर्माऽधर्मादि से रहित है और जिसके जानने से सब लोकों को मनुष्य प्राप्त होता है उस आत्मा का बोध शिष्ट लोक आपके वाक्य से जानते हैं इस लिये उस आत्मज्ञान होने के लिये हम यहां निवास करते हैं। यद्यपि हम आपके समीप आने के पूर्व परस्पर विरोध रखनेवाले हैं तौ भी विद्याप्राप्ति के प्रयोजन में गौरव होने से राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या इत्यादि दोषों का त्याग करके प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं। इस से आत्मविद्या का गौरव कहा है ॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथयोऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ ।

उनको प्रजापति ने कहा कि जो यह नेत्रों में पुरुष दीखरहा है यह आत्मा है यहही अभय अमृत और ब्रह्म है तब शिष्य शङ्का करे हैं कि हे महाराज! यह जो जल में और दर्पण में दीख रहा है यह क्या भिन्न आत्मा है वा वहही है तब प्रजापति ने कहा है कि यह वहही आत्मा है यह आत्मा ही सब के मध्य में दीखता है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

इस प्रकार प्रजापति उन दोनों तपस्वियों को कल्मषरहित और

योग्य समझकर कहना प्रारम्भ किया जिनकी इन्द्रियां विषयों से विरक्त हैं ऐसे योगियों की समाधि दृष्टि से देखा जाय ऐसा वो पुरुष ज्योतिरूप इन नेत्रों में दीखरहा है जिस आत्मा के लिये मैंने पहिले कहा था धर्माऽधर्मादिरहित वो आत्मा यह है जिस आत्मा के विज्ञान से सब लोक तथा सब कामों की प्राप्ति होती है यह भूमानामवाला अमृत है। इसी से अभय और वृद्धतम ब्रह्म है। जो प्रजापति ने कहा कि यह जो नेत्रों में पुरुष दीखरहा है वह आत्मा है इस प्रजापति के वाक्य से दोनों ने छायारूप पुरुष का ग्रहण किया फिर दृढ़ करने को प्रजापति से पूछा कि हे भगवन्! जो यह जल में पुरुष का ज्ञान होताहै और जो यह दर्पण में आत्मा का प्रतिबिम्ब जैसा दीख रहा है तथा खड्गादिकों में जो दीख रहाहै इन में से कौनसा यह आपने कहा है अथवा सब में एकही है तब प्रजापति ने कहा कि जिसका मैंने नेत्रों में निर्देश कियाहै वहही सब जगह है जिस वस्तु को मैंने कहा है उसको चित्त में समझकर सब के मध्य में जानो। अब यहां शङ्का करते हैं कि उत्तम शिष्य आचार्य के अभिप्राय को यथार्थ नहीं समझे और प्रकारान्तर से अयथार्थ समझजाय तौ आचार्य उसको यथार्थ समझावे यह संप्रदाय है तौ यहां इन्द्रादिकों के अयथार्थ ज्ञान को दोषरहित श्रेष्ठ प्रजापतिरूप आचार्य को यथार्थ नहीं कहना था हां यह सत्य है परन्तु प्रजापति का अभिप्राय ऐसा कहने का यह था कि लोक में इन्द्र और विरोचन दोनोंही पाण्डित्य और बोद्धाओं में अग्रगण्य हैं ऐसा विख्यात है और उनको भी इसका अभिमानथा कि हमारे सदृश कोई बोद्धा और पण्डित नहीं है तो ऐसे पुरुषों को यदि प्रजापति ऐसा कहदेवे कि तुम मूर्ख हो उलटा समझते हो तौ उनके चित्त में दुःख उत्पन्न होता और फिर उससे उनका प्रश्न सुनने का तथा सुनने का जो उत्साह था उसका नाश होजाता इस लिये प्रजापति ने शिष्यरक्षा के लिये अयथार्थ ज्ञान में अनुमति दी और फिर यहभी विचार रहा कि जल प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से इनको समझने देवो फिर इस अज्ञान को दूर करदेवेंगे। ऐसे अभिप्राय से प्रजापति को मिथ्या अनुमति देना योग्य नहीं था ऐसा

कहो तो प्रजापति ने मिथ्या नहीं कहा क्योंकि जिस आत्मा का शिष्यों ने ग्रहण किया है वो आत्मा प्रजापति ने जिस आत्मा के लिये कहाहै वो दोनों ही प्रजापति के सन्निहित हैं तिससे मिथ्या नहीं कहाहै। क्योंकि उसी आत्मा के लिये कहा था कि यह वोही है ॥ ४ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथाष्टमप्रपाठकेऽष्टमः खण्डः प्रारभ्यते।

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथ स्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौहप्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

अब आठवेंप्रपाठक में अष्टम खण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ।

जलपूर्ण शराव में आत्मा को देखकर जब तुम आत्मा को नहीं जानो तब मेरेको कहना तब वे जलपूर्ण शराव में आत्मा को देखतेभये तब उनको प्रजापति ने कहा कि तुम क्या देखते हौ तब उन्होंने कहा कि हे भगव ! हम रोम और नखों का प्रतिरूपक इस आत्मा को देख रहे हैं ॥ १ ॥

भावार्थ।

जलपूर्ण शराव में आत्माको देखकर जो वहां तुम आत्माको नहीं जानो तो मेरे को कहना ऐसे कहेगये वे तैसेही उस जल परिपूर्ण शराव में आत्मा का अवलोकन करतेभये तब उनको प्रजापति ने कहा कि तुम क्या देखतेहौ अब यहां शङ्का करते हैं कि प्रजापति ने कहा था कि जो तुम जलपूर्ण शराव में आत्मा को नहीं देखो तौ मेरे से कहना फिर वे जलशराव में आत्मा को देखकर प्रजापति से नहीं कहा

कि यह हमने नहीं जाना तो अज्ञान के कारण को विना कहे प्रजापति के पूछने का क्या अभिप्राय है उसका अभिप्राय यह है कि उन दोनों को हमने आत्मवस्तु को नहीं जाना यह शङ्काही नहीं हुई किन्तु उनको छायारूप आत्मा में यहही आत्मा है ऐसा निश्चय होगया क्योंकि आगे कहेंगे वे शान्तहृदय होकर जाते भये तो जबतक अभिप्रेत अर्थ का निश्चय नहीं होता तबतक पुरुष शान्तहृदय नहीं होता इस से निश्चय होता है कि छायारूप आत्मा में ही उनको आत्मा का निश्चय होगया इसी से उन्हों ने यह नहीं कहा कि हमने आत्मा को नहीं जाना तब प्रजापति ने जाना कि शिष्य तो विपरीत अर्थ को ही निश्चय समझगये तब शिष्यों का विपरीत निश्चय दूर करने को प्रजापति ने पूछा कि तुम क्या देखते हो तब उन्हों ने कहा कि हे भगव ! रोम नखादि सहित अपने आत्मा के प्रतिरूप को जलशराव में देखते हैं ॥ १ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामितितौह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

उनको प्रजापति ने कहा कि अब आभूषण उत्तम वस्त्र धारण करके और परिष्कृत होकर जलपूर्ण शराव में देखो तब वे आभूषण उत्तम वस्त्रों को धारण करके परिष्कृत होकर जलपूर्ण शरावमें अवलोकन करते भये तब उनसे प्रजापति ने पूछा कि क्या देखते हो ॥ २ ॥

भावार्थ ।

छायारूप आत्मनिश्चय को दूर करने के लिये फिर उनसे प्रजापति ने कहा कि जैसा तुम अपने गृह में आभूषण और उत्तम वस्त्रों को धारण करके और रोम नखादिकों का आच्छादन करके रहते हो तैसेही अब तुम आभूषण और उत्तम वस्त्रों को धारण करके रोमनखादिकों का

आच्छादन करके जलपूर्ण शराव में आत्माका अवेक्षण करो तब उन्हों ने वैसाही किया अब यहां शङ्का करते हैं कि इस श्रुति में प्रजापति ने यह नहीं कहा कि जो तुम नहीं जानो तो मेरे से कहना तौ फिर उत्तम आभूषण और वस्त्रों को धारण करके जलपूर्ण शरावमें देखने से उनका छाया में जो आत्मा का निश्चय है वह कैसे दूर होसकेगा ? सो ही प्रकार कहते हैं कि जैसे शरीर में धारण किये हुए वस्त्रालंकारादि कृत्रिम वस्तुओं का जो जलपूर्ण शराव में प्रतिरूप है इसी तरह से पहिले भी शरीर का ही जलपूर्ण शराव में प्रतिरूप था और आत्मा का नहीं था यह सिद्ध होता है और शरीर के एकदेश में रहने वाले रोमनखादिकों को नित्य जानते हैं उनका भी छायारूप आकार पहिले हुआ है और जब लोम नखादिकों को दूर करदेते हैं तब उनका प्रतिरूप नहीं होता इसी तरह से शरीर का भी नाश होता है ऐसा शास्त्र से जानते हैं तौ इसी तरह से जलपूर्ण शराव में जो छाया दीख रही है वो और उस छाया का कारण जो देह है वो यह दोनोंही आत्मा नहीं है यह इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है क्योंकि जलपूर्ण शराव में छाया का आकार है देह में धारण किये हुए वस्त्रालंकारादिकों की तरह यहां इस दृष्टान्त से केवल छायाही का अनात्मप्रतिपादन नहीं किया है किन्तु सुख दुःख राग द्वेषादि जिन २ पदार्थों को आत्मा मानते हैं वे सब शरीर के नख रोमादिकों की तरह नाशवान् हैं इस लिये यह सबही आत्मवस्तु नहीं हैं इस तरह से मिथ्याज्ञान का दूर करने को उत्तमालंकारादि धारण करके जलपूर्ण शराव में देखो इत्यादि दृष्टान्त प्रजापति ने कहा और उन्होंने तैसेही किया तौ भी उनका विपरीत ज्ञान दूर नहीं हुआ इससे निश्चय हुआ कि इन्द्र और विरोचन की विवेचनशील बुद्धि को किसी ने प्रतिबद्ध किया है इस लिये प्रजापति ने फिर पूछा कि तुम क्या देखते हौ ॥ २ ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ

वसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभय
तद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

अक्षरार्थ ।

तब उन्हों ने कहा कि जैसे हम उत्तम आभूषण वस्त्रों को धारण करके परिष्कृत हुए तैसा ही प्रतिबिम्बरूप उत्तम आभूषण और वस्त्रोंको धारण किया हुआ परिष्कृत दीखा यहही आत्मा है यहही अभय तथा ब्रह्म है यह वृत्त कहकर शान्तहृदय वे जाते भये ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

जब उनका विपरीत निश्चय दूर करने को दृष्टान्त दिया तौ भी वे इन्द्र और विरोचन दोनोंही विपरीत अर्थ को ही निश्चयरूप से जानते भये अर्थात् वे उत्तम वस्त्र आभूषणवाला छायारूप आत्माको ही ब्रह्म जानते भये जिसको आत्मा का लक्षण धर्माऽधर्मादिरहित कहा है और फिर विशेषरूप से आत्मज्ञान होने के लिये साक्षात् शरीर के नेत्रों में जो यह पुरुष दीख रहा है वह आत्मा है यह कहा फिर भी विपरीत समझने लगे तो फिर विपरीत समझ दूर करने को जलपूर्ण शराव में आभूषणादि धारण करके देखो यह दृष्टान्त दिया तौ भी आत्मज्ञान से विरुद्ध ज्ञानही तौ हुआ और विरुद्धज्ञान दूर नहीं हुआ तिससे निश्चय होता है कि किसी दोष से इनकी विवेचनशील बुद्धि का सामर्थ्य रुक गया है इसी से जैसा अभिप्रेत आत्मवस्तु यहही है ऐसा मन में संतोष करके यहही अभय है और यह ही ब्रह्म है ऐसा प्रजापति कहता भया अब यहां शङ्का करते हैं कि ऐसे सत्यवादी प्रजापति ने शिष्यों के विपरीतज्ञान में अनुमति कैसे दी । इसका अभिप्राय यह है कि प्रजापति ने आत्मा का लक्षण और नेत्रों में पुरुष है फिर जलपूर्ण शराव का दृष्टान्त इत्यादि आत्मज्ञान के योग्य सामग्री उनको कहदी फिर विवेचनशील बुद्धि का आच्छादन इनके किसी दोषसे दूर नहीं हुआ जब इनकी बुद्धि का आवरण दूर होजायगा और मेरे वाक्य का पुनः २ स्मरण करेंगे तब इनको आत्मा का बोध होजावेगा इस अभि-

प्राय से प्रजापति ने बुद्धिका आवरण दूर करने को ब्रह्मचर्य की आज्ञा नहीं दी और ये कृतार्थ समझकर प्रसन्नचित्त से जावें और किसी तरह से इनके चित्त में दुःख उत्पन्न न होवे इसलिये प्रजापति ने उपेक्षा भी किया इसी अभिप्राय से प्रजापति ने उनके विपरीत ज्ञान में अनुमति दी तब इन्द्र और विरोचन आत्मा को कृतार्थ समझते हुए अपने गृह को जाते भये ॥ ३ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्याऽऽत्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवावाऽसुरावातेपराभविष्यन्तीति सह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेहमहय्य आत्मापरिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

प्रजापति ने उनको दूरगये देखकर कहा कि जो आत्मा को नहीं समझकर न प्राप्त होकर जाते हैं वे देवताहों वा असुरहों उनको यह विपरीतज्ञानही उपनिषद् होगा और वे पराभव को प्राप्त होवेंगे फिर वो शान्तहृदय विरोचन असुरों के समीप जाकर उनसे इस आत्मज्ञान को कहा और फिर कहा कि यह देह ही इस लोकमें आत्मा है और यह ही पूजा करने के योग्य है और इस कीही सेवा करना उचित है इस देहरूप आत्माकीही सेवा तथा पूजा करनेवाला पुरुष दोनों लोकों को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

इसतरह विपरीत ज्ञान को सत्य समझकर जब इन्द्र और विरोचन दोनों राजा चलेगये तब प्रजापति ने विचार किया कि यह दोनों भोग विलास में आसक्त हैं इससे यह हमारे उपदेशको भूल नहीं जावें इस शङ्का से उनको गये बाद स्पष्ट वाक्य से उनके चित्त का दुःख दूर करने की इच्छा से उनको दूरगये देखकर जो आत्मा धर्माऽधर्मादि

पों से रहित है इत्यादि वाक्यों की तरह यह भी ये सुनलेवें इस भिप्राय से कहने का आरम्भ किया कि जो ये इन्द्र और विरोचन क आत्मा को नहीं जानकर तथा आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं करिके वपरीत ज्ञान को संपादन करिके जावे हैं । इस लिये ये देवताहों वा सुरहों इस विशेष से क्या प्रयोजन है इनने जो आत्मविद्या को हण किया है वहही देवता और असुरों को विपरीत ज्ञान तथा विप-ीत निश्चयवाली उपनिषद् होगी और वे उत्तममार्ग से बाहर होके ष्ट होवेंगे । अपने गृह को जातेहुए इन्द्र और विरोचन दोनों के मध्य जो विरोचन था वह शान्तहृदय होकर असुरों के पास गया और ाकर कहने का प्रारम्भ किया कि देहही आत्मा है यह प्रजापति ने हा है इसकारण देहही आत्मा है इसलोक में यहही पूजा करने ोग्य है और यहही सेवा करने योग्य है तथा इसलोक में इस देहरूप आत्मा काही परिचर्या करता हुआ पुरुष इसलोक और परलोक को प्राप्त ोता है इसलोक और परलोक में ही सब लोक और सब काम हैं यह ाजा का अभिप्राय है इसलोक और परलोक प्राप्ति कहने का ॥ ४ ॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो वतेत्यसुराणाᳬं ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षयावसनेनालङ्कारेणेति सᳬंस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इत्यष्टमप्रपाठकेऽष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अक्षरार्थ ।

इसी कारण से अबभी इस संसार में दान नहीं करनेवाले को श्रद्धा रहित को याग नहीं करनेवाले को यह राक्षस है ऐसा कहते हैं असुरों की यह उपनिषद् है कि वे प्रेत के शरीर को (भिक्षा) गन्धमाला अन्नादिकों से वस्त्र और अलङ्कार से संस्कार करते हैं इस संस्कार से इसलोक को प्राप्त होने के योग्य मानते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

इसीकारण से अबभी इसलोक में इस आसुरी सम्प्रदाय का अनुवर्तन करते हैं कि जो लोक दान नहीं देतेहैं अथवा विभाग नहीं करते हैं सत्कार्यों में श्रद्धारहित हैं तथा यागरहित हैं उनको असुर कहते हैं क्योंकि श्रद्धारहित होना यह असुरों की उपनिषद् है उस उपनिषद् के अनुसारही प्रेत शरीर को गन्ध माला अन्न इत्यादि से वस्त्र से आच्छादन करना ध्वजा पताकादि अलंकारों से संस्कार करते हैं इस शरीर के संस्कार से मरण के अनन्तर प्राप्त होने के योग्य जो लोक है उसका जप करते हैं ऐसा मानते हैं ॥ ५ ॥

इत्यष्टमप्रपाठकेऽष्टमः खण्डः पूर्णः ॥ ८ ॥

अथाष्टमप्रपाठके नवमः खण्डः प्रारभ्यते ।

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठकमें नवमखण्ड का आरम्भ करते हैं।

अक्षरार्थ ।

अब इन्द्र देवताओं के समीप नहीं जाकर भय को देखता भया जैसे यह आत्मा इस शरीर के अलंकारों से भूषित होता है उत्तम वस्त्रों से सुवस्त्रवाला होता है देह के परिष्कार से परिष्कृत होताहै तथा यह शरीर अन्ध होय तौ आत्मा भी अन्ध होता है जिससमय जिसके चक्षु वा नासा से जल झरता है तो आत्मा में भी वैसाही दीखता है पंगु होय तो पंगु होता है शरीर का नाश होने से इस आत्मा काभी नाश होजाता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

विरोचन का वृत्त अष्टमखण्ड में कहदिया अब इन्द्र का वृत्त इस खण्ड में कहते हैं । अब इन्द्र देवताओं के समीप तो गया नहीं और दैवी सम्पत्ति शान्त होती है तिससे मार्ग में गुरु के वचनों का स्मरण करता हुआ आत्मज्ञान में यह भय उत्पन्न हुआ अर्थात् जलपूर्ण शराव के दृष्टान्त से जो विषय प्रजापति ने सत्यरूप कहा था उसका किञ्चित् अंश इन्द्र की बुद्धि में स्थिर हुआ कि जिस से छाया में जो आत्मा का ग्रहण हुआ था उसमें दोष उत्पन्न हुआ वो दोष कैसे उत्पन्न हुआ सो कहते हैं जैसे इस शरीर के अलंकारों से छायात्मा भी अलंकृत होताहै उत्तम वस्त्रों से उत्तम वस्त्रवाला होताहै जैसे नख रोमादि देह के अवयव दूर होनेसे छायात्मा भी नख रोमादिकों से रहित होता है इसी तरह यह छायात्मा भी शरीर के नख रोमादिकों से देहावयव के तुल्य होने से नेत्रों के दूर होने से अन्ध होताहै शरीर के काणा होने से आत्मा भी काणा होता है शरीर के नेत्र वा नासा जिसका सदा झरता हो उसे स्राम कहते हैं शरीर के स्राम होने से आत्मा भी स्राम होताहै और देहके पंगु होने से तथा हस्तादिरहित होने से यह छायात्मा भी पंगु और हस्तादिरहित होता है और इस देह के नाश से छायात्मा का भी नाश होताहै ॥ १ ॥

नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाय तछंह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन्पुनरागम इति सहोवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

मैं यहां फल नहीं देखता इसी से फिर इन्द्र समिध् हस्त में लेकर प्रजापति के समीप जाता भया फिर उसको प्रजापति ने कहा कि हे मघवन् ! तुम शान्तहृदय होकर विरोचन के साथ चलेगये थे फिर किस लिये आये हो तब इन्द्र ने कहा कि हे भगवन् ! यह शरीर जब अलंकृत होता है तब आत्मा भी अलंकृत होता है यह जब सुवसन होताहै तब वह भी सुवसन होताहै यह जब परिष्कृत होताहै तब वह भी परिष्कृत होता है इसी तरह जब यह शरीर अन्ध होताहै तब वह भी अन्ध होताहै जब यह स्राम होताहै तो वह भी स्राम होताहै यह जब पंगु होता है तब वह भी पंगु होता है इस शरीर के नाश होने के बाद वह आत्मा भी नष्ट होताहै तिससे इस छायात्मा में फल नहीं समझता॥२॥

भावार्थ ।

यह आत्मा नाशवाला है इसी लिये इस छायात्मा के दर्शन में तथा देहरूप आत्मा के दर्शन में मैं भोग्य फल कुछ भी नहीं देखता यह दोष देह की छायारूप आत्मा में विचार करके समिध्हस्त में ग्रहण करके ब्रह्मचर्य वास करने को फिर प्रजापति के समीप जाता भया फिर उसको प्रजापति ने कहा कि हे मघवन् ! तुम असुरों के राजा विरोचन के साथ शान्तहृदय होकर चले गये थे फिर कैसे आये हौ यद्यपि यह वृत्त प्रजापति जानता था तौ भी इन्द्र के अभिप्राय को प्रकट करने के लिये पूछता भया जो तुम जानते हो उससे पश्चात्ताप मत करो ऐसा जो अपना अभिप्राय था उसको प्रकट करताभया । अब यहां शङ्का करते हैं कि नेत्रों में जो पुरुष है वह आत्मा है इत्यादि उपदेश इन्द्र और विरोचन को समानही दिया था फिर इन्द्र तो उसको देह की छाया जानता भया और विरोचन उसी को आत्मा जानता भया यह फल में वैषम्य कैसे हुआ इसमें कारण यह है कि जैसे इन्द्र को जलशरावादि दृष्टान्त के स्मरण करने से देवताओं के समीप गमन के पूर्व मार्ग में ही आचार्य के उपदेशसे छायात्मा का ज्ञान तथा उसमें दोष का ज्ञान होगया तैसे विरोचन को छायात्मा का ज्ञान तथा उसमें

दोषदर्शन नहीं हुआ किन्तु उसको देह में आत्मदर्शनही होगया और दोषदर्शन नहीं हुआ क्योंकि इन्द्र के विद्याग्रहण का प्रतिबन्धक अल्प है और विरोचन के विद्याग्रहण का प्रतिबन्धक बहुत है तिससे इन्द्रको तो छायात्मा में दोष ज्ञान होगया और विरोचन को नहीं हुआ इन्द्र अल्पदोषवाला होने से प्रजापति ने जिस अभिप्राय से जिस श्रुति को कहा उसको वैसाही समझलिया और विरोचन के अधिक दोष होने से उसने श्रुत्यर्थ को लक्षणा से छायात्मा काही ग्रहण किया । इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे नील और श्वेत वस्त्र को दर्पण में अवलोकन करें तो छाया के निमित्त से नीलही उत्तम दीखता है तैसेही इन्द्र और विरोचन हैं अपने २ चित्त के दोष और गुण के वशसे ही एक वृत्त के श्रवण में भिन्न २ फल होता है ॥ २ ॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीतिसहापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अक्षरार्थ ।

हे मघवन् ! यह ऐसाही है इसी तरह से कहता भया इसको मैं फिर तेरेसे कहूंगा तू फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्य में निवासकरो इन्द्र ऐसाही किया फिर प्रजापति ने कहा ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे मघवन् ! यह ऐसाही है तैंने बहुत अच्छा जाना छायात्मा आत्मा का स्वरूप नहीं है यह प्रजापति कहता भया मैंने जिस आत्मा के लिये कहा है उस आत्मा को फिर मैं तेरे से कहूंगा क्योंकि एक बार कहने से दोषरहितों को बोध होता है तुम सदोष हो तिससे फिर कहूंगा और उस दोष के दूरकरने को ही तुम बत्तीस वर्षतक फिर ब्रह्म-

चर्य में रहो इन्द्रने ऐसाही किया तब ब्रह्मचर्य से दोष नाश होनेके पश्चात् प्रजापति उपदेश देने का आरम्भ किया ॥ ३ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथाष्टमप्रपाठके दशमः खण्डः प्रारभ्यते ।

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेतिहोवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज सहाऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳशरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठकमें दशमखण्ड का आरम्भ करते ह ।

अक्षरार्थ ।

जो यह स्वप्न में पूजा करनेके योग्य अनेक विषयों का अनुभव करताहै यह आत्माहै और यह कहताभया कि यह ही अमृत अभय और ब्रह्म है यह प्रजापति का वाक्य सुनकर सन्तुष्ट होकर फिर गमन करता भया फिर वो देवताओं के समीप नहीं जाकर यह भय देखता भया यद्यपि यह शरीर अन्ध होताहै तब वो आत्मा अन्ध नहीं होता जब यह शरीर पंगु होता है तब यह आत्मा पंगु नहीं होता इस तरह यह आत्मा इस शरीर के दोषों से दूषित नहीं होता ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जिस आत्मा का 'धर्माधर्मादिकों से रहित है तथा जो यह नेत्रों में दीखरहाहै' इत्यादि रूप से व्याख्यान कर आये हैं वो यह है कि जो स्वप्न में स्त्री आदिकों से पूजा किया हुआ अनेक प्रकार के स्वप्न-भोगों का अनुभव करता है यह आत्मा है इसी को अमृत अभय ब्रह्म कहते हैं वो इन्द्र इन वाक्यों का श्रवण करके जाताभया फिर वो देवताओं के समीपको नहीं प्राप्त होकर मार्ग में ही जलशरावगत आत्मा की तरह इस स्वप्नात्मा में भी भय को देखताभया क्या दोष देखा सो

कहते हैं यद्यपि यह शरीर अन्ध होता है स्वप्नात्मा तो अन्ध नहीं होता जब यह शरीर पंगु होताहै तब स्वप्नात्मा पंगु नहीं होता और यह स्वप्नात्मा इस शरीर के दोषों से दूषित नहीं होता है ॥ १ ॥

न बधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

इस शरीर के नाश से स्वप्नात्मा का नाश नहीं होता इस देह के स्राम्य (चक्षुरादि इन्द्रियों से निरन्तर जल गिरना) से स्वप्नात्मा स्राम नहीं होता इसको नाशही करताहै दौड़जाताही है मानो अप्रियवेत्ता की तरह रुदन करता ही है मानो मैं इस स्वप्नात्मा में भी फल नहीं देखता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

इस शरीरके वधसे छायात्मा की तरह यह स्वप्नात्मा नष्ट नहीं होता और इस शरीर के स्राम्य (चक्षुरादि इन्द्रियों से निरन्तर जल गिरने का विषय) से स्राम नहीं होताहै यह स्वप्नात्मा का नाशक है देह के दोष से यह आत्मा दूषित नहीं होता यह पहिले आत्मा के लक्षण में कह आये फिर यहां क्यों कहते हैं यहां अन्वयव्यतिरेकरूप न्याय द्वारा उसी विषय को कहते हैं (जिसके रहने से जो रहता होय उसको अन्वय कहते हैं और जिसके न रहने से जो न रहे उसे व्यतिरेक कहते हैं) यहां अन्वय व्यतिरेक ऐसा है कि जहां देहाभिमान है वहां देहधर्मों का संयोग है जहां देहाभिमान नहीं है वहां देहधर्मों का संयोग भी नहीं है इस न्याय से स्वप्नात्मा में देहाभिमान नहीं होने से देहधर्मों का योग भी नहीं है । और यह स्वप्नात्मा छायात्मा की तरह देहदोषों से युक्त नहीं है किन्तु यह स्वप्नात्मा देहदोषों का नाश करने

वाला है। यह स्वप्नात्मा शरीर के नाश से नष्ट नहीं होता किन्तु आप ही नष्ट होता है ऐसा कहो तो यह उचित नहीं क्योंकि इन्द्रको प्रजापति के वाक्यों पर अत्यन्त श्रद्धा है तौ इन्द्र यह आत्मा अमृत है अर्थात् अविनाशी है इस प्रजापति के वाक्य को स्वप्नात्माका स्वतः नाश मानकर कैसे मिथ्या करसक्ता है हां यह कथन आपका उचितहै परन्तु जब प्रजापति ने छायापुरुष को आत्मा कहा था तो उससमय इन्द्र ने प्रजापति के वाक्यपर श्रद्धा छोड़कर कैसे यह छायापुरुष देह नाश से नष्ट होता है इत्यादि दोष कहे उसी तरह यहां भी कहसक्ता है ऐसा नहीं यह आप को भ्रम है देखो 'य ऐषोऽक्षिणि' इत्यादि वाक्यों से प्रजापति ने छायात्मा को आत्मा नहीं कहा है ऐसा इन्द्रको पहिले भी निश्चय था क्योंकि जो इन्द्र को यह निश्चय होता कि धर्माऽधर्मादिरहित आत्मा प्रजापति ने छायात्मा को कहा है तौ इन्द्र फिर भी आत्मज्ञान के लिये समिध्भार हस्त में लेकर प्रजापति के समीप नहीं जाता और न प्रजापति के वाक्य से फिर भी बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का सेवन करता। इस से निश्चय होताहै कि प्रजापति ने छायात्मा को ही अभिप्रेत आत्मा कहा है ऐसा इन्द्र ने नहीं समझा है इस से 'य एषोऽक्षिणि दृश्यते' इत्यादि उपदेश वाक्य का अर्थ जो यह नेत्रों में ज्योतिरूप दीखता है वह आत्मा है यह अर्थ है यह स्वप्नात्मा विद्रावण करता है मानो तथा स्वप्नात्मा पुत्रादि मरण के निमित्त को अप्रिय जैसा समझता है फिर आप भी रुदन करता है यहां पुत्रादि मरण निमित्त को अप्रिय जैसा समझता है यह क्यों कहते हो अप्रिय जानता है ऐसाही क्यों न कहो जो ऐसा कहें तो स्वप्नात्मा में विनाशीपना आसक्ता है और अमृतत्व नहीं आसक्ता तिस से अमृत जैसा समझता है यहही अर्थ उचित है। और अप्रिय जानता है यह अर्थ न करोगे तो मैं जानताहूं यह बोध आत्मा को भी होता है सो नहीं होना चाहिये सो ये सब भ्रममूलक हैं। अथवा यह आत्मा अप्रियवेत्ता रहो वा न रहो मैं इस स्वप्नात्मा में भी अभीष्ट फल प्राप्ति को नहीं समझता ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तछंह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवःशरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्यदोषेण दुष्यति॥३॥

अक्षरार्थ ।

वो इन्द्र समिध् भारको हस्त से लेकर फिर उस प्रजापति के समीप गया तब प्रजापति ने कहा कि हे मघवन् ! तुम सन्तुष्ट होकर अपने गृह को चलेगये थे फिर क्यों आयेहो तब इन्द्र ने कहा कि हे भगवन्! यह शरीर जब अन्ध होताहै उस समय यह स्वप्नात्मा अन्ध नहीं होता जब यह स्राम होता है तब वह स्राम नहीं होता और यह स्वप्नात्मा इस शरीर के दोषों से दूषित नहीं होता है ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैषमघवन्निति होवाचैतं त्वेवते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंछंशतं वर्षाणीति सहापराणि द्वात्रिंछंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अक्षरार्थ ।

इस शरीर के वध से स्वप्नात्मा का वध नहीं होता इसके स्राम्य से उसका स्राम नहीं होता उसके ज्ञान से स्वप्नद्रष्टा को नाश करताही है मानो विद्रावण करता है मानो और पुत्रादि मरण के निमित्त को अप्रिय जैसा समझता है तौ भी रुदन करता है मानो मैं इस स्वप्नात्मा में भी फल नहीं देखता तब इन्द्र ने कहा कि फिर हम तुमको उपदेश करेंगे तुम फिर भी बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहो तब इन्द्र बत्तीस वर्षतक

ब्रह्मचर्य में रहा फिर इन्द्र को प्रजापति ने उपदेश करने का प्रारम्भ किया ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

तब प्रजापति ने कहा कि हे भगवन् ! तुम स्वप्नात्मा के लिये जैसा कहते हौ वैसाही है क्योंकि तुम अमृत और अभय गुणवान् आत्मा का ज्ञान चाहते हौ । हे महाराज ! आपने मेरे को दोबार कहा तौ भी मैं उस आत्मस्वरूप को उत्तम रीति से नहीं समझा तब प्रजापति ने विचार किया कि अभीतक इस की बुद्धि का कल्मष दूर नहीं हुआ तब कहा कि तुम अब फिर भी बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहो तब वह ब्रह्मचर्य में रहा फिर प्रजापति उपदेश देनेका आरम्भ किया ॥ ४ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथाष्टमप्रपाठक एकादशः खण्डः प्रारभ्यते ।

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवछं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठकमें एकादश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

जब यह समस्त जीव सोता है उससमय प्रसन्नचित्त होकर स्वप्न को नहीं जानताहै यह आत्मा अमृत अभय और ब्रह्म है तब वह इन्द्र शान्तहृदय होकर चलागया तब वह देवताओं को नहीं प्राप्त होकर इस भयको देखता भया कि स्वप्नात्मा भी आत्मवस्तु नहीं है यह मैं हूं

ही प्रतीति होती है और वह पांचभूत हैं इससे विनाशी है विनष्ट होता इस लिये यहां भी फल नहीं देखता ॥ १ ॥

भावार्थ ।

जिससमय यह जीव सोता है अर्थात् इन्द्रियों का अपने २ व्यापारों विरत करके स्थित होता है वह विराग दो तरह का होता है एक चक्षु से देखता रहै और इन्द्रियों से व्यापार न करे दूसरा प्रसिद्धही यहां सुप्त शब्द से दोनों स्वापों का ग्रहण किया है इसी से स्वस्थ-चित्त होकर विषयाभासरूप मानसिक स्वप्न प्रतीति का अनुभव नहीं करता है (यह विषय पहिले इसी अध्यायके षष्ठ खण्ड के द्वितीय मन्त्रमें कह आये हैं) यहही तुम्हारे अभिप्रेत आत्मा अमृत अभय और ब्रह्म है । यह सुनकर इन्द्र चलागया फिर मार्ग में विचार करने से इसमें भी दोष देखता भया वह यह है कि सुषुप्त भी यह आत्मा है ऐसा जानता है और जाग्रत् अवस्था में भी ऐसा यह आत्मा है यह प्रतीति होती है इस लिये इनका उत्तम रीति से बोध होनाही यह भी विनाशी-ही है और यह नष्ट जैसा दीखता है तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान है उससमय ज्ञाता भी है जब ज्ञान नहीं है तो ज्ञाता भी नहीं है तो सुषुप्त में ज्ञान का भान नहीं होता इससे ज्ञाता विनष्ट जैसा दीख रहा है। तो आत्मा का विनाश ही क्यों न मानते हो ऐसा मानने से आचार्य के वाक्य असत्य होजावेंगे इस से यहां भी फल न जानता ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त ँ् ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एव ँ् संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

वो इन्द्र समिध् हस्त से लेकर फिर प्रजापति के समीप आया

तब प्रजापति ने पूछा कि तुम शान्तहृदय होकर चलेगये थे फिर क्यों आये हो फिर इन्द्र ने कहा कि हे भगवन्! यह इससमय इस आत्मा को ऐसा है यह नहीं जानता यह मैं हूं और यह भूत नहीं है यह नाश की तरह नष्ट होता है और चलाजाता है ॥ इसका भावार्थ पूर्व श्रुति के सदृश है ॥ २ ॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्चवर्षाणीति सहापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ ।

हे मघवन्! तू जैसे कहरहा है यह वैसेही है इसको मैं फिर तेरे से कहूंगा इस आत्मस्वरूप को । अब फिर पांच वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहो वो पांच वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहता भया यह सब मिलकर एक सौ एक वर्ष हुए वो ये एकसौ एक वर्ष हैं जो श्रुति में कहे हैं कि इन्द्र एकसौ एक वर्ष पर्यन्त प्रजापति के आश्रम में ब्रह्मचर्य का सेवन किया उस इन्द्र को फिर प्रजापति ने कहा ॥ ३ ॥

भावार्थ ।

हे मघवन्! जो तुम कहते हो वह वैसाही है अब मैं तेरे को जो पहिले तीनबारसे कहदियाहै उसीको फिर कहूंगा। अब तेरा बहुत अल्प दोष अवशिष्ट है इस लिये तुम फिर पञ्चवर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का सेवन करो इन्द्रने फिर पञ्चवर्ष तक ब्रह्मचर्य का सेवन किया तब कषायादि दोष रहित इन्द्रके लिये छायात्मा स्वप्नात्मा विज्ञानात्मा इनमें जो दोषहै उनसे रहित धर्माऽधर्मादि पापों से रहित ऐसे आत्मस्वरूप का उपदेश देने का

प्रारम्भ किया । यह सब सौ वर्ष हुए जो लोक में शिष्ट कहते हैं कि सौ वर्ष पर्यन्त इन्द्र प्रजापति के आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत से निवास करता रहा वे सौ वर्ष '३२ बत्तीसवर्ष तीनबार रहा और पञ्चवर्ष एकबार रहा' यह है । इस तरह यह आत्मज्ञान इन्द्र से भी गुरुतर है (बड़ा है) क्योंकि इन्द्र ने भी अतियत्न से एक सौ एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यका क्लेश भोग करिके आत्मज्ञान को पाया है इस लिये इस आत्मज्ञान के विना और कोई भी पुरुषार्थ नहीं है इसप्रकार यह आत्मज्ञान स्तुति करने के योग्य है ॥ ३ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथाष्टमप्रपाठके द्वादशः खण्डः प्रारभ्यते ।

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

अब अष्टमप्रपाठकमें द्वादश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

हे मघवन् ! यह शरीर विनाशी है और मृत्यु से ग्रस्त है और यह शरीर अशरीर अमृतरूप आत्मा का स्थान है इसी से यह आत्मा प्रिय और अप्रिय वस्तुओं से ग्रसित है इसी से यह सशरीर है सशरीर सत्य वस्तु में प्रिय और अप्रिय वस्तुओं का नाश नहीं है और जो सत्यरूप अशरीर ब्रह्म है उसको प्रिय और अप्रिय दोनों ही स्पर्श नहीं करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

पहिले जलपूर्ण शरावादि दृष्टान्त द्वारा विश्वब्रह्म का उपपादन करिआये फिर नेत्रों में जो दीखरहा है इत्यादि उपदेश से तैजस ब्रह्म का उपदेश किया फिर स्वप्न में जो नहीं जानता है इत्यादि उपदेश

से प्राज्ञ ब्रह्म का निरूपण किया है इसी को जीवात्मा भी कहते हैं अब शरीररहित तुरीय ब्रह्म का उपदेश करने को शरीर की निन्दा करते हैं। हे मघवन्! यह शरीर मरण धर्मवाला है और जो तुम कहो कि शरीर की तरह नेत्रों में जो संप्रसादरूप तैजस आत्मा आपने कहा है वह भी विनाशी ही है यहां कारण यह है कि यह जो शरीर है जिसको तुम देखते हो वह तो विनाशी है क्योंकि यह सदा मृत्यु से ग्रस्त शरीर का मर्त्य इस नाम सेही मरण की प्रतीति होती है परन्तु विशेष उपादान मरण का वैराग्य उत्पन्न कराने को है। देहाभिमान से विरक्त होकर कैसे सुखी होता है शरीर शब्द का अर्थ इन्द्रिय मन से युक्त पिण्डरूप है। वो शरीर इस जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में सम्बन्ध रखने वाला मरणादि देह इन्द्रिय और मन इनके धर्मों से रहित संप्रसाद अमृतरूप आत्मा का भोगस्थान है। यहां मन्त्र में 'अशरीरस्य' और 'अमृतस्य' यह दोनों पद दिये हैं तो यहां अमृत शब्दसेही अशरीर की प्रतीति होसक्ती थी फिर 'अशरीरस्य' यह पद क्यों दिया उसका कारण यह है कि पवनादि शरीरों की तरह चरणादि अवयववाली मूर्ति-वाला न होवे इसलिये दोनों पदों का ग्रहण किया है। आत्मा का तेज, अप्, अन्न इनसे उत्पन्न हुआ स्थान यह शरीर है अथवा इसमें सदात्माही जीवरूप से प्रवेश करके रहता है तिससे यह स्थान है। आत्मा सशरीर कैसे है? सो कहते हैं कि जिसका सदाही मृत्यु से ग्रसित धर्म तथा अधर्मों से उत्पन्न हुए प्रिय और अप्रिय वस्तुओंवाला स्थान है उस स्थानवाला सशरीर है। अशरीर आत्मा को सशरीर कैसे कहते हो? अशरीरवाला आत्मा को वोही मैं शरीर हूं और शरीरही मैं हूं इस अज्ञान से आत्मा सशरीर होता है इसी से यह आत्मा भी प्रिय और अप्रियों से ग्रसित है इन बाह्य विषयों का संयोग वियोग मेरे हैं ऐसे मानता हुआ सशरीर सदात्मा के बाह्यविषयों के संयोग वियोग के कारण प्रिय और अप्रियों का नाश नहीं है उसीका जब अशरीर स्व-रूप के ज्ञान से अज्ञान नष्ट होजाता है तब अशरीर उस सदात्मा को प्रिय और अप्रिय नहीं स्पर्श करते हैं क्योंकि धर्म का कार्य प्रियसंयोग है

और अधर्म का कार्य प्रिय वियोग है तो उस आत्मा में धर्म अधर्म दोनोंही नहीं हैं तो उनका कार्य कैसे होसक्ता है। यदि उस आत्मा को प्रियस्पर्श भी नहीं है तो मोक्ष पुरुषार्थ ही नहीं है सुनो यहां जो प्रियाप्रियस्पर्श का निषेध कियाहै वह शरीरसम्बन्धि धर्माधर्मों से उत्पन्न हुए प्रियाप्रियों का निषेध है इस से सिद्ध यह होताहै कि जो प्रिय और अप्रिय क्षणमात्र में उत्पन्न होते हैं और क्षणमात्र में नष्ट होते हैं उन हीं का निषेध है और स्वाभाविक प्रियाप्रियों का निषेध नहीं है क्योंकि क्षणिक वस्तुओं के स्पर्श में ही स्पर्श शब्द का प्रयोग करते हैं और स्वाभाविक अर्थ में नहीं करते जैसे अग्नि और सूर्य का उष्ण और प्रकाश स्वाभाविक है तो उनके लिये कोई नहीं कहता कि अग्नि से उष्ण का स्पर्श है तथा सूर्य का प्रकाश से स्पर्श है इसी तरह आत्मा का स्वरूपभूत प्रिय आनन्द का निषेध नहीं है श्रुति भी कहती है कि आनन्दरूप ब्रह्म है भूमविद्या की तरह यहां भी सुखही है। जब आनन्द-रूपही ब्रह्म है तो यह विषय है और यह विषयी है इत्यादि भेद भी नहीं रहा जो भेद ही नहीं है तो एक वस्तु का ज्ञान नहीं होता तो भी अपुरुषार्थही है तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्मरूप आत्मा से आनन्द का भेद नहीं है तो फिर आनन्द का अनुभव ब्रह्मज्ञानी कैसे करसक्ता है कदाचित् कहो कि भेद पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं है क्योंकि जहां भेद है वहां पुमर्थ है ऐसा व्यतिरेक न्याय नहीं मिलता है इसलिये सुख साक्षात्काररूप पुरुषार्थ अभेद में भी प्रतीत होता है इस लिये कहते हैं कि इन्द्र को आत्मा में विशेष ज्ञानराहित्य का बोध होना ऐसा इष्ट नहीं है क्योंकि इन्द्र ने पहिले इस (नहि खल्वयं सम्प्रत्यात्मानम्) इत्यादि श्रुति से यह कहा है कि जिस ज्ञानसे भूत और इन्द्रियों को जाने है और अप्रियों को नहीं जाने है वह सब लोकों को और सब कामों को प्राप्त होताहै हां सत्य है इन्द्र को यहही इष्ट है कि यह प्राणी मेरे से अन्य है और लोक तथा काम मेरेसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्नहूं और मैं इनका स्वामी हूं परन्तु यह इन्द्र के हित नहीं है हित तो यहही है। जो प्रजापति कहेंगे आकाश की तरह अशरीरात्मा का

ज्ञान होकर सब भूतलोक तथा काम आत्माही है ऐसा जो ज्ञान है वहही इन्द्र के हित है यहही प्रजापति कहेंगे और राजा को राज्य प्राप्ति की तरह अन्यरूप से नहीं कहेंगे यदि सबको आत्मरूप एकही जानलेगा तो यह भूत हैं यह मैं हूं इत्यादि रूप से कौन किसे जानेगा ? यदि मुक्त को सब लोक कामभूत सच्चिदानन्दरूप ही हैं तो उसको स्त्रियां और पितृलोकादि प्राप्त होते हैं ये श्रुतियां कैसे सार्थक होंगी ऐसा न कहो क्योंकि जब वो सबको आत्माही जानता है तो सब फलों का भी प्राप्त होना दुस्तर नहीं है जैसे मृत्तिका एक है और उसको घटरूप भी प्राप्त होता है कुण्डरूप प्राप्त होता है तैसेही सब में आत्मभाव समझनेवाले को सब प्राप्त होते हैं। यदि सर्वात्मा ही हुआ तो दुःख सम्बन्ध भी होना चाहिये सो नहीं होसक्ता क्योंकि दुःख भी आत्माही है तो दुःखियों की आत्मा जब मुक्त होती है तो वो दुःखी होना चाहिये यह भी नहीं होसक्ता क्योंकि आत्मा में स्वाभाविक दुःख नहीं है किन्तु आत्मा में दुःख अज्ञान की कल्पना से है जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना अज्ञान से है वो अज्ञान शरीर और आत्मा का ऐक्य बोध से दग्ध होजाता है तिससे दुःखी की मुक्ति दुःखयुक्त नहीं होती। जब विद्या से अविद्या का नाश होगया तो सगुण ब्रह्मज्ञान का फल अविद्याध्यारोपित ऐश्वर्यही है तो उसका भी अविद्या के दाह से दाह होगया तो स्तुति के लिये क्योंकर उस ब्रह्म के उपदेश की सिद्धि होसक्ती है इस में ऐसा अभिप्राय है कि माया का एकदेश शुद्ध सत्त्वगुण से संकल्प उत्पन्न होते हैं और उन संकल्पों से काम उत्पन्न होते हैं और वे काम मनोमात्र ईश्वरके ध्यान से ही सब विषयों में सिद्ध होते हैं इसी से मायावस्था में ईश्वर का इन कामों के साथ सम्बन्ध है यहां ऐसी शङ्का होती है कि अज्ञान का तथा अज्ञान के कार्य जो ऐश्वर्यादि हैं उनका जीव के साथही सम्बन्ध है और ईश्वर के साथ सम्बन्ध नहीं है इसमें वेदान्तियों का यह सिद्धान्त है कि अविद्या के जितने कार्य हैं उनका सत्त्वगुण द्वारा ईश्वर ही भोग करनेवाला है और ईश्वरही उन का स्थान है ईश्वरसे व्यतिरिक्त इन कार्यों का भोक्ता और स्थान नहीं

है । अब यहां शङ्का करते हैं कि प्रजापति ने 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुति से छायात्मा को पुरुष कहा और स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में विज्ञानात्मा को पुरुष कहा और चतुर्थ पर्याय की तरह अपहतपाप्मादिरूप परमात्मा को क्यों नहीं कहा इसमें कारण यह है छायात्मादि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति अवस्थावाले हैं और चतुर्थ आनन्दमय है इस से इनका विरोध है तिस से भिन्न २ कहा है यह कितनेही पुरुषों का मत है । अब कहते हैं कि चतुर्थ ब्रह्म के उपदेश से तो ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्ति फल है और छायात्मादिकों के उपदेश का कुछ फल नहीं मालूम होता तिसे इनका उपदेश निरर्थक है इस लिये छायात्मादि उपदेशका प्रयोजन कहते हैं कि जो परमात्माका स्वरूप पहिलेही कहते तो इन्द्रादिकों को बोध नहीं होसक्ता था क्योंकि अत्यन्त बाह्यविषयों में आसक्त इन्द्रादिकों को सूक्ष्म परमात्मवस्तु के श्रवण में मोह उत्पन्न होता तिस से पहिले स्थूल छायात्मा का उपदेश किया है जैसे कोई पुरुष द्वितीया के चन्द्रमा का बोध करानेको पहिले वृक्ष को दिखाता है और कहता है देख यह इस वृक्ष के स्कन्धपर चन्द्रमा है जब उसको वहां चन्द्रमा का बोध नहीं होता तब फिर दूसरे किसी वस्तु के आश्रय से उसको दिखाता है जब वहां भी सूक्ष्म चन्द्र का बोध नहीं होता तब चन्द्र के समीपवर्त्ती उदयगिरि के मस्तकपर दिखाता है देख यह गिरि के मस्तकपर चन्द्रमा है फिर उसको चन्द्र का बोध होता है इसीतरह 'एषोऽक्षिणिपुरुषः' इत्यादि श्रुति से कहा है और परात्मा को नहीं कहा है और चतुर्थ उपदेश ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का किया है यह हम कैसे जानें कि चतुर्थ उपदेश अशरीर ज्योतिःस्वरूप आत्मा का ही है जिसमें स्त्री आदि क्रीडा रमणकरे वह पर उत्तम पुरुषहै । हां यह जो आपने व्याख्या की सो उत्तम है परन्तु यह व्याख्या शब्दोंके अनुकूल है या अर्थ के अनुकूलहै इस शङ्कामें इस व्याख्या को शब्दानुसारी मानते हैं और अर्थानुसारी का निवारण करते हैं यदि यह व्याख्यान अर्थानुसारी होता तो प्रजापति ने 'अक्षिणिपुरुषः' इस श्रुति का उपदेश दिया तो शिष्यों से छायात्मा का ग्रहण किया तब प्रजापति शिष्यों को

विपरीत समझेहुए समझकर विपरीतज्ञान दूर करने को उदशराव का दृष्टान्त दिया और क्या देखते हो यह पूछा और अलंकारादि धारण का उपदेश दिया यह सब निरर्थक होताहै जो प्रजापति ने ' एषोऽक्षिणि ' इससे छायात्मा का ही उपदेश किया है तो इस लिये यह व्याख्यान अर्थानुसारी नहीं है यदि ' एषोऽक्षिणि ' इससे छायात्मा का ही उपदेश किया है तो इस उपदेश के दूरकरने में कारण कहना था और स्वप्न तथा सुषुप्त्यवस्था में जो आत्मा का ज्ञान हुआ है उसके दूर करने का कारण भी प्रजापति को कहना उचित था सो नहीं कहा इस से निश्चय होता है कि प्रजापति ने ' एषोऽक्षिणि ' इससे छायात्मा का उपदेश नहीं किया है किन्तु ' एषोऽक्षिणि ' इससे और स्वप्नावस्था में भी द्रष्टा परमात्मा का ही उपदेश किया है। स्वप्न में द्रष्टा का उपदेश नहीं कियाहै ऐसा नहीं कहसक्के हैं क्योंकि पुत्रादि मरण के कारणों को अप्रिय जानताहुआ की तरह रुदन करता है ऐसे उपदेश से द्रष्टा का उपदेश ही सिद्ध होता है यदि द्रष्टा का उपदेश न होता तो रुदन करताही है ऐसा कहते और रुदन करनेवाले की तरह दीखता है यह नहीं कहते इससे निश्चय होता है कि द्रष्टा का ही उपदेश किया है। और स्वप्न में द्रष्टा के विना और कोई भी पूजा के योग्य होता है देखो बृहदारण्य में कहा है कि जहां कारण के विना कार्य रहै वो स्वाभाविक है तो स्वप्नावस्था में पुरुष को ही सूर्यादि कारण न रहने से प्रकाशरूप कहा है इस से भी स्वप्न में द्रष्टा का उपदेश ही सिद्ध होता है। अब यहां शङ्का करते हैं कि प्रकाश का कारण सूर्यादि न रहने से पुरुष को ही स्वप्नावस्था में प्रकाशरूप क्यों कहते हो ? वहां अन्तःकरण भी तो है यद्यपि स्वप्न में मनुष्य ज्ञानवान् रहता है परन्तु वो ज्ञान स्वप्न के भोगों में कारण नहीं होसक्का क्योंकि जाग्रत अवस्था में देखे हुए नीलपीतादि पदार्थों की वासना साक्षीही में रहती है और ज्ञान में नहीं रहती और जिसको जैसी वासना है वह वासना उसीको स्वप्नावस्था में दीखती है तिससे द्रष्टाही का उस समय प्रकाश कहसक्के हैं और अन्तःकरण का नहीं कहसक्के। अब और भी स्वप्नावस्था में द्रष्टा

ही का उपदेश दिया है इसमें कारण कहते हैं जाग्रत् अवस्था की तरह स्वप्न में भी यह मैं हूं यह भूत हैं ऐसा ज्ञान रहता है तो इस ज्ञान से सुषुप्ति में भी आत्मा नहीं है ऐसा निषेध किया है इससे भी द्रष्टा का उपदेश सिद्ध है और भी द्रष्टा के उपदेश में कारण कहते हैं कि जब चेतन का शरीर के साथ सम्बन्ध है तबही उसको अज्ञान के कार्य प्रिय और अप्रिय स्पर्श करते हैं जब चेतन का शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है अज्ञान के नाश होने से तब उसको प्रियाप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं इससे भी द्रष्टा का ही उपदेश सिद्ध होता है और इसमें श्रुति प्रमाण भी है कि एकही आत्मा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में असंग होकर रहता है। अब चतुर्थ उपदेश को सुषुप्ति अवस्था से भिन्न कहा ऐसा कहते हैं सो भी तुम्हारी बुद्धि का भ्रम है क्योंकि चतुर्थ उपदेश के मन्त्र में 'एतंत्वेवते' इत्यादि स्थान में एतत् शब्द का ग्रहण किया है और वो एतत् शब्द सुषुप्ति अवस्था का बोधक है जो भिन्नप्रकार का उपदेश करते तो सुषुप्ति अवस्था के परामर्श से प्रजापति मिथ्याभाषी हो सक्तेथे यदि चतुर्थ उपदेश सुषुप्त्यवस्था से भिन्न होता तो 'वह आत्मा ही जल,तेज,अन्न इनसे देह को निर्माण करके फिर आपही इसमें प्रवेश करता है इसीसे 'तत्त्वमसि' यह उपदेश देते हैं' 'तत्त्वमसि' यह उपदेश मिथ्या होता है उस शरीर में तू स्त्री आदिकों से रमण करनेवाला होगा यह उपदेश युक्त होता जो संप्रसाद से पुरुष भिन्न होता तो और जो जीव परब्रह्म से भिन्न होता तो भूमविद्या में यह सब चराचर आत्माही है ऐसा संहार नहीं करते और श्रुतियों में ऐसा नहीं कहते कि इस जीवात्मासे द्रष्टा भिन्न नहीं है और सब श्रुतियों में पर में ही आत्मशब्द का प्रयोग नहीं करते जो सब प्राणियों का प्रत्यगात्मा पर न होता तो इस लिये यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक है जो आत्मा एक है तो पर को सब देहों में संसारीपन प्राप्तहुआ ऐसे आत्मा संसारी नहीं है आत्मा में संसार का अज्ञान से अध्यास है जैसे मिथ्याज्ञान से रज्जु सीप और आकाश इन में सर्प रजत और मलका आरोप करते हैं तो यह आरोप रज्जु शुक्ति का और आकाश में वास्तविक नहीं होसक्ता इसीतरह से संसार का आत्मा

में जो आरोप है वह वास्तविक नहीं होसक्ता इससे यह सिद्धहुआ कि जबतक अज्ञान से आत्मा में शरीर का आरोप है तबतक प्रिय और अप्रिय आत्मा में दीखते हैं जब अज्ञान के नाश से आत्मा में शरीरका आरोप नहीं है तो उस समय प्रियाप्रिय भी नहीं है इससे यह अमृत अभय ब्रह्म है यह प्रजापति का वाक्य सत्य होगया इसमें नैयायिक शङ्का करते हैं कि आत्मा अमृतादिरूप नहीं है क्योंकि सुखादिकों का आश्रयहै इस लिये यह उचित नहीं क्योंकि सुखादि उपाधि धर्म हैं इस लिये सिद्धसाधन दोष आवेगा। यदि आत्मा अमृतरूप है तो दुःखादिकों को अप्रिय कैसे जानता है? कहते हैं कि यह ज्ञान जैसे मैं गौराङ्ग हूं, मैं जीर्ण हूं, मैं मृत हूं इत्यादि प्रत्यक्षों का अनुभव होता है तैसेही दुःखादिकों का अप्रियविषयक प्रत्यक्ष में उपपत्ति जानो। अधिकारियों को प्रमाण वेद है इस लिये जो वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं और अनधिकारी हैं उनको आत्मज्ञान होना दुस्तर है देखो इन्द्र भी जलशराव में अविनाशयुक्ति को कहा तो भी इस आत्मज्ञान के मोह से उसको विनाशीही समझा। और असुरराज विरोचन भी देह को आत्मा जानकर संतुष्ट होताभया। तैसेही वैनाशिक भी आत्मनाश के भयरूप सागर में मग्न होगये तैसे सांख्यवाले भी देह से द्रष्टा भिन्न है ऐसा निश्चय करके भी आगम को प्रमाण नहीं मानने से मृत्युविषयक भेदबुद्धि में ही कृतार्थ मानते हुए। तथा और काणादिदर्शन भी बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना इन नव आत्मा के गुणों से युक्त आत्मद्रव्य का परिष्कार ही में अपना समय का नाश किया। तैसे मीमांसकभी कर्मको प्रधान मानते हुए वेद प्रमाण मानते हैं तो भी सांसारिक विषयों में चित्तवृत्ति के आसक्त होने से परमार्थ में सत्य ऐसे आत्मैक्य को इन्द्र की तरह विनाशरूप मानतेहुए घड़ी की तरह कभी ऊंचे और कभी नीचे भ्रमण करते हैं एवं इस आत्मज्ञान का होना दुस्तर है ऐसे मनुष्यही जब आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त भये तो अज्ञानी और संसार के भोगों में जिनका चित्त आसक्त है ऐसे तुच्छ जीवों की तो कथा ही क्या कहें। इसलिये

आत्मज्ञान संसार के भोगों से रहित और अनन्यशरण आश्रमों का त्याग कियेहुए ऐसे वेदान्त के विज्ञान में परायण ऐसे परमहंस परिव्राजकाचार्यों के ही जानने योग्य है और इस प्राजापत्य संप्रदायका अनुसरण करनेवाले परमहंस परिव्राजकाचार्यों ने यह आत्मज्ञान चार करणों से निर्माण किया है ॥ १ ॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

अक्षरार्थ ।

वायु, आकाश, विद्युत्, मेघ ये अशरीर हैं जैसे ये आकाश से निकलकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने रूप को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ ।

संप्रसाद अशरीर है और वो अज्ञान से सशरीर है अब वो संप्रसाद शरीर का त्याग करिके जैसे अपने रूप को प्राप्त होता है वो प्रकार दृष्टान्त द्वारा कहते हैं ॥ जिसके मस्तक हस्त चरण इत्यादिवाला आकार न हो उसे अशरीर कहते हैं ऐसा वायु है तथा आकाश विद्युत् और मेघ ये भी अशरीर हैं तो जब वर्षाकाल की पूर्ति होती है उससमय ये वाय्वादिक जब अपने स्वरूप से नहीं प्रतीत होते हैं तब आकाशरूप से प्रतीत होते हैं जैसे संप्रसाद अविद्यावस्था में शरीर में आत्मभाव को प्राप्त होता है वो आकाशरूप को प्राप्त भये वाय्वादिक द्युलोकसम्बन्धि आकाश से वर्षारूप कार्य की सिद्धि के लिये सूर्य के ताप से भिन्न २ वायु निश्चलभाव का त्याग करके अपने रूप को प्राप्त होता है और आकाश भूमि पर्वत हरितरूप से आत्मभाव को प्राप्त होता है तथा विद्युत् ज्योति चाञ्चल्यरूप से मेघ गर्जनारूप से आत्मभाव को प्राप्त होता है ये सब वर्षाकाल के बाद आकाशरूप को प्राप्त होते हैं और फिर शिशिर ऋतु के नाश हुए बाद सूर्य की किरणों से तप्त होकर वर्षाकाल के आगमन समय में अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योति रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथाप्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणोयुक्तः॥३॥

अक्षरार्थ।

इसी तरह यह संप्रसादरूप आत्मा इस शरीर का त्यागकर के परं-ज्योति से तप्त होकर अपने रूप को प्राप्त होता है वह उत्तम पुरुष है वह उस आत्मा में किसीरूप से क्रीड़ा करता है किसी से भक्षण करता है तथा किसी से स्त्री रथ जाति इन के साथ रमण करता है स्त्री पुरुषों के संयोग से उत्पन्न हुआ ऐसा इस शरीर को नहीं स्मरण करता हुआ जैसे बैल रथादिकों के खैंचने को नियुक्त किया हो इसीतरह यह जीव इस शरीर में सुख दुःखादि भोगने के लिये नियुक्त किया है॥ ३॥

भावार्थ।

जैसे इस दृष्टान्त में वाय्वादिकों का आकाशादि साम्य कहा है इसी तरह अविद्या से शरीरावस्था में 'मैं इस का पुत्र हूं मैं जीर्ण होगया मैं मरूंगा इस तरह' शरीर के साम्य सर्वात्मभूत मुक्त के साथ सम्बन्ध हो ही सक्ता है तो आत्मज्ञान की स्तुति के लिये श्रुति उचित ही नि-र्देश करती है। ये काम इन्द्रियादिकों में होते हैं तो ब्रह्मलोक में कैसे होंगे उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म सर्वात्म है इस लिये जहां २ जो पदार्थ होते हैं वे ब्रह्मलोक मेंही होते हैं जो एकही है वो दूसरे को न देखता है न और श्रवण करता है न और जानता है क्योंकि एक है तो वो ब्राह्मलौकिक पदार्थों को देखताहुआ रमण कैसे करसक्ता है यह श्रुति का विरोध आता है जैसे एक जिस क्षण में देखता है वो उसी क्षण में नहीं देखता क्योंकि एक है दूसरा कोईहै ही नहीं तो किसको देखे। यह दोष अल्प है क्योंकि द्रष्टाकी दृष्टि का नाश नहीं है इसलिये

खताही है और द्रष्टासे भिन्न कोई पदार्थ है नहीं तिससे देखता भी हीं है यद्यपि यह सब सुषुप्ति अवस्था में कहा है परन्तु मुक्त के भी समान है क्योंकि मुक्त के भी आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है ही श्रुति कहती है ' यत्र त्वस्यात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् ' जब क की दृष्टि से सब आत्मा ही है तो कौन किसको देखसक्ता है यह ति का अर्थ है। 'एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुति में ' दृश्यते ' सका अर्थ नेत्र से अवलोकन करने में प्रसिद्ध है तो अशरीर धर्मा- र्मादि रहित आत्मा को प्रजापति ने चाक्षुषदर्शन का विषय कैसे हा ? यद्यपि वो आत्मा स्वतः चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तथापि नुमानद्वारा उसका दर्शन होता है जैसे लोक में रथादि यान जाने को अश्वादिकों का नियोग करते हैं तैसे रथरूप इस शरीर ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय मन बुद्धि इन से युक्त विज्ञानशक्ति और क्रयाशक्ति इनसे संमूर्च्छित प्रज्ञात्मा अपने धर्माधर्मादि कर्मफलों उपभोग के लिये रथीरूप से नियुक्त किया है तो इस से यह अर्थ द्ध हुआ कि जैसे राजा सन्धि विग्रहादि कार्यों में सर्वाधिकार देकर नाध्यक्ष का नियोग करता है तैसे ईश्वर सब चेष्टारूप कार्योंका अधि- ार देकर अपने दर्शनादि व्यापार के लिये प्राण को नियुक्त किया है ससे यह अनुमान हुआ कि प्राण किसी चेतन वस्तु से नियोग किया प्रयोज्य है इससे इसको प्राप्त हुआ प्रजापति से इन्द्र की तरह देह और इन्द्रिय धर्मवाला तू नहीं है वो ब्रह्म तू है इस तरह प्रतिबोध करायागया यह संप्रसाद जीव इस शरीर में ' आकाश से वाय्वादिकोंकी तरह आत्मभाव का त्याग करके देहादिकों से विलक्षण सदात्मभावको प्राप्त होता है। संप्रसाद अपने स्वरूप को कैसे प्राप्त होता है यह दृष्टान्त से कहते हैं जैसे भ्रान्ति से रज्जु में सर्पज्ञान है फिर रज्जु का ज्ञान होते ही सर्पभ्रान्ति दूर होकर रज्जु अपने रूप को प्राप्त होती है तैसेहीं अविद्या दशा में शरीर में आत्मभाव को प्राप्त हुआ विद्या से ब्रह्मतत्त्व का प्र- काश होते ही अपने रूप से निष्पन्न होता है एवंच इस वेदान्त में चार तरह के पुरुषभये पुरुषोत्तम परमात्मा अक्षर और क्षर तहां क्षर तो वो

है जिसको नेत्रों में दिखाया है और अक्षर स्वाप्निक सुषुप्तिअवस्था में जो पुरुष है वो परमात्मा है और इन तीनों से अतिरिक्त संसार का पालक जो है वो पुरुषोत्तम है यह भगवान् ने गीता में भी कहा है। वो जीव अपने स्वरूप से उस अपनी आत्मा में स्वस्थरूप से सर्वात्म होकर सुख का अनुभव करता है कहीं इन्द्रादिरूप से हास्य करता है कभी अपने अभिलषित अनेकप्रकार के पदार्थों का भोजन करता है कहीं मनोमात्र से उत्पन्नहुए ब्रह्मलोकके स्त्री आदिकों के साथ रमण करता है और यान वा ज्ञाति के साथ स्त्री पुरुष संयोगसे उत्पन्नहुए इस शरीर का स्मरण नहीं करता है क्योंकि शरीर दुःख का स्थान है इस लिये शरीर के स्मरण से दुःख ही उत्पन्न होता। यदि मुक्तको अनुभूत देह की ही स्मृति न हुई तो असर्वज्ञ हुआ यह दोष नहीं कहसक्ते हो क्योंकि देखो उन्मत्त और पिशाचग्रस्त मनुष्य उन्मत्तपना और पिशाच दूर हुए बाद उन्मत्तावस्था में तथा पिशाचग्रस्तावस्था में जो अनुभव किया है उसका स्मरण नहीं करता है तैसेही अविद्यादोषवाले संसारी जिस का अनुभव करते हैं उसका सर्वात्म अशरीरावस्थामें स्मरण नहीं होता है क्योंकि अविद्यारूप कारणका अभाव है। यदि मुक्त पुरुष के शरीर का सम्बन्धही नहीं है तो उसके कामों का सम्बन्ध श्रुति कैसे प्रतिपादन करती है यह आपका कहना सत्य है परन्तु दोषरहित बाह्यविषयों से विरागवाले जो सत्यकार्यों का अनुभव करते हैं वह काम मानसिक हैं और वे विद्यासे ही उत्पन्न होते हैं तो अनुमान से यह सिद्ध हुआ कि देहसंघरूप प्राण से असंहत चेतन भिन्न है कि जो इन प्राणों को व्यापार में नियोग करता है फिर यह अनुमान भी होता है कि चक्षुरादि चेष्टा चेतन निमित्तक है चेष्टा है इस वास्ते रथादिकों की चेष्टाकी तरह। उस प्राण का एकदेश चक्षु इन्द्रिय है जिससे रूप का प्रत्यक्ष होता है॥ ३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः सचाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीतिसआत्मागन्धाय

णामथयोवेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहा
यवागथयोवेदेदछं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय
त्रम् ॥ ४ ॥

अक्षरार्थ ।

जहां यह आकाशरूप चक्षु अनुकूल है वो चाक्षुष पुरुष है उस दर्शन के लिये चक्षु इन्द्रिय है जब यह आत्मा जानता है कि मैं घ का अनुभव करूं तब गन्ध का अनुभव के लिये घ्राण इन्द्रिय· जब वो आत्मा जानता है कि मैं कुछ कहूं तो कहने को वागि· यरूप जब इस आत्मा को श्रवण करनेकी इच्छा होती है तब त्रेन्द्रियरूप होजाताहै ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

जो यहां कृष्णतारावाला चक्षुरूप देह में छिद्र है उसमें वह अश- आत्मा है और रूपादिकों के ज्ञान में चक्षु करण है और इस श- में द्रष्टा आत्मा है तौ उसीके लिये यह चक्षु करण है तब वो पर ारीर आत्मा चक्षुरूप लिङ्ग से दीखता है और यह चक्षु देहादिकों संहत है तौ संहत पदार्थ पर के लिये होता है जैसे शयनासनादि इस शरीर में जो ये चक्षुरादि संहत हैं किस पर के लिये हैं तो द्रष्टा व्यतिरिक्त कुछ दीखता नहीं इस से भी चक्षुरादि लिङ्गद्वारा द्रष्टाकी ति होती है और प्रजापति ने जो कहाहै 'एषोऽक्षिणि दृश्यते' इस अभिप्राय यह था कि सब इन्द्रियों द्वारा दीखता है केवल चक्षुरि- य का ही तात्पर्य नहीं है सब श्रुतियों में नेत्रेन्द्रिय का उपादान में कारण है कि इस इन्द्रिय से विषय का प्रत्यक्ष शीघ्र उत्तम रीति से ा है । जो इस देह में जिस किसी इन्द्रिय से जिस किसी विषय को नता है वह आत्मा है जब यह आत्मा जानता है कि गन्ध को कैसे लूं तब गन्धज्ञान के लिये घ्राणरूप को स्वीकार करता है जब उस त्मा की भाषण करने की इच्छा होती है तब वागिन्द्रियरूप होता है श्रवण करने की इच्छा होती है तब श्रोत्रेन्द्रियरूप को स्वीकार ता है ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्यदै चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामा पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ ।

जो जानता है कि इसका मनन करूं तब वह आत्मा मन स्वरू को ग्रहण होता है इस आत्मा का मुख्य इन्द्रिय चक्षु है वो य आत्मा इस मुख्य चक्षु इन्द्रिय द्वारा मन करके इन कामों को देख हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

रूपादिज्ञान इन्द्रिय व्यापारद्वारा होता है और मनन व्याप इन्द्रियों से नहीं होता जब इस आत्मा को मनन करने की इच्छा हो है तब उस मनन के लिये मन स्वरूप आत्मा होता है यहां ज्ञान आत्मा का स्वरूप है क्योंकि जो जानता है वह आत्मा है इससे ज्ञा स्वरूप ही सिद्ध होता है जैसे जो प्रकाश करता है वह सूर्य है इ कथन से सूर्य का स्वरूप प्रकाश ही जाना जाता है ॥ अब यहां शङ्क करते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वभाववाला है तो उस आत्मा के संसर्गसे विषयसिद्धि होजावेगी फिर चक्षुरादि इन्द्रियां व्यर्थ हैं, 'उत्तर' दर नादि क्रिया अन्तःकरण के धर्म हैं और आत्मा एक है और संसर्ग हित है उसका विषयों के साथ संसर्ग हो नहीं सक्ता आत्मा का ज विषयों के साथ संसर्ग की प्रतीति होती है वह भ्रम है इस लिये अन्त करण के धर्म दर्शनादि क्रियाओं की सिद्धि चक्षुरादि इन्द्रियों द्वा ही है तिससे इन्द्रियां सार्थक हैं आत्मा जब ज्ञानस्वभावही है तो व कर्ता कैसे होसक्ता है हां उत्तम है परन्तु आत्मा की सत्तामात्रही ज्ञान कर्ता है और आत्मा स्वयं किसी कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होता जै सूर्य की सत्ताही प्रकाशकर्ता है और सूर्य प्रकाश करने को कुछ व्य पार नहीं करता है। इस आत्मा का मनही मुख्य दैव चक्षु है औ इन्द्रियां वर्तमानकाल के विषयोंकाही ग्रहण करती हैं इस लिये अदै

हैं और मन भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों काल के विषयों का बोधक है और जब यह निर्दोष होजाता है तब सूक्ष्म और आच्छादित सब विषयों का बोधक होता है इस से मन को दैव चक्षु कहते हैं वो मुक्त आत्मस्वरूप को प्राप्त हुआ अविद्या के देह इन्द्रिय मन इनसे वियोग को प्राप्त हुआ सर्वात्मभाव को प्राप्तहुआ इस ईश्वर मनसे इन सब कामों को सूर्य को प्रकाश की तरह नित्य चैतन्य से देखताहुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

यएते ब्रह्मलोकेतंवाएतं देवाआत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳसर्वे च लोका आप्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ ।

जो ये ब्रह्मलोक में पदार्थ हैं उनकी उस आत्मा की देवता उपासना करते हैं इस लिये इन देवताओं को सब काम और सब लोक प्राप्त भये जो उस आत्मा को विद्या द्वारा जानता है वो सब लोक और सब कामों को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ ।

जो ये ब्रह्मलोक में सुवर्ण निधि की तरह सांसारिक विषयों के संग से मिथ्या से आच्छादितहुए संकल्पमात्र से प्राप्त होते हैं उनको और जो इन्द्र के लिये प्रजापति ने कहा उसी को देवता इन्द्र से सुनकर उसी आत्मा का अब भी उपासना करते हैं उस आत्मा की उपासना से देवताओं को सब लोक और सब काम प्राप्तभये जिसके लिये इन्द्र सौ वर्ष पर्यन्त प्रजापति के आश्रम में ब्रह्मचर्य से निवास किया उसका फल देवताओं को प्राप्त भया । यह फल देवताओं को प्राप्तभया सो तो उचित ही है परन्तु अल्पजीवी मनुष्यों को भी प्राप्त होसक्ता है जो इन्द्र की

तरह उस आत्मा को जाने वह सब लोक और सब काम को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथाष्टमप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः प्रारभ्यते ।

श्यामाच्छबलंप्रपद्ये शबलाच्छ्यामंप्रपद्येऽश्व इवरोमाणिविधूयपापंचन्द्रइवराहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतंकृतात्माब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति १॥

इत्यष्टमप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अब अष्टमप्रपाठकके त्रयोदशखण्डका आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

हार्द ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं ब्रह्मलोक से हार्द भाव को प्राप्तहुआ हूं अश्व रोमों को जैसे पाप को दूर करके राहु के मुख से चन्द्र की तरह छोड़ करके अकृत शरीर को कम्पायमान करके कृतकृत्य होकर नित्य ब्रह्मलोक को जाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ ।

"श्यामाच्छबलं" यह मन्त्र पवित्र है और जप करने योग्य है और ध्यान के लिये है । गम्भीर और कृष्णवर्ण ऐसा हृदयकमलगत ब्रह्मको जानकर ध्यान करके उस ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं अर्थात् शरीरपात के बाद मनसे उपरितन लोकको जाताहूं यहां शबल शब्द का अर्थ ब्रह्मलोक ऐसे किया है कि ब्रह्मलोक अरण्यादि अनेक कामों से मिश्रित है तिससे ब्रह्मलोक शबल शब्द से कहाजाताहै जिस कारण से मैं ब्रह्मलोक से नामरूप प्राप्त होने को हार्दभाव को प्राप्तहुआ हूं इस लिये उसी प्रकृतिरूप आत्मा को प्राप्त होता हूं । जैसे अश्व कम्प से अपने रोमों को कम्पाकर परिश्रम वा रजको रोम से दूर करके निर्मलहोता है ऐसे हार्दब्रह्म के ज्ञान से धर्माऽधर्मरूप पाप को दूरकर 'राहुग्रस्त चन्द्र राहु के मुख से छूटकर जैसे देदीप्यमान होता है ऐसे' सब अनर्थ का मूलभूत इस शरीर का त्याग करिके इस लोक

में ध्यान से कृतकृत्य हुआ नित्य ब्रह्मलोक को जाता हूं ॥ १ ॥
इत्यष्टमप्रपाठके त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥
अथाष्टमप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः प्रारभ्यते ।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहंभवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशःश्येतमदत्कमदत्कꣳ श्येतं लिन्दुमाऽभिगां लिन्दुमाऽभिगाम् ॥ १ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥
अब अष्टमप्रपाठक के चतुर्दशखण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

वो आत्मा आकाश है और नामरूप का निर्वाह करता है वे नाम रूप जिसके भीतर हैं वो ब्रह्म है वहही अमृत है वो आत्मा मैं ब्रह्मा के गृह को प्राप्त होताहूं मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनको यशरूप हूं उस यश को मैं प्राप्त होने की इच्छा करता हूं वो मैं आत्माओं का भी आत्मा हूं रक्तवर्ण दन्तरहित रुदन्त ऐसी योनिकी प्राप्ति न होवे ॥ १ ॥

भावार्थ ।

ध्यान के लिये श्रुति में आकाश को आत्मा कहा है क्योंकि आत्मा आकाश की तरह अशरीर और सूक्ष्म है वो आकाशरूप आत्मा जगत् के बीजभूत अपनी आत्मा में स्थित नाम और रूप का निर्वाहक है वे नामरूप जिस ब्रह्म में हैं उन नामरूपों में जो नामरूप से स्पृष्ट है वो ब्रह्म है यद्यपि नामरूप से विलक्षण वो ब्रह्म नामरूप से स्पृष्ट है तौभी नामरूपों का निर्वाह करनेवाला ऐसा ब्रह्म है । सबको आत्मरूप है तो हस्ततल में स्थापन किये हुए आमलक की तरह ब्रह्म को अपरोक्ष कैसे कहते हो आत्मा प्राणिमात्र में जीवरूप से भिन्न है उस आत्मा का ज्ञान आत्मा ही से होता है वो आत्मा उसी स्वरूप से प्रत्यक्ष होकर अशरीर होजाता है फिर वहही आत्मा आकाश की तरह सब स्थानों

में व्याप्तहुआ ब्रह्मरूप होता है वो ब्रह्मस्वरूप आत्मा मरण धर्म से रहित है इस के आगे का भाग मन्त्र है ब्रह्मा का ब्रह्मनिर्मित गृहको प्राप्त होऊं मैं ब्राह्मणों को यश नामवाला आत्मा होऊं क्योंकि ब्राह्मण ही उस आत्मा का विशेष रीति से उपासना करते हैं तिस कारण से मैं उनको यशरूप होताहूं इसीतरह क्षत्रिय और वैश्योंको भी मैं यशरूप आत्मा होता हूं मैं उस यश को प्राप्त होने की इच्छा करता हूं वो मैं देह इन्द्रिय मन बुद्धिरूप आत्माओं का भी आत्मा हूं। मैं ब्रह्मा के गृह को तथा यशआदिरूप को क्यों प्राप्त होता हूं दन्तरहित है तौ भी भक्षण करनेवाली रक्तवर्ण तेज, बल, विज्ञान इत्यादि धर्मों का नाश करनेवाली चिकनी ऐसी स्त्रीयोनि को न प्राप्तहोऊं इस लिये ब्रह्मा के स्थान को प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अथाष्टमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः प्रारभ्यते ।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतयउवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्याय मधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रति ष्ठाप्याहि छं सन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं व र्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषद्यष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ८ ॥

अब अष्टमप्रपाठक के पञ्चदश खण्ड का आरम्भ करते हैं ।

अक्षरार्थ ।

इस आत्मज्ञान को ब्रह्मा प्रजापति के लिये कहता भया और प्रजापति मनु के लिये मनु प्रजाओं के लिये कहता भया यथाविधि गुरु के

कार्य से अवशिष्टकाल में आचार्यकुल से वेदाध्ययन करके धर्मज्ञान की इच्छा को समाप्त करके गार्हस्थ्यधर्म का अवलम्बन करे तहां उत्तम स्थान में वेदाध्ययन करताहुआ शिष्य वा पुत्रादिकोंको धर्माचरण कराताहुआ सब इन्द्रियों के विषय विमुख करके शास्त्राज्ञा से भिन्न स्थानों में प्राणियों को नहीं पीड़ा करताहुआ आयुष्य पर्यन्त ब्रह्मलोक को प्राप्तहोता है वो फिर जन्मभागी नहीं होता है ॥ १ ॥

भावार्थ ।

सोपकरण इस आत्मज्ञान को उपासना व अष्टाध्यायीरूप इस ग्रन्थ करके सहित इस आत्मज्ञान को ब्रह्मा कश्यप प्रजापति से कहताभया कश्यप मनु से और मनु प्रजाओं से कहता भया इस तरह अर्थपरम्परा से आया हुआ यह उपनिषद्विज्ञान अब भी विद्वानों में दीखता है यद्यपि ६,७,८,अध्यायों में कहाहुआ आत्मज्ञान का फल प्रत्यक्ष है परन्तु कर्मों का फल नहीं दीखता इस लिये कर्मफलों को कहते हैं यथाविधि आचार्यकुल से अर्थसहित वेद का अध्ययन करके सब विधि से गुरुशुश्रूषा का प्राधान्य कहते हैं । गुरुकार्य से अवशिष्ट काल में वेदाध्ययन करे इस तरह नियमपूर्वक अध्ययन किया हुआ ही वेद कर्मज्ञान की फलप्राप्ति के लिये होता है अन्यथा नहीं होता । धर्म ज्ञान की इच्छा को समाप्त करके गुरुकुल से निवृत्त होकर न्याय से स्त्री को ग्रहण करके गार्हस्थ्य कर्मों का आचरण करता हुआ वहां भी एकान्त पवित्र स्थान में स्थित होकर यथाशक्ति वेदाध्ययन करता हुआ पुत्र और शिष्यों को धर्मयुक्त करता हुआ और हार्द ब्रह्म में सब इन्द्रियों का उपसंहार करके और कर्मों का भी संहार करके स्थावर जङ्गम प्राणीमात्र को पीड़ा नहीं करता हुआ भिक्षा के लिये अटन से भी परपीड़ा होगी इस लिये कहते हैं कि शास्त्राज्ञा से अन्य कार्य में प्राणियों को

पीड़ा नहीं करता हुआ गार्हस्थ्य धर्म में ही इस तरह आचरण करता हुआ मनुष्य देहान्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है फिर उसको शरीर सम्बन्ध नहीं होता है। अर्थात् महाप्रलय से पूर्व वो मनुष्य ब्रह्मलोक में ही रहता है ॥ १ ॥

इत्यष्टमप्रपाठके पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषद्यष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ८ ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्मनिराकुर्यां मा मा ब्रह्मनिराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

छान्दोग्योपनिषत्सम्पूर्णा ॥

ॐ तत्सत् ॥

